प्रश्न और उत्तर

(१९५७-१९५८)

प्रश्न और उत्तर

(१९५७-१९५८)

श्रीमातृवाणी

प्रश्न और उत्तर

(१९५७-१९५८)

श्रीअरविंद सोसायटी

पांडिचेरी

प्रथम संस्करण १९७७

मूल फ्रेंच भाषामें 'आंत्रतियें : १९५७' के नामसे १९६९ में तथा
'आंत्रतियें : १९५८' के नामसे १९७२ में प्रकाशित
स्वत्वाधिकार श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट १९६९ एवं १९७२
हिन्दी अनुवाद © श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट १९७७
सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य ३०.००

खंड ९

श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्टकी ओरसे
श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी द्वारा प्रकाशित
श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी द्वारा भारतमें मुद्रित
वितरक :
शब्द : श्रीअरविंद बुक्स डिस्ट्रिब्यूशन एजेंसी, पांडिचेरी-६०५००२

प्रकाशकका वक्तव्य

इस खंडमें माताजीके उन वार्त्तालापोंको संगृहीत किया गया है जो सन् १९५७ के प्रारंभसे नवंबर, १९५८ के अंततक उनकी "बुधवारकी कक्षाओं" में आश्रमके विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा साधकोंके साथ हुए थे। खेलके मैदानोंमें दिये गये वार्त्तालापोंमें ये अंतिम वार्त्तालाप थे। साधारण तौर-पर माताजी श्रीअरविंदके किसी ग्रंथके अपने फ्रेंच अनुवादका कुछ अंश पढ़ा करती थीं। सन् १९५७ के जनवरी महीनेसे अप्रैलतक "थॉट्स एंड ग्लिम्प्सेज" (विचार और झांकियां), अप्रैलसे अक्तूबरतक "सुप्रामेंटल मैनिफेस्टेशन अपॉन अर्थ" (पृथ्वीपर अतिमानसिक अभिव्यक्ति) और अक्तूबर, १९५७ से नवंबर १९५८ तक "द लाइफ डिवाइन" (दिव्य जीवन) ग्रंथके अंतिम छः अध्यायसे माताजी कुछ अंश पढ़ा करती थीं। उन अंशोंको पढ़नेके बाद वह या तो पढ़े हुए अंशकी व्याख्या करती थीं या उसी पढ़े विषयपर या दूसरे विषयोंपर पूछे गये प्रश्नोंका उत्तर दिया करती थीं।

वार्त्तालाप फ्रेंच भाषामें दिये जाते थे और उन्हें 'टेप-रेकार्ड' कर लिया जाता था। इनमेंसे अधिकांश वार्त्तालापोंमें दिये गये मूल पाठों तथा उनके अनुवादोंको सबसे पहले त्रैमासिक "बुलेटिन ऑफ फिजीकल एजुकेशन" (बादमें "बुलेटिन ऑफ श्रीअरविंदो इंटरनेशनल सेंटर ऑफ एजुकेशन") में फरवरी १९५७ और नवंबर १९५८ के बीच, अगस्त १९६१ में तथा फरवरीसे अगस्त १९६३ तक प्रकाशित किया गया था। फिर १९५७ के वार्त्तालापोंके पूरे मूल फ्रेंच पाठका संस्करण सर्वप्रथम १९६९ में "आंत्रतियें १९५७" के शीर्षकके साथ प्रकाशित हुआ। "आंत्रतियें १९५८" सन् १९७२ में छपा। इन सभी वार्त्तालापोंका एक नया अंगरेजी अनुवाद १९७३ में "क्वेश्चन्स एंड आन्सर्स १९५७-५८" के नामसे पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इसी १९७३ के संस्करणको दुबारा सुधारकर "कलेक्टेड वर्क्स ऑफ द मदर (सेंटिनरी एडिशन)" के खंड ९ में प्रकाशित किया गया है।

हिंदीमें प्रकाशित यह "श्रीमातृवाणी", खंड ९, "प्रश्न और उत्तर १९५७-५८" इसी अंगरेजी ग्रंथका अनुवाद है।

आर्ष वाणीका अनुवाद करना एक असंभव कार्य है। मूल भाषा न जाननेवालोंके लिये "श्रीमातृवाणी"का अनुवाद 'श्रीअरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र'का हिंदी विभाग कर रहा है।

श्रीमाताजी

जन्म

२१ फरवरी, १८७८

भारतमें आगमन

२९ मार्च, १९१४

महासमाधि

१७ नवम्बर, १९७३

शताब्दी

२१ फरवरी, १९७८

प्रश्न और उत्तर

१९५७

२ जनवरी, १९५७

सत्ताका आनन्द

"यदि ब्रह्म केवल कोई ऐसी व्यक्तित्वरहित अमूर्त सत्ता होती जो हमारी मूर्त सत्ताके प्रत्यक्ष तथ्यका सनातन रूपसे खंडन करती तो उसका वास्तविक अंत लय ही होता, परंतु अभी प्रेम, आनंद स्वात्म-मान भी हैं जिनपर विचार करना है।

यह विश्व कोई गणितका सूत्र नहीं है जिसे संख्या और तत्त्व कहे जानेवाले किन्हीं मानसिक अमूर्त विचारोंके आधारपर हल करना हो और जिसकी परिणति एक शून्य या अभावात्मक इकाईमें हो, न ही यह महज एक भौतिक क्रिया है जो शक्तियों-के किसी समीकरणको मूर्त रूप देती हो। यह तो एक 'आत्म-प्रेमी' का आनंद है, एक 'शिशु' की लीला है और उस 'कवि' की असीम आत्म-बहुरूपता है जो अपनी असीम सर्जन-शक्तिकी मस्ती-में विभोर हो!

हम परम प्रभुके संबंधमें यों कह सकते हैं मानों वह एक ऐसा गणितज्ञ हो जो विश्वरूपी प्रश्नका हिसाब अंकोंमें कर रहा हो या एक ऐसा विचारक हो जो परीक्षणद्वारा मूलतत्त्वों और शक्तियोंके संतुलनके पारस्परिक संबंधके आधारपर समस्याका हल खोज रहा हो: परंतु परमप्रभुके संबंधमें हम यों भी कह सकते हैं मानों वह एक प्रेमी हो, विश्वगत और व्यष्टिगत सामंजस्योंको व्यक्त करनेवाला एक गायक हो, एक शिशु हो या कवि हो। विचारका पहलू ही पर्याप्त नहीं है, आनंदके पहलू-को भी पूरी तरह आत्मसात् करना होगा: यदि विचार, शक्तियां, सत्ताएं, तत्त्व भागवत आनंदके प्राणसे पूरित न हों तो वे खोखले ढांचे मात्र रह जाते हैं।

ये चीजें प्रतिरूप हैं, किंतु सब कुछ एक प्रतिरूप ही है। अमूर्त-भाव हमारे सामने भगवान्के सत्योंके विशुद्ध विचारको रखते हैं; प्रतिरूप उनके जीवित-जाग्रत रूपको प्रदर्शित करते हैं।

यदि दिव्य विचारने दिव्य शक्तिका आलिंगन कर जगत्को उत्पन्न किया है तो सत्ताके आनंदने दिव्य विचारको जन्म दिया है। क्योंकि अनंत भगवान् अपने अंदर अपरिमेय आनंदको धारण किये हुए हैं, इसीलिये लोक-लोकांतर और विश्वकी उत्पत्ति हुई।

सत्ताकी दिव्य चेतना और सत्ताका दिव्य आनंद, ये दो आदि जनक हैं; साथ ही ये चरम परात्पर सत्ताएं भी हैं। अचेतना सचेतन आत्माकी केवल एक मध्यवर्ती मूर्च्छा या तामसिक निद्रा है; पीड़ा और आत्म-निर्वाण भी सत्ताके केवल ऐसे आनंद हैं जो अपनेको दूसरे स्थानपर या अन्य रूपमें पानेके लिये अपनेसे दूर भाग रहे हैं।

सत्ताका दिव्य आनंद कालके द्वारा सीमित नहीं है; इसका कोई आदि या अंत नहीं है; भगवान् वस्तुओंके एक रूपमेंसे केवल इसलिये बाहर आते हैं जिससे वह उनके दूसरे रूपमें प्रवेश करें।

आखिर भगवान् क्या है? वह है एक सनातन शिशु जो एक सनातन उद्यानमें एक सनातन खेल खेल रहा है।"

(विचार और झांकियां)

स्नेहमयी मां, क्या मनुष्य 'देश' और 'काल'से बाहर निकल सकते हैं?

यदि कोई व्यक्त जगत्से बाहर निकल जाय तो।

अपनेको वस्तुगत करनेके, अभिव्यक्त करनेके तथ्यने ही देश और काल-की सृष्टि की। उसमेंसे बाहर निकलनेके लिये व्यक्तिको मूलकी ओर लौटना पड़ेगा, अर्थात् अभिव्यक्तिमेंसे बाहर निकलना होगा। नहीं तो, अपनेको वस्तुगत करनेकी सबसे पहली क्रियाके साथ ही देश और काल उत्पन्न हुए।

शाश्वतता और असीमताका एक ऐसा भाव, बोध या अनुभव है जिसमें व्यक्तिको देश-कालमेंसे बाहर निकल जानेका आभास होता है।...यह एक आभास मात्र है।

मनुष्यको सब रूपोंसे परे जाना होगा, चेतनाके सूक्ष्मतम रूपोंसे भी दूर जाना होगा, यहांतक कि विचारके रूपोंसे, चेतनाके रूपोंसे बहुत आगे, ताकि

वह देश-कालसे बाहर आनेकी प्रतीति पा सके। समाधि (सच्ची समाधि) की स्थितिको प्राप्त करनेवाले लोगोंके साथ सामान्यतया ऐसा ही होता है, और जब वे अपनी सामान्य चेतनामें लौटकर आते हैं तो उन्हें कुछ याद नहीं रहता क्योंकि वास्तवमें उसमें कोई ऐसी चीज नहीं थी कि वे याद रखते। यहां श्रीअरविंद यही बात कह रहे हैं कि यदि ब्रह्म केवल एक व्यक्तित्वहीन अमूर्त वस्तु होते तो लय ही उनका एकमात्र बुद्धिसंगत अंत होता। क्योंकि यह स्पष्ट ही है, यदि कोई व्यक्ति देश-कालसे बाहर आ जाय तो सारी पृथक् सत्ता अपने-आप ही समाप्त हो जाती है।

तो यह बात है। व्यक्ति ऐसा **कर सकता है** किंतु उसका कोई खास परिणाम नहीं आयगा।

बस? तुमने देश-कालसे परे जानेकी चेष्टा की? (बालक अपना सिर जोरसे हिलाता है)

माताजी, आप क्या नये वर्षके संदेशकी व्याख्या करेंगी? इसका क्या अर्थ है: "क्रूसपर चढ़नेवाला शरीर नहीं, किंतु दिव्य महिमान्वित शरीर ही जगत्‌की रक्षा करेगा"?[1]

मैं तुम्हें अभी एक बात कहने जा रही हूं, इससे तुम समझ जाओगे।

एक दिन, मैं ठीक नहीं जानती कब, अकस्मात् मुझे याद आया कि मुझे इस वर्षके लिये संदेश देना है। ये संदेश साधारणतया इस बातको सूचित करते हैं कि उस वर्ष क्या होनेवाला है। क्योंकि किन्हीं कारणोंसे मेरे पास कहनेको कुछ नहीं था, इसलिये मैंने अपनेसे पूछा या बल्कि यह पूछा कि क्या कहना चाहिये, इसके लिये मुझे कोई स्पष्ट संकेत मिल सकता है या नहीं। मैंने ठीक-ठीक यह पूछा: इस जगत्‌में ऐसी कौन-सी सर्वोत्तम अवस्था और वस्तु है जो मनुष्यको या चेतनाकी उस अवस्थाको सत्यके थोड़ा और निकट खींचनेमें मदद कर सके?

वह सर्वोत्तम अवस्था कौन-सी थी?

कुछ घण्टोंके बाद मेरे हाथमें एक पुस्तिका आ पड़ी जो अमेरिकासे आयी थी और 'मानव परिवार' नामक छायाचित्रोंकी प्रदर्शनीकी एक तरहकी समीक्षा थी। इस पुस्तिकामें कुछ उद्धरण और बहुत-से छायाचित्रोंके

---

[1] "अशुभकी शक्तिसे अधिक महान् कोई शक्ति ही विजय प्राप्त कर सकती है, क्रूसपर चढ़नेवाला शरीर नहीं, किंतु दिव्य महिमान्वित शरीर ही जगत्‌की रक्षा करेगा।"

प्रतिरूप थे जिन्हें विषयवार वर्गोंमें बांटा गया था और यह सब मनुष्योंमें भाईचारेकी सच्ची भावना जगानेका यत्न करनेके उद्देश्यसे किया गया था। यह सब संभावित युद्धको रोकनेके एक विशाल और कारुणिक प्रयासको सूचित करता था। ये उद्धरण एक महिला संवाददाताने चुने थे जो यहां आकर मुझसे मिली भी थी। और इसलिये यह सब मेरे सामने उस सर्वश्रेष्ठ मानव संकल्पको वस्तुतः हृदयस्पर्शी रूपमें व्यक्त करते हुए आया था जो इस समय सामूहिक दृष्टिसे प्रकट हो सकता था! मैं यह नहीं कहती कि इस जगत्‌में बहुत ऊंचे उठे हुए व्यक्ति नहीं हैं जो ज्यादा अच्छी तरह नहीं समझते, किंतु ये व्यक्तिगत उदाहरण हैं, मानवताके लिये कुछ करनेवाला सामूहिक प्रयास नहीं है। मुझे सचमुच इस चीजने छू लिया।

और फिर मैं इस पुस्तिकाके अंतिम भागपर पहुंची। उन लोगोंने समाधानके रूपमें मानवको एक-दूसरेको मारनेसे रोकनेके लिये अपनी अज्ञानपूर्ण सद्‌भावनाके साथ कुछ सुझाव दिये थे।...यह सब इतना घटिया, इतना बलहीन, इतना अज्ञानपूर्ण, इतना अक्षम था कि मुझे सचमुच दया आ गयी—मैंने अपने मनमें कल्पना की: यह प्रदर्शनी यहां पांडिचेरी भी आये, हम उसे प्रदर्शित कर सकें तथा उनकी पुस्तिकामें उपसंहारमें एक खण्ड और जोड़ दें जिसमें उन्हें समस्याका सच्चा समाधान बताया गया हो। और सारी कल्पनाने बहुत ठोस रूपमें यह आकार ग्रहण किया कि इसमें किस प्रकारके छायाचित्रोंकी आवश्यकता होगी, किन उद्धरणोंको रखना होगा, और उसके बाद बिलकुल निर्णयात्मक ढंगसे, मानों कोई चीज चेतनाकी गहराईमेंसे उभर आयी हो, इस प्रकार यह वाक्य स्फुरित हुआ। मैंने वह लिख लिया और उसे लिख लेनेके तुरन्त बाद मैंने अपने मनमें कहा: "अरे, यह तो वही है, मेरा संदेश।" और फिर यह निश्चय किया गया यही सन्देश रहेगा। बस।

इसका अर्थ यह है कि यही वस्तु उस सर्वोत्तम मानव सद्‌भावनाको आगे बढ़ा सकती है जो आज पृथ्वीपर अभिव्यक्त हुई है। इस विचारने यह विशेष आकार इसलिये ग्रहण किया कि यह सद्‌भावना ईसाई धर्मको माननेवाले प्रदेशसे आयी है, इसीलिये, स्वभावतः इसपर ईसाइयतका काफी विशेष प्रभाव मालूम होता है। किंतु ऐसी वृत्ति जगत्‌के अन्य सब स्थानोंमें भी पायी जाती है तथा देशों और धर्मोंके अनुसार भिन्न स्वरूपोंमें व्यक्त हुई है। मैंने इस वृत्तिके पीछे रहनेवाले अज्ञानके विरोधमें, एक प्रतिक्रियाके रूपमें, यह सन्देश लिखा था। स्वभावतया यही विचार भारतमें भी विद्यमान है; यह विचार है—समस्त भौतिक तथ्यका संपूर्ण त्याग और

माया एवं मिथ्या माने जानेवाले संसारके लिये गहरी घृणाकी वृत्ति, जो श्रीअरविंदके कथनानुसार विरोधी शक्तियोंका प्रभुत्व स्थापित करनेके लिये क्षेत्र खुला छोड़ देती है। यदि तुम एक दूर स्थित अमूर्त्त वस्तुको पानेके लिये ठोस यथार्थ वस्तुसे भागते हो तो तुम स्थूल साक्षात्कारके सारे क्षेत्रको उन विरोधी शक्तियोंके पूरे अधिकारमें छोड़ देते हो जिन्होंने इस क्षेत्रको हथिया रखा है और जिनका उसपर थोड़ा-बहुत प्रभुत्व भी है। और यह सब पलायन उस चीजके लिये है, उस अभावका अधिपति बननेके लिये है जिसे श्रीअरविंद इस सूत्रमें शून्य या रिक्त इकाई कहते हैं। यह तो निर्वाणमें लौटना हुआ। यह विचार दुनियामें सब जगह विद्यमान है किंतु भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट हुआ है।

क्योंकि अबतक अशुभका विरोध निर्बलताके साथ, एक ऐसी आध्यात्मिक शक्तिके द्वारा किया गया जिसमें भौतिक जगत्को रूपांतरित करनेकी-कोई शक्ति नहीं थी, इसी कारण सद्भावनाका यह विशाल प्रयास एक शोचनीय पराजयके रूपमें परिणत हुआ और संसारको इसी दुःख-दैन्य, पतन और मिथ्याकी अवस्थामें छोड़ गया है। वस्तुतः, विरोधी शक्तियां जिसपर शासन कर रही हैं **उसी** स्तरपर हमें एक ऐसी महत्तर शक्ति प्राप्त करनी चाहिये जो उन शक्तियोंसे बड़ी हो और **उनके अपने क्षेत्रमें ही** उनपर पूर्णतया विजय पानेमें समर्थ हो। दूसरे शब्दोंमें कहें तो, यह ऐसी आध्यात्मिक शक्ति होनी चाहिये जो चेतना और स्थूल जगत् दोनोंका रूपांतर कर सके। यह शक्ति है अतिमानसिक शक्ति। आवश्यकता इस बातकी है कि हम भौतिक स्तरपर की गयी इस शक्तिकी क्रियाके प्रति ग्रहणशील बनें और अपने छोड़े हुए क्षेत्रको पूरी तरह शत्रुके हाथों सौंपकर सुदूर निर्वाणमें न भाग जायं।

विजयकी प्राप्ति न केवल बलिदानसे, न त्यागसे, न ही निर्बलतासे होती है। वह केवल ऐसे दिव्य आनंदद्वारा मिलती है जो सामर्थ्य, सहनशीलता और परम साहस-स्वरूप है, यह आनंद अतिमानसिक शक्ति ही लाती है। यह हर एक चीजके त्याग करने और उससे पलायन करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है, यह वृत्ति असीम रूपसे महान् वीरताकी मांग करती है — किंतु विजय प्राप्त करनेका यही एकमात्र उपाय है।

और तो कुछ नहीं? मेरे पास कुछ प्रश्न हैं, लेकिन अब जरा देर हो गयी है।

माताजी, इन दिनों जो नयी शक्ति कार्य कर रही है वह व्यक्तिके प्रयत्नद्वारा कार्य करेगी या उससे स्वतंत्र रूपमें?

यह विरोध क्यों? यह शक्ति संसारमें सब व्यक्तिगत प्रयत्नोंसे स्वतंत्र होकर, यह भी कह सकते हैं कि स्वतः ही कार्य कर रही है, किंतु यह व्यक्तिगत प्रयत्नको **उत्पन्न** करती है और उसका **उपयोग करती है**। व्यक्तिगत प्रयत्न उसकी क्रियाका शायद सबसे अधिक शक्तिशाली साधन है। यदि कोई यह समझे कि व्यक्तिगत प्रयत्नका कारण व्यक्ति है तो यह भ्रम है, किंतु यदि मनुष्य इस बहाने कि वैश्व क्रिया उससे स्वतंत्र है, व्यक्तिगत प्रयत्न करना अस्वीकार कर दे तो इसका अर्थ है कि वह सहयोग नहीं देना चाहता। भागवत शक्ति उसका उपयोग करना चाहती है, और वस्तुतः अपने अधिकारमें सबसे अधिक शक्तिशाली साधनोंमेंसे एक रूपमें व्यक्तिगत प्रयत्नका उपयोग करती है। स्वयं भागवत शक्ति, यह दिव्य बल ही तुम्हारा व्यक्तिगत प्रयत्न है।

और प्राणको जब कहा जाता है: "तुम्हारा अपने-आपमें कोई अस्तित्व नहीं" तो उसके आत्म-प्रेमकी प्रथम प्रतिक्रियाको तुम नहीं जानते; यह सहज ही कहता है: "अच्छा, तो अब मैं कोई काम नहीं करूंगा। कार्यका कर्त्ता मैं नहीं हूं, तो फिर मैं कोई काम नहीं करूंगा," और "अच्छा ही है, भगवान् सब कर सकते हैं, यह उनका काम है, मैं अब हिलता भी नहीं। यदि काम करनेका श्रेय मुझे नहीं मिलता (यह इस हदतक पहुंच जाता है), तो मैं कोई काम नहीं करता।" ठीक है, किन्तु यथार्थतया यह कोई प्रशंसाकी बात नहीं है, ये बातें मैं निरन्तर सुनती रहती हूं। यह केवल क्षुब्ध अहंका गुबार निकालनेका एक तरीका है, बस! किन्तु यथार्थ प्रतिक्रिया, विशुद्ध प्रतिक्रिया है किसी भी परिस्थितिमें सहयोग देनेकी उमंग-के साथ, खेलकी सारी शक्तिके साथ, अपनी चेतनामें विद्यमान संपूर्ण संकल्प-शक्तिके साथ इस भावनासे खेलना कि तुमसे अनन्त गुनी शक्तिशाली कोई ऐसी चीज है जो तुम्हें संभाले हुए है और तुम्हें आगेकी ओर ले जा रही है, एक ऐसी चीज है जो निर्भ्रान्त है और साथ ही तुम्हें सब आवश्यक बल प्रदान करती है एवं तुम्हारा सर्वोत्तम उपकरणके रूपमें उपयोग करती है। मनुष्य उसका अनुभव करता है और उसे यह भी लगता है कि किसी-की छत्रछायामें रहकर काम कर रहा है और कभी धोखा नहीं खा सकता तथा जो कुछ भी करता है उसे अधिकतम सफलताके साथ — प्रसन्न-भावमें — करता है। यही वस्तुतः सही क्रिया है, अर्थात्, यह अनुभव करना कि उसका संकल्प अत्यन्त तीव्र हो गया है, क्योंकि तब वह असीममें विद्यमान एक क्षुद्र व्यक्ति नहीं रहता, एक विश्वव्यापी अनन्त 'शक्ति', 'सत्य'की 'शक्ति' उससे कार्य करवाती है। एकमात्र यही सच्ची प्रतिक्रिया है।

और दूसरा — बेचारा। वह मनमें सोचता है: "ओह, कर्मका करनेवाला मैं

नहीं। हाय, इसमें मेरी इच्छा व्यक्त नहीं होती, मेरी शक्ति कार्य नहीं करती ...अच्छा मैं लेट जाता हूं और अपने-आपको जड़ निष्क्रियतामें लंबा करता हूं और अब जरा भी हिलूंगा-डुलूंगा नहीं।" और भगवान्‌से कहता है: "अच्छा, अच्छा, सब कुछ अपनी इच्छाके अनुसार किये जाओ, अब मेरा तो कोई अस्तित्व ही नहीं है।" यह अवस्था सचमुच दयनीय है! तो बस, यही है बात!

९ जनवरी, १९५७

"भगवान् प्रकृतिकी ओर झुकना नहीं छोड़ सकते, न ही मनुष्य देवत्वकी अभीप्सा करनेसे रुक सकता है। यह तो सांत और अनंतका सनातन संबंध है। जब वे एक-दूसरेसे विमुख होते हुए प्रतीत होते हैं तो उनका यह पीछे हटना और भी अधिक प्रगाढ़ मिलनके लिये होता है।

मानवमें आकर जगत्‌की प्रकृति फिरसे आत्म-चेतन हो उठती है ताकि वह अपने दिव्य भोक्ताकी ओर लंबी छलांग लगा सके। इस दिव्य भोक्ताको ही उसने अनजाने अपने अधिकारमें कर रखा है, इसीको प्राण और इंद्रिय-संवेदन अपने अधिकारमें करते हुए भी अस्वीकार करते हैं और अस्वीकार करते हुए भी ढूंढते हैं। यह जगत्-प्रकृति भगवान्‌को इसी कारण नहीं जानती कि वह अपने-आपको नहीं जानती। अपने-आपको जान लेनेपर वह सत्ताके विशुद्ध आनंदको भी जान जायगी।

एकत्वमें सर्वकी उपलब्धि, विलय नहीं, यही रहस्य है। भगवान् और मानव, विश्व और विश्वातीत जब एक-दूसरेको जान लेते हैं तो एक हो जाते हैं। उनका विभेद ही अज्ञानका मूल है जिस तरह कि अज्ञान दुःखका मूल है।"

(विचार और झांकियां)

श्रीअरविन्द जैसे कि यहां कहते हैं, विश्वकी यथार्थ वस्तु वह है जिसे मनुष्य

भगवान् या दिव्यता कहते हैं, किन्तु असलमें वह वस्तु है 'आनन्द'। इस विश्वकी उत्पत्ति आनन्दमें और आनन्दके लिये हुई। किन्तु यह आनन्द सृष्टिके साथ स्रष्टाके पूर्ण एकत्वमें ही रह सकता है। और श्रीअरविन्द इस एकत्वका अधिकर्ताके रूपमें वर्णन करते हैं, अर्थात्, स्रष्टा-अधिकर्ता अपनी सृष्टिद्वारा अधिकृत होता है। यह एक प्रकारका पारस्परिक अधिकार है जो एकताका सच्चा सारतत्त्व है और सारे आनन्दका स्रोत है।

और इस विभेदके कारण ही, अर्थात् क्योंकि अधिकर्ताका अधिकृतपर अधिकार नहीं रह गया, न ही अधिकृतका अधिकर्तापर कोई अधिकार रहा, इसीलिये विभेद उत्पन्न हुआ और मूल आनन्द अज्ञानमें बदल गया। यह अज्ञान (अविद्या) ही सब कष्टका मूल कारण है। यहां 'अज्ञान'का भाव वह नहीं है जो साधारणतया समझा जाता है, उसे श्रीअरविन्दने 'अचित्' नाम दिया है। यह अचित् अज्ञानका परिणाम है। यथार्थ अज्ञान है एकत्वके, मिलनके, तादात्म्यके सम्बन्धमें अज्ञान। और यही सारे कष्टका कारण है।

अज्ञानका शासन तभीसे शुरू हो गया जबसे विभेद आरंभ हुआ, सृष्टिके साथ स्रष्टाका सम्बन्ध टूट गया। अज्ञानका राज्य हुआ और ये सारे दुःख-कष्ट उसीका परिणाम हैं।

जिन लोगोंने आन्तरिक प्रयोग किये हैं उन्हें इस बातका अनुभव है कि दिव्य स्रोतके साथ पुनः सम्बन्ध स्थापित होते ही सब कष्ट विलीन हो जाते हैं। किन्तु एक बड़ा आन्दोलन रहा है जिसके सम्बन्धमें मैंने तुम्हें पिछले सप्ताह कहा था। यह आन्दोलन इस मूल दिव्य आनन्दको नहीं बल्कि कामनाको सृष्टिके स्रोतके रूपमें स्थापित करता है। सर्जनके, आत्म-आविर्भावके, आत्म-अभिव्यक्तिके इस आनन्दको जिज्ञासुओं और साधु-सन्तोंकी एक पूरी-की-पूरी परंपराने आनन्द नहीं बल्कि कामना माना है; बौद्ध धर्मका सारा झुकाव इसी प्रकारका है। और हमारे भीतर आविर्भाव और संभूतिके आनन्दको पुनः प्रतिष्ठित करनेवाली एकतामें समाधानके रूपमें देखनेके बदले वे मानते हैं कि हमारा लक्ष्य और साधन दोनों अस्तित्वमें आनेकी सारी कामनाका पूर्ण निषेध और शून्यमें लौट जाना ही है।

यह धारणा एक मूलगत गलतफहमी जैसी है। आत्म-स्वातंत्र्यके लिये जिन पद्धतियोंका सुझाव दिया गया है वे विकासकी पद्धतियां हैं और बहुत उपयोगी भी हो सकती हैं, परन्तु तत्वतः यह बुरे संसारकी धारणा — क्योंकि यह कामनाका परिणाम है — और इससे मनुष्यको किसी भी कीमतपर यथासंभव जल्दी-से-जल्दी बचना चाहिये, इसी धारणाने मानवताके इतिहासमें संपूर्ण आध्यात्मिक जीवनको अत्यधिक महान् और गंभीर विकृत रूप दिया है।

यह धारणा शायद किसी विशेष कालमें उपयोगी हो सकती थी, क्योंकि जगत्‌के इतिहासमें सभी चीजें उपयोगी हैं, किन्तु यह उपयोगिता अब समाप्त हो गयी है, जीर्ण हो गयी है, और अब समय आ गया है कि हम इस धारणाका अतिक्रमण करके अधिक मूलगत और उच्चतर सत्यकी ओर लौटें, सत्ताके 'आनन्द', मिलनके 'हर्ष' और भगवान्‌के आविर्भावकी ओर मुड़ें।

इस नवीन — मेरा मतलब पार्थिव साक्षात्कारकी दृष्टिसे नवीन — निर्धारणको ही पहले सब आध्यात्मिक निर्धारणोंका स्थान लेना होगा और आगे आनेवाले नये अतिमानसिक साक्षात्कारके लिये मार्ग खोलना होगा। इसी कारण पिछले सप्ताह मैंने तुमसे कहा था कि इस पृथ्वीपर केवल आनन्द, सच्चा भागवत आनन्द ही 'विजय' ला सकता है।

स्वभावतः, मनुष्यको आनन्दके नामसे चकरा नहीं जाना चाहिये, और इसीलिये प्रारंभसे ही श्रीअरविन्द हमें यह कहकर सावधान कर देते हैं कि सब भोगोंसे परे होनेपर ही मनुष्य परमानन्दमें प्रवेश कर सकता है। निश्चय ही परमानन्दकी अवस्था यथार्थ रूपमें वह अवस्था है जो इस दिव्य आनन्दके आविर्भावमेंसे प्रकट होती है। किन्तु यह उस सबसे एकदम भिन्न वस्तु है जिसे हम साधारणतया आमोद-प्रमोद और भोग-विलास कहते हैं और उसे पानेके लिये हमें इन्हें पूरी तरहसे त्याग देना होगा।

(एक बालकसे) तुम्हें कोई प्रश्न पूछना है?

कुछ पूछना है, पर हमने अभी उसे पढ़ा नहीं है।

क्या है वह?

वह ईश्वर और प्रकृतिके संबंधमें है।

अच्छा तो?

ईश्वर और प्रकृति एक-दूसरेकी झलक पा लेनेके बाद परे क्यों भागते हैं?[1]

---

[1] "ईश्वर और प्रकृति बालक और बालिकाकी तरह खेलते हैं और प्यार करते हैं। वे एक-दूसरेकी झलक पानेपर छिपते और भागते हैं जिससे एक-दूसरेको खोज सकें, पीछा कर सकें और अधिकारमें ले सकें।"

खेलनेके लिये। श्रीअरविन्द ऐसा ही कहते हैं: "वे खेल रहे हैं।" वे खेलनेके लिये ऐसा करते हैं।

(एक तरुण शिष्य) **माताजी, क्या प्रकृति यह जानती है कि यह खेल है? भगवान् तो यह जानते हैं कि यह खेल है। किंतु क्या प्रकृति भी यह जानती है?**

मेरा विश्वास है कि प्रकृति भी इस बातको जानती है, केवल मनुष्य ही नहीं जानता।

(दूसरा बालक) **मधुर मां, प्रकृति अपनेको कहां छिपा सकती है?**

वह कहां छिप सकती है? मेरे बच्चे, वह निश्चेतनामें छिपती है। यह निश्चेतना ही छिपनेका सबसे बड़ा स्थान है। इसके सिवाय, भगवान् भी निश्चेतनामें छिपते हैं।

शायद व्यक्ति जब उसे खेल मानकर प्रसन्नतापूर्वक खेलता है तो यह मनोरंजक लगता है। किन्तु जब वह नहीं जानता कि यह एक खेल है तो यह मनोरंजक नहीं होता। तुम समझे या नहीं? जब वह दूसरी तरफ, अर्थात्, भगवान्‌की ओर पहुंच जाता है तभी इस प्रकार देख सकता है; अर्थात्, जबतक वह अज्ञानमें निवास करता है तो अवश्य ही उस वस्तु-से कष्ट पाता है जो वस्तुतः हमारे लिये रुचिकर और प्रीतिदायक होनी चाहिये। मूलतः इसका निष्कर्ष यह है: जब मनुष्य किसी कार्यको ज्ञान और विवेक-विचारके साथ करता है तो वह उसके लिये बड़ा मजेदार हो जाता है और बड़ा रुचिकर हो सकता है। किन्तु जब यह कार्य ऐसा हो जाता है जो विचारपूर्वक न किया गया हो और जिसे तुम समझते भी नहीं, ऐसी कोई चीज बन जाता है जो तुमपर लादी गयी है और जिसे तुम किसी तरह झेल रहे हो तो यह तुम्हें प्रीतिकर नहीं लगता। इसका समाधान वही है जो हमेशा दिया गया है कि तुम्हें इस कर्मको विचार-विवेकपूर्वक सीखना, समझना और करना चाहिये। किन्तु यदि मैं अपनी सच्ची भावना कहूं तो मुझे लगता है कि खेलको बदल देना ही अधिक अच्छा होगा... इस स्थितिमें निवास करते हुए व्यक्ति मुस्करा और समझ सकता है और इससे उसका विनोद भी हो सकता है किन्तु जब वह उन लोगोंको देखता है और उनके विषयमें सचेतन होता है जिन्हें यह समझ

पाना कठिन लगता है कि वे खेल रहे हैं. जो खेलको बहुत गंभीरतासे लेते हैं, बल्कि इसे काफी बुरा मानते हैं, तो . . . मालूम नहीं, व्यक्ति उसे बदलना ही पसन्द करेगा। यह विशुद्ध रूपसे एक व्यक्तिगत अभिप्राय है।

मैं यह खूब अच्छी तरह जानती हूं : जैसे ही व्यक्ति दूसरी ओर पहुंचता है उसके साथ ही . . . जब निराश और दुःखी होनेके स्थानपर व्यक्ति उच्च भावमें रहकर केवल निरीक्षण ही नहीं बल्कि स्वयं कार्य भी करता है, तो यह परिवर्तन इतना पूर्ण होता है कि उसके लिये फिर उस स्थितिको याद करना भी कठिन हो जाता है जब कि वह इस निश्चेतनाके, इस अज्ञानके सारे भारको अपनी पीठपर ढोते हुए जी रहा था; वह क्यों और कैसे जाने बिना ही, और यह जाने बिना कि वह कहां जा रहा है और ऐसी स्थिति क्यों है, सब कुछ सह रहा है। वह इन बीती बातोंको भूल जाता है। और तब वह कह सकता है : "यह एक सनातन खेल है जो सनातन उद्यानमें चल रहा है।" परन्तु इस खेलको रुचिकर बनानेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको नियमोंको जानकर ही खेल खेलना चाहिये; जबतक व्यक्ति खेलके नियम नहीं जानता तबतक यह उसे प्रीतिकर नहीं लगता। इसीलिये समाधानके रूपमें यह कहा जाता है : "लेकिन तुम खेलके नियम सीखो।" . . . यह सबके बूतेकी बात नहीं।

मेरे ऊपर, वस्तुतः, यह प्रभाव, बड़ा प्रबल प्रभाव पड़ा है कि कोई शरारती विदूषक है जिसने आकर खेलको बिगाड़ दिया और इसे एक नाटकीय वस्तु बना दिया है, और यह शरारती विदूषक ही स्पष्टतया विभेदका और उस अज्ञानका कारण है जो विभेदका परिणाम है और उस कष्टका भी जो उस अज्ञानका परिणाम है। मूलतः, सब आध्यात्मिक परंपराओंके बावजूद, यह मानना मुश्किल है कि इस विभेद, अज्ञान और कष्टकी स्थितिका ज्ञान सृष्टिके प्रारंभसे ही हो गया था। हरेक चीजके बावजूद, यह सोचना कठिन है कि इस अवस्थाको पहले ही जाना जा सकता था। मैं वस्तुतः, इस बातपर विश्वास करनेसे इनकार करती हूं। मैं इसे एक संयोग कहती हूं, एक काफी भयंकर दुर्घटना कहती हूं, किन्तु, तो भी, तुम समझ गये न, कि यह कम-से-कम मानव चेतनाके अनुपातमें भयंकर है; वैश्व चेतनाके अनुपातमें यह केवल एक ऐसी घटना है जिसे सुधारा जा सकता है। और आखिर, सुधारनेके बाद व्यक्ति यह कहकर इसे फिर याद भी कर सकेगा : "अहा, इस घटनाने हमें एक ऐसी वस्तु प्रदान की है जो अन्यथा हमें न प्राप्त होती।" परन्तु हमें पहले इसके सुधरनेकी प्रतीक्षा करनी होगी।

जो भी हो, मुझे नहीं मालूम ऐसे लोग हैं या नहीं जो कहते हैं कि इस बातको पहले जान लिया गया था और ऐसा ही संकल्प किया गया

था, परन्तु मैं तुमसे कहती हूं कि यह पहलेसे ज्ञात न था, न ऐसा संकल्प ही किया गया था, और इसी कारण जब यह दुर्घटना बिलकुल अप्रत्याशित रूपसे हुई तो तुरन्त ही मूल स्रोतमेंसे एक अन्य वस्तु कूदकर बाहर आ गयी जो सभंवतः प्रकट न होती यदि यह दुर्घटना न हुई होती। यदि दिव्य आनन्द दिव्य बना रहता और उसी रूपमें धारण किया जाता और प्रत्येक वस्तु विभेदके स्थानपर दिव्य आनन्द और एकताके रूपमें घटती, तो भागवत चेतनाको निश्चेतनामें दिव्य प्रेमके रूपमें कभी कूद पड़नेकी कोई आवश्यकता न होती। तो, मानव जब इस चीजको बहुत दूरसे और बहुत ऊंचाईपर रहकर देखता है, तो कहता है: "आखिर, शायद कोई चीज इसमेंसे बाहर आयी है।" लेकिन मनुष्यको उसे बहुत दूरसे और बहुत उच्चावस्थामें रहकर देखना चाहिये ताकि वह ऐसा कह सके। बल्कि, जब वह बहुत पीछे छूट जाती है, जब मनुष्य इस अवस्थासे परे चला जाता है, दिव्य एकता और आनंदमें प्रवेश कर लेता है, जब विभेद, निश्चेतना और कष्ट विलीन हो जाते हैं, तब वह बहुत समझदारीके साथ कह सकता है: "ओह, हां, मुझे वह अनुभूति प्राप्त हो गयी है जो अन्यथा कभी न प्राप्त होती।" किंतु अनुभूतिको पीछे छूट जाना चाहिये, हमें बीच अनुभूतिमें नहीं रहना चाहिये। क्योंकि, उसके लिये भी जो — इस बातको मैं जानती हूं — उसके लिये भी जो इस अवस्थासे बाहर निकल आया है, जो 'एकत्व' की चेतनामें निवास करता है, जिसके लिये अज्ञान एक बाह्य वस्तु बन गया है, अब निकटकी और कष्टदायक कोई वस्तु नहीं रहा, उस व्यक्तिके लिये भी उन सब लोगोंके कष्टोंको, जो अभी उस अनुभवसे बाहर नहीं निकले हैं, एक उदासीन मुस्कराहटके साथ देखना असंभव है। मुझे तो यह बात असंभव लगती है। अतः जगत्में वस्तुओंका और बीमारीकी उग्रताका विलीन हो जाना सचमुच आवश्यक है, ताकि यह कहा जा सके: "ओह! हां, इससे हमें फायदा हुआ है।" यह सच है, हमें कोई वस्तु प्राप्त हुई है किंतु यह सौदा हमें बड़ा महंगा पड़ा है।

इसीलिये, मेरा विश्वास है कि इसी कारण, इतने सारे अध्यात्ममें दीक्षित और साधु-संत शून्यके, निर्वाणके समाधानकी ओर आकृष्ट हुए हैं, क्योंकि स्पष्ट ही, अज्ञानमय आविर्भावके परिणामोंसे बचनेका यही एक बहुत प्रारंभिक तरीका है।

केवल, इस आविर्भावको सच्ची यथार्थतामें, सच्ची दिव्य अभिव्यक्तिमें बदल देनेवाला समाधान ही एक बहुत अधिक महान् समाधान है। और अब इसीके लिये हम कोशिश करना चाहते हैं, इस निश्चयके साथ कि

प्रत्येक वस्तुके बावजूद, चाहे कोई भी चीज सामने आये, किसी-न-किसी दिन जरूर सफल होंगे, जो सत्य है वह सनातन रूपसे सत्य रहेगा और जो मूलगत सत्य है उसे साक्षात्कारमें एक-न-एक दिन अवश्य ही सत्य होना होगा। श्रीअरविंदने हमें कहा है कि हमने इस मार्गपर पहला कदम उठा लिया है और यह भी कहा है कि उपलब्धिका क्षण निकट ही है, इसलिये हमें बस, निकल पड़ना चाहिये। बस, इतना ही।

तो यह प्रश्न तुमने किया है? (उस बच्चेसे जिसने आंख-मिचौनीवाले खेलके विषयमें पूछा था) क्या तुम यही जानना चाहते थे?

वास्तवमें तुम जो पूछना चाहते थे वह था: "यह मूर्त्त रूप क्यों है?"

हां।

हम इस बातको उल्टा कर सकते थे। विश्व ऐसा है अर्थात्, भगवान् और मनुष्य ऐसे हैं, ऐसे प्रतीत होते हैं, यह कहनेके स्थानपर हमें यह कहना चाहिये कि भगवान् और मनुष्यमें जो मूलगत संबंध है, वर्तमान-कालमें यह शायद उसकी बाह्य और बनावटी अभिव्यक्ति है। वस्तुत: यह बात इस कथनके जैसी होगी कि मनुष्य जब खेलता है तो अपनी गंभीरताकी स्थितिकी अपेक्षा कहीं अधिक उच्चावस्थामें होता है! (हंसी) लेकिन ऐसा कहना हमेशा अच्छा नहीं होता! शायद, वैज्ञानिकके पाण्डित्य और सन्तकी कठोर तपस्याकी अपेक्षा बच्चोंकी सहज क्रीड़ामें अधिक दिव्यता है। मैंने हमेशा यही समझा है। केवल, (मुस्कराते हुए) यह एक ऐसी दिव्यता है जो अपने विषयमें बिलकुल सचेतन नहीं है।

जहांतक मेरी बात है, मुझे तुम्हारे सामने स्वीकार करना चाहिये कि जब मैं बहुत गंभीर और चिंतनशील अवस्थामें होती हूं उसकी अपेक्षा जब मैं — अपने ढंगसे — आनंदमें होती हूं और खेलती हूं तो मुझे लगता है कि मैं अपने मूल स्वरूपके अधिक निकट हूं। गंभीर और चिंतनशील होनेपर मुझे हमेशा ऐसा लगता है कि मैं इस सारी सृष्टिका बोझ ढो रही हूं जो बहुत अधिक भारी और अंधेरी है जब कि खेलते समय, अर्थात् जब मैं खेलती हूं, हंस सकती हूं, आनंद कर सकती हूं, तब मुझे ऐसा अनुभव होता है कि आनंदकी एक सूक्ष्म रज ऊपरसे बरस रही है और इस सृष्टिको, इस जगत्को एक विशेष प्रकारकी आभासे रंग रही है, उसे उसके मूल रूपके अधिक निकट ला रही है।

माताजी, आप कब गंभीर होती हैं और क्यों?

ओह! तो तुमने मुझे कभी गंभीर देखा है, नहीं? शायद जब मैं एक सीढ़ी नीचे आ जाती हूं, मालूम नहीं — जब कोई डूब रहा होता है या कठिनाईमें होता है तो मनुष्यको उससे बाहर खींच लानेके लिये किनारेसे उतरकर पानीमें आना पड़ता है। शायद यही कारण है। जब दृष्टि-पर कोई विशेष विपत्ति आ पड़ती है तो व्यक्ति थोड़ा नीचे उतरकर खींचता है और इसीलिये वह गंभीर हो जाता है। किंतु जब सब ठीक चल रहा हो तो व्यक्ति हंस सकता है, आनंद कर सकता है।

असलमें तो यह कहा जा सकता है कि एक प्रतिपादन, सारे उपदेश, यहांतक कि सब प्रार्थनाएं एवं आवाहन भी, उस जगहसे आते हैं जिसे श्रीअरविंद निम्नगोलार्द्ध कहते हैं, इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति अभी निम्न भूमिकापर ही है। यह स्थान निम्न गोलार्द्धका शिखर हो सकता है, सीमाप्रांत हो सकता है या केवल कोई किनारा, किंतु व्यक्ति तब भी होता निम्न गोलार्द्धमें ही है। और दूसरी ओर पहुंचते ही व्यक्तिको यह सब बिलकुल व्यर्थ और प्रायः बचकाना — बुरे अर्थमें, — अज्ञानपूर्ण, बहुत ही अज्ञानपूर्ण प्रतीत होता है। इस स्थितिमें बने रहना तब भी बड़ा मनोरंजक होता है जब व्यक्ति कभी एक ओर आता है और कभी दूसरी तरफके किनारे पहुंच जाता है। तो, दूसरी ओरका यह किनारा, मानव चेतनाके लिये प्रायः अगम्य शिखर है, और जो व्यक्ति इस गोलार्द्ध-में सचेतन रूपसे और स्वतंत्रतापूर्वक रह सकता है उसके लिये, सबके बावजूद, यह नीचे उतरना ही है।

मैं बादमें यहां तुम्हारे साथ 'दिव्य जीवन' के अंतिम अध्याय पढ़ना चाहूंगी। मैं समझती हूं कि तुम काफी बड़े और काफी वयस्क हो गये हो, इतने कि इसे समझ सको। और उसके बाद बहुत प्रकारकी बातोंको तुम समझ सकोगे और इस मूल पाठपर आधारित, ऐसे बहुत-से विषयोंको हम हाथमें ले सकेंगे जिनसे हमें उपलब्धिकी दिशामें एक गंभीर कदम उठानेमें सहायता मिलेगी। श्रीअरविंद इन दो अवस्थाओंके बीचके भेदका बहुत निश्चित और अद्भुत ढंगसे वर्णन करते हैं कि किस प्रकार मानवको यह पूर्णताकी, बहरहाल साक्षात्कारकी लगभग सर्वोच्च स्थिति प्रतीत होती है, किस प्रकार वह सब अब भी निम्न गोलार्द्धसे संबंध रखता है, इसमें देव-ताओंके उन सब संबंधोंका समावेश है जैसे मानवने उन्हें जाना है और अब भी जानते हैं — किस प्रकार ये सब चीजें अब भी बहुत निम्न भूमिकाकी हैं — और व्यक्ति जब और ऊंचाईपर उठता है तो वह कौन-सी सच्ची अवस्था है, जिसका उन्होंने अतिमानसिक अवस्थाके रूपमें वर्णन किया है।

और सच तो यह है कि जबतक मनुष्य सचेतन रूपसे ऊपर नहीं जाता तबतक वह वस्तुओंके एक पूरे-के-पूरे जगत्को नहीं समझ सकता।

तो अब, मैं चाहूंगी, कि हम मार्गका उद्घाटन करें और सब साथ मिल कर थोड़ा परेकी ओर आगे बढ़ें।

ठीक तो!

१६ जनवरी, १९५७

> **"मनुष्य पहले अंधेकी तरह ढूंढता है और यह भी नहीं जानता कि वह अपने दिव्य स्वरूपको ढूंढ रहा है; क्योंकि वह भौतिक प्रकृतिकी तामसिकतासे अपनी खोज प्रारंभ करता है और जब देखने लगता है तब भी उस प्रकाशसे देरतक चुंधियाया रहता है जो उसके अंदर बढ़ रहा है। भगवान् भी मनुष्यकी खोजका अस्पष्ट-सा उत्तर देते हैं। भगवान्, मांको टटोलनेवाले नन्हे बच्चेके हाथोंके समान ही मनुष्यकी अंधताको खोजते हैं और उसमें आनंद लेते हैं।"**
>
> (विचार और झांकियां)

मधुर मां, यह कैसे हो सकता है कि कोई व्यक्ति किसी चीजको खोजे और फिर भी उसे यह न मालूम हो कि वह किस चीज-को ढूंढ रहा है?

तुम अनजाने ही बहुत-सी बातें विचारते, अनुभव करते, चाहते, यहांतक कि करते भी हो। क्या तुम अपने संबंधमें और तुम्हारे अंदर जो क्रिया हो रही है उस सबके संबंधमें पूर्णतया सचेतन हो? — बिलकुल भी नहीं! उदाहरणके लिये, यदि अचानक अप्रत्याशित रूपसे किसी खास समयमें मैं तुमसे पूछूं: "तुम किस विषयमें सोच रहे हो?" तो तुम्हारा जबाब सौ-मेंसे निन्यानवे बार यही होगा: "मैं नहीं जानता!" और इसी प्रकार यदि मैं एक दूसरा ऐसा ही प्रश्न करूं: "तुम क्या चाहते हो?" तो तुम यही कहोगे: "मुझे पता नहीं क्या चाहता हूं।" और "तुम क्या अनुभव कर रहे हो?" — "मैं नहीं जानता।" ऐसा सुनिश्चित प्रश्न

केवल उन्हीं लोगोंसे पूछा जा सकता है जो आत्म-निरीक्षण करनेके आदी हैं, अपनी जीवनचर्याके विषयमें जागरूक हैं, जिनका ध्यान इस बात-को जाननेकी आवश्यकतापर केंद्रित है कि उनके अंदर क्या चल रहा है और वही लोग इसका जबाब तुरंत दे सकते हैं। हां, जीवनके कुछ दृष्टांतोंमें मनुष्य उन बातोंमें तन्मय हो जाता है जिन्हें अनुभव करता, विचारता और चाहता है और तब वह कह सकता है: "हां, मैं यह चाहता हूं, मैं इसके संबंधमें विचार रहा हूं, मैं इसका अनुभव करता हूं," पर ऐसा जीवनके कुछेक क्षणोंमें ही होता है; सारे समय नहीं।

तुमने कभी इसपर ध्यान दिया है? नहीं दिया?

अच्छा, तो मनुष्य यथार्थमें क्या है, इस बातको खोजना, वह पृथ्वीपर क्यों है, इसे ढूंढ निकालना, मनुष्यके भौतिक अस्तित्वका, पृथ्वीपर उसकी उपस्थितिका, उसके इस आकार-प्रकारका, इस सत्ताका सच्चा प्रयोजन क्या है ... अधिकतर मनुष्य इन प्रश्नोंको अपनेसे एक बार भी पूछे बिना जिये जा रहे हैं! थोड़े-से उत्कृष्ट लोग ही यह सवाल अपनेसे रसपूर्वक करते हैं और उससे भी कम लोग इसका जबाब पानेके लिये काम करना शुरू करते हैं। क्योंकि जबतक सौभाग्यवश किसी जानकारसे भेंट नहीं होती तबतक इस बातको जान पाना इतना सरल नहीं है। उदाहरणके लिये, मान लो कि तुम्हारे हाथमें श्रीअरविंदकी कोई किताब कभी न आयी होती, न ही ऐसे लेखकों या दार्शनिकों या संतोंमेंसे किसीकी, जिन्होंने अपना जीवन इस खोजके अर्पण कर दिया, यदि तुम साधारण जगत्में लाखों-करोड़ों साधारण लोगोंकी तरह रहते हो जिन्होंने कभी विशेष अवसरोंको छोड़कर कुछ देवों और धर्मोंके सिवाय कुछ नहीं सुना — और वह धर्म भी श्रद्धाकी अपेक्षा अभ्यास अधिक होता है, और आजकल वह भी हमेशा नहीं, विरले अवसरोंपर — और वह धर्म भी तुम्हें कम ही यह बताता है कि तुम इस धरतीपर क्यों आये हो? ... तब व्यक्ति इसके संबंधमें सोचनेकी बात भी मनमें नहीं लाता। मनुष्य रोजाना अपने दैनिक कृत्यों-को करते हुए जीवन बिताता है। बचपनमें वह खाने और खेलनेके सम्बन्ध-में ही सोचता है और कुछ समय बाद पढ़नेके विषयमें, उसके बाद फिर जीवनकी सभी परिस्थितियोंके बारेमें विचारने लगता है। परन्तु अपनेसे इस समस्याको पूछना, इस समस्याको अपने सामने रखना और अपनेसे कहना: "आखिर, मैं क्यों हूं?" ऐसा कितने लोग करते हैं? कुछ लोगोंको यह विचार तभी आता है जब उनके सम्मुख कोई दारुण विपत्ति आ पड़ती है। जब वे अपने किसी प्रिय व्यक्तिको मरते हुए देखते हैं या उन्हें किन्हीं विशेष दुःखद परिस्थितियोंमें डाल दिया जाता है, तब

यदि वे पर्याप्त बुद्धिमान हों तो अपनी ओर मुड़कर अपने मनमें कहते हैं: "किन्तु, वह दुःखदायक स्थिति वस्तुतः क्या है जिसमेंसे हम गुजर रहे हैं और उसका क्या लाभ है और क्या उद्देश्य है?"

और मनुष्य उसी क्षणसे ज्ञानकी खोज शुरू कर देता है।

और व्यक्ति जब खोज लेता है, जैसा कि वह कहता है, समझ गये, जब वह यह खोज लेता है कि मनुष्यमें एक दिव्य व्यक्तित्व है और यह भी कि उसे इस दिव्य व्यक्तित्वको खोजना होगा... यह बुद्धि बहुत देरके बाद आती है, और फिर भी, सबके बावजूद, इस भौतिक शरीरमें जन्म लेनेके कालसे ही, इस सत्तामें, इसकी गहराईमें, चैत्य विद्यमान होता है जो सारी सत्ता-को परिपूर्णताकी ओर आगे बढ़ाता है। किन्तु इसे, इस चैत्य सत्ताको कौन जानता और पहचानता है? यह ज्ञान भी किन्हीं विशेष परिस्थितियोंमें ही आता है, और दुर्भाग्यसे अधिकतर ये परिस्थितियां दुःखपूर्ण ही होती हैं अन्यथा मनुष्य बिना चिन्तन-मननके यों ही जिये जाता है। और मनुष्यकी सत्ताकी गहराईमें यह चैत्य विद्यमान होता है और चेतनाको जगाने और ऐक्यको पुनः स्थापित करनेके लिये यत्न करता है, बार-बार यत्न करता है, यत्न करता ही रहता है। मनुष्य उसके बारेमें कुछ भी नहीं जानता।

बच्चे, तुम जब १० सालके थे तो इस बातको जानते थे? नहीं, तुम जानते थे? अच्छा, तब भी तुम्हारी सत्ताकी गहराईमें यह चैत्य सत्ता पहले-से ही इस एकताको पाना चाहती थी, इसे जाननेका यत्न कर रही थी। शायद यही बात तुम्हें यहां ले आयी।

जीवनमें बहुत-सी घटनाएं होती हैं और मनुष्य अपनेसे पूछता तक नहीं कि वे क्यों हुईं। मनुष्य उन्हें सामान्य रूपसे लेता है... यह ऐसी है क्योंकि यह ऐसी ही है। यह जानना बड़ा रोचक होगा कि मेरे इस सम्बन्धमें बात करनेसे पहले तुममेंसे कितने लोगोंने अपनेसे पूछा था कि तुम यहां कैसे आ गये?

स्वभावतः अधिक-से-अधिक बार इसका जवाब शायद बड़ा सरल होता है: "मेरे माता-पिता यहां हैं इसलिये मैं रहता हूं।" तो भी तुम यहां जन्मे नहीं थे। कोई भी यहां नहीं जन्मा। तुम भी नहीं, नहीं? तुम बंगलोर-में पैदा हुए थे। यहां कोई नहीं जन्मा।... और फिर भी तुम सब यहां हो। तुमने अपनेसे इसका कारण नहीं पूछा — ऐसा था इसलिये ऐसा हुआ! और इस प्रकार अपनेसे पूछनेमें और एक ऐसा सतही जवाब जो इतना सन्तोषप्रद हो कि अन्तिम मान लिया जाय, देनेके बीचमें भी और अपनेको यह कहनेमें: "कदाचित् यह किसी नियतिकी ओर मेरे जीवनके

प्रयोजनके प्रति निर्देश करता है?"...यहांतक पहुंचनेके लिये हमें कितना लम्बा रास्ता तय करना पड़ता है!

और हरेकके लिये ऐसे कम या अधिक ऊपरी कारण होते हैं जो, इसके अलावा, बहुत महत्त्वके नहीं होते और हरेक वस्तुकी व्याख्या यथासंभव बिलकुल मामूली ढंगसे करते हैं, किन्तु इसका एक बहुत गहरा कारण है जिसके सम्बन्धमें तुम अभी नहीं जानते हो। और क्या तुम लोगोंमें ऐसे बहुत-से व्यक्ति हैं जिनकी यह जाननेमें बहुत रुचि है कि वे यहां क्यों आये हैं? तुममें ऐसे कितने हैं जिन्होंने अपनेसे यह पूछा हो: "मेरे यहां रहनेका यथार्थ कारण क्या है?"

बच्चे, तुमने अपनेसे पूछा?

मैंने आपसे एक बार पहले पूछा था, मधुर मां!

ओह, ठीक है। और तुम?...और तुम?

मुझे याद नहीं।

तुम्हें याद नहीं। और तुम?

पहले नहीं, माताजी।

पहले नहीं। अब बात बनती जा रही है! और तुम?

नहीं।

नहीं।... और मैं अभी अन्य बहुत-से लोगोंसे पूछ सकती हूं। मैं यह अच्छी तरह जानती हूं। जो लोग यहां जीवनका कुछ अनुभव लेनेके बाद आये हैं और यहां आए हैं क्योंकि वे आना चाहते थे, आनेके लिये सचेतन कारण था, स्वभावतया वे लोग ही मुझे कह सकते हैं: "मैं यहां इस कारण आया हूं," वह कम-से-कम एक आंशिक स्पष्टीकरण होगा। तो भी हो सकता है कि सबसे अधिक सच्चा और गंभीर कारण उनकी पकड़में-से बच निकले, अर्थात् वह वस्तु जो इस भागवत कार्यमें विशेष रूपसे उपलब्ध करनी है। इसके लिये वस्तुतः रास्तेकी बहुत सारी मंजिलें पार करनी होती हैं।

असलमें, मनुष्य जब अपनी अन्तरात्माके सम्बन्धमें अभिज्ञ हो जाता है, अपने चैत्य पुरुषके साथ एक हो जाता है केवल तभी युग-युगान्तरोंमें होनेवाले उसके व्यक्तिगत विकासका चित्र उसकी आंखोंके सामने क्षण भरके लिये कौंध सकता है। तभी मनुष्यको, वस्तुतः, ज्ञान होना शुरू होता है ...उससे पहले नहीं। मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि वास्तवमें तभी वह बहुत रोचक बन जाता है। वह जीवनकी स्थितिको बदल देता है।

किसी चीजको अस्पष्ट रूपसे अनुभव करना, किसी चीजकी, अर्थात् किसी शक्तिकी, क्रियाकी, आवेगकी, आकर्षणकी, किसी ऐसी वस्तुकी एक अनिश्चित छाप पड़ना जो जीवनमें तुम्हें संचालित करती है — परन्तु अब भी बहुत हलकी और अनिश्चित एवं धुंधली है — इसमें और एक स्पष्ट दर्शनमें, एक निश्चित बोधमें, अपने जीवनके प्रयोजनको पूरी तरह समझनेमें बहुत अधिक भेद है। और केवल उसी क्षण मनुष्य वस्तुओंको उनके यथार्थ स्वरूपमें देखना आरंभ करता है, उससे पहले नहीं। एकमात्र तभी मनुष्य अपनी नियतिके तन्तुका अनुसरण कर सकता है तथा अपने लक्ष्य एवं लक्ष्यतक पहुंचनेके मार्गको स्पष्ट रूपसे देख सकता है। पर यह होता है केवल क्रमशः होनेवाले आन्तरिक जागरणके द्वारा ही, मानो नये क्षितिजोंमें अकस्मात् दरवाजे खुल जाते हैं — यह सचमुच ही एक अधिक वास्तविक, अधिक गंभीर और अधिक स्थायी चेतनाका नव जन्म है।

तबतक तुम एक धुंधलकेमें, टटोलते हुए, ऐसी नियतिके भारके नीचे दबे रहते हो जो कभी-कभी तुम्हें कुचल देती है और तुमपर यह प्रभाव डालती है कि तुम्हारा निर्माण अमुक ढंगसे ही हुआ है और उसके सम्बन्धमें तुम कुछ नहीं कर सकते। तुम जीवनके एक ऐसे बोझके तले दबे पड़े हो जो तुमपर सवार रहता है और ऊपर उठकर उन सब तन्तुओंको, संचालन करनेवाले तारोंको, उन विभिन्न सूत्रोंको जो विभिन्न वस्तुओंको, प्रगतिकी एक ऐसी क्रियामें बांध देते हैं जो स्पष्ट होती हुई उपलब्धिकी ओर अग्रसर करती है, विभिन्न सूत्रोंको देखनेके स्थानपर तुम्हें जमीनपर रेंगनेको बाध्य करता है।

मनुष्यको इस अर्द्ध चेतनामेंसे कूदकर बाहर निकल आना चाहिये जिसे साधारणतया बिलकुल स्वाभाविक माना जाता है ;— वह तुम्हारे जीवनका "सामान्य" ढंग है और तुम उससे इतनी दूर भी नहीं हट जाते कि इस अनिश्चितताको, इस सुस्पष्टताके अभावको देखकर आश्चर्य प्रकट कर सको; जब कि, इसके विपरीत, यह जानना कि व्यक्ति खोज रहा है और उस खोजको सचेतन रूपसे, स्वेच्छासे, **अटल रहकर** और विधिवत् करना एक ऐसी

स्थिति है जो वस्तुतः दुर्लभ, लगभग 'असाधारण' है और फिर भी यथार्थ जीवनमें, तो मनुष्य इसी तरह शुरू करता है।

२३ जनवरी, १९५७

अन्त

"मनुष्य और भगवान्के मिलनका हमेशा यह अर्थ होना चाहिये कि भगवान् मानव सत्ताको भेदकर उसमें समाविष्ट हो जायं और मनुष्य अपनेको भगवान्के अंदर निमग्न कर दे।

किंतु यह निमज्ज्जन आत्मविलय जैसी कोई चीज नहीं है। इस सब खोज, और आवेगकी, कष्ट और हर्षोन्मादकी परिणति निर्वाण नहीं है। यदि इसका अंत यही होता, तो यह लीला कभी शुरू ही न हुई होती।

दिव्य आनंद ही रहस्य है। विशुद्ध आनंदको जान लो और तुम भगवान्को जान जाओगे।

तो फिर इस सारी लीलाका आदि क्या था? वह सत् जिसने अपनेको एकमात्र सत्ताके आनंदके लिये बहुविध रूपोंमें व्यक्त करके असंख्य, कोटि-कोटि रूपोंमें डुबकी लगा दी जिससे वह अपनेको अनगिनत रूपोंमें पा सके।

और मध्य क्या है? विभेद, जो बहुविध एकत्वके प्रति जानेका यत्न करता ह, अज्ञान, जो नानारूप पूर्ण प्रकाशकी बाढ़की ओर जानेका प्रयास कर रहा है, दुःख जो अकल्पनीय आनंद समाधि-का स्पर्श पानेके लिये घोर परिश्रम अनुभव कर रहा है। क्योंकि ये सारी चीजें अंधकारमय आकार और विकृत स्पंदन हैं।

और सारी वस्तुका अंत क्या है? जैसे मधु अपना और अपनी

सारी बूंदोंका इकट्ठा स्वाद ले सके और उसकी सभी बूंदे एक-दूसरेका तथा प्रत्येक बूंद स्वयं संपूर्ण मधुकोशका स्वाद ले सके, इसी तरह परमेश्वरकी, मानवके अंतरात्माकी और इस विश्व-की परिसमाप्ति होनी चाहिये।

प्रेम प्रधान सुर है, आनंद संगीत है, शक्ति तान है, ज्ञान गायक है, और वह अनंत सर्वात्मा ही इसका रचयिता और श्रोता है। अभी हम लोग केवल प्रारंभिक बेसुरे स्वरोंको ही जानते हैं। वे उतने ही भयंकर हैं जितनी उनकी स्वरसंगति महान् होगी; पर हम आनंदराशिके बहुमुखी संगीतको अवश्य पा लेंगे।"

(विचार और झांकियां)

मनुष्य विशुद्ध आनंदको कैसे जान सकता है?

सबसे पहले, शुरू करनेके लिये व्यक्तिको ध्यानपूर्वक निरीक्षणद्वारा यह जान लेना होगा कि कामना एवं कामनाओंकी तृप्ति एक ऐसा हलका और अनिश्चित सुख प्रदान करते हैं जो मिश्रित, क्षणजीवी और एकदम असन्तोषदायक होता है। सामान्यतया यही पहला कदम होता है।

उसके बाद, यदि व्यक्ति समझदार हो तो उसे कामनाको पहचानना सीखना होगा और ऐसे किसी भी कामसे बचना होगा जो उसकी कामनाओंको सन्तुष्ट करे। मनुष्यको उन्हें सन्तुष्ट करनेका यत्न किये बगैर दूर धकेल देना चाहिये। और फिर इसका पहला नतीजा, ठीक उन्हीं प्रारंभिक परिणामोंमेंसे एक होगा जिसे बुद्धने अपने उपदेशोंमें यों स्पष्ट किया है: कामनाको तृप्त करनेकी अपेक्षा उसे जीतने और उसका परित्याग करनेमें अपार रूपसे अधिक महान् आनन्द है। प्रत्येक सत्यनिष्ठ और दृढ़-निश्चयी साधकको कुछ समय बाद, देर या सवेर, कभी-कभी बहुत ही जल्दी यह साक्षात्कार होगा कि यह एक परम सत्य है, और कामनापर विजय प्राप्त करनेसे अनुभव होनेवाला आनन्द कामनाकी तृप्तिसे प्राप्त हो सकनेवाले क्षणजीवी और मिश्रित सुखसे इतना अधिक ऊंचा होता है कि उससे इसकी तुलना नहीं हो सकती। यह हुआ दूसरा कदम।

साधनाको निरन्तर जारी रखनेसे, स्वभावतः ही, बहुत थोड़े समयमें कामनाएं बहुत पीछे रह जायंगी और फिर वे तुम्हें तंग नहीं करेंगी। इस प्रकार तुम अपनी सत्ताके अन्दर थोड़ी अधिक गहराईमें प्रवेश करनेके लिये स्वतंत्र हो जाओगे और अपनेको . . . आनन्ददाताके, दिव्यतत्त्वके, भाग-

वत कृपाके प्रति अभीप्सा करते हुए उद्घाटित कर लोगे । और यदि ऐसा सच्चे आत्म-समर्पणके साथ किया जाय — ऐसे भावके साथ जो अपनेको अर्पित करता है, प्रदान करता है और अपने उत्सर्गके प्रतिदानके रूपमें किसी चीजकी आशा नहीं करता — तो व्यक्ति एक ऐसी मधुर, सुखद, अन्तरंग, ज्वलंत, स्नेहभरी ऊष्माका अनुभव करेगा जो हृदयको परिपूर्ण कर देती है और दिव्य आनन्दकी अग्रदूत होती है।

इसके बाद मार्ग सरल होता है।

मधुर मां, सत्ताका सच्चा 'आनंद' क्या है ?

वही जिसके बारेमें मैं बता रही हूं !

उसके बाद, मधुर मां, यहां जब श्रीअरविंद एक ऐसी सत्ताकी बात कहते हैं : "जिसने अपनेको मात्र अस्तित्वके आनंदके लिये नाना रूपोंमें व्यक्त किया," तो यह आनंद क्या है ?

अस्तित्वमें रहनेका आनन्द।

एक ऐसा भी समय आता है जब व्यक्ति तैयार होने लगता है, जब प्रत्येक चीजमें, हरेक पदार्थमें, एक-एक क्रियामें, एक-एक स्पन्दनमें, अपने चारों ओरकी सभी चीजोंमें — केवल लोगों और सचेतन सत्ताओंमें ही नहीं बल्कि वस्तुओं एवं पदार्थोंमें, केवल पेड़-पौधों और जीवित वस्तुओंमें ही नहीं किन्तु उपयोगमें आनेवाली किसी भी चीजमें, अपने चारों ओर घिरी वस्तुओंमें — इस आनन्दको, सत्ताके इस आनन्दको, केवल वही होनेके आनन्दको जो व्यक्ति है, केवल होनेके आनन्दको अनुभव करता है। और वह देखता है कि सब कुछ उसी रूपमें स्पन्दित हो रहा है। किसी वस्तुको स्पर्श करते ही वह उस आनन्दका अनुभव करता है। पर मैं कहती हूं कि स्वभावतः ही, मनुष्यको पहले उस साधनाका अभ्यास कर लेना चाहिये जिसके संबंधमें मैंने प्रारंभमें कहा है; अन्यथा, जबतक व्यक्तिमें कामना, पसंदगी, आसक्ति या अनुरक्ति एवं विरक्ति और यह सब होता है तबतक वह आनन्दका अनुभव नहीं कर सकता — बिलकुल नहीं कर सकता।

और जबतक मनुष्यको किसी चीजमें सुख — सुख, हां, किसी चीजमें प्राणिक और भौतिक सुख — मिलता है, तो वह इस आनन्दका अनुभव नहीं कर सकता। क्योंकि यह आनन्द सर्वत्र विद्यमान है। यह आनन्द एक बहुत सूक्ष्म वस्तु है। वस्तुओंमें विचरण करते समय तुम्हें ऐसा लगता

है मानों वे अपने आनन्दको तुम्हारे सामने गाकर व्यक्त कर रहे हों। ऐसा भी समय आता है जब तुम अपने चारों ओरके जीवनमें इसके आदी हो जाते हो। स्वभावतया, मुझे यह स्वीकार करना चाहिये कि इस आनन्दको मानव सत्ताओंमें अनुभव करना थोड़ा अधिक कठिन है, क्योंकि उनमें ऐसी बहुत-सी मानसिक और प्राणिक रचनाएं होती हैं जो प्रत्यक्ष दर्शनके क्षेत्रमें आती हैं और आनन्दको अस्त-व्यस्त कर देती हैं। उसमें इस तरहकी अहंकारपूर्ण कठोरता अधिक मात्रामें होती है जो अन्य वस्तुओंके साथ मिश्रित हो जाती है, इसलिये वहां आनन्दका स्पर्श पाना अधिक मुश्किल होता है। पर व्यक्ति पशुओंमें भी इस आनन्दका अनुभव कर सकता है; अभीतक यह अनुभव पौधोंकी अपेक्षा उनमें जरा अधिक कठिनाईसे आता है। किंतु पौधोंमें, फूलोंमें यह अनुभव बहुत अद्‌भुत होता है ! वे अपने सारे आनन्दको मानों वाणीद्वारा व्यक्त करते हैं, बाह्य रूपमें प्रकट करते हैं और जैसा कि मैंने कहा, चेतनाकी एक ऐसी स्थिति होती है जिसमें सभी परिचित पदार्थ, व्यक्तिके चारों ओरकी चीजें, उसके द्वारा प्रयुक्त चीजें, प्रत्येक अपने यथास्थित रूपमें सुखी होती है। तो व्यक्ति इस प्रकार उस क्षण जान जाता है कि उसने सच्चे दिव्य आनन्दका स्पर्श पा लिया है। और यह स्थिति किसी शर्तसे बंधी नहीं होती। मेरा आशय ह यह आश्रित नहीं होती . . . यह किसी भी वस्तुपर आश्रित नहीं होती। यह बाह्य परिस्थितियोंपर निर्भर नहीं करती, यह कम या अधिक अनुकूल परिस्थितिपर निर्भर नहीं करती, किसी भी वस्तुपर निर्भर नहीं करती : वह विश्वके मूलतत्त्वके साथ मिलनकी स्थिति है।

और जब यह अवस्था आती है तो शरीरके सब कोषाणुओंमें व्याप्त हो जाती है। यह कोई ऐसी चीज नहीं होती जिसके संबंधमें विचारा जाय — मनुष्य उस अवस्थामें तर्क नहीं करता, विश्लेषण नहीं करता, ऐसा कुछ भी नहीं होता : यह ऐसी **स्थिति** है जिसमें मनुष्य केवल निवास करता है। और जब शरीर इसमें हिस्सा लेता है तो यह इतना ताजा — इतना ताजा, इतना सहज, इतना . . . कि उसके बाद मनुष्य अपनी ओर नहीं लौटता, उसमें आत्म-निरीक्षणका, आत्म-विश्लेषणका या वस्तुओंके विश्लेषणका कोई भाव नहीं रहता। यह सब मानों एक उल्लासभरे स्पन्दनोंका गीत बन जाता है परंतु बहुत, बहुत ही शांत, तीव्रतासे रहित, आवेगसे रहित होता है, उसमें यह सब कुछ नहीं होता। यह बड़ा सूक्ष्म और साथ ही बहुत सघन होता है, और उसके आनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि सारा विश्व ही एक अद्‌भुत स्वरसंगति है। वह वस्तु भी जो सामान्य मानव चेतनाको भद्दी और अप्रीतिकर लगती है अब अद्‌भुत लगती है।

दुर्भाग्यवश, जैसा कि मैंने कहा, लोग, परिस्थितियां, ये सब उन मानसिक एवं प्राणिक रचनाओंके साथ सारे समय परेशान करते रहते हैं। और तब मनुष्य वस्तुओंके इस अज्ञान और अंधकारपूर्ण प्रत्यक्ष बोधकी ओर लौटनेके लिये बाध्य हो जाता है। किंतु, इसके विपरीत, ज्यों ही वह सब समाप्त हो जाता है और व्यक्ति उसमेंसे बाहर निकलनेमें समर्थ हो जाता है... तो सब कुछ बदल जाता है। जैसे कि वे वहां अपने कथनके अंतमें कहते हैं: सब कुछ बदल जाता है। अद्भुत सामंजस्य होता है! सब कुछ दिव्य आनन्द, सच्चा 'आनंद', विशुद्ध 'आनन्द' बन जाता है।

यह बात थोड़ी मेहनतकी मांग करती है।

और इस साधनाका जिसके संबंधमें मैंने कहा था और जो हमें करनी है, यदि आनन्द प्राप्तिको लक्ष्य बनाकर इसका अभ्यास किया जाय तो फल देरसे प्राप्त होता है, क्योंकि बीचमें एक अहंतापूर्ण तत्त्व घुस आता है, वह एक उद्देश्यको लेकर किया जाता है और समर्पण नहीं रह जाता, यह एक मांग बन जाता है और उसके बाद... इसका फल मिलता है और मिलेगा ही, चाहे इसमें अधिक देर क्यों न लगे — व्यक्ति जब किसी चीजकी मांग नहीं करता, किसी चीजकी अपेक्षा नहीं करता, आशा नहीं करता और जब उसके साथ एक हो जाता है, अर्थात् आत्म-समर्पण करता है, उसमें आत्म-समर्पणका, अभीप्साका भाव होता है और सौदेबाजीकी भावनाके बिना केवल सहज आवश्यकता — दिव्य बननेकी इच्छा होती है, बस।

माताजी, आप इस "मधु बिंदु"को समझायंगी?

ओह! मधु..., लेकिन, मेरे बच्चे, यह तो एक उपमा है।

श्रीअरविन्द कहते हैं: "यदि कोई कल्पना कर सके..." केवल बुद्धि-प्रधान भावनात्मक रूप देनेकी अपेक्षा अधिक ठोस रूपसे समझानेके लिये यह कहा गया है। वे कहते हैं: उदाहरणके लिये यदि तुम ऐसे मधुकोशकी कल्पना कर सको, हां... ऐसे मधुकोशकी जिसमें अपनेको और साथ ही मधुकी प्रत्येक बूंदको चखनेकी शक्ति हो; केवल अपनेको मधुके रूपमें चखनेकी ही नहीं बल्कि प्रत्येक बूंदमें अपने-आपको चखनेकी, मधुकोशकी प्रत्येक बूंद हो जानेकी, और यदि इनमेंसे प्रत्येक बूंद अन्य सबको चख सके, अपनेको और अन्य सबको, और साथ ही यदि प्रत्येक बूंद मानों स्वयं मधुकोश बनकर उसका स्वाद ले सके।

तो यह ऐसा मधुकोश होगा जो स्वयं अपनेको चख सकेगा और मधुकोशकी सब बूंदोंका सर्वांग रूपसे स्वाद ले सकेगा, और प्रत्येक बूंद अपनेको

तथा अलग-अलग बूंदोंको एवं समग्र मधुकोशको, अपने रूपमें चख सकेगी ...यह बिलकुल ठीक उपमा है। इसके लिये केवल कल्पना-शक्तिकी आवश्यकता है!

ऐसे तो मैं समझता हूं। मैं पूछ यह रहा हूं कि यह किसका प्रतीक है?

मधु एक स्वादिष्ट वस्तु है, है न? तो ये बूंदे दिव्य हर्षके आनन्द हैं।

और अभी, जब मैं चीजोंके भीतर स्थित इस स्वयं स्फूर्त और सादे हर्षको याद कर रही थी, उस हर्षको जो सब वस्तुओंके अन्तरमें निवास करता है, खैर, भौतिक वस्तुके लिये यह सचमुच ही कुछ चीज — ओह! इसकी तुलनामें मधुका स्वाद अवश्य ही, बहुत भद्दा और निकृष्ट होता है — परन्तु कुछ वैसा ही, बहुत स्वादिष्ट होता है। और यह बड़ा सरल, बहुत ही सरल और अपनी अकृत्रिमतामें पूर्ण होता है; समग्रतया अकृत्रिम होनेके साथ-साथ बहुत सरल भी होता है।

तुम जानते हो यह ऐसी वस्तु नहीं जिसपर सोच-विचार किया जाय, व्यक्तिमें इसका आह्वान करनेकी शक्ति होनी चाहिये, व्यक्तिमें थोड़ी-बहुत कल्पना-शक्ति होनी चाहिये। तो, यदि मनुष्यमें ऐसी क्षमता हो तो वह केवल पढ़कर ही ऐसा कर सकता है, तब वह समझ सकता है।....यह एक उपमा है, केवल एक उपमा है, किन्तु ऐसी उपमा है जिसमें सचमुच आह्वान करनेकी क्षमता है।

किंतु, माताजी, प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न वस्तुकी कल्पना करेगा, नहीं?

स्पष्ट है। किन्तु इस बातका कोई महत्त्व नहीं। उसके लिये वह कल्पना ठीक होगी।

(मौन)

बस?

मैं उन प्रश्नोंको साथ लायी थी जो मेरे सामने रखे गये थे, लेकिन मैं समझती हूं कि हमें पहले ही थोड़ी देर हो गयी है (माताजी प्रश्नोंपर नजर डालती हैं)।

इनमेंसे एक प्रश्न अत्यन्त बौद्धिक है। इसे हम किसी और दिनके लिये छोड़ देते हैं। एक और भी है... जो मात्र दिखावे के लिये किया गया है, और फिर तीसरा प्रश्न भी है, वह बड़ा रोचक है, किन्तु इसका ब्यौरे-वार जबाव देनेकी जरूरत है और आज हमें वैसे ही कुछ देर हो गयी है।

तथापि यह है एक अन्य प्रश्न जिसका जबाव बड़ी आसानीसे दिया जा सकता है, यह मेरे एक लेखमेंसे लिया गया है जिसमें कहा गया है :

> **"यह मान लेना एक भारी भूल होगी कि भागवत संकल्प जगत्‌में हमेशा प्रकट रूपमें काम करता है।"**

और फिर श्रीअरविन्दके 'योग समन्वय'में :

> **"यदि हम सब जगह एकत्वको देखें, यदि हम यह पहचान लें कि सब कुछ भगवान्‌के संकल्पसे ही होता है ... इत्यादि।"**

और एक अन्य वस्तु मेरी पुस्तक 'प्रार्थना और ध्यान'में :

> **"प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक सत्तामें तू ही कर्त्ता है, और जो व्यक्ति तेरे इतने अधिक समीप हैं कि निरपवाद रूपसे, सब कर्मोंमें तेरा दर्शन कर सकता है, प्रत्येक कर्मको आशीर्वाद-में बदलनेका रहस्य जान लेगा।"**
>
> (दिसम्बर १०, १९१२)

और इसलिये मुझसे पूछा गया है कि इन विरोधोंमें किस प्रकार मेल बैठाया जाय। किन्तु इनमें मुझे कोई विरोध नहीं दीखता। क्योंकि पहले वाक्यमें कहा गया है : "यह मान लेना एक भारी भूल होगी कि जगत्‌में भागवत संकल्प सदा खुले रूपमें काम करता है।" . . . मैं कहूंगी, ऐसा **बहुत ही कम** होता है जब वह प्रकट रूपमें काम करता हो। वह सदा कार्य करता है, किन्तु प्रकट रूपसे नहीं। और जब वह प्रकट रूपसे कार्य करता है तो उसे ही लोग "चमत्कार" कहते हैं। और ऐसा विरले ही होता है। अधिकतर तो यह प्रकट रूपसे काम नहीं करता, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह काम नहीं करता। वह प्रकट रूपसे कार्य नहीं करता, बस इतना ही। इसलिये इसमें परस्पर विरोध नहीं है। बस, यही मेरा

आशय था। यह विरोध बिलकुल ऊपरी है जो शब्दोंका अर्थ न समझनेके कारण उत्पन्न हुआ है।

भागवत संकल्प कार्य करता है, पर खुले रूपमें नहीं। जब वह खुले रूपमें काम करता है तो लोग उसे चमत्कार कहते हैं। बस इतना ही। लेकिन यह उसे कार्य करनेसे नहीं रोकता।

३० जनवरी, १९५७

बन्धन

"सारा संसार स्वतंत्रताके लिये तरसता है, फिर भी प्रत्येक प्राणीको अपने बंधन प्रिय होते हैं। यह हमारे स्वभावका पहला विरोधाभास है और न सुलझाई जा सकनेवाली एक गुत्थी है।

मनुष्य जन्मके बंधनोंसे प्रेम करता है इसलिये वह उसके साथ आनेवाले मृत्युके बंधनोंमें पकड़ा जाता है। इन सब बंधनोंमें रहता हुआ वह अपनी सत्ताकी स्वतंत्रताके लिये और अपनी पूर्णत्व-प्राप्तिकी सिद्धिके लिये अभीप्सा करता है।

मनुष्य शक्तिसे प्रेम करता है, इसलिये वह दुर्बलताओंके वशवर्ती होता है। क्योंकि संसार शक्तिकी लहरोंका समुद्र है जो आपसमें टकराती हैं और लगातार एक-दूसरीपर उमड़-उमड़कर आती हैं। जो एक लहरके शिखरकी सवारी करना चाहता है उसे दूसरी सैंकड़ों लहरोंकी थपेड़ोंकी मारसे बेसुध होना ही होगा।

मनुष्य सुखसे प्रेम करता है इसलिये उसे दुःख-दर्दके जुएके नीचे आना पड़ता है। क्योंकि शुद्ध आनंद जिसमें दुःखका मिश्रण नहीं, केवल स्वतंत्र और राग-रहित आत्माके लिये है। पर मनुष्यके अंदरकी जो वस्तु सुखोंके पीछे दौड़ती है वह दुःख उठानेवाली और आयास करनेवाली एक प्राण-शक्ति है।

मनुष्य शांतिका भूखा होता है पर साथ ही उसे व्याकुल मन और व्यथित हृदयके अनुभवोंको पा लेनेकी तृष्णा भी लगी होती है। भोग उसके मनके लिये एक ज्वर है, शांति एक जड़ता और उबाऊ एकरसता है।

मनुष्य अपनी भौतिक सत्ताकी सीमाओंसे प्रेम करता है, पर साथ ही वह अपने अनंत मन और अमर आत्माकी स्वतंत्रताको भी पाना चाहता है।

मनुष्यके अंदरकी कोई वस्तु ऐसी है जो इन विरोधोंमें एक अद्‌भुत आकर्षण पाती है। ये सब विरोध उसकी मानसिक सत्ताके लिये जीवनकी कलामयताको बनाते हैं। न केवल अमृत ही, बल्कि विष भी उसकी रुचि और उत्सुकताको अपनी ओर आकृष्ट करता है।"

(विचार और झांकियां)

मधुर मां, "कलामयता"का अर्थ क्या है?

अधिकतर लोग जिसे "कलात्मक" कहते हैं, वे केवल वैषम्य हैं। कलाकार ऐसा कहते हैं और अनुभव करते हैं कि छाया ही प्रकाशको बनाती है, यह भी कि यदि वैषम्य संभव न होता तो वे चित्र न बना सकते। संगीतके साथ भी यही बात है: स्वरोंके उतार और चढ़ावके बीच वैषम्य ही संगीतके बड़े-से-बड़े आकर्षणोंमेंसे एक है।

मैं कुछ कवियोंको जानती थी जो कहा करते थे: "अपने शत्रुओंकी घृणाके कारण ही हम अपने मित्रोंके प्रेमका मूल्य समझ पाते हैं।" ...और किसी सुनिश्चित-सी विपत्तिकी संभावना ही सुखको उसका पूरा स्वाद देती है, इत्यादि। दैनिक आकुल हलचलके विरोधमें ही उन्हें विश्रामका और सामान्य शोरगुलके कारण ही उन्हें नीरवताका मूल्य समझमें आता है। उनमेंसे कुछ तो तुम्हें यहांतक कहते हैं: "ओह! क्योंकि बीमारियां हैं इसीसे सुस्वास्थ्यका मूल्य है।" यह विचार यहांतक आगे जाता है कि किसी वस्तुके मूल्यका तभी पता चलता है जब वह खो जाती है। और जैसा कि श्रीअरविंद यहां कहते हैं: जब क्रिया-प्रवृत्तिका यह ज्वर नहीं होता, कल्पनाशील विचारमें यह सक्रियता नहीं होती तो मनुष्यको लगता है कि वह जड़तामें जा गिरा है। बहुत सारे मनुष्य नीरवता, शांति और निश्चलतासे

डरते हैं। वे जब सक्रियतासे भरे नहीं होते तो अपनेमें वे जीवन ही अनुभव नहीं करते।

मैंने बहुत-से ऐसे उदाहरण देखे जिनमें श्रीअरविन्दने किसीको शांति प्रदान की, उसके मनको शांत बना दिया और वह व्यक्ति उनके पास उदास-सी हालतमें वापस आया और कहा : "मैं तो जड़मति हो गया हूं," क्योंकि उसकी विचार-शक्ति सक्रिय नहीं रही थी।

जो बात वह यहां कह रहे हैं, वह एकदम घोर सत्य है। मनुष्य स्वतंत्रता तो चाहते हैं पर उन्हें अपने बंधन भी प्रिय हैं और जब कोई उनसे बंधनोंको ले लेना चाहता और उन्हें सच्ची मुक्तिका पथ दरशाना चाहता है, तो वे डर जाते हैं, यहांतक कि वे प्रायः प्रतिरोध करते हैं।

मनुष्यकी प्रायः सभी कलाकृतियां --- साहित्यिक, काव्यात्मक, कलात्मक --- जीवनमें तीव्र वैषम्योंपर आधारित होती हैं। जब कोई (अपनी कृतिमें) लोगोंको उनके दैनिक जीवनके नाटकमेंसे बाहर निकालनेकी चेष्टा करता है तो वे सचमुच ऐसा अनुभव करते हैं कि यह कृति कलापूर्ण नहीं है। यदि वे एक ऐसी पुस्तक लिखना या एक ऐसे नाटककी रचना करना चाहते हैं जिसमें कोई वैषम्य न हो, जिसमें हर चीज सामंजस्यपूर्ण रूपसे पवित्र, सुंदर हो, जहां चित्रमें कोई छाया न हो तो संभवतः यह एक ऐसी चीज होगी जो लोगोंको बहुत अधिक नीरस, उबाऊ और एकदम जीवनहीन प्रतीत होगी, क्योंकि मनुष्य जिसे "जीवन" कहता है वह है जीवन-नाटक जीवन-चिंता, जीवनके तीव्र विरोध। और संभवतः यदि मृत्यु न रहे तो लोग जीवनसे बुरी तरह ऊब जायं।

(लंबा मौन)

पहलेके किसी कक्षा-प्रसंगमें मैंने जो कहा था उससे संबंधित एक प्रश्न मुझसे पूछा गया है :

> **"जब कोई व्यक्ति किसी लक्षित वस्तुको पाना चाहता है तो जो कठिनाइयां और बाधाएं रास्तेमें आती हैं --- क्या वे प्रायः इस बातका चिह्न होती हैं कि यह निश्चय, यह योजना, यह प्रयोजना प्रारंभसे सदोष थी और इसलिये इसे जारी नहीं रखना चाहिये या, ठीक इसके विपरीत, जो विजय हमें पानी है, जो रूपांतर हमें सिद्ध करना है वे उसे सूचित करती हैं?**

> **क्या वे इस बातका चिह्न हैं कि व्यक्तिको अध्यवसायके साथ डटे रहना चाहिये ? मैं यहां योग-मार्गपर चलनेके निश्चयकी बात नहीं कर रहा हूं, बल्कि यह उन छोटे-छोटे निश्चयोंकी बात है जो काम, खेल या दूसरे क्रिया-कलापोंके बारेमें हम लेते हैं। दूसरे शब्दोंमें, परिस्थितियोंके, दूसरोंके साथ संबंधोंके और अनुभवके द्वारा जो 'निर्देशन' हमतक आता है उसे हम कैसे पहचानें और समझें ?"**

मैं समझती हूं यह केवल ऊपरी विरोध है।

यदि कोई योग-साधना करना चाहता है तो स्वभावत: ही उसे किसी कामको हाथमें लेनेसे पहले यह जानने और स्पष्ट रूपसे देखनेकी कोशिश करनी चाहिये कि जो प्रेरणा उसे मिली है वह सच्ची है, भगवान्से आयी है या सिर्फ बाह्य परिस्थितिजन्य एक प्रतिक्रिया है, एक प्राणिक या मानसिक तरंग है। यह काफी महत्त्वपूर्ण, बल्कि अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि हम स्पष्ट रूपसे इसे देखनेका प्रयास करें और कारणकी पूरी जानकारीके साथ कोई क्रिया करें। परन्तु ऐसी बहुत सारी चीजें हैं जिन्हें व्यक्ति करता है पर जिनके बारेमें पहलेसे सोचनेकी उसकी आदत नहीं होती। जब परिस्थिति आती है वह तदनुसार कर देता है। और मूलत: वे चीजें अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण होती भी नहीं, वे लगभग अन्य दूसरी चीजोंकी तरह ही होती हैं जिन्हें व्यक्ति जीवनमें करता है। एकमात्र महत्त्वकी चीज है वह **वृत्ति** जिसके साथ उन्हें किया जाता है। तुम्हारी यह बात कि तुम किसी कामको इसलिये करते हो कि वह किसी एक या दूसरे कारणसे तुम्हारे सामने आ गया है और यह कि व्यक्तिको सदा ही उसे करनेके लिये बाधित होना पड़ता है जबतक कि वह बाह्य जीवनमें रहता है और उस सबका जीवन-व्यवहारकी दृष्टिसे एक विशेष महत्त्व होता है, यदि वे काम जीवनमें काफी गहरा असर रखते हों — जैसे कि शादी करना, इस या उस विशेष स्थानपर जाकर बसना, किसी धन्धेको अपनाना; सामान्यत: ये चीजें काफी महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं और कुछ हदतक हैं भी; पर इनके लिये भी योगकी दृष्टिसे प्रत्येक चीज निर्भर करती है उस वृत्तिपर जिसे व्यक्ति अपनाता है, न कि अपने-आप उस चीजपर। इसलिये, और इन सबसे भी अधिक, उन सब छोटे-छोटे कामोंका जिन्हें व्यक्ति दैनिक जीवनमें करता है, महत्त्व एकदम ही कम हो जाता है।

कुछ ऐसे अति-धर्मशील लोग होते हैं जो अपने सामने समस्याएं तो खड़ी कर लेते हैं पर उन्हें सुलझाना उनके लिये बड़ा कठिन होता है,

क्योंकि वे समस्याको रखते ही गलत रूपसे हैं। मैं एक युवतीको जानती थी जो थियोसोफिस्ट थी और साधनाभ्यास कर रही थी, उसने मुझसे कहा : "हमें सिखाया जाता है कि हम जो भी करें उस सबमें भगवान्‌की इच्छा पूरी होनी चाहिये, पर प्रातः जब मैं अपना नाश्ता करती हूं तो उसमें मैं कैसे यह जान सकती हूं कि भगवान् मेरी कॉफीमें दो चम्मच चीनी डलवाना चाहते हैं या केवल एक?" ...और यह काफी हृदयस्पर्शी था, है न, और मुझे उसे समझानेमें थोड़ी कठिनाई हुई कि वह भावना जिसके साथ वह अपनी कॉफी पीती है और वह वृत्ति जो वह अपने भोजनके प्रति रखती है, कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है बनिस्बत इसके कि कितने चम्मच चीनीके उसने अपनी कॉफीमें डाले।[1]

उन सभी छोटी-छोटी चीजोंके बारेमें जिन्हें व्यक्ति प्रतिक्षण करता है ऐसी ही बात है। भागवत चेतना मानवी ढंगसे कार्य नहीं करती। वह यह निश्चय नहीं करती कि चीनीके कितने चम्मच तुम अपनी कॉफीमें डालो। वह तो धीरे-धीरे कामों और चीजोंके प्रति तुम्हारी वृत्ति ठीक कर देती है— यह वृत्ति होती है समर्पणकी, नमनीयता, निष्ठा, अभीप्सा, सद्भावना, मृदुता और प्रगतिके लिये प्रयत्न-तत्परताकी — और यह चीज उन छोटे-छोटे निश्चयोंसे जो तुम्हें प्रतिक्षण करने होते हैं, कहीं अधिक महत्त्वकी है। मनुष्य यह जाननेकी चेष्टा कर सकता है कि क्या करना सर्वोत्तम है, पर इन बातोंको किसी मानसिक विवेचन या मानसिक पहेलीके द्वारा सुलझाया नहीं जा सकता। असलमें तो एक आंतरिक वृत्तिके द्वारा, जो समस्वरताके — प्रगतिशील समस्वरताके — वातावरणका **निर्माण करती** है, यह संभव बनता है कि उसमें व्यक्ति जो कुछ करता है वह सब उस समयकी परिस्थितिके अनुसार आवश्यक रूपसे सर्वोत्तम होता है। और आदर्श स्थिति तो यह है कि वह वृत्ति इतनी पूर्ण हो जाय कि काम अपने-आप सहज रूपसे बाह्य बुद्धिके नहीं, बल्कि किसी दूसरी चीजके अधिदेशनमें स्वयं चलता रहे। पर यह, यह तो एक आदर्श अवस्था है — जिसके लिये मनुष्यको अभीप्सा करनी चाहिये और जिसे वह कुछ समय बाद पा भी सकता है। और तबतक सच्ची वृत्ति, सच्ची अभीप्सा बनाये रखनेकी सावधानी रखना

---

[1]एक शिष्यको याद है कि ठीक इसी कहानीके प्रसंगसे श्रीमांने उससे कुछ इस आशयकी बात कही थी :

"अब मैं उस बेचारी भद्र महिलापर और नहीं हंसूंगी। हम अपनी कॉफीमें कितने चम्मच चीनी डालें, इसपर भी प्रभु ध्यान न देते हों ऐसा मैं अब निश्चयसे नहीं कह सकती!"

कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है बजाय यह निश्चय करनेके कि तुम सामूहिक व्यायाम करो या न करो, किसी नियतं कक्षामें जाओ या न जाओ। क्योंकि इन चीजोंका अपने-आपमें कुछ भी मूल्य नहीं है, इनके मूल्य सापेक्ष होते हैं, एकमात्र महत्त्वकी चीज है अपनी अभीप्साकी ठीक दिशा और प्रगतिके लिये जीवंत संकल्प बनाये रखना।

एक सामान्य नियमके रूपमें, और इसलिये कि अनुभवका संपूर्ण लाभ मिल सके जब कोई व्यक्ति किसी कामको हाथमें ले तो बाधाओं और कठि-नाइयोंकी कोई परवाह किये बिना उसमें अध्यवसायके साथ लगे रहना चाहिये जबतक कि कोई एकदम सुनिश्चित घटना यह संकेत न करे कि इसे आगे चलाना, **अब और करना** ठीक नहीं। ऐसा होता बिरल ही है। सामान्यतया तो, चीजें अपनी ही धाराका अनुसरण करती हैं और जब वे समाप्तिपर पहुंचती हैं — या तो वे अंतको प्राप्त होती हैं या वांछित परिणाम पैदा करती हैं — तभी व्यक्ति उनके करनेका असली हेतु जान पाता है। परन्तु बाधाएं, विरोध (या प्रोत्साहन)को ऐसा सुनिश्चित संकेत नहीं समझना चाहिये जिन्हें मानकर चला जाय, क्योंकि ये चीजें स्थिति-स्थितिके अनुसार बिलकुल विभिन्न अर्थ रख सकती हैं। सो ये बाहरी घटनाएं ऐसी चीजें बिलकुल नहीं हैं जिनसे अपने हाथमें लिये कामकी जांच की जाय।

जब कोई व्यक्ति बहुत सचेत और बहुत सच्चा होता है तो जो करना उसने अंगीकार किया है या जो पहलेसे कर रहा होता है उसके मूल्य-महत्त्वकी बाबत उसे संकेत मिल सकता है, अर्थात् एक आन्तरिक पर बिलकुल स्पष्ट संकेत। वस्तुतः जो पूरी तरह सद्भावनापूर्ण होता है, अर्थात् जो पूरी सच्चाईके साथ, अपनी सत्ताके समूचे भागोंमें ठीक चीज, ठीक तरीकेसे करना चाहता है उसके लिये सर्वदा संकेत होता है। यदि किसी एक या दूसरे कारणसे वह कम या अधिक बुरे कामका प्रवर्तन कर बैठता है तो **सर्वदा** ही अपने हृदयमें एक बेचैनी अनुभव करता है, ऐसी बेचैनी जो बहुत तीव्र तो नहीं होती, जो नाटकीय ढंगसे जबर्दस्ती अपनेको जताती तो नहीं, पर होती बहुत स्पष्ट है उसके लिये जो सचेत है, यह खिन्नता जैसी, समर्थनके अभाव जैसी चीज होती है। यह सहयोग देनेसे भी एक प्रकारसे इनकार कर सकती है। पर मैं फिर कहती हूं, इसमें उग्रता नहीं होती, जोर-जबर्दस्ती अपनेको मनवानेका आग्रह नहीं होता: यह शोरगुल नहीं मचाती, पीड़ा नहीं पहुंचाती, बहुत हुआ तो एक हलकी बेचैनी होती है। और यदि तुम इसे अनसुना कर दो, यदि तुम इसकी ओर ध्यान न दो, इसे कोई महत्त्व प्रदान न करो तो कुछ समय बाद यह पूरी तरह लुप्त हो जायगी और कोई चीज बाकी न रहेगी।

ऐसी बात नहीं है कि गलती बढ़नेके साथ-साथ यह भी बढ़ती जाय, बल्कि, ठीक इसके विपरीत, यह लुप्त हो जाती है, चेतना आवृत हो जाती है।

फलत: एक सुनिश्चित संकेतके रूपमें तुम इसका प्रयोग नहीं कर सकते, क्योंकि यदि तुमने इस छोटे-से संकेतकी बार-बार अवहेलना की है तो, हां, यह दोबारा नहीं आयेगा। परन्तु मैं तुम्हें बताती हूं कि यदि तुम पूरी सच्चाईके साथ इसके प्रति सचेत बने रहो तो यह तुम्हारा एकदम सुनिश्चित और सर्वोच्च कोटिका पथ-प्रदर्शक सिद्ध होगा।

और यदि बेचैनी होती है तो वह शुरूमें ही हो जाती है, लगभग तुरत ही, पर यदि वह अनुभव न होती हो तो, हां, तुमने क्या काम शुरू किया है इसकी कुछ बात नहीं, अधिक अच्छा यही है कि बिलकुल अंततक करो, जिससे अनुभव संपूर्ण हो सके, जबतक कि, जैसा कि मैंने कहा, एकदम सही और सुस्पष्ट संकेत न मिल जाय कि इसे नहीं करना चाहिये।

६ फ़रवरी, १९५७

> **"मृत्यु वह प्रश्न है जिसे प्रकृति सदा ही 'जीवन'के सामने उसे यह स्मरण दिलानेके लिये रखती है कि उसने अभीतक अपनेको नहीं ढूंढा है। यदि मृत्युका घेरा न होता तो प्राणी सदाके लिये एक अपूर्ण जीवनके ढांचेके साथ बंधा रहता। मृत्युद्वारा पीछा किये जानेपर वह पूर्ण जीवनके विचारके प्रति जागृत हो जाता है तथा उसके साधन और उसकी संभावनाकी खोज करता है।"**
>
> (विचार और झांकियां)

हमारे लिये यह विषय इतना सुपरिचित है कि इसपर और कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं लगती। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे प्रत्येक मनुष्य, जिसकी चेतना जरा भी जाग्रत है, जीवनमें कम-से-कम एक बार तो अपनेसे करता ही है। सत्ताकी गहराइयोंमें जीवनको जारी रखने, उसे लंबा करने और उसका विकास करनेकी एक ऐसी आवश्यकता विद्यमान है कि जिस क्षण मृत्युके साथ व्यक्तिका पहला संपर्क होता है, चाहे वह संपर्क

बिलकुल अकस्मात् हुआ हो, पर जिसका होना अनिवार्य है, तो उससे सत्ता-में एक प्रकारका हटाव होता है।

कुछमें, जो संवेदनशील होते हैं, यह संत्रास पैदा करता है, दूसरोंमें रोष। व्यक्तिकी अपने-आपसे यह पूछनेकी प्रवृत्ति होती है: "यह भयावह प्रह-सन क्या है जिसमें हम बिना चाहे और बिना समझे हिस्सा लेते हैं? यदि मरना ही है तो हम पैदा ही क्यों होते हैं? प्रगति, उन्नति और अपनी शक्तियोंके विकासके लिये किये गये प्रयत्नोंसे लाभ ही क्या यदि इनका अंत ह्रासमें, अधोगति और विघटनमें होना है?..." कुछ विद्रोह करते हैं, दूसरे, कमसबल, निराश हो जाते हैं। यह प्रश्न सदा ही किया जाता है: "यदि इस सबके पीछे एक चेतन 'संकल्प' विद्यमान है तो वह दानवी प्रतीत होता है।"

परन्तु श्रीअरविन्द यहां हमें बताते हैं कि मृत्यु जड़-तत्त्वकी चेतनामें पूर्णताकी प्यास और प्रगतिकी आवश्यकताको जगानेके लिये एक अनिवार्य साधन है, और यह कि इस महाविपत्तिके बिना सभी प्राणी उसी अवस्थामें, जिसमें वे थे, संतोष किये पड़े रहते — शायद...। यह निश्चित नहीं है।

परन्तु अब हम बाध्य हैं चीजोंको उसी रूपमें लेनेके लिये जैसी कि वे हैं और, अपनेसे कहते हैं कि इससे बाहर निकलनेके साधनोंका जैसे भी हो पता लगाना चाहिये।

वास्तविक बात तो यह है कि सब चीजें सतत प्रगतिशील विकासकी एक अवस्थामें हैं, अर्थात् सारी सृष्टि, सारा विश्व एक पूर्णताकी ओर आगे बढ़ रहा है और ज्यों-ज्यों व्यक्ति इसकी ओर आगे बढ़ता है यह पूर्णता पीछे हटती प्रतीत होती है कारण, जो किसी समय पूर्णता प्रतीत होती थी वह कुछ समय बाद वैसी नहीं रहती। हमारी चेतनामें जो सूक्ष्मतम स्थितियां हैं वे तो इस पूर्णताका इसके उत्पन्न होनेके साथ ही तुरत अनुसरण कर लेती हैं और सीढ़ीपर ज्यों-ज्यों हम अधिक ऊंचे चढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों हमारी प्रगतिकी लय विश्व-प्रगतिकी लयके साथ अधिक मेल खाने लगती हैं और भागवत विकासकी लयके अधिक नजदीक पहुंच जाती है। परन्तु स्थूल जड़-जगत् स्वभावसे ही कठोर है, वहां परिवर्तन धीमा, अत्यंत धीमा होता है, उस काल-गणनाके विचारसे जैसा कि मानव चेतना उसे देखती है दृष्टिमें न आने जैसा होता है। ...और इस प्रकार होता यह है कि आंतरिक और बाह्य गतियोंमें एक सतत असंतुलन रहने लगता है और यह असमतोलता ही, आंतरिक प्रगतिकी गतिका अनुसरण करनेकी बाह्य ढांचेकी यह अक्षमता ही, ढांचेके अपघटन और उसके परिवर्तनकी आवश्य-कता उत्पन्न करती है। परन्तु यदि, इस जड़-तत्त्वको, व्यक्ति चेतनासे इतनी

पर्याप्त मात्रामें भर दे कि इसकी भी वही लय बनी रहे, यदि जड़-तत्त्व आंतरिक प्रगतिका अनुसरण करनेके लिये पर्याप्त रूपसे नमनीय बन सके तो संतुलन भंग नहीं होगा और फिर मृत्यु भी जरूरी नहीं रहेगी।

इस प्रकार, श्रीअरविन्द हमें जैसा बताते हैं उसके अनुसार, प्रकृतिने इस अधिक उग्र साधनको इसलिये चुना कि भौतिक चेतनामें आवश्यक अभीप्सा और नमनीयता जगायी जा सके।

यह स्पष्ट ही है कि जड़-तत्त्वकी सबसे प्रमुख विशेषता है तमस् और यह भी कि यदि यह उग्र प्रयोग न होता तो शायद प्रत्येक व्यक्ति-चेतना इतनी तामसी होती कि वह किसी परिवर्तनकी अपेक्षा अपूर्णतामें ही निरन्तर बने रहना स्वीकार कर लेती . . .। यह संभव है। कुछ भी हो, चीजें अब ऐसी ही हैं, और हमारे लिये, जो कुछ अधिक जानते हैं, बस, एक ही चीज करनेको शेष रह जाती है और वह है, जहांतक हमें साधन उपलब्ध हैं, 'शक्ति' व 'चेतना'-के, इस नयी 'शक्ति'के आवाहनद्वारा इस सबको बदल देना, इस 'शक्ति'के पास ऐसी सामर्थ्य है कि यह जड़-पदार्थमें उस प्रकारके स्पन्दनका संचार कर सकती है जो इसका रूपांतर कर दे, इसे नमनीय, कोमल और प्रगामी बना दे।

स्पष्ट ही इसमें सबसे बड़ी बाधा है वस्तुओंके वर्तमान स्वरूपके प्रति आसक्ति। और प्रकृति भी, समष्टि रूपमें, यह देखती है कि जिनके पास अधिक गहन ज्ञान है वे अधिक तेजीसे बढ़ जाना चाहते हैं: उसे अपने घुमावदार रास्ते पसंद हैं, उसे पसंद है कि एकके-बाद-एक प्रयत्न चलते रहें, विफलताएं आयें, और फिर नया आरंभ हो और नयी खोजें हों, उसे अपने सनकी तौर-तरीके और परीक्षणोंमें हो जानेवाली अकल्पित, अप्रत्याशित बातें पसंद हैं। हम कह सकते हैं इस सबमें जितना अधिक समय लगता है उतना ही उसका मनोरंजन होता है।

परन्तु बढ़िया-से-बढ़िया खेलसे भी हम तंग आ जाते हैं। समय आता है जब हम उसके बदले जानेकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। हम एक ऐसे खेलका स्वप्न ले सकते हैं जिसमें आगे बढ़नेके लिये कुछ भी नष्ट करना जरूरी न हो, जहां प्रगति करनेका उत्साह इतना हो कि वह नये साधनों और नयी अभिव्यक्तियोंको ढूंढ निकाले, जहां उमंग इतनी तीव्र हो कि वह तमस्, शिथिलता, दुर्बोधता, थकान और उदासीनतापर विजय पा ले।

भला यह शरीर, जैसे ही हम कुछ उन्नति कर लेते हैं, बैठ जानेकी आवश्यकता क्यों अनुभव करता है? यह थक जाता है। कहता है: "ओह! ठहरो, मुझे थोड़ा विश्राम कर लेने दो।" यही चीज है जो इसे मृत्युकी

ओर ले जाती है। यदि यह अपनेमें सदा ही और अधिक अच्छा करने, और अधिक पवित्र होने, और अधिक सुंदर होने, और अधिक प्रकाशपूर्ण होने और सदा-सर्वदा युवा बने रहनेका प्रवेग अनुभव कर सकता तो व्यक्ति प्रकृतिके इस भयंकर परिहाससे बच सकता।

उसके लिये इसका कुछ महत्त्व नहीं। वह सारी चीजको एक साथ देखती है, समग्रताको देखती है। वह देखती है कि कुछ भी खोया नहीं गया है, यह तो महज मात्राओंका, अनगिनत छोटे-छोटे तत्त्वोंका, जिनका कुछ महत्त्व नहीं, पुनर्मिश्रणभर है। उन्हें वह बर्तनमें फिरसे डाल देती और अच्छी तरह मिलाती है ताकि उनसे वह कुछ नयी चीज तैयार कर सके। पर यह खेल हर किसीके लिये मनोरंजक नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति अपनी चेतनामें उतना ही विशाल बन सके जितना कि वह है और उससे भी अधिक शक्तिशाली बन जाय तो उसी चीजको और अधिक अच्छी तरह भला क्यों नहीं कर सकता?

यही समस्या है जो इस समय हमारे सामने है। यह जो नयी 'शक्ति' उतरी है, जो अपने-आपको मूर्तिमंत करनेमें लगी है और कार्यतत्पर है उसकी इस बढ़ी हुई सहायतासे क्यों न हम खेलको अपने हाथमें लेकर इसे अधिक सुंदर, अधिक सामंजस्यपूर्ण और अधिक सच्चा बना डालें?

यदि कुछ मस्तिष्क इतने समर्थ हों कि वे इस 'शक्ति'को ग्रहण कर सकें और इसकी संभवनीय क्रियाको आकार प्रदान कर सकें तो यह काफी है। और कुछ बहुत ही प्रतापी व प्रबुद्ध सत्ताओंका होना भी जरूरी है जो प्रकृति-को यह विश्वास दिला सकें कि उसकी पद्धतियोंसे भिन्न दूसरी पद्धतियां भी हैं...। यह एक पागलपन-सा प्रतीत होता है। पर सभी नयी चीजें, जबतक कि वे वास्तविकताएं नहीं बन गयीं, सदा पागलपन ही प्रतीत होती रही हैं।

अब वह घड़ी आ गयी है कि यह पागलपन एक वास्तविकताका रूप ले। और चूंकि हम सब किन्हीं विशेष कारणोंसे — शायद हममेंसे बहुतोंको अज्ञात, फिर भी बहुत ही सचेतन कारणोंसे — यहां हैं, हम अपने अंदर यह निश्चय ले सकते हैं कि हमें इस पागलपनको संसिद्ध करना है, कम-से-कम इसे जीनेका परिश्रम भी सार्थक है।

७ फरवरी, १९५७

यह वार्ता वृहस्पतिवारको, सम्मिलित ध्यान-
के दिन, दी गयी थी। उस शामको श्रीमां
अपवाद रूपसे बोलीं थीं।

इस शाम, ध्यानसे पहले मैं कुछ शब्द कहूंगी, क्योंकि कई व्यक्तियोंने पूछा है कि सम्मिलित ध्यान और व्यक्तिगत ध्यानमें क्या भेद है?

व्यक्तिगत ध्यान — ध्यान कई प्रकारके होते हैं जिनका कि हम अभ्यास कर सकते हैं, इस चीजको मैं कई बार पहले बता चुकी हूं, सो उस बारेमें आज फिरसे नहीं कह रही।

परन्तु सम्मिलित ध्यानका अभ्यास सब कालोंमें किया जाता रहा है — विभिन्न कारणोंसे, विभिन्न तरीकोंसे और विभिन्न प्रयोजनोंको लेकर। जिसे सम्मिलित ध्यान कहा जाता है वह कुछ लोगोंका एक समुदाय होता है जिसमें लोग किसी निश्चित प्रयोजनके लिये एक जगह एकत्र होते हैं। उदाहरणार्थ, सभी कालोंमें प्रार्थनाके लिये लोग एक जगह इकट्ठे हुआ करते थे; अवश्य ही गिरजाघरोंमें, यह एक प्रकारका सम्मिलित ध्यान ही है। परन्तु गिरजाघरसे बाहर भी, ऐसे लोग रहे हैं जिन्होंने सार्वजनिक प्रार्थनाओंके लिये सम्मिलित ध्यानका आयोजन किया था। ये प्रार्थनाएं दो विभिन्न प्रकारकी हैं।

हम जानते हैं कि मानव-इतिहासके प्रारंभसे लोगोंके कुछ समुदाय अपनी आंतरात्मिक स्थितियोंको सम्मिलित रूपसे अभिव्यक्त करनेके लिये एक जगह इकट्ठे हुआ करते थे। कुछ लोग मिलकर परमात्म-स्तुतिके गीत गाने, भजन गाने, कृपाओंका गुण-गान करने, पूजा-भाव, आभार व कृतज्ञता प्रदर्शित करने और इस प्रकार परमात्माकी स्तुति करनेके लिये इकट्ठे होते थे। दूसरे कुछ लोग — इसके भी ऐतिहासिक उदाहरण हैं — सम्मिलित रूपसे ईश्वरका आवाहन करनेके लिये इकट्ठे होते थे, उदाहरणार्थ, परमेश्वरसे कुछ चीज मांगनेके लिये; और इसे सब एक साथ मिलकर, एक होकर किया करते थे, इस आशासे कि इस आवाहनमें, इस प्रार्थनामें, इस मांगमें अधिक बल होगा। इसके अनेक लोक-विख्यात उदाहरण हैं। बहुत पुराने उदाहरणोंमेंसे एक १००० ई. का है, जब कुछ भविष्यवक्ताओंने यह उद्घोषित किया था कि अब यह संसारका अंत है, और तब सब स्थानोंपर लोग एकत्र हुए थे सम्मिलित प्रार्थनाएं करनेके लिये

और यह अनुरोध करनेके लिये कि संसारका अंत न हो (!) अथवा कुछ भी हो इसकी रक्षा की जाय। अभी बिलकुल हाल ही में, आधुनिक कालमें, जब कि इंग्लैंडका राजा, जार्ज, निमोनियासे मर रहा था, लोग न केवल गिरजाघरोंमें बल्कि राजप्रासादके सामने सड़कोंपर भी एकत्र हुए थे प्रार्थनाएं करने और परमेश्वरसे यह मांगने कि उसे अच्छा कर दें। ऐसा हुआ कि वह अच्छा हो गया, लोगोंने विश्वास किया कि यह उनकी प्रार्थनाओंसे हुआ . . .। निःसंदेह, यह सामूहिक ध्यानका एकदम बाहरी, कह सकती हूं कि, एकदम सांसारिक रूप है।

प्राचीन कालके सभी दीक्षा-समुदायोंमें, सभी आध्यात्मिक स्थानोंमें सामूहिक ध्यानका सदा ही अभ्यास किया जाता था, पर वहां प्रेरक भाव सर्वथा भिन्न होता था। वे एकत्र होते थे सामूहिक प्रगतिके लिये, शक्ति, प्रकाश और प्रभावके प्रति एक साथ मिलकर अपने-आपको खोलनेके लिये और . . . कुछ कम या अधिक रूपमें यही चीज है जिसके लिये हम प्रयास करना चाहते हैं।

तो, इसकी पद्धतियां दो हैं और इन्हींके बारेमें मैं तुम्हें आज बताने जा रही हूं। दोनों हालतोंमें, अभ्यास वैसे ही किया जाता है जैसा कि व्यक्तिगत ध्यानमें, अर्थात् एक ऐसे आसनसे बैठ जाओ जिसे बनाये रखना तुम्हारे लिये पर्याप्त सुखकर हो, पर ऐसा सुखकर न हो कि नींद ही आने लगे। और उसके बाद जो कुछ मैंने तुम्हें तब बताया था जब मैं उधर दूसरी ओर वितरणके लिये जाया करती थी,[1] उसे करो, अर्थात् अपने-आपको ध्यानके लिये तैयार करो, स्थिर और शांत होनेकी कोशिश करो, केवल बाहरी तौरपर ही गप्पें लगाना बंद न करो, बल्कि अपने मनको भी चुप करनेकी कोशिश करो और अपनी चेतनाको, जो तुम्हारे अंदर उठते सब विचारों और तुम्हारे पूर्वाग्रहोंमें छितरी रहती है उसे जहांतक हो सके, पूरी तरह समेटकर वापस लाकर यहां हृदयके क्षेत्रमें, सौरचक्रमें इस तरह केन्द्रित करो कि मस्तिष्ककी सभी सक्रिय शक्तियां और वे सब गतियां जो दिमागको दौड़ाती रहती हैं, वापस लायी जा सकें और यहां केंद्रित की जा सकें। यह कुछ सेकंडोंमें भी किया जा सकता है और कुछ मिनट भी लग सकते हैं, यह प्रत्येक व्यक्तिपर निर्भर करता है। निश्चय ही यह प्रारंभिक मनःस्थिति है। इसके बाद, जब यह हो जाय (अथवा तुम जितनी अच्छी तरह कर सकते हो उतनी अच्छी तरह हो जाय), तो तुम दो वृत्तियां अपना सकते हो, अर्थात् सक्रिय वृत्ति या निष्क्रिय वृत्ति।

---

[1]हर शामको, ध्यान या वार्तासे पहले, श्रीमां खेलके मैदानके साथ लगे स्थानपर "हरे दल"के बच्चोंको मूंगफली बांटने जाया करती थीं।

जिसे मैं सक्रिय वृत्ति कहती हूं वह है (मैं इसे सामान्य रूपमें रखूंगी), उस व्यक्तिपर, जो ध्यानका संचालन कर रहा है अपने-आपको एकाग्र करना, वह तुम्हें जो वस्तु देना चाहता है उसे प्राप्त करनेके संकल्पके साथ उसके प्रति अपने-आपको खोलना अथवा उस शक्तिके प्रति खोलना जिसके संपर्कमें वह तुम्हें लाना चाहता है। यह सक्रिय वृत्ति है, क्योंकि यहां एक संकल्प है जो काम करता है और किसी व्यक्तिके प्रति अपने-आपको खोलनेके लिये, किसी व्यक्तिपर एकाग्र होनेके लिये सक्रिय एकाग्रता है।

दूसरी, निष्क्रिय वृत्ति बस, यह है : पहले एकाग्रचित्त होओ, जैसा कि मैं तुम्हें बता चुकी हूं, उसके बाद अपने-आपको खोलो, ठीक ऐसे ही जैसे कोई दरवाजा खोलता है, तुम जानते हो, जानते हो न! कि तुम्हारे यहांपर (हृदयकी ओर संकेत करते हुए) एक दरवाजा है, एकाग्रचित्त हो चुकनेके बाद तुम दरवाजा खोलते हो और इस प्रकार बने रहते हो (निश्चलताका संकेत करते हुए) अथवा तुम दूसरा एक पुस्तकका रूपक ले सकते हो, तुम अपनी पुस्तकको पूरा-पूरा खोल देते हो जिसके पृष्ठ बढ़िया और एकदम, सफेद हैं अर्थात् सर्वथा नीरव हैं और जो होगा उसकी प्रतीक्षा करते हुए तुम उसी अवस्थामें बने रहते हो।

ये दो वृत्तियां हैं। जैसा दिन या जैसा अवसर हो उसके अनुसार तुम किसी एक या दूसरीको अपना सकते हो अथवा तुम किसी एकको ही प्रमुखतः चुन सकते हो यदि उससे तुम्हें अधिक सहायता मिलती हो। दोनों ही प्रभावकारी हैं और समान रूपसे उत्तम फल देने वाली हैं।

अच्छा तो, अब, खास हमारे अपने मामलेमें, मैं तुम्हें बताती हूं कि मैं क्या करनेका प्रयत्न करती हूं ... । जल्दी ही अब उसे एक वर्ष हो जायगा जब एक बुधवारको अतिमानसिक शक्तिका आविर्भाव हुआ था। तबसे यह बहुत सक्रिय रूपसे कार्य कर रही है, भले बहुत थोड़े लोग ही इसे जानते हैं (!) परन्तु फिर भी मैंने सोचा कि अब हमारे लिये समय आ गया है — इसे कैसे समझाऊं? — जब हम ग्रहणशीलता बढ़ानेका प्रयत्न करके उसके कार्यमें कुछ सहायता कर सकते हैं।

अवश्य ही, यह केवल आश्रममें ही नहीं बल्कि सारे संसारभरमें अपना कार्य कर रही है और हर जगह, जहां कहीं थोड़ी-सी ग्रहणशीलता है यह 'शक्ति' कार्यमें लगी है। और मुझे कहना चाहिये कि संसारमें आश्रमके पास ही एकमात्र ग्रहणशीलता, ग्रहणशीलताका एकाधिकार नहीं है। परन्तु चूंकि बात ऐसी है कि हम सब यहां कम या अधिक यह जानते हैं कि क्या घटित हुआ है, तो हां, मैं आशा करती हूं कि व्यक्तिगत रूपसे तो हर एक इस अवसरसे लाभ उठानेका पूरा प्रयास कर ही रहा होगा, पर सामूहिक

रूपसे भी हम कुछ कर सकते हैं, अर्थात् सामूहिक रूपमें अधिक-से-अधिक ग्रहणशीलता प्राप्त की जा सके इसके लिये विशेष रूपसे उर्वरा भूमि तैयार करनेके लिये हम क्षेत्रको एकरूप बनानेका प्रयास कर सकते हैं, जिससे समय और शक्तिका यथासंभव कम-से-कम अपव्यय हो।

तो अब, तुम्हें एक सामान्य रूपसे मैंने बता दिया है कि हम क्या करनेका प्रयास करना चाहते हैं और तुम्हें बस... उसे करना है।

१३ फरवरी, १९५७

> **"पीड़ा और दुःख प्रकृतिकी ओरसे अंतरात्माको यह याद दिलानेके लिये आते हैं कि वह सुख जिसे वह भोगती है सत्ता-के वास्तविक आनंदका एक हल्का-सा संकेतमात्र है। हमारी सत्ताकी प्रत्येक पीड़ा और यंत्रणामें आनंदकी उस ज्वालाका रहस्य निहित है जिसकी तुलनामें हमारे बड़े-से-बड़े सुख भी धुंधली-सी टिमटिमाहट हैं। यही रहस्य है जो जीवनकी महान् अग्नि-परीक्षाओं, कष्टों और भीषण अनुभवोंके प्रति अंत-रात्मामें आकर्षण पैदा करता है पर जिससे हमारा स्नायविक मन बचता और घृणा करता है।"**
>
> (विचार और झांकियां)

बिलकुल स्वाभाविक रूपसे हम अपने-आपसे पूछते हैं कि वह कौनसा रहस्य है जिधर पीड़ा हमें ले जाती है। एक उथली और अपूर्ण दृष्टिसे देखने-पर व्यक्ति यह विश्वास कर सकता है कि यह पीड़ा ही है जिसे अंतरात्मा खोज रही है। पर बात ऐसी नहीं है। क्योंकि अन्तरात्माका अपना निज स्वभाव है स्थिर, अपरिवर्तनशील, निरपेक्ष और परमाह्लादकारी दिव्य आनन्द। परन्तु यह सच है कि यदि व्यक्ति कष्टका साहस, सहिष्णुता और भागवत कृपामें अडिग विश्वासके साथ सामना कर सके और जब कभी कष्ट आये तो उससे बचते फिरनेके स्थानपर इस संकल्प और इस अभीप्सा-के साथ उसे अंगीकार करे कि इसमेंसे पार होना और उस ज्योतिर्मय सत्य एवं अपरिवर्ती आनन्दको खोज निकालना है जो सभी वस्तुओंके अन्तस्तलमें

विद्यमान है तो पीड़ा-द्वार इच्छा-तुष्टि या तृप्तिकी अपेक्षा अधिक सीधा और अधिक जल्दीका द्वार होता है।

मैं ऐन्द्रिय सुखके बारेमें नहीं कह रही हूं क्योंकि वह तो बराबर और लगभग पूरी तरह इस अगाध दिव्य आनन्दकी ओरसे पीठ फेरे रहता है।

ऐन्द्रिय सुख धोखा देने वाला और विकृत छद्मरूप है जो हमें अपने लक्ष्य-से भटकाकर दूर ले जाता है। यदि हमें सत्यको पानेकी जल्दी है तो निश्चय ही हमें इसकी खोज नहीं करनी चाहिये। यह सुख हमें सारहीन बना देता है, हमें ठगता और भटकाता है। पीड़ा हमें एकाग्रचित्त होनेके लिये विवश कर देती है ताकि हम उस कुचलनेवाली चीजको सहने और उसका सामना करनेमें समर्थ बन सकें। इस प्रकार वह हमें गभीरतर सत्यकी ओर वापस ले जाती है। यदि व्यक्ति सबल हो तो दुःखमें ही सबसे आसानीसे सच्ची शक्ति प्राप्त करता है। दुःखमें पड़कर ही फिरसे सच्चे श्रद्धा-विश्वासको प्राप्त करना सबसे आसान होता है, — किसी ऐसी चीज-में विश्वास जो परे है, ऊपर है, सब दुःखोंसे परे है।

जब व्यक्ति आमोद-प्रमोदमें भूला रहता है, जब वह वस्तुओंको उसी रूपमें लेता है जिस रूपमें वे आती हैं और गंभीर होकर जीवनपर सीधी दृष्टि डालनेसे बचना चाहता है, एक शब्दमें, जब वह भूल जाना चाहता है, यह भूल जाना चाहता है कि कोई समस्या है जिसका समाधान करना है, कोई चीज है जिसे पाना है और यह कि हमारे अस्तित्व और जीवनका कुछ हेतु है, हम यहां केवल समय बिताने और बिना कुछ सीखे या किये यहांसे चले जानेके लिये नहीं आये हैं तो सचमुच वह अपना समय बरबाद करता है। और एक ऐसे सुयोगको खोता है — इस सुयोगको मैं अद्वितीय तो नहीं, पर अद्‌भुत कह सकती हूं — जो उसे एक ऐसे अस्तित्वके लिये मिला है जो प्रगतिका स्थान है, जो अनंततामें एक ऐसे क्षणके समान है जब तुम जीवनके रहस्यकी खोज कर सकते हो। यह स्थूल पार्थिव अस्तित्व एक अद्‌भुत सुयोग है, एक संभावना है जो तुम्हें जीवनके अस्तित्व-हेतुका पता लगाने, इस गभीरतर सत्यकी ओर एक पग आगे बढ़नेके लिये दी गयी है। इसलिये दी गयी है कि तुम उस रहस्यको खोज सको जो तुम्हें दिव्य जीवनके शाश्वत आनन्दोल्लासके संपर्कमें ला देता है।

(मौन)

मैं तुमसे पहले भी बहुत बार कह चुकी हूं कि दुःख-कष्टकी चाह करना

एक अस्वस्थ मनोवृत्ति है, इससे अवश्य बचना चाहिये, पर भुलक्कड़पनके द्वारा, उथली हल्की क्रियाओं और मनोविनोदद्वारा, उनसे भागना कायरता है। जब कोई दुःख आता है तो हमें कुछ सिखानेके लिये आता है। जितनी जल्दी हम उसे सीख लेंगे उतनी ही जल्दी उसकी आवश्यकता कम हो जायगी। और जब हम रहस्यको जान जाते हैं तब फिर दुःखी होना संभव नहीं रहता क्योंकि वह रहस्य हमें दुःखका हेतु, प्रयोजन, मूल और उससे बाहर निकलनेका रास्ता दिखा देता है।

वह रहस्य है अहंसे छुटकारा पा लेना, उसकी कैदसे निकल आना, अपने-आपको भगवान्‌के साथ एक कर देना, उसमें मिला देना, किसी भी चीजको उससे हमें जुदा न करने देना। जब व्यक्ति एक बार इस रहस्यको खोज लेता है और इसे अपनी सत्तामें चरितार्थ कर लेता है तो पीड़ाके अस्तित्व-का कोई हेतु नहीं रह जाता और दुःख गायब हो जाता है। यह सत्ताके गहरे भागोंमें, आत्मामें, आध्यात्मिक चेतनामें ही नहीं बल्कि जीवन और शरीरमें भी (दुःखसे छुटकारा पानेका) सबसे प्रबल उपाय है।

सत्ताके केवल उच्चतर भागोंमें ही नहीं बल्कि शरीरके कोषाणुओंतकमें भी ऐसी कोई व्याधि नहीं, ऐसा कोई विकार नहीं जो इस रहस्यकी खोज और उसके जीवनमें व्यावहारिक, क्रियात्मक रूपका प्रतिरोध कर सके।

यदि कोई व्यक्ति यह जानता हो कि कोषाणुओंको उनमें छिपी भव्यता-का ज्ञान कैसे कराया जाता है और उन्हें वह यथार्थता कैसे समझायी जाय जो उन्हें जीवन देती और उनके अस्तित्वको संभव बनाती है तो वे भी समग्र समस्वरतामें सम्मिलित हो जाते हैं और वह दैहिक अव्यवस्था जो बीमारीका कारण होती है, हमारी अन्य सब अव्यवस्थाओंकी तरह ही विलुप्त हो जाती है।

पर उसके लिये व्यक्तिको न तो शिथिल होना चाहिये और न भय-भीत। जब कोई शारीरिक विकार आये तो भयभीत नहीं होना चाहिये, इससे भागना नहीं चाहिये बल्कि इसका साहस, शांति और आत्म-विश्वास-के साथ मुकाबला करना चाहिये, इस विश्वासपूर्ण निश्चयके साथ कि बीमारी एक **मिथ्यात्व** है और यदि कोई व्यक्ति भागवत कृपाकी ओर पूरी तरह, पूरे आत्म-विश्वास और पूरी शांत-स्थिरताके साथ मुड़े तो 'यह' इन कोषाणुओंमें भी उसी तरह स्थिर हो जायगी जैसे सत्ताकी गहराइयोंमें स्थित हो जाती है और तब कोषाणु भी शाश्वत 'सत्य' और 'आनंद'में भाग लेंगे।

२० फ़रवरी, १९५७

"शरीरकी सीमाएं एक सांचा हैं; अंतरात्मा और मनको इनमें अपने-आपको भरना होता है, इन्हें तोड़ना और निरंतर अधिकाधिक विस्तृत सीमाओंमें फिर-फिर ढालना होता है जबतक कि इस ससीम और उनकी अपनी असीमताके बीच मेलका कोई सूत्र न मिल जाय।"

(विचार और झांकियां)

मधुर मां, इससे हमें क्या समझना चाहिये कि "शरीरकी सीमाएं एक सांचा हैं?"

यदि तुम्हारा शरीर सुनिश्चित आकारका न होता और यदि तुम पूरी तरह सचेतन तथा निजी विशेषताओंवाला गठित व्यक्तित्व न होते तो तुम दूसरेके अंदर जा मिलते और पहचाने न जाते। यहांतक कि जब हम केवल थोड़ा-सा ही अंदरकी ओर अत्यधिक भौतिक प्राण-सत्तामें जाते हैं तो वहां विभिन्न लोगोंके स्पंदनोंका ऐसा मिश्रण होता है कि वहां किसीको पहचान पाना बहुत मुश्किल होता है। और यदि तुम्हारे पास शरीर न हो तो यह एक प्रकारकी मलीदे जैसी जटिल चीज होगी। इसलिये यह आकार ही, शरीरका यह सुनिश्चित और (दीखनेमें) कठोर आकार ही तुम्हें दूसरेसे अलग दिखाता है। इस प्रकार यह आकार मानों एक सांचेका काम देता है। (एक बच्चेको संबोधित करते हुए) जानते हो सांचा क्या होता है? —हां, हम उसके अंदर कुछ चीज, द्रव या अर्द्ध द्रव जैसी कोई चीज डाल देते हैं और जब वह जम जाती है तो हम सांचेको तोड़कर एक सुनिश्चित आकारकी चीज पा लेते हैं। हां, तो शरीरका आकार प्राणिक और मानसिक शक्तियोंके लिये एक सांचेका काम देता है जिससे वे इसके अंदर एक सुनिश्चित आकार ग्रहण कर सकें और इस प्रकार तुम दूसरोंसे भिन्न एक व्यक्ति-सत्ता बन सको।

थोड़ा-थोड़ा करके और बहुत धीमे-धीमे जीवनकी गतिविधियोंके और कम या अधिक सतर्क व सतत शिक्षाके द्वारा तुम ऐसे संवेदन पाने लगते हो जो तुम्हारे निजी होते हैं। और निजी भावनाएं तथा निजी विचार भी आने लगते हैं। व्यक्तिरूप मन बहुत ही विरल वस्तु है, यह लंबी शिक्षाका ही फल होता है। अथवा यह एक प्रकारकी विचार-तरंग

होती है जो तुम्हारे मस्तिष्कमेंसे गुजरती है और फिर दूसरेके और जन-समूहके मस्तिष्कमेंसे गुजरती है और यह निरंतर चक्कर काटती रहती है, इसका कोई व्यक्तित्व नहीं होता। तुम वही सोचते हो जो दूसरे सोचते हैं, दूसरे वही सोचते हैं जो कुछ और लोग सोच रहे हों और प्रत्येक व्यक्ति इसी प्रकार बड़ी मिली-जुली अवस्थामें सोचता है क्योंकि ये विचार-तरंगें, विचार-स्पंदन एकसे दूसरेके पास पहुंचते रहते हैं। यदि तुम ध्यानसे अपने-आपको देखो तो तुम बहुत जल्दी यह जान जाओगे कि तुम्हारे अंदर ऐसे विचार बहुत कम ही हैं जो तुम्हारे निजी हों। अपने विचारोंको तुम कहांसे ले आते हो ?—सुनी-सुनायी बातोंसे, जो कुछ तुमने पढ़ा है या सीखा है उससे; पर इनमेंसे कितने तुम्हारे अपने अनुभवका परिणाम हैं, तुम्हारे चिंतनका, विशुद्ध रूपसे तुम्हारे अपने निरीक्षणका परिणाम हैं ? — अधिक नहीं।

जिन लोगोंका प्रबल रूपमें बौद्धिक जीवन होता है, उन्हें ही चिंतन करने, निरीक्षण करने और विचारोंको एक साथ रखनेकी आदत होती है, और धीरे-धीरे इन्हींसे व्यक्तिरूप मनका निर्माण होता है।

अधिकतर मनुष्य — केवल अशिक्षित ही नहीं बल्कि पढ़े-लिखे भी — अपने सिरमें बहुत ही विरोधी, बहुत ही प्रतिकूल विचार लिये रहते हैं और उन्हें इन विरोधोंका पतातक नहीं होता। मैंने इस प्रकारके बहुतसे उदा-हरण देखे हैं जिनमें लोगोंने ऐसे विचारोंको पोस रखा था जो परस्पर विरोधी थे। यहांतक कि राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि मानव बुद्धिके सभी तथाकथित उच्चतर क्षेत्रोंके बारेमें उनकी अपनी सम्मतियां थीं, और एक ही विषयपर एकदम विरोधी सम्मतियां थीं पर उन्हें इस बातका पतातक न था। यदि तुम अपना निरीक्षण करो तो देखोगे कि तुम्हारे ऐसे बहुतसे विचार हैं जिन्हें बीचके विचारोंकी शृंखलासे जोड़नेकी जरूरत है ताकि वे भद्दे रूपमें एक साथ न पड़े रहें। और ये मध्यवर्ती विचार सामान्य विचारोंको पर्याप्त रूपमें विस्तृत करनेसे बनते हैं।

इस प्रकार, इससे पहले कि कोई व्यक्तित्व सचमुच एक व्यक्तिगत रूप ले और अपनी व्यक्तिगत विशेषताएं रखने लगे, उसे एक पात्रमें रखा जाना जरूरी है, अन्यथा वह पानीकी तरह बह जायगा और उसका कोई आकार न बन पायेगा। अधिक निम्न स्तरके लोग अपने-आपको केवल नामसे ही जानते हैं। नामके बिना वे अपने-आपको अपने पड़ोसीसे अलग करके नहीं जान सकते। उनसे जब पूछा जाता है: "तुम कौन हो ?" वे कहते हैं: "मेरा नाम है अमुक।" कुछ समय बाद वे तुम्हें अपने पेशेके या अपनी मुख्य विशेषताके बारेमें बताने लगते हैं। तब यह पूछनेपर : "तुम कौन हो ?" वे कहते हैं: "मैं एक चित्रकार हूं"।

परंतु एक विशेष स्तरपर उत्तर केवल नाम ही होता है।

और नाम क्या है? एक शब्दके सिवा कुछ नहीं, ऐसा ही है न? और उसके पीछे क्या है? कुछ भी नहीं, बस, ढेर सारी अनिश्चित वस्तुएं जो व्यक्तिको किसी तरह भी पड़ोसीसे अलग नहीं करतीं। वह अलग इसलिये माना जाता है क्योंकि उसका अलग नाम है। यदि हरेकका वही नाम होता तो एक आदमीको दूसरेसे अलग पहचानना बहुत मुश्किल हो जाता।

मैंने उस दिन तुम्हें हवाई जहाजोंके बारेमें लिखी एक पुस्तक[1] मेंसे एक दासकी कहानी सुनायी थी। जब कभी उससे कोई बात पूछी जाती तो वह सदा अपना नाम ले देता। यह चीज अपने-आपमें एक प्रगति थी। उस समय सब दासोंका एक ही नाम हुआ करता था "दास"—सभी दासोंके साथ ऐसा ही था—और उन्होंने उसे अपना लिया था, फलस्वरूप वे सब एक व्यक्ति बने थे। उनका अपना व्यक्तित्व बिलकुल नहीं था, था, बस, एक पेशा और चूंकि वह पेशा लगातार सभी दासोंके लिये एक ही था इसलिये उन सबका नाम भी एक ही था।

आदमी एक प्रकारकी, मुश्किलसे अर्द्धचेतन आदतसे जीता है, और कभी अलग होकर अपनेको नहीं देखता, यह नहीं देखता कि वह क्या करता है, क्यों करता है, कैसे करता है। बस, अभ्यासवश वैसा करता रहता है। सभी लोग जिस विशेष वातावरण और विशेष देशमें वे पैदा होते हैं, आप-से-आप वहांकी आदतोंको अपना लेते हैं, न केवल शरीर-संबंधी स्थूल आदतोंको, बल्कि सोचने-विचारने, अनुभव करने और क्रिया करनेकी आदतोंको भी। वे अपने ऊपर जरा भी ध्यान दिये बिना, बिलकुल सहज रूपसे ऐसा करते हैं। और यदि कोई उनका ध्यान उधर आकर्षित करता है तो वे आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

वास्तवमें हमें सोने, बोलने, खाने, चलनेकी एक आदत है और हम यह सब बिलकुल सहज रूपमें क्यों और कैसेपर आश्चर्य किये बिना करते हैं... और बहुत-सी दूसरी चीजें भी। सारे समय हम चीजोंको आप-से-आप आदतके जोरपर करते रहते हैं और अपने करनेपर ध्यान नहीं देते। और इसीलिये, जब हम किसी खास समाजमें रहते हैं तो सहज रूपमें वही करने लगते हैं जो उस समाजमें किया जाता है। और यदि कोई कार्य करते, अनुभव करते, सोचते हुए अपना अवलोकन करना शुरू करता है तो उस परिवेशकी तुलनामें जिसमें वह रहता है असाधारण दानव-सा प्रतीत होता है।

---

[1]संत एक्जुपेरीकी लिखी "तैर द ज़ोम्म" पुस्तक।

अतः व्यक्तित्वका होना नियम बिलकुल नहीं है, यह एक अपवाद है। और यदि तुम्हारे पास विशेष आकारका यह झोला, तुम्हारा यह बाह्य शरीर, तुम्हारा यह प्रकट रूप न होता तो तुम सब मुश्किलसे ही एक-दूसरे-से अगल पहचाने जा सकते।

व्यक्तित्वका होना एक विजय है। और जैसा कि श्रीअरविन्द यहां कहते हैं, यह पहली विजय केवल एक पहली अवस्था है। जब तुम एक बार अपने अंदर व्यक्तिगत, स्वतंत्र और सचेतन सत्ता जैसी चीजका अनुभव कर लो तो तुम्हें यही करना होगा कि उस आकारको तोड़कर आगे बढ़ो। उदाहरणार्थ, यदि तुम मानसिक तौरपर प्रगति करना चाहते हो तो तुम्हें अपने सभी मानसिक रूपोंको, अपनी सभी मानसिक रचनाओंको तोड़ देना होगा ताकि नयी रचनाएं बना सको। तो, पहले तो, अपनेको व्यक्ति रूप-में लानेके लिये घोर परिश्रमकी आवश्यकता होती है और फिर प्रगति करने-के लिये सब किये-करायेको नष्ट कर देना पड़ता है। परंतु जैसे कि तुम किसी क्रियाको करते हुए उसपर ध्यान नहीं देते, यह केवल आदतके द्वारा होती रहती है (यहां यह कह दूं कि स्वभावतः यह सब किसीके साथ नहीं होता) — काम करने, पढ़ने, उन्नति करने, कुछ करनेका प्रयास, अपने-आपको कुछ थोड़ा-सा गढ़ना यह एक आदतसे होता जाता है — तुम इसे बिलकुल सहज-स्वाभाविक रूपसे करते हो और जैसा कि मैंने कहा, करते हुए अपने ऊपर ध्यान भी नहीं देते।

जब इन बाह्य आकारोंकी आपसमें रगड़ होती है केवल तभी तुम यह अनुभव करना शुरू करते हो कि तुम दूसरोंसे भिन्न हो। अन्यथा अपने इस या उस नामके कारण ही तुम यह या वह व्यक्ति होते हो। जब रगड़ होती है, जब कोई चीज आरामसे नहीं चलती, केवल तभी तुम भिन्नता-से सचेत होते हो और देखते हो कि तुम भिन्न हो, नहीं तो तुम्हें इसका पता भी नहीं होता और तुम भिन्न होते भी नहीं। वास्तवमें तुम एक-दूसरेसे बहुत कम, बहुत ही कम भिन्न हो।

कितनी ही चीजें तुम अपने जीवनमें, कम-से-कम मूल रूपमें, ठीक उसी तरह करते हो जैसे दूसरे करते हैं। उदाहरणार्थ, सोना, चलना, खाना और इसी प्रकारकी अन्य सब चीजें। तुम कभी अपने-आपसे यह नहीं पूछते कि किसी चीजको तुम इसी तरह क्यों करते हो दूसरी तरहसे क्यों नहीं। यदि मैं तुमसे पूछूं : तुम इस तरह क्यों करते हो, दूसरी तरह क्यों नहीं ? तो तुम्हारी समझमें न आयेगा कि क्या कहो। पर सीधी-सी बात है तुम एक विशेष परिस्थितिमें पैदा हुए हो और उस परिस्थितिमें ऐसा ही करने-का रिवाज है। परन्तु यदि तुम किसी दूसरे कालमें, किन्हीं दूसरी परि-

स्थितियोंमें पैदा हुए होते तो तुम बिलकुल दूसरी तरह आचरण करते और तुम्हें कुछ फर्क न मालूम होता, तुम्हें वह एकदम स्वाभाविक प्रतीत होता ...। एक उदाहरण लेती हूं — बहुत, बहुत छोटी-सी बातका उदाहरण— अधिकतर पश्चिमी देशोंमें और कुछ पूर्वी देशोंमें भी लोग इस तरह, दायेंसे बायें सीते हैं लेकिन जापानमें लोग बायेंसे दायें सीते हैं। हां तो, दायेंसे बायें सीना तुम्हें एकदम स्वाभाविक लगता है, लगता है न ! तुम्हें ऐसा ही सिखाया गया है और इस बारेमें तुम कभी सोचते ही नहीं, बस उसी तरीकेसे सीते हो। तुम जापान जाते हो, वहां उनके सामने सीने बैठते हो और इससे उन्हें हंसी आती है क्योंकि उनकी आदत और तरह की है। यही बात लिखनेके साथ भी है, तुम लिखते हो बायेंसे दायें और ऐसे लोग भी हैं जो ऊपरसे नीचेकी ओर लिखते हैं और दूसरे बहुतसे दायेंसे बायें लिखते हैं और यह सब बिलकुल सहज रूपमें करते हैं। मैं उन लोगोंकी बात नहीं कर रही जिन्होंने अध्ययन किया है, चिंतन किया है, लेखनकी तुलना की है, मैं कम या अधिक शिक्षित लोगोंकी बात नहीं कर रही हूं, नहीं, मैं बिलकुल साधारण लोगोंकी बात कर रही हूं और विशेषतः बच्चोंकी जो बिलकुल सहज रूपमें और बिना किसी शंकाके वही करते हैं जो उनके चारों ओर होता है। और जब किसी परिस्थितिके संयोगसे वे ऐसी जगह ले जाये जाते हैं जहां वे दूसरे प्रकारके आचार-व्यवहार देखते हैं तो यह उनके लिये एक आश्चर्यजनक बोध होता है कि वे जिस ढंगसे करते हैं उससे अलग ढंगसे भी चीजें की जा सकती हैं।

और ये बिलकुल सामान्य बातें हैं, मेरा मतलब है कि ये वे बातें हैं जिनकी ओर तुम्हारा ध्यान झट आकर्षित हो जाता है परन्तु छोटे-से-छोटे ब्योरेमें भी यह चीज सही है। तुम इस प्रकार इसलिये करते हो कि उस स्थान या उस परिस्थितिमें, जहां तुम रहते हो ऐसा ही किया जाता है। और तुम इसे करते हुए कभी इसपर ध्यान नहीं देते।

मूल रूपमें, उद्भव-स्रोत था 'एक', था न ? और सृष्टिको होना था 'बहु'। तो इस 'बहु'को अपने बहु रूप होनेके बारेमें सचेतन बनानेमें पर्याप्त परिश्रम करना पड़ा होगा।

और यदि हम बहुत ध्यानसे देखें तो लगता है कि यदि सृष्टिको अपने मूलस्रोतकी स्मृति बनी रहती तो यह विभिन्न प्रकारकी बहुविधता कभी न आ पाती। प्रत्येक प्राणीके केंद्रमें पूर्ण एकताकी भावना बनी रहती और विभिन्नता — शायद — कभी प्रकट न हो पाती।

इस एकताकी स्मृतिको खो देनेके द्वारा ही विभिन्नताओंसे सचेत होनेकी संभावना पैदा हुई। और जब हम, दूसरे छोरपर, अचेतनतामें जाते हैं

तो वहां भी हम एक प्रकारकी एकतामें जा गिरते हैं, जो अपने-आपसे अचेतन है, वहां विभिन्नता वैसे ही अनभिव्यक्त है जैसे अपने मूल स्रोतमें थी।

दोनों छोरोंपर विभिन्नताका समान अभाव है; एक अवस्थामें एकताकी परम सचेतनताके कारण, दूसरीमें एकताकी पूर्ण अचेतनताके कारण।

आकारकी स्थिरता एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा व्यक्तित्वका निर्माण किया जा सकता।

तो, बस, सारी बात यही है।

६ मार्च, १९५७

आज मेरी आंख मुझे पढ़ने न देगी[1]। परन्तु गत सप्ताह मैंने जो पढ़ा था उसपर मुझसे एक प्रश्न पूछा गया है, इस शाम मैं उसका उत्तर दूंगी। पवित्र, पढ़ दोगे, जरा ?

> (पवित्र पढ़ते हैं) **इस पैराग्राफका क्या मतलब है: "स्वतंत्रता अपनी असीम एकतामें सत्ताका नियम है, समस्त प्रकृतिकी गुप्त स्वामिनी है: दासता सत्तामें प्रेमका नियम है, यह अनेकताके अंदर अपनी अन्य आत्माओंकी क्रीड़ामें सहायता पहुंचानेके लिये अपनी इच्छासे अपने-आपको अर्पित कर देती है।"**
>
> (विचार और झांकियां)

ऊपरी दृष्टिको ये दोनों चीजें बिलकुल विरोधी और असंगत प्रतीत होती हैं। बाहरी तौरपर यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि एक ही समयमें कोई स्वतंत्रता और दासतामें कैसे रह सकता है। परन्तु एक ऐसी मनोवृत्ति है जो दोनोंमें मेल बैठा देती है और उनके मेलसे पार्थिव जीवनकी एक बहुत ही सुखी अवस्थाका निर्माण करती है।

---

[1]२७ फरवरीको केवल पुस्तक-पाठ हुआ और उसके बाद ध्यान, कोई वार्ता नहीं। गत 'दर्शन'के बादसे श्रीमांकी बायीं आंखमें हलका रक्त-स्राव था।

जीवनके संपूर्ण विकासके लिये स्वतंत्रता एक प्रकारसे व्यक्तिकी नैसर्गिक मांग है, एक आवश्यकता है। अपने मूल रूपमें यह उच्चतम चेतनाकी पूर्ण रूपसे प्राप्ति है, 'एकत्व' और भगवान्‌के साथ संयोगकी अभिव्यक्ति है। और यह 'स्रोत' और चरितार्थताका असली मर्म है। और चूंकि एकत्व बहुमें (अनेकविधतामें) अभिव्यक्त हुआ है इसलिये किसी ऐसी चीजकी जरूरत थी जो इस मूल स्रोत और अभिव्यक्त सृष्टिके बीच कड़ीका काम कर सके। और जिस पूर्णतम कड़ीकी कल्पना की जा सकती है वह है प्रेम। और प्रेमका पहला संकेत क्या है? अपने-आपको दे देना, सेवा करना। इसकी सहज, तुरत, अनिवार्य रूपसे उमड़ पड़नेवाली गति क्या होती है? सेवा करना। खुशी-खुशी, पूर्णरूपसे, समग्र आत्म-दानके साथ सेवा करना।

इस प्रकार, अपने शुद्ध रूपमें, अपने सत्यमें ये दोनों — स्वतंत्रता और सेवाभाव — विरोधी होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक पूरक हैं। परम सत्ताके साथ पूर्णतया एक हो जानेपर ही पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होती है, क्योंकि समस्त अज्ञान, समस्त अचेतनता बन्धन हैं, ये तुम्हें शक्तिहीन, सीमित और असमर्थ बना देते हैं। अपने अंदर अज्ञानका थोड़ा-सा अंश भी एक सीमितता ले आता है और फिर व्यक्ति स्वतंत्र नहीं रहता। जबतक सत्तामें अचेतनताका तत्त्व है यह एक सीमितता है, एक बन्धन है। केवल परम सत्ताके साथ पूर्ण एकता पा लेनेपर ही पूर्ण स्वतंत्रता रह सकती है। और इस एकताको यदि सहज आत्म-दानके द्वारा — प्रेमके उपहार-स्वरूप — नहीं, तो भला और कैसे प्राप्त कर सकते हैं। और जैसा कि मैंने कहा प्रेमकी पहली चेष्टा, पहली अभिव्यक्ति है सेवा।

इस प्रकार 'सत्य'के अंदर ये दोनों घनिष्ठ रूपमें एक हैं। पर यहां पृथ्वीपर, अज्ञान और अचेतनाके इस संसारमें यह सेवा जिसे एक सहज-स्वाभाविक क्रिया होना चाहिये था, प्रेमपूर्ण और स्वयं प्रेमकी ही अभिव्यक्ति होना चाहिये था, एक लादी हुई चीज, एक अनिवार्य आवश्यकता बन गयी है जिसे अब केवल शरीर-निर्वाह एवं जीवन-यात्राके लिये करना पड़ता है। इस प्रकार यह एक भद्दी, दुःखद, अपमानजनक चीज बन गयी है। जिसे फूलके खिलनेकी तरह आनन्दमय होना चाहिये था वह कुरूपता, थकान और घिनौना कर्त्तव्य बन गयी है। और यह भावना, स्वतंत्रताकी आवश्यकता भी विकृत होकर स्वाधीन रहनेकी ऐसी प्यासमें परिणत हो गयी है, जो सीधे विद्रोह, पार्थक्य और एकाकीपनकी ओर ले जाती है। और ये चीजें सच्ची स्वतंत्रताकी एकदम विरोधी हैं।

स्वाधीनता! ... मुझे याद है मैंने एक ज्ञानी वृद्ध गुह्यवेत्ताको यह

सुन्दर उत्तर देते सुना था, उनसे किसीने कहा था : "मैं स्वाधीन रहना चाहता हूं! मैं स्वाधीन प्राणी हूं! मेरा अस्तित्व तभी है जब मैं स्वाधीन होऊं!" और उन्होंने मुस्कराहटके साथ उत्तर दिया था : "इसका मतलब हुआ कि तुमसे कोई प्यार नहीं करेगा, क्योंकि यदि तुमसे कोई प्रेम करे तो तुम तुरत उसके प्रेमके अधीन हो जाओगे।"

यह एक सुन्दर उत्तर है क्योंकि वस्तुतः प्रेम ही एकताकी ओर ले जाता है और यह एकता ही स्वतंत्रताकी सच्ची अभिव्यक्ति है। जो स्वतंत्रताके नामपर उच्छृंखलताका दावा करते हैं वे इस सच्ची स्वतंत्रताकी ओरसे पूरी तरह पीठ फेर लेते हैं, क्योंकि वे प्रेमसे इंकार करते हैं।

विकृति आती है जबर्दस्ती करनेसे।

कोई बाध्य होकर प्रेम नहीं कर सकता। किसीको प्रेम करनेके लिये बाध्य नहीं किया जा सकता — तब वह प्रेम नहीं रह जाता। इसलिये जैसे ही बाध्यता बीचमें आती है, वह मिथ्यात्व बन जाता है। आंतरिक सत्ताकी सभी क्रियाएं सहज-स्वाभाविक क्रियाएं होनी चाहिये — ऐसी सहज-स्वाभाविकता जो आंतरिक सामंजस्यसे, सहानुभूतिपूर्ण समझसे — स्वेच्छासे किये गये आत्मदानसे — गभीरतर सत्यकी ओर सत्ताके सच्चे स्वरूप, हमारे 'स्रोत' और 'उद्देश्य'की ओर वापस मुड़नेसे आती है।

८ मार्च, १९५७

निम्नलिखित कहानी श्रीमांने एक "शुक्रवारकी कक्षा" में सुनायी थी। सामान्यतया तो यह बच्चोंके पढ़नेके लिये ही थी।

एक बौद्ध कथा

आज भी मैं पढ़ नहीं सकती, इसलिये मैं तुम्हें एक कहानी सुनाऊंगी। यह एक बौद्ध कथा है, शायद तुम जानते होओ, यह आधुनिक है पर इसे प्रामाणिक होनेका श्रेय प्राप्त है। मैंने इसे श्रीमती 'ज' से सुना था, शायद तुम्हें मालूम हो वे सुविख्यात बौद्ध हैं, विशेषतः वे ल्हासा पहुंचने-

वाली पहली यूरोपीय महिला थीं। उनकी यह तिब्बत यात्रा बहुत संकट-पूर्ण और रोमांचकारी थी। इस यात्राकी एक घटना स्वयं उन्होंने मुझे सुनायी थी। इस शाम मैं तुम्हें वही सुना रही हूं।

वे कुछ सहयात्रियोंके साथ यात्रा कर रही थीं और वह एक काफिला-सा बन गया था। और तिब्बत जानेके लिये चूंकि हिन्द-चीनसे होकर जाना अपेक्षाकृत अधिक आसान था, अतः वे उसी तरफसे जा रहे थे। हिन्द-चीन विशाल जंगलोंसे घिरा है और इन जंगलोंमें बाघ बहुतायतसे पाये जाते हैं। इनमेंसे कुछ नर-भक्षी बन जाते हैं ... और जब ऐसा होता है तो वे उसे "बाघजी" कहते हैं।

एक दिन काफी शाम बीते, जब वे एक घने जंगलके बीचमें थे — किसी सुरक्षित स्थानपर डेरा लगा सकनेके लिये इस जंगलको पार करना जरूरी था — कि श्रीमती 'ज'को ख्याल आया कि उनके ध्यानका समय हो गया है। उन दिनों वे निश्चित समयोंपर ध्यान किया करती थीं, बिलकुल नियमित रूपसे, बिना कभी चूके। और चूंकि उनके ध्यानक समय हो गया था, उन्होंने अपने साथियोंसे कहा : "यात्रा जारी रखिये, मैं यहां बैठकर ध्यान करूंगी और ध्यान समाप्त करके आप लोगोंसे आ मिलूंगी। इस बीच आप अगले पड़ावतक पहुंचकर डेरा तैयार करें।" "नहीं, नहीं, श्रीमतीजी, यह असंभव है, एकदम असंभव," एक कुलीने कहा — अवश्य ही उसने अपनी भाषामें कहा था, पर मैं बता दूं कि श्रीमती 'ज' तिब्बतियोंकी तरह तिब्बती भाषा जानती थीं — "यह बिलकुल असंभव है, इस जंगलमें बाघजी हैं और यह उसके भोजनकी तलाश-में निकलनेका समय है। हम आपको नहीं छोड़ सकते और आप यहां नहीं रुक सकतीं!" उन्होंने उत्तर दिया : "मुझे उसकी परवाह नहीं, ध्यान सुरक्षासे ज्यादा जरूरी है। आप सब जायं, मैं यहां अकेली रहूंगी।"

अपनी इच्छाके बिलकुल विपरीत वे चल पड़े, क्योंकि श्रीमती 'ज'से बहस करना असंभव था, जब वे किसी कामको करनेका निश्चय कर लेती थीं तो कोई चीज उसे करनेसे न रोक सकती थी। साथी चले गये और वे आरामसे एक वृक्षके नीचे बैठ गयीं और ध्यानमें चली गयीं। कुछ देर बाद उन्हें किसी अप्रिय चीजकी उपस्थितिका अनुभव हुआ। यह देखनेके लिये कि वह क्या है उन्होंने आंखें खोलीं ... देखा, तीन-चार कदम दूर, ठीक सामने बाघजी ललचायी आंखोंसे देख रहा है! तो एक उत्तम बौद्धकी तरह उन्होंने कहा : "अच्छा, यदि इसी तरह मुझे निर्वाण-की प्राप्ति होनी है तो ठीक है। बस, मुझे, जैसा कि उचित है, सम्यक् भावमें शरीर छोड़नेकी तैयारी करनी चाहिये।" और बिना हिले, बिना

जरा भी कांपे उन्होंने अपनी आंखें फिरसे बंद कर लीं और ध्यानमें, कुछ अधिक गहरे और प्रगाढ़ ध्यानमें चली गयीं; संसार-मायासे अपने-आपको पूरी तरह अलग करके उन्होंने अपने-आपको निर्वाणके लिये तैयार कर लिया ...। पांच मिनट बीते, दस मिनट बीते, आधा घंटा बीत गया —कुछ नहीं हुआ। तब चूंकि ध्यान समाप्तिका समय हो गया था, उन्होंने अपनी आंखें खोलीं ... वहां कोई बाघ न था! निश्चय ही शरीर-को इतना निश्चल देखकर उसने सोचा होगा कि यह खाने योग्य नहीं है! क्योंकि लकड़बग्घेको छोड़कर अन्य जंगली पशुओंकी तरह, बाघ भी मृत शरीरपर नहीं झपटता, उसे नहीं खाता। संभवतः उस निश्चलतासे प्रभावित होकर वह चला गया होगा—मैं यह नहीं कह सकती कि वह ध्यानकी प्रगाढ़तासे प्रभावित होकर चला गया क्योंकि मेरे विचारमें बाघ ध्यानके प्रति बहुत संवेदनशील नहीं होते! उन्होंने अपने-आपको अकेला और खतरेके बाहर पाया। वे शांतिसे अपने मार्गपर आगे बढ़ीं और डेरेपर पहुंचकर बोलीं: "लो, मैं यह रही।"

तो यह है कहानी। अब हम उनकी तरह ध्यान शुरू करते हैं, अपने-आपको निर्वाणके लिये तैयार करनेके लिये नहीं (हंसी), बल्कि अपनी चेतनाको ऊंचा उठानेके लिये!

१३ मार्च, १९५७

आज फिर पुस्तक-पाठ नहीं चलेगा। परंतु मैंने जो लिखा है उसके बारेमें किसीने एक प्रश्न पूछा है—पवित्र, तुम्हारे पास है? पढ़ो।

> (पवित्र पढ़ते हैं): **"हमारा सबसे अच्छा मित्र वह है जो हमारी सत्ताके सर्वश्रेष्ठ भागमें हमसे प्रेम करता है और फिर भी, हम जो कुछ हैं उससे कुछ भिन्न बननेको नहीं कहता।"**
>
> ('विचार-सूत्र और विरोधाभासी वचन' से)

मुझे इसका मतलब समझानेके लिये कहा गया है। मेरी बड़ी इच्छा होती है कि मैं तुमसे सब प्रकारकी विरोधाभासी वस्तुएं कहूं। पर अभी ...

जो भी हो, जब मैंने यह लिखा था तो मैं एक ऐसी बातके बारेमें

सोच रही थी जिसे लोग सामान्यतः भूल जाते हैं। हम अपने मित्रों तथा अपने चारों ओरके सभी व्यक्तियोंसे यह चाहते हैं कि वे वास्तवमें जैसे हैं वैसे न रहकर हम जैसा चाहते हैं वैसे बन जायं। हम अपने लिये एक आदर्श बना सकते हैं और उसे सबपर लागू करना चाह सकते हैं, परंतु . . . यह चीज मुझे टॉल्स्टायके पुत्रकी याद दिलाती है जिससे मैं जापानमें मिली थी। वह मनुष्योंमें एकता लानेकी आशासे सारे संसार-की यात्रा कर रहा था। उसका उद्देश्य बहुत बढ़िया था, पर कार्य करने-का ढंग उतना अच्छा नहीं था! वह अविचल गंभीरतासे कहता था कि यदि सब एक ही भाषा बोलें, एक-सा पहनावा पहनें, एक-सा खान-पान रखें, एक-सा आचरण करें तो यह चीज जबरर्दस्ती एकता ले आयेगी! यह पूछे जानेपर कि इस विचारको कार्यान्वित करनेके बारेमें उसने क्या सोचा है, उसने कहा, इसके लिये एक देशसे दूसरे देशमें जाना तथा वहां-पर नयी, पर सार्वभौम भाषाका, एक नये, पर सार्वभौम पहरावेका, नयी, पर सार्वभौम आदतोंका प्रचार करना काफी होगा। बस इतना ही। और यही चीज थी जिसे वह करना चाह रहा था!

(हंसते हुए) वस्तुतः, प्रत्येक व्यक्ति अपने छोटे-से क्षेत्रमें ऐसा ही है। उसका अपना एक आदर्श होता है, अपनी एक धारणा होती है कि क्या सत्य है, क्या सुन्दर है और श्रेष्ठ है, यहांतक कि क्या दिव्य है और अपनी इस धारणाको वह दूसरोंपर लादना चाहता है। बहुत-से ऐसे लोग भी हैं जिनकी भगवान्‌के बारेमें अपनी खास धारणा है और वे उसे अपनी पूरी शक्तिके साथ भगवान्‌पर थोपना चाहते हैं . . . और सामान्यतया तबतक हार नहीं मानते जबतक जीवन ही न छूट जाय।

इस वाक्यको लिखते हुए मेरा ध्यान इसी **सहज** और प्रायः अचेतन वृत्तिकी ओर था। क्योंकि यदि मैं तुममेंसे किसीसे कहूं : "देखो, तुम भी यही चीज करना चाहते हो," तो तुम तीव्र प्रतिवाद करते हुए कहोगे : "नहीं ! अपने जीवनमें कभी नहीं !" परंतु जब तुम लोगोंके बारेमें सम्मति बनाते हो, विशेषतः उनके जीवन-व्यवहारके बारेमें अपनी प्रति-क्रिया करते हो तो यह इसीलिये होता है कि तुम उन्हें इस बातका दोष देते हो कि वे वैसे नहीं हैं जैसे तुम्हारे मतानुसार होने चाहियें। यदि हम यह कभी न भूलें कि विश्वमें कोई दो वस्तुएं ठीक एक जैसी नहीं हो सकतीं और न होनी ही चाहियें, कारण, तब दूसरी वस्तु व्यर्थ हो जायगी क्योंकि उस जैसी एक पहलेसे ही मौजूद है और यह कि विश्वका निर्माण ऐसी अनंतविध अनेकरूपताओंमें समस्वरता लानेके लिये हुआ है जिसमें कोई भी दो गतियां — बल्कि यहांतक कि कोई भी दो चेतनाएं

—कभी एक समान नहीं हो सकतीं, तो भला हम किस अधिकारसे दखल दे सकते और चाह सकते हैं कि कोई व्यक्ति हमारे अपने विचारों-के अनुरूप बने? ...क्योंकि यदि तुम एक विशेष ढंगसे सोचते हो तो अवश्य ही दूसरा ठीक उसी ढंगसे नहीं सोच सकता; और यदि तुम एक विशेष प्रकारके व्यक्ति हो तो यह बिलकुल निश्चित है कि दूसरा ठीक उसी नमूनेका नहीं हो सकता। अतः जो चीज तुम्हें सीखनी चाहिये वह यह है कि विश्वकी विभिन्न वस्तुओंमें, प्रत्येकको **उसके अपने स्थानपर** रखकर संगति, समन्वय और मेल ला सको। संपूर्ण समस्वरता संपूर्णतया एकरूप हो जानेमें बिलकुल नहीं है, बल्कि संगति स्थापित करनेमें है जो प्रत्येक वस्तुको उसके अपने स्थानपर रखनेसे ही आ सकती है।

हमें अपने मित्रसे जिस प्रतिक्रियाकी आशा करनेका अधिकार है उसके मूलमें यही चीज होनी चाहिये कि वह यह इच्छा न करे कि उसका मित्र उसीके जैसा बने बल्कि वह चाहे कि मित्र वही बने जो कि वह सचमुच है।

तो, वाक्यके शुरूमें मैंने कहा है: "वह तुम्हारी सत्ताके सर्वश्रेष्ठ भागमें तुमसे प्रेम करता है"...इसे जरा अधिक साफ शब्दोंमें कहें तो तुम्हारा मित्र वह नहीं है जो तुम्हें अपने नीचे-से-नीचे स्तरपर आने, अपने साथ मूर्खतापूर्ण व्यवहार करने और बुरी बातें करनेके लिये उत्साहित करता है या जो तुम्हारे बुरे कामोंकी सराहना करता है, यह बिलकुल स्पष्ट है। पर फिर भी, आमतौरसे, बहुत-बहुत बार और प्रायः ही तुम किसी ऐसे व्यक्ति-से मित्रता करते हो जिसके साथ तुम अपनी गिरी हुई अवस्थामें कोई संकोच या बेचैनी नहीं महसूस करते। तुम उसे ही अपना सबसे अच्छा मित्र समझते हो जो तुम्हारी मूर्खताओंमें तुम्हें उत्साहित करता है, उनसे हेल-मेल बढ़ाते हो जो स्कूल जानेके बदले इधर-उधर भटकते फिरते हैं, बगीचोंमें फल चुरानेके लिये भाग जाते हैं, अपने अध्यापकोंको ताने मारते हैं और इसी तरहकी सब चीजें करते हैं। मैं किसीपर व्यक्तिगत रूपसे टीका-टिप्पणी नहीं कर रही हूं, मैं ऐसे उदाहरण अवश्य दे सकती हूं और खेद है उनकी संख्या बहुत अधिक है। संभवतः इसी कारण मैंने कहा है: "ये तुम्हारे सच्चे मित्र नहीं हैं।" परन्तु फिर भी, ये सबसे बढ़कर सुविधा-जनक होते हैं क्योंकि वे तुम्हें यह अनुभव नहीं होने देते कि तुम गलतीपर हो; इसके विपरीत जो व्यक्ति तुमसे आकर कहता है: "देखो, क्या तुम्हें नहीं लगता कि इधर-उधर निठल्ले फिरने और मूर्खताएं करनेके बदले कक्षामें चलना ज्यादा अच्छा होगा!" ऐसेको सामान्यतया यही उत्तर मिलता है: "मुझे तंग न करो! तुम मेरे सच्चे मित्र नहीं हो।" संभवतः इसी कारण मैंने यह वाक्य लिखा था। मैं फिर कहती हूं कि मैं व्यक्तिगत

रूपसे किसीपर आक्षेप नहीं कर रही हूं, फिर भी, यह तुम्हें एक ऐसी बात बतानेका उपयुक्त अवसर है जो दुर्भाग्यवश बहुत अधिक बार हुआ करती है।

यहां कुछ बच्चे ऐसे हैं जो कभी बहुत होनहार थे, अपनी कक्षामें प्रथम आते थे, गंभीरतापूर्वक काम करते थे, जिनसे मुझे बड़ी आशाएं थीं, पर जो इस प्रकारकी मित्रताओंसे पूरी तरह बिगड़ गये हैं। और चूंकि बात चल पड़ी है मैं आज उनसे कहती हूं कि मुझे इसका बड़ा खेद है। और ऐसे साथियोंको मैं मित्र नहीं, जानी दुश्मन कहती हूं; इनसे ऐसे ही बचना चाहिये जैसे संक्रामक रोगोंसे बचा जाता है।

हम छूतके रोगीका संसर्ग पसंद नहीं करते, बल्कि सावधानतापूर्वक उससे बचते हैं; सामान्यतया ऐसे व्यक्तिको पृथक् रखा जाता है जिससे वह रोग फैलने न पाये। परन्तु बुरे कार्यकी और बुरे व्यवहारकी छूत, दुराचार, मिथ्यात्व और जो कुछ निकृष्ट है उस सबकी छूत किसी भी बीमारीकी छूतसे बहुत अधिक भयंकर होती है और इससे बड़ी सावधानीसे बचनेकी जरूरत है। तुम्हें अपना सबसे अच्छा मित्र उसे मानना चाहिये जो तुमसे कहता है कि मैं किसी बुरे या भद्दे कार्यमें भाग नहीं लेना चाहता, जो तुममें निम्न प्रलोभनोंका सामना करनेका साहस बधांता है, ऐसा व्यक्ति ही सच्चा मित्र है। ऐसे व्यक्तिसे ही मेल-जोल रखना चाहिये, न कि उससे जो तुम्हारे साथ थोड़ा हंस-खेल ले और तुम्हारी बुरी प्रवृत्तियोंको सबल बनाये। यह है सारी बात।

अब मैं अधिक विस्तारमें नहीं जाती और आशा करती हूं कि मैंने जो कहा है उसे वे समझ गये होंगे जो मेरे मनमें है।

वस्तुतः, तुम्हें केवल उन्हीं व्यक्तियोंको अपने मित्रके रूपमें चुनना चाहिये जो तुमसे अधिक बुद्धिमान् हों, जिनकी संगति तुम्हें ऊंचा उठाये, अपनेपर विजय पाने, प्रगति करने, और भी अधिक अच्छा करने और स्पष्टतर रूपसे देखनेमें सहायता करे। और अंतमें सबसे अच्छा मित्र जो तुम्हें मिल सकता है, क्या वह भगवान् ही नहीं हैं, जिनके सामने तुम सब कुछ कह सकते, सब कुछ प्रकट कर सकते हो? क्योंकि निश्चय ही, सर्व करुणा, सर्व शक्तिका स्रोत वहीं है, वह प्रत्येक भूलको, यदि उसे दोहराया न जाय तो,[1] मिटा सकती और सच्ची चरितार्थताका मार्ग खोल सकती है। ये वे ही हैं जो सब कुछ समझ सकते और सब घावोंको भर सकते हैं तथा पथपर सदा सहायता कर सकते हैं, तुम हिम्मत न हार जाओ, लड़खड़ा न

---

[1]१९६१ में, इस वार्ताके प्रथम बार छपनेके अवसरपर श्रीमांने इस वाक्यपर यह टिप्पणी की थी: "जबतक तुम दोषोंको दोहराते रहते हो कुछ भी

पड़ो, गिर न जाओ बल्कि लक्ष्यकी ओर सीधे चलते जाओ इसमें तुम्हारी सहायता कर सकते हैं। वे ही सच्चे मित्र हैं, अच्छे और बुरे दिनोंके साथी हैं। वे समझ सकते और घावोंको भर सकते हैं और जब तुम्हें उनकी जरूरत होती है, वे सदा उपस्थित हो जाते हैं। जब तुम उन्हें सच्चाईसे पुकारते हो तो वे सदा पथ-प्रदर्शन करने और सहारा देने — और सबसे सच्चे रूपमें प्रेम करने — के लिये आ उपस्थित होते हैं।

१५ मार्च, १९५७

निम्नलिखित वार्ता शुक्रवारको सुनायी गयी थी। इस दिन श्रीमां बच्चोंको कुछ पढ़कर सुनाया करती थीं।

तेमसेमके संस्मरण

आज फिर मैं पढ़ूंगी नहीं लेकिन कहानी भी नहीं सुनाऊंगी : आज मैं तुम्हें श्रीमती 'अ'के बारेमें कुछ सुनाती हूं।

मिटाया नहीं जा सकता क्योंकि प्रत्येक मिनट तुम उसे नया कर देते हो। जब कोई व्यक्ति गलती करता है, चाहे वह गंभीर हो या मामूली, उसका परिणाम उसके जीवनमें अवश्य होता है, यह एक ऐसा 'कर्म' है जिसका फल उसे भोगना ही पड़ता है, परन्तु भागवत कृपा, यदि तुम 'उसे' पुकारो, उसकी काट कर सकती है पर इसके लिये यह आवश्यक है कि त्रुटिको दोहराया न जाये। यह मत सोचो कि तुम वह-की-वही मूर्खताएं अनिश्चित कालतक करते रहोगे और 'कृपा' उनके परिणामोंको अनिश्चित कालतक रद्द करती रहेगी। लेकिन बात ऐसी नहीं है। अतीतको पूरी तरह साफ किया जा सकता और पोंछा जा सकता है, यहांतक कि उसका भविष्यपर कोई प्रभाव न रहे, पर शर्त यही है कि उसे तुम स्थायी वर्तमान न बना लो; यह आवश्यक है कि तुम स्वयं अपने अंदरके गलत स्पन्दनोंको रोको, उन्हीं स्पन्दनोंको अनिश्चित कालतक फिर-फिर पैदा न करते रहो।"

श्रीमती 'अ' वाइट द्वीपमें पैदा हुई थीं। और तेमसेममें अपने पतिके साथ रहती थीं। उनके पति एक महान् गुह्यवेत्ता थे और स्वयं श्रीमती 'अ' भी बहुत प्रभावशाली गुह्यवेत्ता थीं। उनकी परोक्षदर्शनकी शक्ति तो विलक्षण थी, उनके पास माध्यमविषयक शक्तियां और बहुत-सी असाधारण सिद्धियां भी थीं। उन्होंने अत्यंत पूर्ण प्रशिक्षण पाया था और इसके लिये अति कठोर साधना की थी। वे अपनेसे बाहर जा सकती थीं, अर्थात् अपने भौतिक शरीरसे निकलकर अपनी पूरी चेतनाके साथ सूक्ष्म शरीरमें प्रवेश करतीं और ऐसा वे एकके-बाद-एक बारह बार कर सकती थीं, अर्थात् चेतनाकी एक अवस्थासे दूसरीमें सचेतन रूपसे जातीं और वहां वैसी ही सचेतन बनी रहतीं जैसी कि भौतिक शरीरमें और फिरसे उस सूक्ष्म शरीरको समाधिमें छोड़ उससे बाहर चली जातीं और इस प्रकार आगे-आगे करती हुई बारह बार करके आकार-जगत्की अंतिम सीमातक पहुंच जातीं . . .। इस विषयमें मैं तुम्हें फिर कभी बताऊंगी, जब तुम इन बातोंको कुछ अधिक अच्छी तरह समझने लगोगे। पर आज मैं तुम्हें थोड़ी-सी छोटी-छोटी घटनाएं सुनाती हूं जो मैंने वहां तेमसेममें देखीं थीं जब कि मैं वहां थी[१] और वह कहानी भी सुनाऊंगी जो उन्होंने मुझे सुनायी थी।

घटनाएं बाहरी हैं जरूर, पर काफी मनोरंजक हैं। वह प्रायः सदा ही समाधि-अवस्थामें रहती थीं और उन्होंने अपने शरीरको इतना सधा लिया था कि जब वह समाधि-अवस्थामें होतीं, अर्थात् जब उनकी सत्ताके एक (या अधिक) भाग बाहर गये हुए होते तो भी शरीरका अपना जीवन चलता रहता, वे घूम-फिर सकती थीं, यहांतक कि कुछ छोटे-मोटे भौतिक कार्य भी कर सकती थीं . . . वह बहुत अधिक काम किया करती थीं, वह अपनी समाधि-अवस्थामें अच्छी तरह बोल सकती थीं, इसलिये जो देखती थीं उसका वर्णन करती जातीं थीं और उस सबको लिख लिया जाता था। इन लेखोंने बादमें एक शिक्षाका रूप ले लिया (ये कहीं अन्यत्र प्रकाशित हुए हैं)। इस सबके और जो गुह्य कार्य वह कर रही थीं उसके कारण वह थक जाया करती थीं, इन अर्थोंमें कि उनका शरीर थक जाता था और ठोस रूपमें अपनी खोयी शक्तिको फिरसे प्राप्त करना चाहता था।

तो एक दिन जब वह विशेष रूपसे थकी थीं, मुझसे बोलीं : "देखो, मैं अपने बलको कैसे पुनः प्राप्त करती हूं।" वह अपने बगीचेसे — वस्तुतः यह बगीचा न होकर एक विशाल संपत्ति थी, जिसमें सैंकड़ों जैतूनके वृक्ष थे

---

[१] १९०७ में

और अंजीर तो ऐसे थे जैसे मैंने अन्यत्र कभी नहीं देखे। पहाड़की ढलान-पर बना यह बगीचा सचमुच बहुत अद्‌भुत था, मैदानसे लेकर पहाड़की लगभग आधी ऊंचाईतक यह फैला हुआ था — इस बगीचेमें नींबू थे, संतरे थे ... और चकोतरे थे। चकोतरेपर काफी बड़े फूल आते हैं और ये संतरेके फूलोंसे अधिक सुगन्धित होते हैं। वह इनसे इत्र बनाना जानती थीं, इसकी एक बोतल उन्होंने मुझे भी दी थी — हां तो, वह अपने बगीचे-से एक बड़ा-सा चकोतरा, जो बहुत बड़ा और पका हुआ था, तोड़ लायी थीं। वह अपने बिस्तरपर लेट गयीं और इस चकोतरेको अपने सौर-चक्रपर यहां, इस प्रकार दोनों हाथोंसे थामकर, लेटे-लेटे विश्राम करने लगीं। सोयी नहीं, केवल विश्राम कर रही थीं, मुझसे बोलीं : "एक घंटे बाद आना।" एक घंटे बाद जब मैं वापस आयी ... तो चकोतरा मालपूएकी तरह चपटा पड़ा था। इससे पता लगता था कि उनके पास जीवनी-शक्तिको सोख लेनेकी ऐसी सामर्थ्य थी कि उन्होंने फलका सारा सत्त्व खींच लिया था और वह एकदम ढीला और चपटा हो गया था। यह मैंने स्वयं देखा था। तुम कर देखो, तुमसे न बनेगा! (हंसी)

एक और समयकी बात है — और यह अधिक मजेदार है, ... परन्तु पहले मैं तुम्हें तेमसेमके बारेमें कुछ बता दूं, शायद तुब जानते न होओ। तेमसेम दक्षिण अलजीरियामें एक छोटा-सा शहर है और सहारा रेगिस्तान-के लगभग किनारेपर स्थित है। यह शहर एक घाटीमें बसा है जो चारों तरफ पहाड़ोंसे घिरी है। पहाड़ बहुत ऊंचे तो नहीं पर फिर भी छोटी पहाड़ियोंसे ऊंचे हैं। और घाटी बहुत उपजाऊ, हरी-भरी और शोभनीय है। जनता अधिकतर अरब है और ये संपन्न व्यापारी हैं, सचमुच यह अच्छा संपन्न शहर है — बल्कि था, क्योंकि मैं नहीं जानती कि अब कैसा है, मैं तुम्हें इस शताब्दीके शुरूकी बातें सुना रही हूं — तो वहां खूब अमीर सौदागर थे और ये अरब लोग महाशय 'अ'के दर्शनोंके लिये आया करते थे। वे जानते तो कुछ नहीं थे, समझते भी न थे पर दिलचस्पी बहुत रखते थे।

एक दिन शामके समय, उनमेंसे एक आदमी आया और ऐसे प्रश्न पूछने लगा जो बड़े ही बेतुके थे। श्रीमती 'अ'ने मुझसे कहा : "देखो, हम जरा कौतुक करेंगे।" उस घरके बरामदेमें एक बड़ी-सी मेज थी जो सामान्यतः खाना खानेके काम आया करती थी। यह मेज खूब चौड़ी और खूब लम्बी थी, इसके आठ पावे थे, दोनों तरफ चार-चार। सचमुच यह बहुत ही बड़ी और भारी मेज थी। इस व्यक्तिके आतिथ्यके लिये कुर्सियां लगायी गयीं थीं, पर वे मेजसे कुछ दूर थीं। एक सिरेपर वह

बैठा था और दूसरे सिरेपर श्रीमती 'अ', मैं और महाशय 'अ' एक ओरको बैठे थे। हम चारों वहां थे। मेजके पास कोई न था, हम सब उसके काफी दूर थे। तो, वह प्रश्न पूछ रहा था, और जैसा कि मैंने कहा वे अधिकतर हास्यास्पद थे, शक्तियां कैसी-कैसी होती हैं और उन शक्तियोंसे — जिसे वह "जादू" कहता था — क्या-क्या किया जा सकता है...। श्रीमती 'अ'ने मेरी ओर देखा पर बोलीं कुछ नहीं, एकदम शांत-स्थिर बैठी रहीं। एकाएक मैंने चीख, भयमिश्रित चीख सुनी। मेज चलने लगी और एक चीरकी-सी गतिसे दूसरे सिरेपर बैठे उस बिचारे आदमीपर आक्रमणके लिये बढ़ी और जाकर उसे टक्कर मारी। श्रीमती 'अ'ने मेजको छुआ नहीं था, किसीने भी नहीं छुआ था। उन्होंने केवल मेजपर अपनेको एकाग्र किया था और अपनी प्राण-शक्तिद्वारा उसे चलाया था। पहले तो मेज थोड़ी हिली फिर धीरे-धीरे चलने लगी और फिर एकाएक, मानों एक ही छलांगमें, वहां गयी और उस आदमीपर टूट पड़ी। वह भाग खड़ा हुआ और फिर कभी नहीं आया!

उनके पास वस्तुओंको अदृश्य कर देने और फिरसे स्थूल रूपमें ले आनेकी शक्ति भी थी। पर वह कभी कुछ कहती नहीं थीं, डींग नहीं मारती थीं, "मैं कुछ करने वाली हूं," ऐसा कभी नहीं कहतीं थीं, बस चुपके-से कर देतीं थीं। वह इन चीजोंको बहुत महत्त्व नहीं देती थीं, वह जानती थीं कि ये केवल इस बातका प्रमाण हैं कि विशुद्ध रूपसे भौतिक शक्तियोंके अलावा दूसरी शक्तियां भी हैं।

शामके समय जब मैं बाहर जाया करती थी (दोपहरी ढले मैं महाशय 'अ'के साथ देहाती प्रदेश देखने या पहाड़ोंपर पड़ोसी गांवोंमें जाया करती थी), तो मैं अपने दरवाजेको ताला लगाकर जाती थी, यह मेरी आदत थी, मैं सदा ही दरवाजेपर ताला रखती थी। श्रीमती 'अ' शायद ही कभी बाहर जाती थीं, इसका कारण मैं तुम्हें पहले ही बता चुकी हूं, क्योंकि वह अधिकांश समय समाधिकी अवस्थामें रहती थीं, और इसलिये घर ही रहना पसंद करती थीं। परन्तु जब मैं सैरसे वापस लौटती और अपना दरवाजा खोलती (दरवाजेपर ताला लगा होता था, इसलिये यह संभव न था कि अंदर कोई आया हो) तो मुझे अपने तकियेपर फूलोंका एक छोटा-सा हार मिलता। ये फूल बगीचेमें होते थे, इन्हें "बेल् द न्वी"[1] कहते हैं। ये हमारे यहां भी है, ये शामको खिलते हैं और इनकी

---

[1] Mirabilis, Marvel of Peru (पेरुका आश्चर्य), श्रीमांने इसे अर्थ दिया है: 'सांत्वना'।

महक बहुत बढ़िया होती है। यहां एक पूरा-का-पूरा उद्यान-पथ इन्हींसे, इस फूलकी बड़ी और ऊंची झाड़ियोंसे बना था। ये फूल अनोखे होते हैं (मेरा ख्याल है यहां भी ये उसी तरहके हैं), एक ही झाड़ीपर विभिन्न रंगोंके फूल: पीले, लाल, मिश्रित, बैंगनी। ये फूल बहुत छोटे-छोटे होते हैं जैसे . . . घण्टिका पुष्प; नहीं बल्कि जैसे हरिणपदी, पर ये झाड़ियों-पर होते हैं (हरिणपदी एक लता है, इसकी झाड़ियां होती हैं), ये हमारे बगीचोंमें भी हैं। वह सदा इन्हें अपने कानोंमें लगाया करती थीं, क्योंकि इनकी महक बड़ी प्यारी होती है, ओह! कितनी सुहाती और सुन्दर! हां तो, वह उद्यान-पथमें इन झाड़ियोंके बीच सैरके लिये जाया करती थीं, ये काफी ऊंची थीं पर वह इनपरसे फूल इकट्ठे कर लेती थीं—और जब मैं लौटती तो फूल मेरे कमरेमें होते थे . . . ! उन्होंने मुझसे कभी नहीं कहा कि ऐसा वह कैसे करती हैं। पर इतना निश्चित है कि वे कमरेमें नहीं जाती थीं। उन्होंने एक बार मुझसे पूछा था: "क्या तुम्हारे कमरेमें फूल नहीं थे?"—मैंने कहा: "हां, थे अवश्य।" बस, इतना ही। मैं समझ गयी कि वह ही उन फूलोंको रखती हैं।

मैं तुम्हें बहुत-सी कहानियां सुना सकती हूं, परन्तु . .बस, एक कहानी सुनाकर समाप्त करती हूं। यह उन्होंने मुझे सुनायी थी, मेरी देखी हुई नहीं है।

मैं तुम्हें बता चुकी हूं कि तेमसेम सहाराके बहुत पास है, इसलिये वहां-की आबोहवा रेगिस्तानी है, सिवाय उस घाटीके जहां नदी बहती है। यह नदी कभी सूखती नहीं और सारी घाटीको खूब उपजाऊ बनाये रखती है। परन्तु पहाड़ बिलकुल बंजर पड़े थे। केवल एक भाग ऐसा था जो कृषि-विशेषज्ञोंके हाथमें था और जहां कुछ पैदा होता था। पर महाशय 'अ' का उद्यान (सचमुच एक विस्तृत भूसंपत्ति) जैसा कि मैंने कहा, एक अद्-भुत जगह थी . . .प्रत्येक चीज वहां पैदा होती थी, जिसकी तुम कल्पना कर सकते हो ऐसी प्रत्येक चीज और वह भी बहुत बड़े परिमाणमें। तो, उन्होंने मुझे सुनाया (वे वहां काफी लंबे समयसे थे) कि अबसे लगभग पांच-छः वर्ष पूर्व, मैं सोचती हूं, कृषि-विशेषज्ञोंके मनमें आया कि इन बंजर पहाड़ोंकी वजहसे नदी किसी दिन सूख सकती है और यह ज्यादा अच्छा रहेगा कि वहां कुछ पेड़-पौधे उगाये जायं। तेमसेमके प्रशासकने आदेश जारी किया कि पास-पड़ोसकी सब पहाड़ियोंपर वृक्ष रोपे जायं, यह एक काफी विस्तृत घेरा है, समझे! उसने चीड़के वृक्षोंके लिये कहा था क्योंकि समुद्री चीड़ अलजीरियामें अच्छी तरह हो जाता है और वे इसे आजमाना चाहते थे। पर किसी कारणसे, भूलसे कहो या झकसे, भगवान् जाने!

—चीड़की जगह आदेश चला गया देवदारुके पौधोंका ! देवदारुके वृक्ष उत्तरी प्रदेशोंमें होते हैं, वे रेगिस्तानके वृक्ष नहीं हैं। फिर भी इन पौधोंको बड़ी सावधानीके साथ रोपा गया। श्रीमती 'अ' ने यह सब देखा और मेरा विचार है, उन्हें लगा कि परीक्षण कर देखें। और हुआ यह कि चार-पांच वर्षमें वे केवल फूट ही नहीं आये बल्कि शानदार हो गये थे। जब मैं वहां, तेमसेममें थी तो इन वृक्षोंसे पहाड़ चारों ओर एकदम हरे थे। उन्होंने मुझसे कहा: "तुम देखती ही हो, ये चीड़के नहीं, देवदारुके वृक्ष हैं।" और सचमुच वे देवदारु ही थे (तुम जानते ही हो देवदारु क्रिसमस-वृक्ष है, जानते हो न !)। फिर उन्होंने बताया कि तीन साल बाद जब ये देवदारु कदमें कुछ बढ़ गये, तो अचानक एक दिन, बल्कि यूं कहें दिसम्बरकी एक रात, जैसे ही बत्ती बुझाकर वह सोयीं कि एक बहुत धीमी, हलकी आवाजने उन्हें जगा दिया (आवाजके प्रति वह बहुत संवेदनशील थीं); आंख खोलकर देखा तो चंद्रकिरण-सी कुछ चीज लगी — चांद उस रात था ही नहीं — और उससे कमरेका एक कोना जगमगा रहा था। ध्यानसे देखा तो वहां एक छोटा-सा बौना खड़ा था, जैसा कि नॉर्वे, स्वीडन और स्कैंडिनेवियाकी परी-कथाओंमें आता है, वह बहुत छोटा-सा था — सिर बड़ा, नोकीली टोपी और गहरे हरे रंगके नोकीले जूते। और उसकी दाढ़ी लंबी सफेद थी और वह सारा-का-सारा बर्फसे ढका था।

उन्होंने उसकी ओर देखा (खुली आंखोंसे) और उसे देखकर कहा: "किंतु... ऐह ! तुम यहां क्या कर रहे हो ? (वह जरा परेशान-सी थीं क्योंकि कमरेकी गर्मीसे बर्फ पिघल रही थी और फर्शपर एक छोटी-सी डबरी बना रही थी) किंतु तुम यहां क्या कर रहे हो ?"

बहुत प्यारी-सी मुस्कानके साथ वह उनकी ओर मुस्कराया और बोला: "परन्तु देवदारुके वृक्षों द्वारा हमें इशारा जो किया गया है ! ये वृक्ष बर्फको आमंत्रित करते हैं। ये बर्फीले प्रदेशोंके वृक्ष हैं और मैं हूं बर्फका राजा, मैं तुम्हें बताने आया हूं कि... हम आ रहे हैं, हमें बुलाया गया है और हम आ रहे हैं।"

—"बर्फ ? ... परन्तु हम तो सहाराके बहुत समीप हैं !"

—"आह ! तो तुम्हें देवदारु लगाने ही नहीं चाहिये थे !"

अंतमें उन्होंने उससे कहा: "सुनो, मैं नहीं जानती कि तुम जो कह रहे हो वह ठीक है या नहीं, परन्तु तुम मेरा फर्श खराब कर रहे हो, भाग जाओ !"

वह चला गया, साथ ही चन्द्र-किरण भी विलीन हो गयी। उन्होंने

लैम्प जलाया (क्योंकि वहां बिजली नहीं थी), लैम्प जलाकर देखा... कि जहां वह खड़ा था वहां पानीकी छोटी-सी डबरी बन गयी है। तो, यह स्वप्न नहीं था, वहां सचमुच एक छोटा प्राणी था जिसकी बर्फ पिघलकर पानी हो गयी थी। और अगले दिन जब सूर्योदय हुआ तो वह बर्फसे ढके पहाड़ोंपर हुआ। ऐसा पहली बार हुआ था, इससे पहले उस प्रदेशमें ऐसा नहीं देखा गया था।

तबसे हर सर्दियोंमें — बहुत समयतक तो नहीं पर कुछ समयतक — सब पहाड़ बर्फसे ढक जाते हैं।

सो, यह है मेरी कहानी।

२० मार्च, १९५७

"विजयका आनंद कभी-कभी संघर्ष और कष्टके आकर्षणसे कम होता है; फिर भी विजयशील मानव आत्माका उद्देश्य मुकुट होना चाहिये न कि सूली।

अभीप्सा न करनेवाली अंतरात्माएं परमात्माकी असफलताएं हैं; परंतु प्रकृति उनसे प्रसन्न होती है और उनकी संख्या बढ़ाना चाहती है क्योंकि वे उसके स्थायित्वका आश्वासन देते और उसके साम्राज्यको लंबाते हैं।

जो दरिद्र हैं, अज्ञानी, अकुलीन या अशिष्ट हैं वे प्राकृत जन नहीं हैं, प्राकृत जन वे सब हैं जो तुच्छता और सामान्य मानवतासे संतुष्ट हैं।

मनुष्योंकी सहायता कर पर उन्हें अपनी शक्तिसे वंचित करके मुहताज न बना; उनका पथ-प्रदर्शन कर और उन्हें सीख दे पर ध्यान रख कि उनकी उपक्रमशक्ति और मौलिकता अक्षत रहें; दूसरोंको अपने अंदर ले ले, पर बदलेमें उन्हें उनकी प्रकृतिका पूर्ण देवत्व प्रदान कर। जो यह कर सकता है वही नेता और गुरु है।

परमेश्वरने संसारको युद्धका एक क्षेत्र बनाया है और इसे योद्धाओं-की ठोकरों तथा भारी मल्लयुद्ध और संघर्षकी चिल्लाहटोंसे भर दिया है। क्या तू उनकी शांतिको चुरा लेना चाहता है, वह मूल्य चुकाये बिना ही जो उन्होंने इसके लिये निश्चित किया है ?

पूर्ण प्रतीत होनेवाली सफलतापर विश्वास मत कर, परंतु सफल हो चुकनेके बाद जब तू देखे कि अभी बहुत कुछ करना बाकी है तो प्रसन्न हो और आगे बढ़ता चल क्योंकि सच्ची पूर्णतासे पहले लंबा परिश्रम होता है।

इससे बढ़कर सुन्न कर देनेवाली और कोई भूल नहीं हो सकती कि गलतीसे किसी पड़ावको ही लक्ष्य समझ लिया जाय या किसी विश्राम-स्थलपर बहुत अधिक ठहरा जाय।"

(विचार और झांकियां)

श्रीअरविंदने यहां यह सब जो कहा है उसका उद्देश्य है मानव प्रकृतिके तमस्के, उसकी जड़ता, आलस्य, सहज-सन्तुष्टि और परिश्रम न करनेकी प्रवृत्तिके विरुद्ध लड़ना। जीवनमें कितनी ही बार हमें ऐसे लोग मिलते हैं जो शांतिप्रिय इसलिये होते हैं कि वे लड़ाईसे डरते हैं, जो संग्राम जीतने-से पहले ही आरामके लिये लालायित होते हैं, जो अपनी जरा-सी प्रगतिसे संतुष्ट हो जाते हैं और अपनी कल्पना तथा कामनाओंमें उसे ऐसी अद्भुत प्राप्ति समझ लेते हैं जो उनके आधे रास्तेमें रुक जानेको न्याय-संगत ठहराती है।

सामान्य जीवनमें, निःसंदेह, ऐसा बहुत होता है। वस्तुतः यह मध्य-वर्गीय आदर्श है और इसने मानवजातिको एक तरहसे मुरदा बना दिया है और मनुष्यको वैसा बना डाला है जैसा वह आज है। "जबतक युवा हो काम करो, धन, सम्मान, पदका अर्जन करो, थोड़ी दूर-दृष्टि रखो, कुछ बचाओ और एक पूंजी जमा कर लो, पदाधिकारी बनो, ताकि जब तुम चालीसके होओ तो आराम कर सको, अपनी आमदनीका और बादमें पेन्शनका उपभोग कर सको।" — बैठ जाना, रास्तेमें रुक जाना, आगे न बढ़ना, सो जाना, समयसे पहले कब्रकी ओर चल देना, जीवनका उद्देश्य और प्रयोजन ही जीना बन्द कर देना — बैठ जाना!

जिस क्षण मनुष्य आगे बढ़ना बन्द कर देता है, वह पीछे जाता है।

जिस क्षण वह संतुष्ट होकर बैठ जाता है तथा और आगे अभीप्सा नहीं करता वह मरना शुरू कर देता है। जीवन है गति, जीवन है प्रयास, जीवन है आगेकी ओर बढ़ना, एक पहाड़ी चढ़ाई चढ़ना, नये-नये ज्योति-शिखरोंको पार करना और भविष्यकी चरितार्थताकी ओर अग्रसर होना। विश्राम करनेकी इच्छासे बढ़कर खतरनाक कोई वस्तु नहीं है। हमें विश्रामकी खोज करनी चाहिये कर्ममें, प्रयासमें, आगेकी ओर बढ़नेमें — उस सच्चे विश्रामकी जो भागवत कृपामें पूर्ण भरोसा रखनेसे, इच्छाओं-के अभावसे, अहंपर विजय प्राप्त करनेसे मिलता है।

सच्चा विश्राम चेतनाको विस्तृत करनेसे, विश्वभावापन्न बनानेसे मिलता है। संसार जितने विशाल बन जाओ और तुम सदा आराममें रहोगे। कर्मकी भरपूरतामें, रणस्थलीके बीचोंबीच, विविध प्रयासोंके पूर्ण प्रवेगमें तुम अनंतता और शाश्वतताकी विश्रांतिको अनुभव करोगे।

२२ मार्च, १९५७

निम्नलिखित कहानी श्रीमांने एक शुक्रवार-की कक्षामें सुनायी थी।

आज मैं तुम्हें एक छोटी-सी कहानी पढ़कर सुना रही हूं जो मुझे काफी बोधप्रद लगी है। यह पुराने समयकी कहानी है और बताती है कि उन दिनों क्या हुआ करता था जब छापेखाने नहीं थे, पुस्तकें नहीं थीं और ज्ञान केवल गुरु या दीक्षित व्यक्तिके पास ही हुआ करता था और गुरु पात्रके सिवाय किसीको नहीं देता था; और उसकी दृष्टिमें, सामान्यतः "पात्र" होनेका अर्थ था जो कुछ सीखा हो उसे **जीवनमें उतारना**। वह तुम्हें एक सत्य देता और आशा करता था कि तुम उसपर आचरण करोगे। और जब तुम उसे आचरणमें ले आते तभी वह अगला ज्ञान देनेके लिये राजी होता।

अब चीजें बिलकुल और तरह होती हैं। सब कोई और जो चाहे पुस्तक प्राप्त कर सकता और उसे पूरे-का-पूरा बांच सकता है और उस-पर आचरण करने या न करनेके बारेमें अपनी मरजी मुताबिक पूरी तरह

स्वतंत्र है। यह सब ठीक है। परन्तु इससे बहुतोंके मनमें कुछ भ्रांति पैदा हो जाती है। जो लोग बहुत-सी पुस्तकें पढ़ लेते हैं वे सोचते हैं हैं कि इतना पर्याप्त है और चूंकि उन्होंने बहुत पढ़ लिया है इसलिये अब उनके साथ सब प्रकारकी चामत्कारिक बातें होनी चाहिये, उन्हें उसपर आचरण करनेका कष्ट उठानेकी कोई जरूरत नहीं है। इसलिये वे अधीर हो जाते हैं और कहते हैं: "यह कैसी बात है कि मैंने इतना सब पढ़ा और फिर भी मैं वह-का-वही हूं! —मेरी कठिनाइयां भी वही हैं, कोई सिद्धि भी नहीं मिली?" ऐसी टिप्पणियां मैं प्रायः ही सुनती हूं।

वे एक महत्त्वपूर्ण बात भूल जाते हैं कि उन्होंने जो ज्ञान—बौद्धिक, मानसिक ज्ञान—प्राप्त किया है वह अधिकारी होनेसे पहले ही, अर्थात् पढ़े हुए ज्ञानको आचरणमें लानेसे पहले ही, प्राप्त कर लिया है, और इससे स्वभावतः उनकी चेतनाकी स्थिति और विचारोंके बीच एक संघर्षकी स्थिति है, वे इस ज्ञानकी चर्चा तो आरामसे कर सकते हैं लेकिन इसपर आचरण नहीं किया।

तो मैं यह कहानी अधीर व्यक्तियोंको यह बतानेके लिये पढ़ रही हूं कि पुराने जमानेमें क्या हुआ करता था, जब न कोई पुस्तक मिलती थी और न उसे पढ़ना संभव था, जब ज्ञान पानेके लिये गुरु या दीक्षित व्यक्ति-पर निर्भर रहना होता था क्योंकि ज्ञान केवल उसीके पास होता था और उसे यह किसी और गुरु या शिक्षकसे मिला होता था और वह तुम्हें यह ज्ञान तभी देता था जब उसकी खुशी होती, अर्थात् जब वह तुम्हें इसका अधिकारी समझता।

तो, मेरी कहानी इस प्रकार है (श्रीमां पढ़ती हैं):

दीक्षाकी एक कहानी

(गुजरातीसे अनूदित)

किसी जमानेमें एक बड़े तपस्वी और बड़े ज्ञानी महात्मा थे। वे आयु और बुद्धि दोनोंमें बड़े थे और सब उनका मान करते थे। उनका नाम था जुनून। और बहुत-से बालक, किशोर और युवक उनसे दीक्षा लेनेके लिये उनके पास आते थे, उन्हींके आश्रममें ठहरते और लंबे समयतक गुरु-गृहमें रहकर विद्याभ्यास करते और बादमें जब स्वयं विद्वान् बन जाते तो घरोंको लौट जाते।

एक दिन एक युवक उनके पास आया, जिसका नाम था यूसुफ हुसैन।

महात्माकी इच्छा हुई कि उसे अपने पास ही रख लें, उन्होंने उससे यह भी न पूछा कि तुम हो कौन। इस प्रकार चार साल बीत गये। तब एक दिन जुनूनने यूसुफको बुलवाया और पहली बार उससे पूछा: "तुम यहां क्यों आये हो?" यूसुफने बिना सोचे-विचारे उत्तर दिया: "धार्मिक दीक्षा लेने।" जुनून कुछ न बोले। उन्होंने सेवकको बुलाया और उससे पूछा: "तुमने बक्सा तैयार कर लिया, जैसा मैंने कहा था?"

—"जी हुजूर, बिलकुल तैयार है।"

—"तो तुरत ले आओ," जुनून बोले।

सेवकने बड़ी सावधानीके साथ बक्सा महात्माजीके सामने रख दिया; उन्होंने उसे लिया और यूसुफको देते हुए बोले: "देखो, मेरे एक मित्र हैं जो उधर दूर नील नदीके किनारे रहते हैं, जाओ, यह बक्सा उन्हें मेरी ओरसे दे आओ। परन्तु देखो भाई, रास्तेमें कोई भूल न करना। इस बक्सेको सावधानीसे रखना और निश्चित व्यक्तिको ही देना। जब तुम वापस आओगे तो मैं तुम्हें दीक्षा दूंगा।" उन्होंने एक बार फिर अपनी सीख दोहरायी और उसे वह रास्ता बताया जिससे होकर उसे नील नदीपर पहुंचना था। यूसुफने गुरुचरणोंमें प्रणाम किया, बक्सा उठाया और अपने रास्तेपर चल दिया।

वह निर्जन एकान्त-स्थान जहां महात्माके मित्र रहते थे बड़ा दूर था और उन दिनों कोई सवारी या रेलगाड़ी भी न थी। अतः यूसुफ पैदल ही जा रहा था। वह सारे सवेरे चलता रहा, चलते-चलते दोपहरी हो गयी, गर्मी बहुत तेज थी और चारों ओर चिलचिलाती धूप पड़ रही थी, वह थक गया। सो, वह जरा सुस्तानेके लिये सड़कके किनारे एक पुराने वृक्षकी छायामें बैठ गया। बक्सा बहुत छोटा था और उसमें ताला नहीं था। यूसुफने भी इधर कोई ध्यान नहीं दिया था। गुरुजीने बक्सा अपने मित्रके पास पहुंचानेके लिये कहा था और वह कुछ पूछे बिना उसे लेकर चल पड़ा था।

पर अब, दोपहरीमें आराम करते समय, यूसुफने सोचना शुरू किया। उसका मन फुर्सतमें था, और किसी चीजसे घिरा न था...। ऐसा बहुत कम ही होता होगा कि ऐसी हालतमें कोई मूर्खतापूर्ण विचार मनमें न घुस आता हो...। ऐसेमें उसकी आंखें बक्सेपर पड़ीं। उसने उसे देखना शुरू किया। "अच्छा, बढ़िया छोटा-सा बक्सा! ...हैं, इसपर तो ताला भी नहीं दीखता...कितना हल्का है! इसके अंदर कुछ हो ऐसा हो सकता है भला? इतना हलका...। शायद खाली है?" यूसुफने हाथ बढ़ाया कि खोल ले। एकाएक विचार बदल गया: "परन्तु नहीं...भरा हो या

खाली, इसके अंदर कुछ भी हो वह मेरा विषय नहीं है। गुरुजीने अपने मित्रके पास इसे ले जानेके लिये कहा है, बस, इतना ही। बस, इतना भर ही मेरा काम है। मुझे किसी और चीजके बारेमें नहीं सोचना चाहिये।"

कुछ देरतक तो यूसुफ शांत होकर बैठा रहा। पर उसका मन शांत नहीं होता था। बक्सा अब भी उसकी आंखोंके सामने था। बढ़िया छोटा-सा बक्सा। "लगता है बिलकुल खाली है।" उसने सोचा: "खाली बक्सेको खोलनेमें हर्ज ही क्या है? ... यदि ताला लगा होता तो मैं समझता कि हां, यह बुरा है.. पर जिस बक्सेपर ताला ही नहीं उसके लिये यह अधिक गंभीर बात नहीं। मैं, बस, क्षणभरके लिये ही तो खोलूंगा और फिर बंद कर दूंगा।"

यूसुफका विचार उस बक्सेके चारों ओर चक्कर काट रहा था। उसके लिये अपने-आपको उससे अलग करना असंभव था, उस विचारपर काबू पाना असंभव था जो उसके अंदर घुस आया था, "देखें तो, बस एक उड़ती नजर, एक झलक भर।" एक बार फिर उसने हाथ बढ़ाया और इस बार भी वापस खींच लिया और दुबारा शांत होकर बैठ रहा। पर सब व्यर्थ। अंतमें यूसुफने निश्चय कर लिया और आहिस्तासे, बहुत आहिस्तासे उस बक्सेको खोला। अभी मुश्किलसे खुल ही पाया था कि बस! एक चुहिया फुदकी ... और गायब हो गयी। उस बेचारी चुहियाने जो इस बक्सेमें बुरी तरह घुट रही थी, स्वतंत्रताकी ओर लपकनेमें एक सैकंडकी भी देरी नहीं की!

यूसुफ बहुत शर्मिंदा हुआ। उसने आंखें फाड़कर बार-बार देखा... बक्सा वहां खाली पड़ा था। अब उसका दिल बुरी तरह दुःखसे धड़कने लगा: "देखा, महात्माने केवल एक चूहा, एक छोटी-सी चुहिया भेजी थी और मैं उसे भी सुरक्षित उसके मुकामतक न पहुंचा सका। सचमुच, मुझसे भारी भूल हुई है। अब क्या करूं?"

यूसुफ पश्चात्तापसे भरा था। पर अब कुछ किया भी न जा सकता था। व्यर्थ ही उसने वृक्षका चक्कर लगाया, व्यर्थ ही उसने सड़कपर खोजा। चुहिया सचमुच उड़नछू हो गयी थी ... कांपते हाथोंसे यूसुफने ढक्कन बंद किया और घबराहट और निराशासे भरा फिर अपनी यात्रापर चल पड़ा।

जब वह नील नदीपर अपने गुरुके मित्रके घर पहुंचा तो उसने महात्माका उपहार उनको भेंट किया और जो भूल उससे हुई थी उसके कारण एक कोनेमें चुपचाप प्रतीक्षा करने लगा। यह व्यक्ति एक बड़े संत थे।

उन्होंने बक्सा खोला और तुरन्त समझ गये कि क्या बात है। "अच्छा यूसुफ," उन्होंने उस दीक्षार्थी युवककी ओर मुड़कर कहा: "चुहिया तो तुमने खो दी, अब... मुझे खेद है कि महात्मा जुनून तुम्हें दीक्षा नहीं देंगे, क्योंकि परम ज्ञानका पात्र होनेके लिये व्यक्तिको अपने मनपर पूरा अधिकार होना चाहिये। तुम्हारे गुरुको, स्पष्ट ही, तुम्हारी संकल्प-शक्तिके बारेमें कुछ संदेह था इसलिये तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये उन्हें इस युक्तिसे काम लेना पड़ा। और जब तुम इस नगण्य-सी बातको भी पूरा नहीं कर सके, एक छोटी-सी चुहियाको बक्सेमें नहीं रख सके तो भला तुम कैसे आशा करते हो कि तुम महान् विचारोंको अपने सिरमें और सच्चे ज्ञानको अपने हृदयमें संभाल कर रख सकोगे ? यूसुफ, कोई भी चीज नगण्य नहीं है। अच्छा, अब अपने गुरुके पास वापस जाओ। चरित्रकी दृढ़ता सीखो और अनथक प्रयत्न करना सीखो। विश्वास-योग्य बनो ताकि एक दिन उस महान् आत्माके सच्चे शिष्य बन सको।"

हतोत्साह यूसुफ महात्माके पास वापस लौट आया और अपना अपराध स्वीकार किया। "यूसुफ," उन्होंने कहा: "तूने एक अपूर्व अवसर खो दिया। मैंने तुझे केवल एक निकम्मी-सी चुहिया संभालनेके लिये दी थी, तू उतना न कर सका। तो भला तू कैसे आशा करता है कि तू सब संपदाओंमें सबसे बहुमूल्य, भागवत सत्यको संभाल कर रख सकेगा ? उसके लिये तुझमें आत्म-संयमका होना जरूरी है...। जा और सीख, मनपर प्रभुत्व पाना सीख, क्योंकि उसके बिना कोई बड़ी चीज प्राप्त नहीं की जा सकती।"

लज्जित और नतसिर यूसुफ चला आया। तबसे उसके मनमें बस एक ही विचार था: आत्म-प्रभुत्व प्राप्त करना... इसके लिये उसने सालों-साल अनथक प्रयास किया, कठोर और कठिन तपस्या की और अंतमें अपनी प्रकृतिका स्वामी बननेमें सफल हुआ। तब आत्म-विश्वाससे भरा यूसुफ अपने गुरुके पास वापस आया। महात्मा उसे फिर वापस आया देखकर और तैयार पाकर बहुत प्रसन्न हुए। और इस प्रकार यूसुफने महात्मा जुनूनसे महान् दीक्षा प्राप्त की।

कई वर्ष बीत गये, यूसुफका ज्ञान और प्रभुत्व बढ़ते गये और वह इस्लामके बहुत बड़े और गिने-चुने संतोंमेंसे एक हुए हैं।

★

(श्रीमां बच्चोंसे कहती हैं) तो, यह कहानी बताती है कि व्यक्तिको अधीर नहीं होना चाहिये, बल्कि यह समझना चाहिये कि सच्चे रूपमें ज्ञान

पानेके लिये, वह चाहे जो भी हो, उसे व्यवहारमें लाना जरूरी है, अर्थात् अपनी प्रकृतिपर प्रभुत्व पाना जरूरी है ताकि तुम उस ज्ञानको क्रियामें अभिव्यक्त कर सको।

तुम सबको, जो यहां आये हो, बहुत-सी बातें बतायी गयी हैं, तुम्हें सत्यके संसारके संपर्कमें रखा गया, तुम ठीक उसीके बीच रहते हो, जो हवा तुम श्वासके साथ अपने अंदर लेते हो वह उससे भरी है, फिर भी तुममेंसे कितने कम हैं जो यह जानते हैं कि इन सत्योंका मूल्य केवल तभी है जब उन्हें आचरणमें लाया जाय और चेतना, ज्ञान, आत्मिक समता, वैश्वभाव, असीमता, अनंतता, परम सत्य, भागवत उपस्थिति और... इस तरहकी जो भी चीजें हैं उनके बारेमें बातें करनेका तबतक कोई अर्थ नहीं होता जबतक तुम इन चीजोंको जीनेका स्वयं कोई प्रयास नहीं करते और उन्हें ठोस रूपमें अपने अंदर अनुभव नहीं करते। अपने-आपसे यह मत कहो: "ओह! मैं इतने वर्षोंसे यहां हूं और कितना अधिक चाहता हूं कि अपने प्रयत्नोंका फल पा सकूं।" तुम्हें यह जान लेना चाहिये कि अपनी प्रकृतिकी एक जरा-सी दुर्बलतापर, जरा-सी तुच्छतापर, जरा-सी क्षुद्रतापर विजय पानेके लिये भी बहुत अधिक दृढ़ अध्यवसाय और अटूट धैर्य की आवश्यकता होती है। दिव्य प्रेमके बारेमें बातें करनेसे क्या लाभ यदि व्यक्ति बिना अहंभावके प्रेम नहीं कर सकता? और अमरताके बारेमें बातें करनेसे क्या फायदा यदि व्यक्ति अपने भूत और वर्तमानके साथ मजबूतीसे चिपटा रहे और सब कुछ पानेकी खातिर कुछ भी छोड़ना न चाहे।

तुम सब अभी बहुत छोटे हो, पर तुम्हें अभीसे ही यह सीख लेना चाहिये कि लक्ष्यपर पहुंचनेके लिये यह ज्ञान होना जरूरी है कि कीमत कैसे अदा की जाती है और यह कि परम सत्योंको समझनेके लिये उन्हें दैनंदिनी व्यवहारमें लाना जरूरी है।

अच्छा।

२७ मार्च, १९५७

> **जहां कहीं तू महान् अंत देखे निश्चित समझ ले कि महान् प्रारंभ होनेवाला है। जहां कोई डरावना और दुःखदायी विनाश तेरे दिलको दहलाता हो, उसे यह विश्वास दिलाकर सांत्वना दे कि**

एक विशाल और महान् सृजन होनेवाला है। परमेश्वर केवल छोटी धीमी आवाजमें ही नहीं, बल्कि आग और तूफानमें भी है।

विनाश जितना ही बड़ा होगा सृजनके उतने ही खुले अवसर होंगे। परंतु विनाश प्रायः ही लंबा, धीमा और असह्य होता है, सृजन आनेमें देरी करता है या उसकी विजयमें बार-बार विघ्न पड़ते हैं। रात फिर-फिर लौट आती है और दिन देर लगाता है या झूठी उषाकी प्रतीति होती है। इससे निराश न हो ध्यानसे देखता जा और काम करता जा। जो तीव्र आशा रखते हैं वही जल्दी निराश होते हैं। न आशा रख और न भय, परंतु परमेश्वरके प्रयोजन और अपने संकल्पकी विजयमें निश्चयपूर्ण विश्वास रख।

दिव्य 'कलाकार' का हाथ बहुत बार ऐसे काम करता है मानों वह अपनी प्रतिभा और सामग्रीके बारेमें अनिश्चित हो। ऐसा लगता है वह छूता, परखता और छोड़ देता है, उठाता, फेंक देता और फिरसे उठा लेता है, परिश्रम करता, असफल होता, कच्चा काम करता और उधेड़ता और बुनता रहता है। जब-तक सभी चीजें तैयार न हो जायं तबतक उसके काममें आश्चर्य और निराशाका क्रम रहता है। जिसे चुना था उसे निन्दाके रसातलमें फेंक दिया जाता है; जिसे त्याग दिया था वह भव्य प्रासादका आधार बन जाता है। पर इस सबके पीछे एक सुनिश्चित ज्ञान-दृष्टि है, — जिसका पार हमारी बुद्धि नहीं पा सकती — और है असीम सामर्थ्यकी मंद मुस्कान।

परमेश्वरके सामने संपूर्ण काल पड़ा है और उसे हमेशा जल्दीमें रहनेकी जरूरत नहीं। वह अपने उद्देश्य और सफलताके बारेमें सुनिश्चित है और यदि अपने कामको पूर्णताके नजदीक लानेके लिये उसे सौ बार भी तोड़ना पड़े तो वह उसकी परवाह नहीं करता। धैर्य हमारा सबसे पहला महान् आवश्यक पाठ है, पर वह अलस मंदता नहीं जो भीरू, संशयात्मा, क्लांत, आलसी, निरकांक्ष या दुर्बल व्यक्तिमें क्रिया-प्रवृत्तिके प्रति होती है; ऐसा धैर्य जो शांत और वृद्धिशील बलसे भरपूर है, जो जागरूक होकर देखता और अपनेको तीव्र प्रहारोंकी घड़ीके

लिये तैयार करता है जो प्रहार थोड़े होते हुए भी भाग्यको पलट देनेके लिये पर्याप्त होते हैं।

किसलिये परमेश्वर अपने संसारपर ऐसी उग्रतासे हथौड़े बरसाता है, उसे रौंदता और आटेकी तरह गूंधता है, इतनी अधिक बार रक्त-स्नान कराता और भट्टीकी लाल नरकाग्निमें झोंकता है? क्योंकि जन-साधारणमें मानवता अब भी एक कठोर, असंस्कृत और मलिन कच्ची धातुके रूपमें है जो किसी और तरह गलायी और ढाली नहीं जा सकती; जैसी उसकी सामग्री है, वैसी ही उसकी कार्य-प्रणाली। यदि यह अपनेको अधिक बढ़िया और शुद्ध धातुके रूपमें बदलनेके लिये तैयार हो जाय तो इसके साथ बरतनेके उसके तरीके भी अधिक कोमल और मधुर हो जायेंगे और इसका उपयोग भी अधिक उच्च एवं सुन्दर होगा।

किसलिये उसने ऐसी सामग्रीको चुना या बनाया जब कि चुनने-के लिये उसके सामने समस्त असीम संभावना मौजूद थी? क्योंकि उसकी दिव्य 'कल्पना' ही ऐसी थी, उस कल्पनाने न केवल सुन्दरता, मधुरता और पवित्रताको ही अपनी आंखोंके आगे रखा बल्कि शक्ति, संकल्प और महानताको भी देखा। शक्तिका तिरस्कार मत कर और ना ही इसकी कुछ आकृतियोंकी कुरूपताके कारण इससे घृणा कर, यह भी न सोच कि केवल प्रेम ही परमेश्वर है। संपूर्ण पूर्णतामें कुछ अंश वीरताका, बल्कि दानवताका भी होना चाहिये। परंतु बड़ी-से-बड़ी शक्ति पैदा होती है बड़ी-से-बड़ी कठिनाईमेंसे।

(विचार और झांकियां)

आखिर सारी समस्या यह जानने की है कि मानवता शुद्ध सोनेकी अवस्थामें पहुंच गयी है या अब भी इसे मूषा या कुठालीमें परखनेकी जरूरत है।

एक चीज स्पष्ट है कि मानवता अभीतक शुद्ध सोना नहीं बनी है, यह साफ ही दीखता है और निश्चित है।

परन्तु संसारके इतिहासमें कुछ ऐसी बात हो गयी है जो यह आशा बंधाती है कि मानवतामें कुछ गिने-चुने, थोड़े-से व्यक्ति शुद्ध सोनेमें बदलने-के लिये तैयार हैं और ये बिना हिंसाके शक्तिको, बिना विनाशके वीरताको और बिना विध्वंसके साहसको अभिव्यक्त कर सकेंगे।

ठीक अगले ही परिच्छेदमें श्रीअरविंद इसका उत्तर देते हैं : "यदि मनुष्य एक बार आध्यात्मिक होनेके लिये सहमत हो सके।" यदि व्यक्ति आध्यात्मिक होनेके लिये बस, **सहमत हो जाय**... सहमत हो जाय।[1]

इसके अंदरकी कोई चीज इसे चाहती है, इसके लिये अभीप्सा करती है, परन्तु बाकी सारी सत्ता इंकार करती है, वह-की-वही बनी रहना चाहती है : एक मिश्रित धातु, जिसे भट्टीमें डालनेकी जरूरत है।

हम इस समय फिर एक बार पृथ्वीके इतिहासमें एक निर्णायक मोड़पर हैं। सब ओरसे लोग मुझसे पूछ रहे हैं : "अब क्या होनेवाला है?" हर जगह तीव्र व्यथा, प्रतीक्षा, भयकी स्थिति है। "अब क्या होनेवाला है?" ... इसका उत्तर, बस, एक ही है : "यदि मानवता आध्यात्मिक होनेके लिये बस, तैयार हो जाय।"

शायद इतना पर्याप्त हो कि कुछ व्यक्ति शुद्ध सोना बन जायं, क्योंकि यह उदाहरण घटनाचक्रको बदलनेके लिये काफी होगा... यह आवश्यकता बहुत प्रबल रूपमें हमारे सामने है।

वह साहस और वह वीरता, जिसकी भगवान् हमसे अपेक्षा रखते हैं, उसका उपयोग हम अपनी कठिनाइयों, अपूर्णताओं और मलिनताओंके विरुद्ध लड़नेमें क्यों न करें? हम आंतरिक शुद्धिकी भट्टीका सामना वीरतापूर्वक क्यों न करें ताकि फिर एक बार उस भयानक और आसुरिक विनाशमेंसे गुजरनेकी आवश्यकता ही न पड़े जो सारी सभ्यताको अंधकारमें डुबो देगा।

यही समस्या आज हमारे सामने है। हममेंसे प्रत्येकको इसे अपने ढंगसे हल करना है।

इस समय मैं उन प्रश्नोंका उत्तर दे रही हूं जो मुझसे पूछे गये हैं और मेरा उत्तर वही है जो श्रीअरविंदका है :

यदि मनुष्य एक बार आध्यात्मिक होनेके लिये सहमत हो सके ...

और इसके साथ मैं एक बात और जोड़ती हूं : समय दबाव डाल रहा है... मानवीय दृष्टिकोणसे।

---

[1] "सब कुछ बदल जाय यदि मनुष्य एक बार आध्यात्मिक होनेके लिये सहमत हो सके; परन्तु उसकी मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृति उच्चतर विधानके प्रति विद्रोह करती है। वह अपनी अपूर्णताओंसे प्यार करता है।"

३ अप्रैल, १९५७

सब कुछ बदल जाय यदि मनुष्य एक बार आध्यात्मिक होनेके लिये तैयार हो सके; परंतु उसकी मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृति उच्चतर विधानके प्रति विद्रोह करती है। वह अपनी अपूर्णतासे प्यार करता है।

आत्मा हमारी सत्ताका सत्य है। अपनी अपूर्णतामें मन, प्राण और शरीर इसके मुखौटे हैं, परंतु अपनी पूर्णतामें इसके सांचे होंगे। केवल आध्यात्मिक होना ही पर्याप्त नहीं है, इससे कुछ अंतरात्माएं तो स्वर्गके लिये तैयार हो जाती हैं परंतु पृथ्वी बहुत कुछ जहां-की-तहां छूट जाती है। समझौता भी निस्तार पानेका कोई उपाय नहीं है।

संसार तीन प्रकारकी क्रांतियोंसे परिचित है। भौतिक क्रांतिके प्रबल परिणाम आते हैं, नैतिक और बौद्धिक क्रांतियां अपने क्षेत्र-में अत्यधिक व्यापक और अपने फलोंमें बहुत अधिक समृद्ध होती हैं, परंतु आध्यात्मिक क्रांति महान् बीजोंका बोना है।

यदि यह तिहरा परिवर्तन पूर्णतः एकताल होकर एक ही समयमें हो सके तो एक निर्दोष कार्य संपन्न हो सकता है; परंतु मानव-जातिके मन और शरीर प्रबल आध्यात्मिक प्रवाहको पूरी तरह धारण नहीं कर सकते; बहुत कुछ छलक जाता है, बाकीका बहुत कुछ दूषित हो जाता है। इससे पहले कि एक विशाल आध्यात्मिक बुवाईसे थोड़ा-सा फल प्राप्त किया जा सके, हमारी भूमिकी बहुत बार बौद्धिक और भौतिक जुताइयां करने-की जरूरत है।

प्रत्येक धर्मने मानवजातिको सहायता पहुंचायी है। पेगन धर्मने मनुष्यके अंदर सौंदर्यके प्रकाशको, उसके जीवनकी विशालता और उच्चताको, उसके बहुमुखी पूर्णताके उद्देश्यको आगे बढ़ाया है। ईसाइयतने उसे भागवत प्रेम और परोपकारकी झांकी दी। बौद्ध धर्मने उसे अधिक ज्ञानी, भद्र और पवित्र होनेका सन्मार्ग दिखाया

है। यहूदी धर्म और इस्लामने उसे धार्मिक भावसे क्रियामें सच्चा होना और ईश्वरके प्रति उत्कट भक्ति रखना सिखाया और हिन्दू धर्मने उसके सामने बड़ी-से-बड़ी और गहरी-से-गहरी आध्यात्मिक संभावनाओंको खोलकर रख दिया है। यदि ईश्वर-विषयक ये सब दृष्टियां आपसमें मिलकर एक हो जायं तो एक बहुत बड़ी चीज होगी परन्तु बौद्धिक सिद्धांत और सांप्रदायिक अहंभाव रास्तेमें खड़े हैं।

सभी धर्मोंने बहुत-सी आत्माओंको बचाया है, परन्तु अभीतक कोई भी मानवजातिको आध्यात्मिक बनानेमें समर्थ नहीं हो सका। क्योंकि उसके लिये किसी पंथ या मत-विश्वासकी नहीं बल्कि अपने आध्यात्मिक विकासपर स्थिर रूपसे सबका समावेश करते हुए सतत प्रयत्नकी जरूरत है।

आज हमें संसारमें जो परिवर्तन दिखायी देते हैं वे अपने आदर्श और उद्देश्यमें बौद्धिक, नैतिक और भौतिक हैं। आध्यात्मिक क्रांति अपने अवसरकी प्रतीक्षामें है और इस बीच कहीं-कहीं अपनी लहरोंको उछालती है। जबतक यह नहीं आ जाती दूसरी क्रांतियोंका मतलब समझमें नहीं आ सकता और तबतक वर्तमान घटनाओंकी सब व्याख्याएं और मनुष्यके भविष्यके बारेमें पूर्वानुमान व्यर्थ हैं। क्योंकि, उस आध्यात्मिक क्रांतिका स्वरूप, शक्ति और परिणाम ही हमारी मानवजातिके अग्रिम चक्रको निश्चित करेंगे।

(विचार और झांकियां)

मां, श्रीअरविंदने यहां लिखा है: "यदि ईश्वर-विषयक ये सब दृष्टियां आपसमें मिलकर एक हो जायं तो एक बहुत बड़ी चीज होगी परंतु बौद्धिक सिद्धांत और सांप्रदायिक अहंभाव रास्तेमें खड़े हैं।"

इन सब दृष्टियोंको मिलाकर एक करना कैसे संभव है?

इन चीजोंमें संगति और समन्वय मानसिक चेतनामें नहीं लाया जा सकता। इसके लिये यह जरूरी है कि मनसे ऊपर उठा जाय और विचारके पीछे

जो भावना विद्यमान है उसे खोजा जाय। श्रीअरविंदने यहां उदाहरणके तौरपर दिखाया है कि इनमेंसे प्रत्येक धर्म मानवीय प्रयत्न, अभीप्सा और उपलब्धिमें किस-किस चीजका प्रतिनिधित्व करता है। इन धर्मोंको उनके बाह्य रूपमें लेनेके स्थानपर — जो कि केवल सिद्धांत और बौद्धिक धारणाएं होते हैं — यदि हम उन्हें उनकी उस मूल भावनामें, उस मूल तत्त्वमें लें जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं तो उन्हें मिलाकर एक करना कठिन नहीं है। वे, बस, मानव प्रगतिके विभिन्न पहलू हैं जो एक-दूसरेको अच्छी तरह पूर्ण करते हैं पर उनमें और भी बहुत-से पहलुओंको मिलानेकी जरूरत है ताकि एक अधिक समग्र और पूर्ण प्रगति हो सके, जीवनके प्रति अधिक पूर्ण समझ पैदा हो सके और भगवान्‌के प्रति हमारी पहुंच अधिक सर्वांगीण बन सके। और यह एकीकरण भी, जिसके लिये चीजोंके पीछे विद्यमान आत्मातक वापस लौटना पहले ही जरूरी हो जाता है, पर्याप्त नहीं है; इसमें भविष्य-विषयक उस दृष्टिको जोड़ना भी आवश्यक है, जिसे मानव जातिने सदा उद्देश्यके रूपमें सामने रखा है, जो संसारकी भावी चरितार्थता है, वह अंतिम "आध्यात्मिक क्रान्ति" अर्थात्, अतिमानसिक क्रांति है जिसकी श्रीअरविंदने चर्चा की है और जो नये युगका सूत्रपात करेगी।

अतिमानसिक चेतनामें ये सब चीजें परस्पर-विरोधी या पृथक् न रहकर एक-दूसरेकी पूरक बन जाती हैं। यह केवल इनका मानसिक रूप ही है जो इन्हें विभक्त करता है। एक मानसिक रूप जिस चीजका प्रतिनिधित्व करता है उसे दूसरे सब मानसिक रूपोंद्वारा प्रकट की गयी वस्तुके साथ मिलना चाहिये ताकि एक सुसंगत संपूर्ण वस्तु बन सके। धर्म और सच्चे आध्यामिक जीवनके बीच मूल भेद, बस, यही है।

धर्मका अस्तित्व लगभग पूरी तरह बाह्य रूपोंमें, मत-विश्वासमें और कुछ विचारोंके समूहमें होता है, और वह थोड़े-से असाधारण व्यक्तियोंकी आध्यात्मिकताके द्वारा ही महान् बनता है। उधर सच्चा आध्यात्मिक जीवन और उससे भी बढ़कर आनेवाली अतिमानसिक उपलब्धि, सभी बंधे-बंधाये बौद्धिक रूपों और जीवनके सभी सीमित रूपोंसे स्वतंत्र होता है। यह सभी संभावनाओं और अभिव्यक्त रूपोंको अपने अंदर लेकर उन्हें अधिक उच्च और वैश्व सत्यकी अभिव्यक्तिका साधन बना लेता है।

एक नया धर्म न केवल अनुपयोगी बल्कि अनर्थकारी भी होगा। आवश्यकता है एक नये **जीवन**के निर्माणकी, एक नयी चेतनाको अभिव्यक्त करनेकी। और यह एक ऐसी चीज है जो बौद्धिक सीमाओं और मानसिक रूपोंसे परे है। एक जीवंत सत्यको अभिव्यक्त होना चाहिये।

इस सत्यकी उपलब्धिमें सभी वस्तुएं अपने तत्त्व और अपने सत्य रूपमें

जरूर आ जानी चाहिये। इस उपलब्धिको दिव्य सत्यकी यथासंभव अधिक-से-अधिक समग्र, पूर्ण और वैश्व अभिव्यक्ति होना चाहिये। केवल यही मानव जाति और संसारको बचा सकती है। यही वह महान् क्रांति है जिसकी श्रीअरविंदने चर्चा की है। और यही वह चीज है जिसे वे चाहते थे कि हम उपलब्ध करें।

इसकी मोटी-मोटी रूपरेखा उन्होंने उस पुस्तकमें दी है जिसे हम अगले बुधवारसे शुरू करनेवाले हैं; इसका नाम है: **अतिमानसिक अभिव्यक्ति**।

और आज मैंने जो पहला वाक्य पढ़ा था वही सारी समस्याकी कुंजी रहेगा, न केवल व्यक्तिके लिये बल्कि समष्टिके लिये भी:

> **"सब कुछ बदल जाय यदि मनुष्य एक बार आध्यात्मिक होनेके लिये तैयार हो सके; परंतु उसकी मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृति उच्चतर विधानके प्रति विद्रोह करती है। वह अपनी अपूर्णतासे प्यार करता है।"**

मैं चाहती हूं कि हम इसीको आज ध्यानका विषय बनायें।

(ध्यान)

१० अप्रैल, १९५७

> **"इन खेल आदिका दूसरा अमूल्य लाभ है उस मनोभावकी वृद्धि जिसे हम जिंदादिली या खेलाड़ी मिजाज कहते हैं। इसके अंदर, प्रसन्नता, सहनशीलता, सबकी सुविधा-असुविधाका विचार, प्रतियोगियों और प्रतिस्पर्द्धियोंके प्रति समुचित और मैत्रीका भाव, आत्म-संयम, खेलके नियमोंका सावधानीके साथ पालन, ईमानदारीके साथ खेलना और अनुचित उपायोंका उपयोग न करना, उदास हुए बिना और अपने सफल प्रतिद्वन्द्वियोंके प्रति क्रोध या कुभाव रखे बिना हार या जीतको समान भावसे ग्रहण करना, खेलमें नियुक्त जज, पंच या 'रेफरी'के निर्णयको सच्चाईके साथ स्वीकार करना आदि गुण**

शामिल हैं, ये सब गुण केवल खेलके लिये ही नहीं, वरन् साधारण जीवनके लिये भी उपयोगी हैं और इनके विकासमें जो सहायता खेल-कूदके द्वारा प्राप्त होती है, वह प्रत्यक्ष और बहुमूल्य होती है। यदि ये गुण केवल व्यक्तिके जीवनमें ही नहीं, बल्कि राष्ट्रके जीवनमें और अंतर्राष्ट्रीय जीवनमें भी, जहां आजकल इनकी विरोधी प्रवृत्तियां ही अत्यंत प्रबल हो गयी हैं, अधिक व्यापक रूपमें विकसित किये जायें तो हमारे इस दुःखपूर्ण जगत्का जीवन अधिक निर्बाध हो सकता है और जिस सामंजस्य और मित्रताकी हमें आज अत्यंत आवश्यकता है उसकी संभावना भी अधिक हो सकती है... यहांतक कि मनकी उच्चतम और पूर्णतम शिक्षा भी शारीरिक शिक्षाके बिना पर्याप्त नहीं है ... जिस राष्ट्रमें ये सब गुण अधिक-से-अधिक मात्रामें होंगे वही संभवतः विजय, सफलता और गौरव प्राप्त करनेमें सबसे अधिक सफल होगा, साथ ही उस एकताके लानेमें और उस अधिक सुसमंजस विश्व-व्यवस्थाके बनानेमें भी सबसे अधिक समर्थ होगा जिसकी ओर हम मानवजातिके भविष्यके लिये आशाभरी निगाहसे देखते हैं।

(श्रीअरविंद, ३० दिसम्बर १९४८ का संदेश[1])

मधुर मां, खेलोंके साम्मुख्य (टूर्नामेंट) में कई बुरी भावनासे खेलते हैं, वे जीतनेके लिये दूसरोंको हानि पहुंचानेकी चेष्टा करते हैं। हमने देखा है कि छोटे बच्चेतक यही बात सीख रहे हैं। इससे कैसे बचा जाय?

बच्चोंको जो चीजें सबसे बढ़कर हानि पहुंचाती हैं वे हैं अज्ञान और बुरा उदाहरण। इसलिये यह अच्छा होगा कि दलोंके नेता खेल शुरू करनेके पहले अपने अधीन सब बच्चोंको इकट्ठा करके उन्हें वे सब बातें बतायें जो श्रीअरविंदने यहां कही हैं और उनकी व्याख्या भी करें जैसी कि हमने 'खिलाड़ीके नियम' तथा 'आदर्श बालक' अथवा 'बच्चोंके लिये चिरस्मरणीय बातें' नामक छोटी-छोटी पुस्तिकाओंमें दी हैं। ये बातें बच्चोंके सामने

---

[1]यह "संदेश" श्रीअरविंदने आश्रमकी शारीरिक शिक्षण पत्रिकाके प्रथम अंक (फरवरी १९४८)के लिये दिया था। यह उनकी 'अतिमानसिक अभिव्यक्ति' पुस्तककी भूमिकाका काम करता है।

प्रायः ही दोहरायी जानी चाहिये । साथ ही उन्हें बुरी संगति और बुरे साथियोंसे बचनेके लिये चेतावनी भी देनी चाहिये, इसकी चर्चा मैं पहले किसी कक्षामें कर चुकी हूं ।

और सबसे बड़ी बात यह है कि उनके सामने अच्छा उदाहरण रखा जाय . . . । जो तुम उन्हें बनाना चाहते हो वह स्वयं बनो । निःस्वार्थता, धैर्य, आत्म-संयम, सब परिस्थितियोंमें सदा प्रसन्न बने रहनेकी वृत्ति, अपनी तुच्छ वैयक्तिक नापसन्दगियोंपर विजय, एक प्रकारकी स्थिर सदिच्छा, दूसरेकी कठिनाइयोंको समझना — इन चीजोंका उदाहरण उनके सामने रखो । और अपने स्वभावमें ऐसी समता रखो कि बच्चे तुमसे भय न मानें, क्योंकि दंडका भय ही बच्चोंको छल करना, झूठ बोलना, यहांतक कि बुरा काम करना सिखाता है । यदि वे यह समझें कि वे तुमपर विश्वास कर सकते हैं तो वे तुमसे कुछ छिपायेंगे नहीं और तब तुम उन्हें आज्ञाकारी और सच्चा बननेमें सहायता कर सकोगे । सबसे महत्त्वपूर्ण बात है अच्छा उदाहरण रखना । श्रीअरविंद इन्हीं चीजोंकी चर्चा करते हैं । — सब परिस्थितियोंमें सदा बने रहनेवाला स्थिर, प्रसन्न मनोभाव, आत्म-विस्मरण, अर्थात् अपनी छोटी-छोटी कठिनाइयोंको दूसरोंपर न डालना, जब तुम थके हुए हो या तुम्हारी तबियत ठीक न हो तब भी बदमिजाज न होना, धैर्य न खोना । और यह एक पर्याप्त पूर्णताकी, एक आत्म-संयमकी मांग करता है जो उपलब्धिके मार्गपर एक बड़ा भारी पग है । यदि तुम एक सच्चे नेता बननेकी शर्तें पूरी कर लो, चाहे वह बच्चोंके एक छोटे-से दलका नेता बनना ही क्यों न हो, तो तुम योग साधित करनेके लिये जिस अनुशासनकी आवश्यकता है, उसमें काफी आगे बढ़ चुके होगे ।

तुम्हें समस्याको इसी दृष्टिसे देखना है, आत्म-प्रभुत्व, आत्म-नियंत्रण और सहनशीलताकी दृष्टिसे, जो तुम्हारी वैयक्तिक स्थितिको तुम्हारे दल या सामूहिक कार्यपर प्रतिक्रिया करनेकी अनुमति नहीं देती । अपने-आपको भूल जाना सच्चा नेता बननेकी एक अत्यंत आवश्यक शर्त है : अपना कोई स्वार्थपूर्ण हित न रखना, अपने लिये कुछ न चाहना, बल्कि अपनेपर निर्भर दलके हितको, संपूर्ण वस्तुके, समग्र वस्तुके हितको ध्यानमें रखना; इसी ध्येयको सामने रखकर कार्य करना और अपने कार्यसे किसी प्रकारका वैयक्तिक लाभ न चाहना ।

इस प्रकार, एक छोटे दलका नेता एक बहुत बड़े दलका, एक राष्ट्रका उत्तम नेता बन सकता है और एक सामूहिक भूमिकाके लिये तैयार हो सकता है । यह एक ऐसा शिक्षण है जिसका बहुत अधिक महत्त्व है और वस्तुतः इसीके लिये हमने यह प्रयत्न किया है और कर रहे हैं कि ज्यों ही

संभव हो प्रत्येकको एक जिम्मेदारीका काम, छोटा या बड़ा, दिया जाय जिससे वह सच्चा नेता बनना सीख सके।

सच्चा नेता बननेके लिये यह जरूरी है कि व्यक्ति पूरा निःस्वार्थ बने, जहांतक हो सके अपने अंदरसे सभी स्वाभिमान और स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियोंको मिटा दे। नेता बननेके लिये व्यक्तिको अपने अहंभावको जीतना जरूरी है और अपने अहंपर विजय पाना योग करनेके लिये पहला अनिवार्य पग है। इस तरह खेल भगवान्को पानेमें प्रभावशाली सहायता कर सकते हैं।

बहुत कम लोग इसे समझते हैं, और साधारणतः जो लोग खेलोंके इस बाह्य अनुशासनके, स्थूल भौतिक उपलब्धिपर इस एकाग्रताके विरोधी हैं उनमें अपनी भौतिक सत्तापर नियंत्रणका सर्वथा अभाव है। और श्री-अरविंदका पूर्णयोग साधित करनेके लिये अपने शरीरपर नियंत्रण होना सबसे पहला अनिवार्य पग है। जो लोग शारीरिक शिक्षणकी प्रवृत्तियोंको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं वे पूर्णयोगके सच्चे रास्तेपर एक पग भी न चल सकेंगे जबतक कि पहले इस घृणासे छुटकारा नहीं पा लेते। शरीरपर सब प्रकारका नियंत्रण होना एक अनिवार्य आधार है। जो शरीर तुमपर शासन करता है वह शत्रु है, यह एक अव्यवस्था है जिसे तुम स्वीकार नहीं कर सकते। मनकी आलोकित संकल्प-शक्तिका ही शरीरपर शासन होना चाहिये, यह नहीं कि शरीर मनपर अपना नियम लागू करे। जब व्यक्ति जानता हो कि अमुक चीज बुरी है तो उसे न करनेके लिये समर्थ होना चाहिये और जब वह किसी चीजको चरितार्थ करना चाहे तो कर सके, पग-पगपर अपनी अयोग्यता, दुर्भावना या शरीरके असहयोगके कारण उसे रुकना न पड़े। और इसके लिये शारीरिक अनुशासनका अभ्यास और अपने घरका मालिक बनना जरूरी है।

ध्यानमें निमग्न रहना और अपनी तथाकथित महानताकी ऊंचाईसे भौतिक वस्तुओंको देखना बड़ा सुहावना है, परंतु जो अपने घरका स्वामी नहीं, वह दास ही है।

(मौन)

उस ओर, तुममेंसे किसीके पास कोई प्रश्न नहीं? नहीं?

> **मां, शारीरिक शिक्षणकी प्रवृत्तियोंके बारेमें एक समस्या यह है कि किसी एक खेल या एक प्रवृत्तिमें पूर्णता प्राप्त करनेके लिये हमें केवल उसी खेल या प्रवृत्तिपर ही अपने-आपको केंद्रित कर देनेकी आवश्यकता होती है।**

यह बात बिलकुल गलत है। पत्रिकाके पहले ही अंकमें मैंने इस बातको पूरे विस्तारके साथ समझाया है।[1] यह एकदम गलत है। वस्तुतः जिसने अपने ऊपर नियंत्रण पा लिया है और एकाग्रताकी शक्तिका विकास कर लिया है वह एकाग्रताकी इस शक्तिका प्रयोग देखनेमें अत्यंत भिन्न, यहां-तक कि कभी-कभी तो बिलकुल विरोधी चीजोंपर भी कर सकता है और उसे इन चीजोंको इस प्रकार कर सकना चाहिये कि एक चीज दूसरीको नुकसान न पहुंचाये।

इसमें विचारणीय प्रश्न केवल समयका रह जाता है, जिसे दो तरहसे हल किया जा सकता है: प्रथम तो अपने जीवनको आलोकित और व्यव-स्थित ढंगसे संगठित किया जाय और दूसरे समयको व्यर्थ जानेसे रोका जाय, अधिकतर लोग अपना समय निरर्थक प्रवृत्तियोंमें गंवा देते हैं -- यदि ये निरर्थक प्रवृत्तियां गायब हो जायं तो सारे संसारके लिये एक आशीर्वाद होगा --- और इन प्रवृत्तियोंमें मैं पहले नंबरपर जिसे रखती हूं वह है गप्पें मारना, अर्थात् अपने मित्रोंसे, अपने साथियोंसे निरर्थक बातें करना... सभी प्रवृत्तियोंमें। बातचीतमें जो समय खराब जाता है वह बहुत ज्यादा होता है। जहां एक शब्द पर्याप्त होता है, तुम पचास बोलते हो और केवल यही समयकी एक ही क्षति नहीं है.....। वस्तुतः जब किसीको समयकी कमी प्रतीत होती है तो इसका मतलब होता है कि वह अपने जीवनको व्यवस्थित करना नहीं जानता। अवश्य ही, ऐसे लोग भी हैं जो बहुत सारे काम करते हैं पर वह भी यह दिखाता है कि जीवनमें व्यवस्था-का अभाव है।

सच्ची व्यवस्थामें प्रत्येक चीजको उसी अनुपातमें स्थान प्राप्त होता है जितना उसे चाहिये। तुम सब अच्छी तरह जानते हो कि दस-पंद्रह मिनट-के सुसमन्वित व्यायामसे तुम शरीरको उसके लिये आवश्यक सब शिक्षण दे सकते हो। यह तुम्हें यहां सिखाया गया है और तुम्हारे सामने प्रमाणित भी किया जा चुका है। शरीरकी समुचित समतोलताके लिये इतना पर्याप्त है। अवश्य ही, खेलोंसे और भी कई प्रकारकी योग्यताएं प्राप्त होती हैं, परंतु तुम प्रतिदिन, जैसा कि मैं जानती हूं, अधिक-से-अधिक एक घंटेसे ज्यादा नहीं खेलते और दिन-भरमें इतना समय देना अधिक नहीं है।

यह एक बहाना है। अपने जीवनको व्यवस्थित करो और तुम देखोगे कि प्रत्येक चीजके लिये तुम्हारे पास अवकाश है....... यहांतक कि एक उत्तम विद्यार्थी बननेके लिये भी।

---

[1] शारीरिक शिक्षण पत्रिका, अप्रैल १९४९, "एकाग्रता और विक्षेप"।

१७ अप्रैल, १९५७

"पूर्णता ही सभी प्रकारके शिक्षण और संवर्धनका, आध्यात्मिक, आंतरात्मिक, मानसिक, प्राणिक संस्कृतियोंका उद्देश्य है और यही शारीरिक शिक्षणका भी उद्देश्य होना चाहिये। यदि हमारा प्रयत्न सत्ताकी सर्वांगीण पूर्णताके लिये है तो उसके भौतिक भाग-को एक तरफ नहीं छोड़ा जा सकता; क्योंकि शरीर ही भौतिक आधार है, शरीर वह साधन है जिसका हमें उपयोग करना ह। "शरीरं खलु धर्मसाधनम्", यह पुरानी संस्कृत उक्ति है — शरीर ही धर्मकी चरितार्थताका साधन है और धर्मका मतलब है वह प्रत्येक आदर्श जिसे हम अपने सामने रखते हैं, उसे कार्यान्वित करनेका विधान और उसकी क्रियावली। सर्वांगीण पूर्णता ही वह अंतिम उद्देश्य है जिसे हमने अपने सामने रखा है, क्योंकि हमारा आदर्श है दिव्य जीवन, जिसका हम यहां निर्माण करना चाहते हैं। हम चाहते हैं आत्माका जीवन जो पृथ्वीपर चरि-तार्थ हो, ऐसा जीवन जो यहीं, पृथ्वीपर भौतिक जगत्की अवस्थाओंमें अपने आध्यात्मिक रूपांतरको साधित करे। यह तब-तक नहीं हो सकता जबतक शरीरका भी रूपांतर नहीं हो जाता, जबतक इसकी क्रियाएं और व्यापार उस उच्चतम योग्यता और पूर्णतातक नहीं पहुंच जाते जो इसके लिये संभव हैं या संभव बनाये जा सकते हैं।

(अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

मां, शरीरके व्यापार किस तरह अपनी "उच्चतम योग्यता"तक पहुंच सकते हैं?

ठीक "रूपांतर"के द्वारा। इसका अर्थ है सर्वांगीण रूपांतर। श्रीअरविन्दने इसके बारेमें बादमें आगे चलकर कहा है।

हमारा वर्तमान शरीर पशु-शरीरका ही एक उन्नत रूप है, पर इसमें भी संदेह है क्योंकि यदि हमने कुछ दृष्टियोंसे पाया है तो अन्य कुछ दृष्टियोंसे खोया भी है। यह तो स्पष्ट ही है कि विशुद्ध भौतिक योग्यताओंकी दृष्टि-से कई पशु हमसे ऊंचे हैं। जबतक हम किसी विशेष प्रशिक्षण और रूपां-तरद्वारा अपनी योग्यताओंको सचमुच बदलनेमें सफल नहीं हो जाते तबतक

यह कहा जा सकता है कि बल और शारीरिक शक्तिकी दृष्टिसे एक बाघ या सिंह हमसे कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। फुर्तीलेपनमें बंदर हमसे बढ़ा हुआ है। और उदाहरणके तौरपर एक पक्षी बिना किसी बाह्य यंत्रकी सहायताके, बिना किसी वायुयानके, हवामें विचरण कर सकता है जो अभीतक हमारे लिये संभव नहीं हुआ है...... आदि। और हम अपने अंगोंकी क्रियाओंमें पशु-सदृश आवश्यकताओंसे बंधे हुए हैं। जबतक हम, उदाहरणार्थ स्थूल भोजनपर, जड़तत्त्वको इस स्थूल रूपमें अपने अंदर ग्रहण करनेपर निर्भर करेंगे, तबतक हम निम्न कोटिके पशु ही रहेंगे।

अतः, हम जो कुछ आगे पढ़ने वाले हैं मैं उसके बारेमें पहलेसे चर्चा नहीं करना चाहती, परंतु हमारे शरीरके ये निरे पशु-सदृश व्यापार, वह सारा भाग जो पूरी तरह पशु-जीवन-सदृश है — हमारी रक्त-संचारपर निर्भरता और रक्तके लिये खानेकी आवश्यकतापर निर्भरता आदि तथा वह सब भी जो इसके अंतर्गत है — ये भयानक सीमाएं और बंधन हैं! यह स्पष्ट है कि जबतक भौतिक जीवन इनपर निर्भर है, हम अपने जीवनको दिव्य नहीं बना सकेंगे।

तो, हमें सोचना होगा कि मनुष्यकी पशुताका स्थान जीवनके किसी अन्य स्रोतको ले लेना चाहिये, और यह बिलकुल समझमें आनेवाली बात है — न केवल समझमें आने योग्य है बल्कि अंशतः चरितार्थ भी की जा सकती है; और प्रत्यक्ष ही यही वह लक्ष्य है जिसे हमें, यदि हम जड़तत्त्वको रूपांतरित करना और इसे दिव्य गुणोंको व्यक्त करनेके योग्य बनाना चाहते हैं तो, अपने सामने रखना चाहिये।

अति प्राचीन परंपरामें (वेद और कैल्डियन परंपराओंसे भी पुरानी एक परंपरा थी जो इन दोनोंका मूल रही होगी), उस प्राचीन परंपरामें एक ऐसे "गौरवपूर्ण शरीरका" जिक्र आता है जो इतना नमनीय होगा कि वह अंतरतम चेतनाद्वारा प्रतिक्षण बदला जा सकेगा : वह शरीर उस चेतनाको अभिव्यक्त करेगा, उसमें आकारकी दृढ़ता नहीं होगी। यह एक आलोकमयताका प्रश्न था : उस शरीरका उपादानरूप जड़तत्त्व इच्छा करते ही आलोकमय हो सकेगा। उसमें एक ऐसे हलकेपनकी संभावनाकी भी चर्चा है जो शरीरको इच्छाशक्तिके द्वारा, आंतरिक शक्तिको प्रयोगमें लानेकी किसी प्रणालीद्वारा हवामें विचरने योग्य बना देगा। इसी प्रकारकी अन्य बातें भी हैं। इन बातोंके बारेमें बहुत कुछ कहा गया है।

मैं नहीं जानती कि पृथ्वीपर कभी ऐसे व्यक्ति हुए हों जिन्होंने अंशतः यह स्थिति पा ली हो पर बहुत थोड़े-से रूपमें किसी एक या दूसरी चीजकी आंशिक उपलब्धिके कुछ दृष्टांत मिलते हैं जिनसे प्रमाणित होता है

कि ऐसा संभव है। इस भावनाके आधारपर आगे चलें तो हम कल्पना कर सकते हैं कि इन वर्तमान भौतिक अंगों और उनकी क्रियाओंका स्थान ऐसे केंद्र ले लेंगे जहां बल और शक्ति केंद्रित होगी और जो उच्चतर शक्तिको ग्रहण कर सकेंगे, साथ ही जो एक प्रकारकी कीमियाद्वारा उन शक्तियोंको जीवन और शरीरकी आवश्यकताओंके लिये प्रयुक्त कर सकेंगे। शरीरमें विभिन्न "केंद्रों" की बात हम करते ही हैं--योगाभ्यास करनेवालोंके लिये यह सुपरिचित ज्ञान है — परंतु इन केंद्रोंको इस हदतक पूर्ण बनाया जा सकता है कि ये जड़तत्त्वपर उच्चतर शक्ति और स्पंदनोंकी सीधी क्रिया-के द्वारा विभिन्न अंगोंका स्थान ले लें। जिन लोगोंने गुह्यविद्याका अच्छी तरह, उसके अतिशय सर्वांग रूपमें अभ्यास किया है, कहा जा सकता है कि वे सूक्ष्म शक्तियोंको भौतिक रूप देनेकी प्रक्रियाको जानते हैं और उन्हें भौतिक स्पंदनोंके संपर्कमें ला सकते हैं। यह कार्य केवल हो ही नहीं सकता बल्कि किया भी जाता है। और यह सब एक विज्ञान है, इस विज्ञानको अपने-आपको पूर्ण और पूरा करना चाहिये। और इसका प्रयोग, स्पष्ट ही उन नये शरीरोंके निर्माण और उनकी गतिविधियोंके संचालनमें होगा जो इस भौतिक जगत्में अतिमानसिक जीवनको अभिव्यक्त कर सकेंगे।

परंतु जैसा कि श्रीअरविन्द कहते हैं कि इस स्थितिपर पहुंचनेसे पहले यह अच्छा है कि हम सभी सुलभ साधनोंका उपयोग करें और शारीरिक क्रियाओं-पर नियंत्रणको बढ़ाने और उसे एक विशेष विशिष्टतातक पहुंचानेमें सफल हों। यह बहुत स्पष्ट है कि जो लोग शारीरिक शिक्षणका वैज्ञानिक और सुसमन्वित रूपमें अनुशीलन करते हैं वे अपने शरीरपर इतना नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं जो साधारण व्यक्तिके लिये अकल्पनीय होता है। जब रूसी कसरतबाज यहां आये थे तो हमने देखा ही था कि वे कितनी सरलतासे ऐसे व्यायाम कर लेते थे जो साधारण व्यक्तिके लिये असंभव हैं और वे उन्हें ऐसे कर रहे थे जैसे यह संसारकी सबसे आसान चीज हो, उसमें प्रयासका थोड़ा भी भान न होता था! हां तो, यह अधिकार शरीरके रूपां-तरकी ओर एक महान् पग है। और इन लोगोंने, कह सकती हूं कि जो सिद्धांततः जड़वादी हैं, अपने प्रशिक्षणमें किसी आध्यात्मिक पद्धतिका उपयोग नहीं किया था; एकमात्र भौतिक साधनों और मानवी संकल्पशक्तिके सज्ञान प्रयोगसे उन्होंने यह परिणाम प्राप्त किया था, यदि उन्होंने इसमें आध्या-त्मिक ज्ञान और शक्तिको जोड़ दिया होता तो वे चामत्कारिक परिणामोंपर पहुंच गये होते...। संसारमें प्रचलित मिथ्या धारणाओंके कारण सामा-न्यतः हम इन दोनों चीजोंको — आध्यात्मिक प्रभुत्व और भौतिक प्रभुत्वको — एक साथ नहीं देखते, और इस प्रकार सदा ही एकमें दूसरी चीजका

अभाव रहता है; पर ठीक यही चीज है जिसे हम करना चाहते हैं और श्रीअरविन्द इसीको समझाते हैं: यदि दोनों मिल जायं तो परिणाम ऐसी पूर्णतातक पहुंच सकता है जिसे साधारण व्यक्ति सोच भी नहीं सकता और इसीके लिये हम प्रयास करना चाहते हैं।

जैसा कि वे आगे कहते हैं (संभवतः इसे हम अगली बार पढ़ेंगे) पहले हमें उन अनेक मूर्खतापूर्ण पूर्वाग्रहोंसे लड़ना होगा जो भौतिक और आध्यात्मिक जीवनके बीच एक दृढ़ विरोध पैदा कर देते हैं। और यह चीज मानव चेतनामें इतनी गहरी जड़ें जमाये हुए है कि इसे निकालना बहुत कठिन है, यहांतक कि उनमें भी जो सोचते हैं कि उन्होंने श्रीअरविन्दकी शिक्षाको समझ लिया है! जब मैंने फिरसे ध्यान शुरू किया (बिलकुल भिन्न कारणसे) तो बहुतोंने कहा: "आह! आखिर, हम आध्यात्मिक जीवनकी ओर लौट पड़े हैं"...। और सचमुच इसी चीजने मुझे लंबे समयतक ध्यान करनेसे रोका था ताकि इस मूर्खताको प्रोत्साहन न मिले; पर दूसरे कारणोंसे इसे करना जरूरी था, इसलिये मैंने इसे फिरसे शुरू किया। जबतक यह मूर्खता मानव चेतनामेंसे जड़मूलसे नहीं निकाल फेंकी जाती तबतक अतिमानसिक शक्तिके सामने यह कठिनाई सदा रहेगी कि मानव विचारका, जो कुछ भी समझता नहीं, अंधकार उसे निगल न जाय। अच्छा, फिर भी, कुछ करेंगे।

मैंने 'अतिमानसिक अभिव्यक्ति' पुस्तकको इसलिये चुना है कि इससे मुझे एक अवसर मिलेगा कि मैं तुम्हें उस सत्यके संपर्कमें ला सकूं जो एक योद्धाकी-सी भावनाके साथ व्यक्त किया गया है ताकि तुम उस पुराने विभाजनके, सनातन 'सत्य' के विषयमें इस पूर्ण नासमझीके विरुद्ध लड़ सको।

और संभवतः, जब हम इस पुस्तकका वाचन समाप्त कर चुकेंगे, मैं तुम्हें बताऊंगी कि हमने फिरसे ध्यान क्यों शुरू किया, पर निश्चय ही "आध्यात्मिक जीवनकी ओर लौटने" के लिये नहीं!

ओह! यह चीज इतनी गहरी जड़ें जमाए हुए है। यहांतक कि जो समझनेका दावा करते हैं — जब वे आध्यात्मिक जीवनकी बात सोचते हैं तो झट ध्यानकी बात सोचने लगते हैं।

अच्छा, फिर भी हम ध्यान करेंगे, पर किसी और ही कारणसे!

(ध्यान)

२४ अप्रैल, १९५७

"भौतिक जगत्में दिव्य जीवनका आवश्यक रूपसे अर्थ होता है सत्ताके दो छोरोंका, आध्यात्मिक ऊंचाई और भौतिक आधारका मिलन। अंतरात्मा 'जड़तत्त्व'पर स्थापित जीवनको अपना आधार बनाकर आत्माकी ऊंचाइयोंकी ओर चढ़ती है पर अपने आधार-को फेंक नहीं देती, वह ऊंचाइयों और गहराइयोंको एक-दूसरेसे मिला देती है। आत्मा 'जड़तत्त्व' और भौतिक जगत्में अपनी समस्त ज्योति, महिमा और शक्तिके साथ नीचे उतर आती और इनसे जड़ जगत्के जीवनको भरती और उसे रूपां-तरित करती है ताकि वह अधिकाधिक दिव्य होता जाय। रूपांतर किसी ऐसी चीजमें परिवर्तन नहीं है जो नितांत सूक्ष्म और आध्यात्मिक हो, जिसके लिये 'जड़तत्त्व' अपने स्वरूपमें ही घृणायोग्य हो और जो इसे आत्माको नीचे रोक रखनेवाली बाधा या बेड़ी समझता हो; यह 'जड़तत्त्व'को आत्माका रूप समझकर ग्रहण करता है, यद्यपि अभी यह रूप उसे आवृत करता है पर वह इसे आत्माको व्यक्त करनेवाले साधनमें बदल देता है, यह 'जड़तत्त्व'की शक्तियोंका, उसकी क्षमताओं और पद्धतियोंका त्याग नहीं करता, उनकी गुप्त संभावनाओंको प्रकाशमें लाता, उन्हें समुन्नत और परिष्कृत कर उनके स्वभावगत दिव्यत्वको प्रस्फुटित कर देता है। सो दिव्य जीवन किसी ऐसी चीजका परित्याग नहीं करेगा जो दिव्य बनने योग्य हो; हमें सभी चीजोंको हाथमें लेना है, समुन्नत करना है और एकदम पूर्ण बनाना है . . .

पूर्णताकी खोजमें हम अपनी सत्ताके किसी भी छोरसे चलना शुरू कर सकते हैं पर, कम-से-कम प्रारंभमें, हमें अपने चुनावके अनुरूप ही साधनों और प्रक्रियाओंका उपयोग करना होता है। योगमें जो प्रक्रिया उपयोगमें लायी जाती है वह आध्यात्मिक और चैत्य है, यहांतक कि उसकी प्राणिक और भौतिक प्रक्रियाओं-को भी आध्यात्मिक या चैत्य रूप दे दिया जाता है और साधारण जीवन और जड़तत्त्वसे संबंध रखनेवाली उनकी अपनी गतिसे अधिक ऊंची गतिमें उठा दिया जाता है, जैसे कि हठयोग और राजयोगमें प्राणायाम और आसनोंका उपयोग. . . .।

दूसरी ओर, अगर हम निम्नतर छोरके किसी क्षेत्रसे शुरू करें तो हमें उन्हीं साधनों और प्रक्रियाओंका उपयोग करना होता है जिन्हें 'जीवन' और 'जड़तत्त्व' प्रस्तुत करते हैं और प्राणिक और भौतिक शक्ति जिन शर्तों और जिस शैलीको आरोपित करती है उनका आदर करना होता है। हम क्रिया-प्रवृत्तिको, प्राप्त उपलब्धि और पूर्णताको, पहली स्थितिसे आगे बढ़ा सकते हैं, यहांतक कि सामान्य संभावनाओंसे भी परे ले जा सकते हैं, पर फिर भी हमें खड़ा होना होता है उसी आधारपर जिससे हमने शुरू किया था और उन्हीं सीमाओंके भीतर जो यह हमें देता है। यह बात नहीं कि दोनों छोरोंकी क्रिया मिल नहीं सकती और उच्चतर पूर्णता निम्नतर पूर्णताको अपने अंदर ले नहीं सकती और उसे ऊपर नहीं उठा सकती, परंतु सामान्यतः यह केवल तभी होता है जब निम्नतर पूर्णता एक उच्चतर दृष्टि, अभीप्सा और प्रयोजनकी ओर मुड़ जाती है : और यदि हमारा लक्ष्य मानव जीवनका दिव्य जीवनमें रूपांतर हो तो हमें यह करना ही होगा। परंतु इसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि मानव जीवनकी क्रिया-प्रवृत्तियोंको हाथमें लिया जाय और उन्हें आत्माकी शक्तिद्वारा परिष्कृत कर उदात्त बनाया जाय। यहां निम्नतर पूर्णता लुप्त नहीं हो जायेगी; वह रहेगी पर उच्चतर पूर्णताद्वारा परिवर्धित एवं रूपांतरित हो जायेगी और इस उच्चतर पूर्णताको केवल आत्माकी शक्ति ही दे सकती है।

(अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

मधुर मां, श्रीअरविन्दने यहां उच्चतर पूर्णता और निम्नतर पूर्णताकी बात कही है...

उच्चतर पूर्णता है आध्यात्मिक पूर्णता, भगवान्‌के साथ पूर्ण मिलन और तादात्म्य, तथा निम्न जगत्‌की सभी सीमाओंसे मुक्ति। यह आध्यात्मिक पूर्णता है, यह योग करनेसे आती है — यह शरीर और भौतिक जगत्‌से सर्वथा स्वतंत्र होती है — इसके लिये प्राचीन समयमें पहली आवश्यकता थी शरीर और भौतिक जीवनको एक तरफ रख देना ताकि उच्चतर जगत्‌से और अंतमें भगवान्‌से संबंध स्थापित किया जा सके। तो यह हुई उच्चतर पूर्णता।

और निम्नतर पूर्णता है मनुष्यकी उसके वर्तमान रूप, उसके शरीर और

सभी भौतिक वस्तुओंके साथ उसके संबंधके रहते हुए जो वह अधिक-से-अधिक कर सकता है उसमें सफल बनाना। और यह सभी महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियों, प्रतिभाशाली कलाकारों, साहित्यिकों, प्रतिभाशाली व्यवस्थापकों और महान् प्रशासकोंमें पायी जाती है। उन सबमें पायी जाती है जिन्होंने भौतिक क्षमताओंको उनकी उच्चतम पूर्णतातक और मानव विकासको उसकी शक्यताओंकी चरम सीमातक पहुंचाया है। हम उदाहरण ले सकते हैं उन लोगोंका जिनका अपने शरीरपर प्रभुत्व है और जो अद्भुत चीजें कर लेते हैं जैसे कि युद्धके दिनोंमें विमान-चालकोंने कर दिखायी थीं। उन्होंने अपने शरीरसे ऐसी चीजें करवायीं जो प्रथम दृष्टिमें असंभव प्रतीत होती थीं; ऐसी सहनशीलता, शूरवीरता, शक्ति इसमेंसे उपलब्ध की जो लगभग अकल्पनीय थी, सभी दृष्टियोंसे: शारीरिक बल, बौद्धिक उपलब्धि और शक्ति, साहस, निःस्वार्थता, उदारता, परोपकारको व्यक्त करनेवाले भौतिक गुणोंकी दृष्टिसे अकल्पनीय थी। वे सभी मानवीय क्षमताओंको परिश्रमसे चरम पराकाष्ठातक ले गये। यह है निम्नतर पूर्णता।

उच्चतर पूर्णता आध्यात्मिक और अतिमानवीय पूर्णता है। निम्नतर पूर्णता मानवीय पूर्णता है जिसे उसकी चरम पराकाष्ठातक पहुंचानेकी चेष्टा की गयी है। यह समस्त आध्यात्मिक जीवन एवं आध्यात्मिक अभीप्सासे पूर्णतः स्वतंत्र हो सकती है। कोई व्यक्ति बिना किसी आध्यात्मिक अभीप्साके भी प्रतिभाशाली हो सकता है। किसी व्यक्तिमें आध्यात्मिक जीवनके बिना भी अत्यंत असाधारण नैतिक गुण हो सकते हैं। सामान्यतः जिनमें मानवीय उपलब्धिकी बहुत बड़ी शक्ति होती है वे अपनी स्थितिसे संतुष्ट — कम या अधिक संतुष्ट — रहते हैं। वे अनुभव करते हैं कि वे आत्म-पर्याप्त हैं, अपनी उपलब्धि और अपने सुखका स्रोत अपने ही अंदर लिये हैं, और उन्हें यह समझाना और महसूस कराना बहुत कठिन होता है कि वे अपने कार्योंके, वे चाहे कुछ भी हों, निर्माता नहीं हैं। इनमें अधिकतर लोग, कुछ अपवादोंको छोड़कर ऐसे होते हैं जिनसे यदि कहा जाय: "इस कामको तुमने नहीं, बल्कि तुमसे उच्चतर किसी शक्तिने किया है, तुम तो, बस, एक यन्त्र मात्र थे," तो वे इसे बहुत अधिक नापसंद करेंगे और तुम्हें अपना रास्ता नापनेके लिये कहेंगे। इसलिये ये दोनों पूर्णताएं, सामान्य जीवनमें, वस्तुतः अलग-अलग ही चलती हैं। पुराने योगोंमें कहा जाता था कि योग करनेकी पहली शर्त है जीवनसे विरक्ति। परन्तु जो लोग कुछ मानवीय पूर्णता पा लेते हैं, सामान्यतः जीवनसे बहुत कम ही विरक्त होते हैं जबतक कि कुछ ऐसा न हो कि उनके सामने कोई

व्यक्तिगत कठिनाइयां न आ जायं — जैसे आस-पासके लोगोंकी अकृतज्ञता, उनकी प्रतिभाको न समझना, उसका पूरा मूल्यांकन न होना — तब इस सबसे उनका दिल खट्टा हो जाता है, नहीं तो जबतक सफलता और सर्जनका काम चलता है वे पूरी तरह संतुष्ट रहते हैं। और जबतक वे संतुष्ट रहते हैं — विशेषतः, अत्म-संतुष्ट रहते हैं — तबतक उन्हें किसी और चीजको पानेकी आवश्यकता महसूस नहीं होती।

यह अनिवार्य रूपसे सच नहीं होता, पर सामान्यतः ऐसा ही होता है। और जबतक किसी प्रतिभाशाली व्यक्तिमें ऐसी आत्मा न हो जो अपने-आपसे पूरी तरह सचेतन हो और पृथ्वीपर किसी विशेष कार्यको पूरा करनेके लिये आयी हो, तबतक बहुत संभव है कि कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति पैदा हो, बड़ा हो और यह जाने बिना मर भी जाय कि पार्थिव जीवनके अतिरिक्त कुछ और भी है। और सबसे बढ़कर यही, समझे, यही भावना कि अधिकतम उपलब्धि हो चुकी है एक ऐसी संतुष्टि प्रदान करती है जो व्यक्तिको किसी अन्य चीजकी आवश्यकता अनुभव करनेसे रोके रखती है...। यदि उनकी आत्मा अपने-आपसे और भौतिक जगत्‌में अपने प्रयोजनसे पूरी तरह सचेतन हो तो उन्हें एक धुंधला आभास मिल सकता है कि यह सब बहुत खोखला है, ये सब उपलब्धियां या सफलताएं बहुत ऊपरी हैं और कोई ऐसी चीज है जो अभीतक अप्राप्त है; पर यह आभास भी केवल दैवनिर्दिष्ट व्यक्तियोंको ही मिलता है और वास्तवमें मानवजातिके इतने बड़े समुदायमें ऐसे लोग बहुत नहीं होते।

केवल ये दैवनिर्दिष्ट लोग ही इन दो पूर्णताओंको मिला सकते हैं और किसी सर्वांगीण वस्तुको प्राप्त कर सकते हैं...। किंतु यह बहुत विरल है। महान् आध्यात्मिक नेता बहुत कम ही भौतिक जगत्‌में कोई महान् काम कर पाये हैं। ऐसा हुआ अवश्य है, पर यह बहुत विरल है। भगवान्‌के जो सचेतन अवतार हुए हैं केवल उन्हींमें, स्वभावतः, इन दो पूर्णताओंकी संभावना रही है, पर यह तो अपवादकी बात है। जिन लोगोंका जीवन आध्यात्मिक था, जिन्हें कोई महान् सिद्धियां प्राप्त थीं, उनके पास किन्हीं विशेष क्षणोंमें बाह्य चरितार्थताकी योग्यता भी रही है, यह भी अपवादकी ही बात है, लेकिन यह भी अविच्छिन्न नहीं थीं, उसमें वह समग्रता, वह सर्वांगीणता, वह पूर्णता नहीं थी जो भौतिक चरितार्थतापर ही अपनेको केंद्रित करनेवाले व्यक्तियोंमें पायी जाती है। और यही कारण है कि जो लोग केवल बाह्य चेतनामें निवास करते हैं, जिनके लिये स्थूल पार्थिव जीवन ही सब कुछ है और जिसका वास्तवमें अस्तित्व है, जो एकदम यथार्थ, प्रत्यक्ष और सबके लिये अनुभवगम्य है, वे सदा यह महसूस करते

हैं कि आध्यात्मिक जीवन कुछ अस्पष्ट-सी और भौतिक दृष्टिसे अति सामान्य चीज है।

मुझे ऐसे बहुत-से व्यक्ति मिले हैं — "बहुत" से, हां, काफी अच्छी संख्यामें — जो यह दिखाना चाहते थे कि आध्यात्मिक शक्तियां बाह्य प्राप्तिके लिये बहुत बड़ी योग्यता प्रदान करती हैं। उन्होंने अपनी असाधारण आध्यात्मिक अवस्थाओंमें चित्र बनाने या संगीत रचने या कविता लिखनेकी कोशिश की, पर जो कुछ उन्होंने रचा वह बिलकुल घटिया था; उसकी तुलना उन प्रतिभावान् कृतियोंसे नहीं की जा सकती जिन्होंने भौतिक कलाको हस्तगत किया था। और इसने, अवश्य ही भौतिकवादी लोगोंको यह कहनेका एक सुंदर अवसर दिया : "देखा, तुम्हारी तथाकथित शक्ति किसी कामकी नहीं निकली।" परन्तु इसका कारण यह है कि अपने बाह्य जीवनमें वे केवल साधारण व्यक्ति थे, क्योंकि यदि अत्यधिक महान् आध्यात्मिक शक्ति एक अशिक्षित जड़ व्यक्तिमें प्रवेश कर भी जाय, तो वह स्पष्ट ही ऐसी कृति तो उत्पन्न करेगी जो उस कृतिसे कहीं अधिक ऊंची होगी जो उस शक्तिके बिना की जाती, पर उस कृतिसे काफी निचले दर्जेकी होगी जिसे एक ऐसा प्रतिभाशाली व्यक्ति उत्पन्न करता जिसका भौतिकपर अधिकार है। आत्माका श्वास ही काफी नहीं है, यंत्रमें भी उसे व्यक्त करनेकी योग्यता चाहिये।

मेरा ख्याल है श्रीअरविंद जो बातें समझाने जा रहे हैं उनमेंसे एक यह है कि यह क्यों जरूरी है कि भौतिक बाह्य सत्ताका भी पूरा विकास हो, उसमें जड़तत्त्वपर सीधा अधिकार करनेकी योग्यता हो, क्योंकि तब तुम आत्माके हाथमें एक ऐसा यंत्र सौंप देते हो जो उसे व्यक्त कर सकता है, नहीं तो ...। हां, मैं ऐसे भी कई लोगोंको जानती थी जो अपनी साधारण अवस्थामें तीन पंक्तियां भी बिना गलती किये नहीं लिख सकते थे, उनमें केवल वर्तनीकी भूलें ही नहीं, व्याकरणकी भूलें भी होती थीं, अर्थात् जो किसी विचारको स्पष्टतासे व्यक्त नहीं कर सकते थे — पर, जब वे अपनी आध्यात्मिक अभीप्साके क्षणोंमें होते तो बहुत सुन्दर चीजें लिखा करते थे, पर फिर भी ये सुन्दर चीजें वैसी सुन्दर नहीं होती थीं जैसी उच्चकोटिके लेखकोंकी। वे अपनी सामान्य अवस्थामें जो कर सकते थे उसकी तुलनामें बढ़िया प्रतीत होती थीं। यह सच है कि इनमें उनकी अधिकतम वर्तमान क्षमताओंका उपयोग हुआ था, इसीने उन चीजोंको कुछ मूल्य दिया जो अन्यथा कुछ भी न हो पातीं। परन्तु मान लो तुम्हारे सामने सच्चे अर्थोंमें एक प्रतिभाशाली व्यक्ति है — प्रतिभावान् संगीतज्ञ, कलाकार, साहित्यिक — जिसका अपने यंत्रपर पूरा अधिकार है, जो उसका

उपयोग ऐसी रचनाके लिये कर सकता है जिसमें उच्चतम मानवीय संभावना व्यक्त हो, तो अब यदि तुम उसमें एक आध्यात्मिक चेतना, अतिमानसिक शक्तिको जोड़ दो तो तुम्हें सचमुच एक दिव्य चीज मिलेगी।

और ठीक यही उस प्रयासकी कुंजी है जो श्रीअरविंद हमसे करवाना चाहते थे।

तुम्हारा शरीर अपनेमें जिन संभावनाओंको छिपाये हुए है यदि तुम उन्हें बाहर निकाल लाओ, यदि तुम इसे सामान्य, सुपरिचित, वैज्ञानिक पद्धतियोंद्वारा प्रशिक्षित करो, यदि तुम इस यंत्रको अधिकतम संभव रूपमें पूर्ण बना दो तो जब अतिमानसिक सत्य उस शरीरमें प्रकट होगा तो **तुरत** — बिना सदियोंकी तैयारीकी आवश्यकताके — वह आत्माको व्यक्त करनेवाला अद्भुत यंत्र बन जायेगा।

यही कारण है कि श्रीअरविंद सदा ही यह कहते और दोहराते रहे हैं: दोनों छोरोंपर काम करो, एकके लिये दूसरेकी अवहेलना न करो। निश्चित ही, यदि तुम दिव्य चेतना प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें आध्यात्मिक अभीप्साका त्याग नहीं करना चाहिये, किंतु यदि तुम पृथ्वीपर एक पूर्ण दिव्य सत्ता बनना चाहते हो तो इसका पूरा ध्यान रखो कि दूसरा सिरा छूट न जाय, और अपने शरीरको भी जितना संभव हो उतना बढ़िया यंत्र बनाओ।

सामान्य मानव बुद्धिकी यह बीमारी है — जो पार्थक्य एवं विभाजनसे उत्पन्न होती है — कि वह ऐसे काम करती है मानों चीज सदा **या** तो यह होती है **या** वह। यदि तुम इसे चुनते हो तो उससे मुंह मोड़ लेते हो और यदि उसे चुनो तो इधर पीठ कर लेते हो।

यह दरिद्रता है। तुम्हें सभी चीजोंको ग्रहण करना, उन्हें एकत्रित करना और सुसमन्वित करना जानना चाहिये। तब वह एक संपूर्ण प्राप्ति होगी।

(बच्चोंकी ओर मुड़ते हुए) तुम्हें कुछ कहना है?

कहनेसे करना कहीं अधिक अच्छा है। और आज मैंने इसके लिये तुम्हें प्रोत्साहित किया है।

१ मई, १९५७

आश्रम-जीवनमें खेल और शारीरिक व्यायाम जैसी प्रवृत्तियोंको अपनानेमें यह बात स्पष्ट है कि उनकी पद्धतियां और उनसे सिद्ध होनेवाले प्रथम उद्देश्य उसी क्षेत्रके होंगे जिसे हमने सत्ता-का निम्नतर छोर कहा है। मूलतः इनका आरंभ आश्रम-विद्या-लयके बच्चोंके शारीरिक शिक्षण एवं दैहिक विकासके लिये किया गया है क्योंकि ये बच्चे अभी इतने छोटे हैं कि उनकी क्रियाओं-में असलमें आध्यात्मिक उद्देश्य या साधनाको शामिल नहीं किया जा सकता...। फिर भी मानवीय सीमाओंके भीतर जो कुछ पाया जा सकता है वह भी काफी महत्त्वपूर्ण और कभी-कभी अपरिमित होता है: हम जिसे प्रतिभा कहते हैं वह मानव स्तरके विकासका ही तो एक अंग है, और इसकी प्राप्तियां, विशेषतः मन और संकल्पके क्षेत्रकी प्राप्तियां हमें दिव्यताकी ओर आधी दूरतक ले जा सकती हैं। यहांतक कि मन और संकल्प शरीरके साथ जो कुछ कर सकते हैं, शरीर और शारी-रिक जीवनके अपने क्षेत्रमें, शारीरिक उपलब्धियोंके रूपमें जो कुछ कर सकते हैं, अर्थात् शरीरकी सहनशीलता, सब प्रकारके पराक्रम, बिना थके या बिना टूटे लगातार काम किये जाना और शुरूमें जितना संभव प्रतीत होता था उससे भी आगे जारी रखना, साहस और अपार व मर्मान्तक शारीरिक पीड़ाके नीचे भी घुटने न टेकना, ये तथा अन्यान्य कई प्रकारकी विजयें जो कभी-कभी अलौकिकताके निकट या अलौकिकतातक पहुंच जाती हैं, मानव क्षेत्रमें देखनेको मिलती हैं और इन्हें हमारी सर्वांगीण पूर्णताकी जो कल्पना है उसीका एक अंग समझना चाहिये...।

हम पहले कह आये हैं कि शरीर अचेतनाकी सृष्टि है और अपने-आपमें अचेतन है या कम-से-कम अपने कुछ भागों और अपनी अधिकांश गुप्त क्रियाओंमें अवचेतन है। परंतु जिसे हम अचेतना कहते हैं वह तो एक बाहरी रूप, एक वास-स्थान, एक यंत्र है उस गुप्त 'चेतना' या 'अतिचेतना' का जिसने इस चमत्कारकी, इस विश्वरूप चमत्कारकी, सृष्टिकी है। जड़तत्त्व अचेतनाका क्षेत्र और सृष्टि है परंतु इस जड़तत्त्वके क्रिया-कलापमें पूर्णता, उनका उद्देश्य एवं अभिप्रायके अनुरूप साधनोंका प्रयोग, उनकी कृतियों-

में दीखनेवाले चमत्कार और अद्भुत सौंदर्योंकी सृष्टि प्रमाणित करते हैं कि जड़ जगत्के प्रत्येक हिस्सेमें और उसकी प्रत्येक क्रियामें इस अतिचेतनाकी उपस्थिति और शक्ति मौजूद है, चाहे अपनी अज्ञतामें हम इसे कितना भी क्यों न नकारें। और यह शरीर-में भी मौजूद है, इसीने इसे रचा है और इसका हमारी चेतनामें आविर्भाव ही विकासका गुप्त लक्ष्य है और हमारे अस्तित्वके रहस्यकी कुंजी है।

(अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

मां, क्या खेल-प्रतियोगिताएं हमारी प्रगतिके लिये आवश्यक हैं?

नैतिक शिक्षाकी दृष्टिसे वे काफी हदतक आवश्यक हैं, क्योंकि यदि तुम उनमें सम्यक् वृत्तिके साथ भाग ले सको तो यह तुम्हारे लिये अपने अहंकारको वशमें करनेका एक बहुत अच्छा अवसर है। पर यदि तुम उसमें भाग तो लो पर अपनी दुर्बलताओं और निम्न प्रवृत्तियोंको जीतनेका कोई प्रयत्न न करो तो स्पष्ट ही तुम उनसे लाभ उठाना नहीं जानते और तब कोई फायदा नहीं होता। किन्तु यदि तुम ठीक वृत्तिके साथ खेलनेकी भावना रखते हो और निम्न वृत्तियोंको, ईर्ष्या या महत्त्वाकांक्षाको नहीं आने देते और उस भावको जिसे "खिलाड़ी-जैसा सही भाव" कहते हैं, अर्थात् अपना पूरा प्रयत्न करते हुए परिणामकी चिन्ता न करना, इस भावको बनाये रखते हो, मतलब यह कि यदि तुम अधिकतम प्रयास करते हो और सफलता न मिलनेपर या चीजें अपने पक्षमें न होनेपर दुःखित नहीं होते तो प्रतियोगितामें भाग लेना बहुत उपयोगी है। इन सब प्रतियोगिताओंसे तुम्हें महत्तर आत्म-नियंत्रण और परिणामके प्रति अनासक्तिके भावकी प्राप्ति हो सकती है जिससे असाधारण चरित्रके गठनमें बड़ी सहायता मिलती है। अवश्य ही, यदि तुम इन चीजोंको सामान्य ढंगसे करो, सामान्य प्रति-क्रियाओं और ओछे व्यवहारको बीचमें आने दो, तो तुम्हें कुछ भी सहायता नहीं मिलेगी। परन्तु यह बात तो, तुम चाहे जो भी करो, सभीके लिये ठीक है, खेलका क्षेत्र हो या बुद्धिका, जो भी हो, यदि व्यक्ति सामान्य ढंगसे काम करता है तो वह अपना समय बर्बाद करता है। परन्तु यदि तुम खेलते वक्त, साम्मुख्यों और प्रतियोगिताओंमें भाग लेते वक्त सम्यक् वृत्ति बनाये रखते हो तो यह एक बहुत अच्छा शिक्षण है, क्योंकि यह तुम्हें विशेष प्रयत्नके लिये, अपनी सामान्य सीमाओंसे थोड़ा आगे बढ़नेके लिये बाधित करता है। निश्चय ही यह एक सुयोग है जिसमें तुम अपनी बहुत-

सी प्रवृत्तियोंसे सचेतन हो सकते हो, अन्यथा वे सदा अचेतन ही बनी रहतीं।

परन्तु स्वभावतः, तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिये कि इन्हें प्रगतिमें एक सुयोग और साधन बनाना है। यदि तुम, बस, अपने-आपको ऐसे ही शिथिल छोड़े रखते हो और बिलकुल सामान्य ढंगसे खेलते हो तो तुम अपना समय बर्बाद करते हो; पर यह नियम तो प्रत्येक चीजके लिये है: पढ़ाईके लिये तथा और सभी चीजोंके लिये, वे चाहे जो भी हों। सब कुछ **सदा ही** इसपर निर्भर करता है कि कामको किस तरह किया जाता है, इसपर इतना नहीं कि व्यक्ति क्या करता है, बल्कि उस भावपर जिसमें वह उसे करता है।

यदि तुम सब योगी होते और जो कुछ तुम करते उस सबको अपने पूरे परिश्रम और सामर्थ्यके साथ करते, और साथ ही जितना अब कर सकते हो सदा उससे भी और अधिक अच्छा करनेकी भावनाके साथ करते तो स्पष्ट ही प्रतियोगिताओंकी, पारितोषिक व पुरस्कारकी आवश्यकता न होती, परंतु जैसा कि श्रीअरविंदने लिखा है, छोटे बच्चोंसे योगी होनेकी मांग नहीं की जा सकती। और तैयारीके कालमें बढ़ावा देनेवाली किसी चीजका होना जरूरी है ताकि अत्यधिक भौतिक चेतना प्रगतिके लिये प्रयास कर सके...। और यह बाल्यकाल बहुत वर्षोंतक चल सकता है।

इसमें आदर्श स्थिति वह होगी जो मैंने पिछले 'बुलेटिन'[1]में लिखी है, मुझे मालूम नहीं तुमने उसे पढ़ा है या नहीं, परन्तु मैंने कुछ इस प्रकारकी चीज लिखी है:

> कोई महत्त्वाकांक्षा न रखो,
> सबसे बड़ी बात यह है कि दिखावा न करो,
> परन्तु प्रति मुहूर्त्त वह होओ
> जो अधिक-से-अधिक हो सकते हो।

तुम चाहे जो करते हो, सर्वांगीण जीवनकी आदर्श स्थिति यही है। और यदि व्यक्ति इसे साध लेता, तो हां, निश्चय ही, वह पूर्णताके पथपर बहुत आगे बढ़ जाता है। परन्तु, यह स्पष्ट है कि अपनी सारी सच्चाईके साथ इसे कर सकनेके लिये एक खास आंतरिक प्रौढ़ताका होना जरूरी है। तुम इसे एक कार्यक्रमके तौरपर सामने रख सकते हो।

यदि तुम चाहो तो आज हम इसीको अपने ध्यानका विषय बनायें।

(ध्यान)

---

[1] अप्रैल १९५७

८ मई, १९५७

मां, सामान्यतः हम देखते हैं कि हममेंसे बहुत-से उन खेलों या उन प्रवृत्तियोंमें ही रुचि रखते हैं जिनमें कुछ उत्तेजना होती है, और ऐसे बहुत ही कम हैं जो गंभीर प्रकारकी प्रवृत्तियों या व्यायामोंमें रुचि लेते हों, ऐसा क्यों है ?

क्योंकि अधिकतर लोगोंमें रुचि पैदा करनेवाली चीज है प्राणिक तुष्टि। प्रशिक्षणके व्यायामोंमें, जिनमें खेलों-जैसी उत्तेजना नहीं होती, रुचि लेनेके लिये यह आवश्यक है कि सत्तापर बुद्धिका शासन हो। सामान्य मनुष्योंमें बुद्धि ही मानव चेतनाका शिखर है और सत्ताके इसी भागको बाकीपर शासन करना चाहिये, क्योंकि यही भाग व्यवस्थित और युक्तिसंगत है, अर्थात् यह चीजोंको व्यवस्था, भलाई और उपयोगिताकी भावनासे करता है और एक बनी-बनायी योजनाको, जिसे हरएक मान्यता देता और व्यवहारमें लाता है, मानकर चलता है; जब कि सत्ताका प्राणिक भाग उत्तेजना, आकस्मिकता और साहसिक कर्मको पसंद करता है — ये सब खेलको आकर्षक बनाते हैं — और इनसे भी बढ़कर प्रतियोगिताओंको, जीतनेके प्रयत्न और विरोधी दलपर विजय आदिको पसन्द करता है। यह प्राणिक तरंग है। और चूंकि प्राण ही मनुष्यमें उत्साह, प्रेरणा और सामान्य शक्तिका स्थान है इसलिये जब आकस्मिकता, संघर्ष और विजयका आकर्षण नहीं होता तो यह सो जाता है, जबतक कि इसने सतत और स्वाभाविक रूपसे बौद्धिक संकल्पकी आज्ञा माननेकी आदत ही न डाल ली हो। और यह भी शारीरिक शिक्षणका एक पहला लाभ है, क्योंकि यह एक तथ्य है कि यह चीज तबतक अच्छी तरह नहीं की जा सकती जबतक शरीर भी प्राणिक तरंगकी अपेक्षा बुद्धिकी आज्ञा माननेकी आदत न डाल ले। उदाहरणार्थ, उस शारीरिक पूर्णताके विकासको, शारीरिक शिक्षणको लो जो डंबल आदि व्यायामोंकी सहायतासे किया जाता है; इन व्यायामोंमें विशेष उत्तेजनाकी कोई चीज नहीं होती, बल्कि ये व्यायाम अनुशासनकी, नियमित और बुद्धिसंगत अभ्यासोंकी मांग करते हैं, अतः इनमें आवेग, इच्छा या तरंगके लिये कोई स्थान नहीं होता (यदि इन्हें पूरी नियमितताके साथ किया जाय), तो इन व्यायामोंको सचमुच अच्छी तरह करनेके लिये व्यक्तिको अपने जीवनको बुद्धिद्वारा शासित करनेकी आदत डालनी चाहिये।

पर यह बात सर्वसामान्य नहीं है। सामान्यतः तो इच्छाकी तरंगें, अपनी

सब प्रतिक्रियाओंसहित उत्साह और आवेग ही मानव जीवनपर शासन करते हैं, जबतक कि व्यक्ति सावधानी न बरते कि बात दूसरी तरहसे हो। शरीरके कठोर अनुशासनका पालन कर सकनेके लिये और उससे व्यवस्थित और नियमित प्रयास करानेके लिये जिसमें कि वह पूर्ण बन सके व्यक्तिको पहले ही कुछ-कुछ मनीषी होना चाहिये। इस प्रयासमें इच्छाकी सनकों-के लिये कोई स्थान नहीं है। क्या तुम नहीं देखते कि जब कोई व्यक्ति अतियोंमें, किसी प्रकारके असंयम और अव्यवस्थित जीवनमें ग्रस्त हो जाता है तो उसके लिये अपने शरीरको नियंत्रित करना और उसका सामान्य विकास साधना बिल्कुल असंभव हो जाता है। यदि तुम इसका ख्याल नहीं रखते तो, स्वभावतः ही, तुम अपने स्वास्थ्यको चौपट कर लेते हो जिसके फलस्वरूप शारीरकि पूर्णताके आदर्शका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग नष्ट हो जाता है, क्योंकि बिगड़े और टूटे-फूटे स्वास्थ्यसे तुम किसी कामके नहीं रहते। और निश्चय ही ये इच्छाओं और प्राणिक तरंगोंकी तुष्टियां या किन्हीं महत्त्वाकांक्षाओंकी अनुचित मांगें ही हैं जिनकी वजहसे शरीर दुःख भोगता और बीमार पड़ता है।

स्वभावतः जो लोग जीवनके अति प्रारम्भिक नियमोंतकको भी नहीं जानते, उनका अज्ञान भी तो है; पर वह — क्यों, सब जानते हैं कि मनुष्यको जीवित रहना सीखना चाहिये; उदाहरणार्थ, सब जानते हैं कि आग जलाती है और पानी डुबो सकता है! ये सब बातें लोगोंको बतानेकी जरूरत नहीं होती, ज्यों ही वे कुछ बड़े होते हैं, इन चीजोंको तेजीसे सीख लेते हैं। परन्तु इस बातको कि केवल स्वस्थ बने रहनेके लिये ही जीवनपर बुद्धिका नियंत्रण बहुत जरूरी है, निम्न श्रेणीके मनुष्य सदा स्वीकार नहीं करते, उन्हें तो जीवनमें आनंद तभी मिलता है जब वे आवेगोंमें जीते हैं।

मुझे एक आदमीकी याद है जो बहुत पहले यहां आया था। वह यहां-से फ्रेंच संसदके चुनावके लिये खड़ा होना चाहता था। उसे मुझसे मिलाया गया क्योंकि लोग उसके बारेमें मेरी राय जानना चाहते थे। उसने मुझसे आश्रम और यहांके जीवनके बारेमें प्रश्न किये और यह पूछा कि मेरी दृष्टिमें जीवनके लिये अनिवार्य अनुशासन क्या है। वह आदमी सारे दिन सिगरेट मुंहसे लगाये रखता और जरूरतसे ज्यादा शराब पीता था। और स्वभावतः उसे यह शिकायत थी कि वह बहुत ज्यादा थक जाता और कभी-कभी तो अपने-आपपर काबू न रख पाता था। मैंने उससे कहा: "देखो, सबसे पहले तुम्हें सिगरेट छोड़ देनी चाहिये और फिर शराब भी छोड़ देनी चाहिये।" उसे विश्वास ही नहीं हुआ, हक्का-बक्का होकर उसने मेरी ओर देखा और कहा: "लेकिन, अगर न तो सिगरेट पीनी है और न शराब

ही तो फिर जीनेका अर्थ ही क्या है?" तब मैंने उससे कहा, "यदि तुम अभी उस अवस्थामें हो तो किसी और चीजके बारेमें बातचीतका कुछ फायदा नहीं।"

यह बात हम जितना समझते हैं उससे कहीं अधिक व्यापक है। यह हमें वाहियात लगती है, क्योंकि हमारे पास, निश्चय ही, सिगरेट फूंकने और शराब पीनेसे बढ़कर मजेदार काम है, लेकिन साधारण मनुष्योंके लिये इच्छाओंकी पूर्ति ही जीवनका एकमात्र हेतु है। उन्हें लगता है कि इस तरह वे अपनी स्वाधीनता और जीवनके हेतुको पुष्ट करते हैं। तथापि यह केवल जीवनका पथ-भ्रष्ट होना या विकृत होना है, जो जीवनकी मूल वृत्तिका निषेध और भौतिक जीवनमें मन और प्राणिक तरंगका एक विकृत हस्तक्षेप है। यह एक विकृत तरंग है जो सामान्यतः पशुओंमें नहीं पायी जाती। पशुओंका सहज-बोध मनुष्यके सहज-बोधसे कहीं अधिक युक्तिसंगत होता है। इसके अलावा, मनुष्यके अंदर यह सहज-बोध अब रह भी नहीं गया है, इसका स्थान एक अति विकृत तरंगने ले लिया है।

विकृति एक मानव रोग है, पशुओंमें यह बहुत ही विरल पाया जाता है, और वह भी केवल उन्हीं पशुओंमें जो मनुष्यके ज्यादा नजदीक हैं और इसी कारण उसकी छूतमें आ गये हैं।

इस विषयमें एक कहानी है। उत्तरी अफ्रीकामें — अल्जीरियामें — कुछ अफसरोंने एक बंदर पाल रखा था। बंदर उन्हींके साथ रहता था। एक शामको भोजन करते समय उन्हें एक भद्दा विचार आया, उन्होंने बंदरके सामने शराब पेश की। बंदरने पहले तो सबको पीते देखा, फिर उसे लगा यह तो कुछ मजेदार चीज है, उसने एक गिलास पी लिया — शराबका एक पूरा गिलास। इसके बाद उसकी तबियत खराब हुई, बेहद खराब। दर्दके मारे बेचारा मेजके नीचे लुढ़कता, छटपटाता रहा, सचमुच वह बहुत ही कष्ट पा रहा था। अर्थात् भौतिक प्रकृतिपर, जो पहलेसे भ्रष्ट न हुई हो, अलकोहलका सहज प्रभाव क्या होता है यह उसने अपने उदाहरणसे दिखा दिया। वह इस विष-प्रयोगसे मरते-मरते बचा। खैर, वह नीरोग हो गया। कुछ समय बाद उसे फिर ब्यालूके लिये आने दिया गया, क्योंकि अब वह ठीक था। किसी अफसरने फिरसे उसके सामने शराबका गिलास रख दिया। भयंकर गुस्सेमें उसने गिलास उठाया और देनेवालेके सिरपर दे मारा... इस तरह उसने दिखा दिया कि वह मनुष्योंसे ज्यादा बुद्धिमान है!

छोटी अवस्थामें ही यह शुरू करना और जान लेना अच्छा है कि यदि सार्थक जीवन जीना है और शरीर अधिक-से-अधिक जितना देने योग्य है

वह पूरा-पूरा प्राप्त करना है तो बुद्धिको ही गृह-स्वामी बनाना अनिवार्य है। और यह योग करने या किसी उच्च उपलब्धिकी बात नहीं है बल्कि एक ऐसी चीज है जो सब जगह सिखायी जानी चाहिये, सब विद्यालयोंमें, सब परिवारोंमें, सब घरोंमें। मनुष्यकी रचना हुई ही इसलिये है कि वह एक मानसिक प्राणी बने, तो केवल मनुष्य होनेके लिये (हम किसी और चीजके लिये नहीं कह रहे, केवल मनुष्य होनेकी बात कर रहे हैं) जीवन-पर बुद्धिका शासन होना चाहिये, प्राणिक तरंगोंका नहीं। यह चीज सब बच्चोंको बिलकुल छुटपनसे ही सिखायी जानी चाहिये। यदि कोई व्यक्ति बुद्धिद्वारा शासित नहीं है तो वह उजड्ड गंवार है, सामान्य पशुसे भी गया-बीता; क्योंकि पशुओंमें मन या बुद्धि भले न हो जो उनका संचालन करे पर वे अपने जातिगत सहज-बोधका अनुसरण करते हैं। उनमें एक ऐसा जातिगत सहज बोध होता है जो बहुत अधिक संतुलित होता है और जो उनकी क्रियाओंको उनकी हितकी दृष्टिसे व्यवस्थित करता है। और आप-से-आप, बिना जाने ही वे इस जातिगत सहज-बोधके अधीन रहते हैं जो उस जीव-जातिकी, प्रत्येक जीव-जातिकी दृष्टिसे पूरी तरह युक्तिसंगत होता है पर वे पशु जो किसी-न-किसी कारणसे इससे बाहर आ जाते हैं— मैं अभी कुछ देर पहले उन पशुओंकी बात कर रही थी जो मनुष्यके नज-दीक रहते हैं और अपने जातिगत सहज-बोधकी अपेक्षा मनुष्यकी बात मानने लगते हैं— वे बिगड़ जाते हैं और अपने जातीय गुणोंको खो बैठते हैं। यदि पशुको उसकी अपनी स्वाभाविक अवस्थाओंमें रहने दिया जाय और वह मनुष्यके प्रभावसे मुक्त हो तो वह अपनी दृष्टिसे बहुत अधिक समझदार जीव होता है क्योंकि वह केवल उन्हीं चीजोंको करता है जो उसकी प्रकृतिके और उसके हितके अनुरूप होती हैं। अवश्य ही, वह अमंगलकारी दुर्घटनाओंसे कष्ट पाता है, क्योंकि दूसरी जातियोंके साथ उसका सतत संघर्ष चलता है, परंतु अपने-आपमें वह असंयम नहीं करता। मूर्खताओंका और विकृतिका प्रारंभ होता है सचेतन मनसे और मनुष्यजातिसे। यह मनुष्यका अपनी मानसिक क्षमताका दुरुपयोग है। विकृति मानव जातिसे ही शुरू होती है। यह प्रकृतिके उस विकासका जो मानसिक चेतनाके रूपमें प्रकट है, अपरूप है। इसलिये ज्यों ही मनुष्य विचार करने योग्य हो जाय उसे सबसे पहले यही सिखाना चाहिये कि वह बुद्धिकी आज्ञा माने जो कि मनुष्यजातिका एक अति-बोध (Super-instinct) है। बुद्धि ही मानव-प्रकृतिकी स्वामी है। व्यक्तिको बुद्धिकी ही आज्ञा माननी चाहिये और निम्न सहज प्रवृत्तियों-का दास बननेसे पूरी तरह इंकार कर देना चाहिये। मैं यहां योगकी या आध्यात्मिक जीवनकी बात नहीं कर रही, उस सबकी बात बिलकुल

नहीं, उससे इसका कुछ संबंध नहीं। यह तो, बस, मानव जीवनका प्राथमिक ज्ञान है, यह विशुद्ध रूपसे मानवीय है : जो भी मनुष्य बुद्धिको छोड़कर किसी औरकी बात मानता है वह एक प्रकारसे निम्न श्रेणीका पशु है, सामान्य पशुसे भी निचले दर्जेका। लो, समझ गये। और यह बात सर्वत्र सिखायी जानी चाहिये। यह प्रारंभिक शिक्षा है जो बच्चोंको दी जानी चाहिये।

बुद्धिके राज्यका अंत केवल तभी होना चाहिये जब चैत्यका विधान आ जाय जो भागवत संकल्पको प्रस्थापित करता है।

१५ मई, १९५७

मां, सृष्टिके आरंभसे ही नर और मादामें यह भेद क्यों रहा है?

किस सृष्टिके आरंभसे? वत्स, तुम किस सृष्टिकी बात कर रहे हो? ... पृथ्वीकी?

जी।

पहली बात तो यह है कि यह बात बिलकुल ठीक नहीं है। ऐसी जीव-जातियां हैं जिनमें ऐसा कोई भेद नहीं है; और आरंभमें ऐसा कोई था भी नहीं — यह हुई पहली बात। दूसरी यह कि पृथ्वीकी यह सृष्टि विशुद्ध रूपसे भौतिक सृष्टि है, और एक प्रकारसे विश्व-सृष्टिका स्थूल और घन रूप है; और विश्व-सृष्टिमें यह भेद आवश्यक रूपसे नहीं है, वहां सब प्रकारकी संभावनाएं मौजूद हैं, सब संभव चीजें वहां होती रही हैं और अब भी होती हैं। यह भेद सृष्टिका सारा आधार नहीं है।

इसलिये तुम्हारा प्रश्न टिकता नहीं, क्योंकि यह सही नहीं है।

तो पार्थिव सृष्टिमें ऐसा क्यों है?

मैंने अभी तुम्हें बताया कि आरंभसे ऐसा नहीं है। कोई भी जीवशास्त्री

तुम्हें बता सकता है कि ऐसी जीव जातियां हैं जो इस प्रकारकी बिलकुल नहीं हैं। इस साधनका प्रयोग 'प्रकृति'ने किया है — वह कई परीक्षण करती है, उसने सब संभव जीव-जातियां बनायी हैं, एक ही आकारमें दो-को गढ़ा है, सभी संभव चीजें उत्पन्न की हैं... यह प्रयोग जारी है क्योंकि संभवतः यह उसे अधिक व्यावहारिक लगा! मैं नहीं जानती। बस, इतना ही।

परंतु दूसरे लोकोंमें, यहांतक कि पार्थिव जगत्‌में, पार्थिव जगत्‌के सूक्ष्म लोकोंमें, सूक्ष्म भौतिकतकमें और प्राणिक तथा मानसिक जगतोंमें यदि ऐसे प्राणी हैं जिनमें इस प्रकारका विभेद है तो ऐसे प्राणी भी हैं जो न नर हैं न मादा। ऐसा है। उदाहरणार्थ प्राणिक जगत्‌में लिंगका भेद बहुत कम पाया जाता है, सामान्यतः, वहांकी सत्ताओंमें लिंग-भेद नहीं होता। और मुझे प्रबल रूपमें ऐसा लगता है कि देवलोक, जैसा कि मनुष्योंने उसका वर्णन किया है, बहुत कुछ मानव विचारसे प्रभावित है। जो भी हो, ऐसे भी बहुत-से देवता हैं जिनका कोई लिंग नहीं। सभी देशोंके देव-कुलोंके बारेमें कही जानेवाली अधिकतर कहानियां ऐसी ही हैं जो मानव विचारसे प्रबल रूपमें प्रभावित हैं। तो, यह भेद प्रकृतिका, अपना उद्देश्य पूरा करनेका, एक साधन है, बस, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। हमें इसको इसी रूपमें लेना चाहिये। यह कोई सनातन प्रतीक नहीं है — बिलकुल नहीं।

हां, ऐसे बहुत-से लोग हैं जो इस भेदको बहुत महत्त्व देते हैं — यदि इससे उन्हें संतोष मिलता हो तो वे इसे बनाये रख सकते हैं। पर यह अंतिम या सनातन बिलकुल नहीं है ...न अपने-आपमें पूर्ण है। शायद यह अधिमानसका आदर्श रहा हो, यह संभव है ... पर वहां भी संपूर्ण रूपमें नहीं, केवल आंशिक रूपमें। लेकिन फिर भी जो लोग इस भेदपर मोहित हैं वे इसे बनाये रख सकते हैं यदि यह उन्हें पसंद हो! इससे उन्हें खुशी होती हो ... इसके अपने लाभ हैं, अपनी हानियां हैं, बहुत-सी हानियां हैं।

मां, तो प्राण-जगत्‌की शक्तियां इससे क्यों बची हुई हैं?

क्या?

आप कहती हैं कि यह भेद प्राणिक जगत्‌में नहीं है।

मैं यह नहीं कहती कि यह नहीं है, मैं कहती हूं कि यह सामान्य नियम

नहीं है और यह कि, इसके विपरीत तुम्हें वहां लिंगभेदवाले प्राणियोंकी अपेक्षा ऐसे प्राणी ज्यादा मिलते हैं जिनमें लिंगभेद नहीं है। और यह भी संभव है कि प्राण-जगत्में यह भेद पृथ्वीके प्रभावसे आया हो।

तो, अब? इन प्रश्नोंका कारण क्या है और तुम इनसे क्या सिद्ध करना चाहते हो? मैं तो यह जानना चाहती हूं। तुम्हें यह किसने बताया कि विश्वके आरंभसे ही ऐसा है? उन लोगोंने जो इसे इसी तरह बनाये रखनेके लिये बड़े उत्सुक हैं? मैं फिर कहती हूं, यदि इससे उन्हें संतोष मिलता है तो वे इसे बनाये रख सकते हैं, कोई इसमें बाधा न डालेगा। यदि इससे उन्हें प्रसन्नता होती है तो यही सही!

> "मनके जिन स्तरोंकी हम आज धारणा करते हैं उनसे भी अधिक ऊंचे स्तर हैं और हमें एक दिन उनतक पहुंचना ही होगा, बल्कि उनसे भी आगे अधिक ऊंची ऊंचाइयोंकी ओर, आध्यात्मिक अस्तित्वकी ओर ऊपर उठना होगा। और ज्यों-ज्यों हम ऊपर उठते जायं, हमें अपने निम्न अंगोंको भी उन-की ओर खोलना होगा और उन्हें प्रकाश और शक्तिकी श्रेष्ठतर एवं उच्चतर ऊर्जस्वितासे भर देना होगा। अपने शरीरको भी हमें आत्माका अधिकाधिक और यहांतक कि संपूर्ण रूपमें सचेतन ढांचा और यंत्र, एक सचेतन प्रतीक, मुहर-छाप और शक्ति बनाना होगा। और जसे-जैसे वह इस पूर्णतामें बढ़ता है, उसकी गतिशील क्रिया और आत्माके प्रति अनुक्रिया और सेवा करनेकी शक्ति तथा उसका क्षेत्र भी बढ़ना चाहिये। उसपर आत्माका अधिकार भी बढ़ना चाहिये। साथ ही उसकी शक्तिके विकसित और प्रयाससे प्राप्त, दोनों भागोंमें, यहांतक कि अपने-आप होनेवाली, उनमें भी जो निश्चेतनाकी यांत्रिक गतियां मालूम होती हैं, आत्माके कार्यकी नमनीयता बढ़नी चाहिये। लेकिन यह एक सच्चे रूपांतरके बिना नहीं हो सकता। और मन, प्राण तथा शरीर तकका रूपांतर ही वास्तवमें वह परिवर्तन है जिसकी ओर हमारा विकास गुप्त रूपसे बढ़ रहा है। इस रूपांतरके बिना पृथ्वी-पर दिव्य जीवन अपनी पूर्ण समग्रताके साथ प्रकट नहीं हो सकता। इस रूपांतरमें स्वयं शरीर भी एक अभिकर्ता और हिस्सेदार बन सकता है। निःसंदेह, यह संभव है कि

आत्मा अपनी स्थूल क्रियाओंके अंतिम या सबसे निचले आधार-के रूपमें एक निष्क्रिय और अपूर्ण रूपसे सचेतन शरीरके द्वारा भी अपने-आपको पर्याप्त मात्रामें अभिव्यक्त कर सके, पर वह पूर्ण या आदर्श अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। शायद पूर्ण रूपसे सचेतन शरीर पार्थिव रूपांतरकी ठीक-ठीक पार्थिव पद्धति और प्रक्रियाको भी ढूंढकर निकाल सके, और उसे क्रियान्वित कर सके। निश्चय ही, इसके लिये आत्माके परम प्रकाश, शक्ति और सर्जनकारी आनंदको व्यक्तिचेतनाके शिखरपर स्थापित हो जाना चाहिये और नीचे शरीरमें अपना आदेश-निर्देश भेजना चाहिये . . ."

(अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

मां, क्या शरीरका रूपांतर मन और प्राणके रूपांतरके बाद ही बन सकेगा या स्वतः ही हो जायेगा?

सामान्यतः इस प्रकारका रूपांतर ऊपरसे नीचेकी ओर होता है, नीचेसे ऊपरकी ओर नहीं।

स्पष्ट ही यदि तुम पक्के जड़वादी हो तो तुम कहोगे कि आकारका अपना उत्कर्ष ही नयी क्षमताओंको जन्म देता है। पर यह बिलकुल ठीक नहीं है। चीजें सामान्यतः ठीक इसी तरीकेसे नहीं होतीं। मैं तुम्हें चुनौती देती हूं, तुम मनके रूपांतरसे पहले अपने शरीरका रूपांतर कर लो। जरा प्रयत्न करो, देखें!

मनके दखलके बिना जब तुम एक अंगुली नहीं हिला सकते, एक शब्द नहीं बोल सकते, एक कदम नहीं चल सकते तो यदि तुम्हारा मन पहले ही रूपांतरित न हो चुका हो तो तुम किस साधनसे अपने शरीरके रूपांतरकी आशा करते हो?

अगर तुम अज्ञानकी अवस्थामें ही रहो — संपूर्ण अज्ञान कह सकती हूं, जिसमें अभी तुम्हारा मन है, — तो तुम अपने शरीरके रूपांतरका विचार ही कैसे कर सकते हो?

कभी-कभी हम शरीरमें एक प्रबल प्रतिरोध पाते हैं। इसका क्या कारण है? मनका कोई दखल वहां नहीं होता, फिर भी प्रतिरोध रहता है। सबसे बड़ा प्रतिरोध भौतिकसे ही आता है, भौतिकका एक विशेष प्रतिरोध है।

सबसे अधिक प्रतिरोध कहांपर है? ... तुम्हारे सिरमें। (हंसी)। यह किसी विशेष व्यक्तिकी बात नहीं है। परिवर्तनको अधिकतर अस्वीकार करनेवाली चीज ही है भौतिक मन — जो बहुत हठी है, समझे! वह अपने सामर्थ्यकी निश्चयतामें बड़ा ही हठीला है, ऊफ! ... इसका अपने अज्ञानके प्रति, अपने सोचने, देखने और न जाननेके तरीकेके प्रति जो अनुराग है उसमें यह बहुत ही हठीला है।

बस? ... अच्छा! तो हम अब और कुछ नहीं कहेंगे।

मैं इसका इलाज जानना चाहता हूं।

ओह! ओह! ... (लंबा मौन) ... बस, यही इलाज है।

२९ मई, १९५७

"जिस आदर्शकी हमने कल्पना की है उसका मूलसूत्र है दिव्य शरीरमें दिव्य जीवन ... धरतीपर विकासकी प्रक्रिया अबतक बहुत धीमी और मंद रही है — यदि यहां एक रूपांतर, एक क्रमिक या आकस्मिक परिवर्तन अपेक्षित है तो किस तत्त्वको इसमें हस्तक्षेप करना होगा?

"यह तो निश्चित है कि अपने विकासके परिणामस्वरूप ही हम इस रूपांतरकी संभावनातक पहुंचते हैं। जैसे प्रकृतिने 'जड़-तत्त्व'से परे विकसित होकर 'प्राण'को व्यक्त किया और 'प्राण'-से परे विकसित होकर 'मन' को अभिव्यक्त किया, ऐसे ही अब 'मन' से भी परे विकसित होकर उसे हमारी सत्ताकी एक ऐसी चेतना और शक्तिको अभिव्यक्त करना है जो हमारी मानसिक सत्ताकी अपूर्णता और ससीमतासे मुक्त होगी, जो अतिमानसिक या सत्य-चेतना होगी और आत्माकी शक्ति और पूर्णताको विकसित करनेमें समर्थ होगी। यहां धीमा या मंद परिवर्तन जरूरी तौरपर हमारे विकासका विधान या तरीका नहीं रह जायगा, ऐसा कम या अधिक मात्रामें केवल तभीतक रहेगा जबतक मन अज्ञानसे चिपटा रहेगा और हमारे

आरोहणको अटकाये रखेगा, परंतु एक बार जब हम सत्य-चेतनामें विकसित हो जायेंगे तो सत्ताके आध्यात्मिक सत्यकी शक्ति ही सब कुछ निर्धारित करेगी . . .

"यह भी संभव है कि रूपांतर क्रमिक अवस्थाओंमें संपन्न हो। प्रकृतिकी कुछ शक्तियां मनोमय भूमिकासे संबंध रखते हुए भी बढ़ते हुए विज्ञानकी ही अप्रकट संभाव्यताएं हैं, वे हमारे मानवीय मनसे ऊपर उठी हुई हैं तथा भगवान्‌के प्रकाश और शक्तिमें हिस्सा बंटाती हैं। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि इन स्तरोंमेंसे होकर आरोहण और उनका मानव प्राणीमें अवतरण ही विकासकी स्वाभाविक दिशा होगी। परंतु व्यवहार-में यह पता लग सकता है कि ये मध्यवर्ती स्तर संपूर्ण रूपांतर-के लिये पर्याप्त नहीं हैं, क्योंकि, वे स्वयं मनकी ही ज्योतिर्मय संभाव्यताएं हैं, शब्दके पूरे अर्थोंमें अतिमानसिक नहीं, अतः वे मनमें केवल आंशिक दिव्यता ही उतार ला सकते हैं या इसे उस दिव्यताकी ओर ऊपर उठा सकते हैं परंतु सत्य-चेतनाकी पूर्ण अतिमानसिकतामें ऊपर नहीं ले जा सकते। फिर भी ये स्तर आरोहणके सोपान या अवस्थाएं बन सकते हैं जिनतक कुछ लोग पहुंचेंगे और वहीं ठहर जायंगे, जब कि दूसरे और ऊपर चले जायंगे और अर्द्ध-दिव्य जीवनके श्रेष्ठतर स्तरपर पहुंच जायंगे और वहां निवास करेंगे। यह नहीं मान लेना चाहिये कि सारी मानवजाति एक साथ अतिमानसमें उठ जायेगी। . . . ."

(अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

आज शाम मैं तुमसे ठीक इसी क्रमिक रूपांतरके बारेमें कुछ कहूंगी . . . प्रायः ही मुझसे यह प्रश्न पूछा जाता है : जब हम एक आदर्श सिद्धान्तके तौरपर यह मानते हैं कि अपने शरीरके साथ व्यवहार करते हुए यह ज्ञान रहना चाहिये कि शरीर विश्वकी सर्वोच्च 'सद्‌वस्तु'का और हमारी सत्ताके सत्यका केवल एक परिणाम और यंत्र-भर है — और इस बातको सिखा देने और स्पष्ट कर देनेके बाद कि हमें इसी सत्यको साधना है, हमारे आश्रमके संगठनमें चिकित्सक और औषधालय क्यों हैं ? सर्वत्र मान्य आधुनिक सिद्धान्तोंपर आधारित यह शारीरिक शिक्षण-पद्धति क्यों है ? और जब तुम घूमनेके लिये बाहर जाते हो तो क्यों मैं तुमसे कहीं औरका पानी बिलकुल न पीने और फिल्टरका पानी साथ ले जानेके लिये कहती

हूं ? और जो फल तुम्हें खानेके लिये दिये जाते हैं उन्हें मैं कीटाणु-नाशक घोलसे क्यों धुलवाती हूं, आदि ?

यह सब तुम्हें परस्पर-विरोधी प्रतीत होता है। पर इस शाम मैं तुम्हें बहुत स्पष्टतासे ऐसी चीज समझा देना चाहती हूं जो — मैं आशा करती हूं — तुम्हारी इस विरोधी भावनाको समाप्त कर देगी। असलमें, मैं तुम्हें कई बार बता चुकी हूं कि जब दो विचार या सिद्धान्त परस्पर-विरोधी प्रतीत होते हों तो व्यक्तिको अपने विचारमें जरा ऊपर उठकर उस बिंदुको खोज निकालना चाहिये जहां ये विरोध एक व्यापक समन्वयमें मिल जाते हैं।

इस प्रसंगमें, समन्वय पाना बहुत आसान है यदि हम एक बातको ध्यानमें रखें कि अपने शरीरके साथ व्यवहार करनेके लिये, इसके पोषण एवं रक्षण-के लिये, इसके स्वास्थ्यको अच्छी दशामें बनाये रखने और उन्नत करनेके लिये जो पद्धति हमें बरतनी होती है वह **पूरी तरह** चेतनाकी उस अवस्था-पर निर्भर है जिसमें हम होते हैं; क्योंकि हमारा शरीर हमारी चेतनाका ही एक यंत्र है और यह चेतना इसपर सीधा कार्य कर सकती है और इससे जो चाहे प्राप्त कर सकती है।

अब यदि तुम साधारण भौतिक चेतनामें निवास करते हो, यदि तुम चीजोंको साधारण भौतिक चेतनाकी दृष्टिसे ही देखते हो, साधारण भौतिक चेतनासे उनके बारेमें विचार करते हो तो अपने शरीरपर कार्य करनेके लिये तुम्हें साधारण भौतिक साधनोंका ही उपयोग करना पड़ेगा। ये भौतिक पद्धतियां एक पूरा-का-पूरा विज्ञान हैं जिसे मनुष्यने अपने अस्तित्वकी लंबी अवधिमें उपार्जित किया है। यह विज्ञान बहुत जटिल है, इसकी प्रक्रियाएं अनगिनत, पेचीदा और अनिश्चित हैं, प्रायः परस्पर-विरोधी, सदा प्रगतिशील और लगभग पूर्णतया सापेक्ष हैं! फिर भी इससे बहुत सुनिश्चित और यथार्थ परिणाम प्राप्त हुए हैं। जबसे शारीरिक शिक्षण एवं संवर्धन-की प्रवृत्तिने जोर पकड़ा है इस विषयमें बहुत-से परीक्षण, अध्ययन और निरीक्षण हुए हैं और उन्हें संकलित किया गया है जिनसे हम अपने भोजन, क्रिया-कलाप, व्यायाम आदिको एवं समस्त बाह्य जीवनको व्यवस्थित कर सकते हैं और जो इनका अध्ययन और दृढ़तासे पालन करना चाहते हैं उन्हें अपने शरीरको स्वस्थावस्थामें बनाये रखने, यदि उसमें कोई दोष हों तो उन्हें सुधारने और इसकी सामान्य अवस्थाको समुन्नत करनेमें ये काफी सहायता करते हैं और कभी-कभी तो बहुत ही आश्चर्यजनक परिणाम प्राप्त करनेमें भी।

इसके अतिरिक्त मैं यह भी कह सकती हूं कि यह बौद्धिक मानवी

विज्ञान, जैसा कि यह आजकल है, सत्यको प्राप्त करनेके अपने सच्चे प्रयत्न-में अधिकाधिक और आश्चर्यजनक रूपमें, आत्माके मूल सत्यके निकट आता जा रहा है। और ऐसी प्रवृत्तिको पहलेसे देख सकना असंभव नहीं है जिसमें ये दोनों मूल सत्यके बहुत गहरे और बहुत घनिष्ठ ज्ञानमें एक हो जायेंगे।

इस प्रकार, उन सभीके लिये जो भौतिक स्तरपर और भौतिक चेतनामें निवास करते हैं, अपने शरीरके साथ व्यवहार करते हुए भौतिक साधनों और प्रक्रियाओंका उपयोगमें लाना आवश्यक है। और चूंकि अधिकतर लोग, यहांतक कि आश्रमवाले भी, एक ऐसी चेतनामें रहते हैं जो पूरी तरह भौतिक न सही पर मुख्यतः भौतिक ही है, तो उनके लिये यही अधिक स्वाभाविक है कि वे शरीरकी सुरक्षाके लिये भौतिक विज्ञानद्वारा बताये गये सिद्धान्तोंका अनुसरण एवं पालन करें।

अब, श्रीअरविंदकी शिक्षाके अनुसार यह अंतिम प्राप्तव्य स्थिति नहीं है, ना ही यह वह आदर्श है जिसतक हम उठना चाहते हैं। इससे ऊंची एक अवस्था है जिसमें चेतना, अभी अपने क्रिया-व्यवहारोंमें मुख्यतः या अंशतः मानसिक रहते हुए भी, आध्यात्मिक जीवनके लिये अपनी अभीप्सामें उच्च-तर क्षेत्रोंकी ओर पहलेसे खुली होती है और अतिमानसिक प्रभावके प्रति भी खुली होती है।

चेतनाके इस प्रकार खुल जानेपर व्यक्ति उस अवस्थाके परे चला जाता है जिसमें जीवन विशुद्ध रूपसे भौतिक होता है (जब मैं "भौतिक" कहती हूं तो मैं उसमें समस्त मानसिक और बौद्धिक जीवनको और सभी मानव उपलब्धियोंको, यहांतक कि उच्च कोटिकी मानवीय उपलब्धियोंको भी सम्मिलित कर लेती हूं; मैं उस भौतिक जीवनकी बात कर रही हूं जहां मान-वीय क्षमताएं अपने शिखरपर हैं, उस पार्थिव एवं भौतिक जीवनकी जिसमें मनुष्य मानसिक और बौद्धिक दृष्टिसे उच्च प्रकारकी प्राप्तियोंको अभिव्यक्त कर सकता है), व्यक्ति उस भौतिक अवस्थाको पार कर अतिमानसिक शक्तिकी ओर, जो इस समय पृथ्वीपर क्रियाशील है, खुल सकता है और उस मध्यवर्ती क्षेत्रमें प्रवेश कर सकता है जहां दोनों प्रभाव आपसमें मिलते और एक-दूसरेमें व्याप्त हो जाते हैं, अर्थात्, जहां चेतना अपने क्रिया-कलापों-में मानसिक और बौद्धिक रहते हुए भी अतिमानसिक शक्ति और सामर्थ्यसे इतनी भरपूर होती है कि वह उच्चतर सत्यका यंत्र बन सकती है।

वर्तमान समयमें पृथ्वीपर इस स्थितिको वे लोग प्राप्त कर सकते हैं जिन्होंने इस समय अभिव्यक्त होती हुई अतिमानसिक शक्तिको ग्रहण करने-के लिये अपने-आपको तैयार किया है। और उस अवस्थामें, चेतनाकी

उस अवस्थामें, शरीर पहलेकी अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ इस स्थितिसे लाभ उठा सकता है। वह सत्ताके मूल सत्यके साथ इस हदतक सीधा संपर्क स्थापित कर सकता है कि वह **सहज ही**, हर क्षण अंतःप्रेरणा या अंतर्दृष्टिसे यह जान ले कि क्या करना है और यह कि वह इसे कर सकता है।

मैं कहती हूं कि इस स्थितिको अब वे सभी प्राप्त कर सकते हैं जो अतिमानसिक शक्तिको ग्रहण करने, आत्मसात् करने और उसका आदेश माननेके लिये अपने-आपको तैयार करनेका कष्ट उठाते हैं।

स्वभावतः इससे ऊंची एक स्थिति है, वह स्थिति जिसे श्रीअरविंद आदर्शके रूपमें रखते हैं — दिव्य शरीरमें दिव्य जीवन। लेकिन वे स्वयं कहते हैं कि इसमें समय लगेगा। यह पूर्ण रूपांतर है जो चुटकी बजाते ही नहीं सिद्ध हो सकता। वह बहुत अधिक समय ले सकता है। लेकिन जब वह हो जायेगा, जब चेतना अतिमानसिक चेतना बन जायेगी, तब क्षण-क्षणपर मानसिक पसंद कार्योंका निश्चय नहीं करेगी, न काम शारीरिक योग्यताके अधीन होगा। सारा शरीर ही सहज और पूर्ण रूपमें आन्तरिक सत्यकी पूर्ण अभिव्यक्ति होगा।

यही वह आदर्श है जिसे सामने रखना चाहिये और जिसकी उपलब्धिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु तुम्हें यह भ्रम नहीं होना चाहिये और यह नहीं सोचना चाहिये कि यह द्रुत और चामत्कारिक रूपमें होनेवाला रूपांतर होगा, जो तुरत-फुरत, अद्‌भुत रूपमें, अनायास और बिना काम किये हो जायेगा।

तथापि अब यह एक संभावनामात्र नहीं है, अब यह सुदूर भविष्यके लिये केवल **प्रतिज्ञा** भी नहीं है, यह तो एक ऐसी चीज है जो चरितार्थ की जा रही है। और तुम पहलेसे ही न केवल पूर्वज्ञानद्वारा, बल्कि अनुभूतिद्वारा भी उस मुहूर्त्तको देख सकते हो जब शरीर सत्ताके सर्वाधिक आध्यात्मिक भागके अनुभवको सर्वांशतः दोहरा सकेगा जैसे आंतरिक आत्मा पहले कर चुकी है। शरीर अपनी दैहिक चेतनामें परम सद्‌वस्तुके सामने खड़ा हो सकेगा, उधर समग्र रूपमें मुड़ सकेगा और अपने सभी कोषोंके संपूर्ण आत्मदान और पूर्ण सच्चाईके साथ कह सकेगा : "मैं 'तू' बन जाऊं — अनन्य भावसे, पूर्ण भावसे — 'तू' बन जाऊं, असीम रूपमें, सनातन रूपमें . . . बिलकुल सहज रूपमें।"

५ जून, १९५७

कोई प्रश्न है? नहीं?

> **मधुर मां, क्या हमें ऐसे प्रश्न पूछने चाहिये जो सहज रूपसे नहीं आते?**

"जो प्रश्न सहज रूपसे नहीं आता"से तुम क्या समझते हो?

> **क्योंकि सामान्यतः, कक्षामें ऐसा बहुत बार होता है कि हम यह महसूस करते हैं कि यदि हम कुछ पूछेंगे नहीं तो आप हमें कुछ न बतायेंगी, अतः हम सोचते हैं, फिर-फिर सोचते हैं, क्योंकि हमें कोई प्रश्न तो पूछना ही चाहिये!**

यह इसपर निर्भर है कि तुम कौन-सा प्रश्न खोज पाते हो! यदि प्रश्न रोचक है... तुमने उसे खोजनेके लिये प्रयास किया है, इसका मतलब यह नहीं कि वह आवश्यक रूपसे खराब ही है।

क्या तुम्हारे पास ऐसा कोई प्रश्न है?

> **नहीं।**

तो...

(लंबा मौन)

वस्तुतः श्रीअरविंदने जो कुछ लिखा है व्यक्ति उस सबको ध्यानसे पढ़ जाय तो उसे अपने सब प्रश्नोंके उत्तर मिल जायेंगे। परन्तु कुछ ऐसे क्षण होते हैं और विचारोंको प्रस्तुत करनेके कुछ ऐसे ढंग होते हैं जो चेतना-को गहरे रूपमें प्रभावित करते हैं और आध्यात्मिक प्रगति करनेमें सहायक होते हैं। पर प्रस्तुत विचारको प्रभावशाली होनेके लिये जरूरी है कि वह तात्कालिक अनुभवकी एक सहज-स्फूर्त अभिव्यक्ति हो। जो चीजें पहले कही जा चुकी हैं उन्हें यदि उसी ढंगसे दोहरा दिया जाय तो चूंकि वे चीजें भूतकालके अनुभव हैं, वह कथन एक प्रकारकी शिक्षाका रूप ले लेता है

जिसे उपदेशात्मक कथोपकथन कहा जा सकता है, वह मस्तिष्कके कुछ कोषोंको तो सक्रिय कर देता है पर वस्तुतः बहुत उपयोगी नहीं होता।

मेरे लिये, जो कार्य मैं करनेका प्रयत्न कर रही हूं उसके लिये, नीरवतामें किया गया कार्य सदा ही बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण होता है ...। उस अवस्थामें, जो शक्ति कार्य करती है वह शब्दोंद्वारा बंधी नहीं होती, इससे उसे अनंतगुना बल प्राप्त हो जाता है और साथ ही वह प्रत्येक चेतनामें उसी चेतनाके ढंगके अनुरूप अभिव्यक्त होती है, इससे वह असीम रूपमें अधिक प्रभावकारी हो जाती है। नीरवतामें जब कोई स्पन्दन किसी विशेष उद्देश्य या किसी सुनिश्चित परिणामकी प्राप्तिके लिये दिया जाता है तो वह प्रत्येक व्यक्तिके मनकी ग्रहणशीलताके अनुसार उसकी चेतनामें ठीक ऐसा रूप लेता है जो उसके लिये अत्यधिक प्रभावकारी, सक्रिय एवं तात्कालिक रूपमें अत्यधिक उपयोगी हो सकता है। उधर जब उसे शब्दोंका रूप दे दिया जाता है तो हरेकको उसे एक सुनिश्चित रूपमें, उन शब्दोंके सुनिश्चित अर्थोंमें ग्रहण करना होता है जिनमें उसे प्रकट किया गया है, — इसमें उसकी कर्मसंबन्धी बहुत बड़ी शक्ति और समृद्धता खो जाती है, क्योंकि पहले तो शब्दोंको ठीक उसी रूपमें समझा नहीं जाता जो उनसे अभिप्रेत होता है; दूसरे, उन्हें सदा व्यक्तिकी समझनेकी योग्यताके अनुसार नहीं कहा जाता।

अतः जबतक प्रश्न ऐसा न हो जो तुरत किसी ऐसी अनुभूतिको उत्पन्न करनेवाला हो जिसे नये सूत्रमें अभिव्यक्त किया जा सके तबतक मेरे विचारमें सदा यही अच्छा है कि चुप रहा जाय। और केवल सजीव प्रश्न ही ऐसी अनुभूति करा सकता है जो जीवंत शिक्षाका सुअवसर बन सके। और प्रश्न सजीव हो इसके लिये जरूरी है कि वह प्रगतिकी आंतरिक आवश्यकताको प्रतिध्वनित करता हो, उस सहज-स्वाभाविक आवश्यकताको प्रतिध्वनित करता हो जो किसी एक या दूसरे स्तरपर, सामान्यतः मानसिक स्तरपर, प्रगति करनेकी होती है, परंतु यदि कदाचित् वह किसी आंतरिक अभीप्साको, किसी समस्याको जो सामने है और जिसे वह सुलझाना चाहता है, प्रतिध्वनित करता हो तो वह बहुत रोचक, सजीव और उपयोगी बन जाता है। वह किसी अंतर्दृष्टि, किसी उच्चस्तरीय बोध या चेतनामें किसी ऐसी अनुभूतिकी ओर ले जा सकता है जो सूत्रको नया रूप दे दे ताकि वह उपलब्धिके लिये नयी शक्तिसे भर उठे।

ऐसे प्रसंगोंको छोड़कर मैं सदा यही अनुभव करती हूं कि यह कहीं अधिक अच्छा है कि कुछ न कहा जाय और यह कि कुछ मिनटका ध्यान सदा ही अधिक उपयोगी होता है।

कक्षाके शुरूमें मैं जो वाचन करती हूं वह विचारको एक दिशा, एक

मोड़ प्रदान करने, और उसे किसी विशेष समस्या या विचार-समूहपर स्थित करनेके लिये होता है या समझकी नयी संभावनाके लिये होता है जो वाचनसे आती है। वस्तुतः यह वाचनके बाद नीरवतामें किये जानेवाले ध्यानके लिये एक विषय जैसा बन जाता है।

बोलनेकी खातिर बोलना बिलकुल रोचक नहीं होता। इसके लिये विद्यालय हैं, यहां नहीं।

पर, मधुर मां, जब आप बोलती हैं तो और चीज होती है !

(मौन)

(दूसरा बालक) मां, जब आप कुछ कहती हैं तो हम उसे मनसे समझनेकी कोशिश करते हैं, पर जब आप नीरवतामें कुछ देती हैं तो हमें सत्ताके किस भागपर एकाग्र होना चाहिये ?

ध्यानके लिये सदा ही यह अधिक अच्छा है, --समझ रहे हो न? हम यहां "ध्यान" शब्दका प्रयोग तो कर रहे हैं पर इसका मतलब "सिरमें विचारोंकी क्रियाशीलता" नहीं है, बल्कि ठीक इससे विपरीत है -- तो ध्यानके लिये सदा ही यह अधिक अच्छा है कि उसे एक केंद्रपर एकाग्र किया जाय, उस केंद्रपर जिसे अभीप्साका केंद्र कहा जा सकता है, जहां अभीप्साकी लौ जलती रहती है, उस सौर-चक्रके केंद्रपर अपनी सब शक्तियोंको एकत्र कर लिया जाय, और यदि संभव हो तो, एक ऐसी सजग नीरवताकी स्थिति प्राप्त कर ली जाय जिसमें व्यक्ति मानों किसी अत्यधिक सूक्ष्म चीजको सुननेका प्रयास कर रहा हो, किसी ऐसी चीजको जो उसकी पूर्ण सजगता, पूर्ण एकाग्रता और संपूर्ण नीरवताकी अपेक्षा रखती हो, और फिर बिलकुल भी क्रियाशील न हुआ जाय। सोचे या क्रियाशील हुए बिना अपने-आपको इतना खोल देना कि जो कुछ ग्रहण किया जा सकता हो वह सब ग्रहण कर लिया जाय, पर इसकी पूरी सावधानी रखते हुए कि जो वस्तु उस समय हो रही है उसे समझनेकी कोशिश भी न की जाय, क्योंकि यदि व्यक्ति उसे जानना, यहांतक कि ध्यानसे देखना भी चाहता है तो उसमें एक प्रकारकी मस्तिष्ककी क्रिया बनी रहती है जो ग्रहणशीलताकी पूर्णताके अनुकूल नहीं होती -- नीरव रहना, सजग एकाग्रतामें जितना संभव है

उतने समग्र रूपमें नीरव रहना और फिर निश्चल हो जाना।

यदि व्यक्ति इसमें सफल हो जाय तो सब समाप्त होनेपर, जब वह ध्यानसे बाहर आता है तो कुछ देर बाद (सामान्यतः तुरत नहीं), सत्ताके अंदरसे चेतनामें कुछ नयी चीज प्रकट होती है: एक नयी बोध-शक्ति, वस्तुओं-का एक नया मूल्यांकन, जीवनमें एक नयी वृत्ति — संक्षेपमें, जीवनका एक नया ढंग प्रकट होता है। यह सब क्षणिक हो सकता है, परंतु उस क्षण-में, यदि व्यक्ति इधर ध्यान दे तो उसे पता चलता है कि कोई चीज है जो बोध-शक्ति या रूपांतरके मार्गपर एक कदम आगे बढ़ गयी है। यह एक ज्ञानालोक हो सकता है, एक ऐसी बोध-शक्ति हो सकती है जो अधिक सच्ची हो या सत्यके अधिक निकट हो या एक रूपांतरकारी शक्ति हो सकती है जो तुम्हें आंतरिक प्रगति करनेमें या चेतनाको विस्तारित करनेमें या अपनी गतियों एवं क्रियाओंपर प्रभुत्वकी वृद्धिमें सहायता पहुंचाती है।

पर ये परिणाम कभी तात्कालिक नहीं होते। क्योंकि यदि व्यक्ति उन्हें उसी समय देखनेकी कोशिश करे तो वह एक ऐसी सक्रिय अवस्थामें रहता है जो सच्ची ग्रहणशीलताकी विरोधी है। व्यक्तिको उस समय जितना संभव हो उतना तटस्थ, निश्चल और निष्क्रिय रहना चाहिये, पृष्ठ-भूमिमें नीरव अभीप्सा अवश्य रहनी चाहिये पर वह शब्दों, विचारों यहांतक कि भावनाके रूपमें भी रूपायित नहीं होनी चाहिये। उसे एक ऐसी वस्तु होना चाहिये जो तीव्र स्पन्दनके रूपमें इस प्रकार ऊपर उठती है (ऊपर उठती लौकी तरहका संकेत), पर जो कोई रूप धारण नहीं करती और सबसे बढ़कर, जो समझनेका कोई प्रयास नहीं करती।

थोड़े अभ्यासके बाद व्यक्ति ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेता है कि जब चाहे, कुछ क्षणोंमें ही, इस स्थितिमें आ जाय, अर्थात्, तब वह ध्यानमें कोई समय नहीं खोता। शुरूमें, स्वभावतः व्यक्तिको धीरे-धीरे मनको शांत करना, चेतनाको एकत्रित और एकाग्र करना होता है, इस प्रकार तीन-चौथाई समय वह तैयारीमें खो देता है। परन्तु जब व्यक्ति अभ्यास कर लेता है तो वह दो-तीन क्षणोंमें ही इसे प्राप्त कर लेता है और तब उसे ग्रहण करनेके लिये सारे समयका लाभ मिल जाता है।

स्वभावतः इससे और आगेकी तथा अधिक पूर्ण अवस्थाएं भी हैं पर वे बादमें प्राप्त होती हैं। परन्तु यदि तुम कम-से-कम इस अवस्थाको पा लो तो ध्यानका पूरा लाभ उठा सकते हो।

अब हम प्रयत्न करते हैं।

(ध्यान)

१२ जून, १९५७

"वास्तवमें यह संभव है कि बहुत लंबे समयतक उपवास करते हुए भी अंतरात्मा, मन और प्राणकी, यहांतक कि शरीरकी भी शक्तियों और क्रियाओंको बनाये रखा जाय, या गहन चिंतन और दिन-रात लेखन-कार्यमें रत रहा जाय, बिलकुल भी सोया न जाय, दिनमें आठ-आठ घंटे टहला जाय, इन सब क्रियाओंको अलग-अलग या एक साथ जारी रखा जाय और फिर भी शक्तिकी कोई कमी, कोई थकान, किसी प्रकारकी कम-जोरी या ह्रास महसूस न हो। उपवासकी समाप्तिपर व्यक्ति तुरत अपनी सामान्य खुराकसे शुरू कर सकता है, यहांतक कि चिकित्सा-शास्त्रकी बतायी हुई बीचकी सावधानी-के बिना सामान्यसे अधिक खुराक ले सकता है। मानों ये दोनों अवस्थाएं, पूर्ण उपवास और भरपूर भोजन, उस शरीरके लिये, जिसने एक प्रकारके प्रारंभिक रूपांतरके द्वारा योगकी शक्तियों और क्रियाओंका यंत्र होना सीख लिया हो, ऐसी स्वा-भाविक अवस्थाएं हों कि अदल-बदलकर एकसे दूसरीमें तुरत और आसानीसे जाया जा सकता है। परंतु एक चीजसे मनुष्य नहीं बच पाता, और वह है शरीरके स्थूल तंतुओंका, उसके मांस और जड़-पदार्थका ह्रास। विचार-दृष्टिसे ऐसा लगता है कि बस इसका कोई क्रियात्मक तरीका और साधन हाथ आ जाय तो यह अंतिम अजेय बाधा भी पार की जा सकती है और शरीरकी शक्तियोंका स्थूल प्रकृतिकी शक्तियोंके साथ आदान-प्रदान करके अर्थात्, व्यक्तिसे प्रकृतिको उसकी आवश्यकता देकर और उसके वैश्व भावसे उसकी पोषक शक्तियोंको सीधा लेकर शरीरको वशमें रखा जा सकता है। विचार-दृष्टिसे ऐसा भी लगता है कि अपने पोषण और नवी-करणके साधनोंको अपने परिपार्श्वसे जुटानेकी जिस क्षमताको हम जीवन-विकासके मूलमें देखते हैं, उसी क्षमताको व्यक्ति इस विकासके शिखरपर पहुंचकर फिरसे खोज सकता और प्रस्थापित कर सकता है, या नहीं तो विकासको पहुंचा हुआ वह व्यक्ति ऐसी महत्तर शक्ति भी प्राप्त कर सकता है कि

> **वह उन साधनोंको नीचेसे या परिपार्श्वसे ग्रहण करनेके बदले ऊपरसे ग्रहण कर ले।"**
>
> (अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

श्रीअरविंदने लंबे उपवासमें भी अपनी सभी क्रियाओंको बनाये रखनेकी जिस संभावनाका यहां उल्लेख किया है वह उनके अपने ही अनुभवका वर्णन है।

वह एक संभावनाकी बात नहीं कर रहे, वरन् एक ऐसी बात कह रहे हैं जिसे उन्होंने स्वयं किया है। पर यह सोचना एक भारी भूल होगी कि इस अनुभवके बाह्य रूपकी नकल की जा सकती है। संकल्प-शक्तिके जोरसे यदि व्यक्ति इसमें सफल हो भी जाय तो भी वह अनुभव आध्यात्मिक दृष्टिसे पूर्णतया असफल रहेगा जबतक कि उससे पहले चेतनामें ही परिवर्तन न हो जाय, और यह प्राथमिक मुक्ति होगी।

भोजनका त्याग करने-भरसे तुम आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकते। तुम केवल स्वतंत्र होकर ही ऐसा कर सकते हो, न केवल भोजनके प्रति समस्त आसक्ति, इच्छा और चिंतनसे बल्कि समस्त आवश्यकतासे भी मुक्त होकर, अर्थात्, ऐसी अवस्थामें पहुंचकर जहां ये चीजें तुम्हारी चेतनाके लिये इतनी परायी हो जाती हैं कि इनके लिये वहां कोई स्थान ही नहीं रहता। उस अवस्थामें ही व्यक्ति एक सहज और स्वाभाविक परिणामके तौरपर, उपयोगी रूपमें, खाना छोड़ सकता है। कहा जा सकता है कि इसकी अनिवार्य शर्त है खाना ही भूल जाना — इसलिये भूल जाना क्योंकि सत्ताकी समस्त शक्तियां और समस्त एकाग्रता एक अधिक संपूर्ण और अधिक सच्ची आंतरिक उपलब्धिपर लगी होती हैं, उस **सतत** अत्यावश्यक तन्मयतामें लगी होती हैं कि सारी सत्ताका, शरीरके कोषोंतकका भी, दिव्य शक्तियोंके साथ मिलन स्थापित हो जाय, ताकि यही सच्चा जीवन हो, न केवल यह जीवनके अस्तित्वका हेतु हो बल्कि जीवनका सार यही हो, न केवल यह जीवनकी एक अनिवार्य आवश्यकता हो, बल्कि जीवनका समस्त आनन्द और इसके अस्तित्वका समस्त हेतु भी यही हो।

जब ऐसी अवस्था आ जाती है, जब यह उपलब्धि प्राप्त हो जाती है तो खाना, न खाना, सोना, न सोना इस सबका कुछ महत्त्व नहीं रहता। यह एक बाह्य 'लय' होती है जो उन वैश्व शक्तियोंकी क्रीड़ापर छोड़ दी जाती है जो तुम्हारे चारों ओरकी परिस्थितियों और मनुष्योंद्वारा अपने-आपको अभिव्यक्त करती है; और तब शरीर, आंतरिक सत्यके साथ संपूर्णतः एक होनेके कारण नमनीय तथा सतत अनुकूलताकी क्षमता लिये होता है।

यदि भोजन हो तो खा लेता है, न हो तो उस बारेमें सोचता भी नहीं। अगर नींद आये तो सो लेता है, वरना सोचता भी नहीं और यही बात दूसरी सब चीजोंके साथ होती है...। जीवन यह सब नहीं है! ये जीवनके, बस, ढंग हैं। मनुष्य बिना सोचे-विचारे अपने-आपको इनके अनुकूल बना लेता है। यह खिलनेकी-सी भावना प्रदान करता है, जैसे पौधेपर एक फूल खिलता है; यह एक ऐसी क्रिया है जो संकल्प-शक्तिके जोरसे नहीं होती, फिर भी परिपार्श्वकी शक्तियोंके साथ पूरी तरह सुसमंजस होती है। जीवनका ढंग भी ऐसा हो जाता है कि वह प्राप्त परिस्थितिके साथ पूरी अनुकूलतामें होता है पर वे चीजें अपने-आपमें उसके लिये कुछ महत्त्व नहीं रखतीं।

फिर एक ऐसा समय आता है जब, सब चीजोंसे मुक्त होनेके कारण, व्यक्तिको क्रियात्मक रूपसे किसी चीजकी जरूरत नहीं होती। वह हर चीजका उपयोग कर सकता है, सब कर्म कर सकता है पर उसकी चेतनापर इनका कोई वास्तविक प्रभाव नहीं पड़ता। सचमुच इसी स्थितिका महत्त्व है। बाह्य रूपोंका या उच्चतर जीवनकी अभीप्सा करनेवाली मानसिक चेतनाके मनमाने निश्चयोंका अनुसरण करना एक साधन हो सकता है पर वह विशेष प्रभावकारी नहीं होता, फिर भी व्यक्तिको एक तरहसे याद दिला सकता है कि जीवन अपनी पशुतामें अभी जैसा है उससे भिन्न होना चाहिये — परन्तु यह वह (अभीप्सित) चीज नहीं है, वह चीज बिलकुल भी नहीं है। जो व्यक्ति अपनी आंतरिक अभीप्सामें पूरी तरह तल्लीन है, इस हदतक कि वह इन बाह्य चीजोंके बारेमें कुछ सोचता ही नहीं, इनकी कुछ परवाह नहीं करता, जो आ जाय उसे स्वीकार कर लेता है और न आये तो उधर ध्यान भी नहीं देता, ऐसा व्यक्ति उस व्यक्तिसे मार्गपर कहीं अधिक आगे बढ़ा हुआ होता है जो कठोर तापस नियमोंको अपनानेके लिये अपनेको इस भावसे बाध्य करता है कि ये उसे उपलब्धिकी ओर ले जायेंगे।

एकमात्र चीज जो सचमुच प्रभावकारी है वह है चेतनाका परिवर्तन, अतिमानसिक शक्तियोंके स्पन्दनके साथ घनिष्ठ, सतत, पूर्ण एवं अपरिहार्य रूपमें एकत्व पा लेनेके द्वारा मिलनेवाली आंतरिक मुक्ति, उधर ही प्रतिक्षणकी व्यस्तता, सत्ताके सभी तत्त्वोंका संकल्प, संपूर्ण सत्ताकी, शरीरके सभी कोषोंतककी भी, अभीप्सा — यह है अतिमानसिक शक्तियों व दिव्य शक्तियोंके साथ मिलन। और तब इस ओर ध्यान देनेकी कोई जरूरत नहीं रह जाती कि परिणाम क्या होंगे। वैश्व शक्तियोंकी क्रीड़ा और अभिव्यक्तिमें जो होना है वह बिलकुल स्वाभाविक और सहज रूपमें स्वतः ही

होगा, इस ओर अपना मन लगानेकी जरूरत नहीं रहती। एकमात्र चीज जिसका महत्त्व होता है वह है 'शक्ति', 'ज्योति', 'सत्य', 'बल' और अतिमानसिक चेतनाके अवर्णनीय आनन्दके साथ सतत, सर्वांगीण और पूर्ण संपर्क — सतत, हां, सतत संपर्क।

यह है सच्चाई। बाकी सब तो नकल है, एक प्रहसन-सा है जिसे मनुष्य अपने-आपसे खेलता है।

पूर्ण पवित्रताका अर्थ है **होना,** निरन्तर अधिकाधिक पूर्ण संभूतिके अंदर 'होना'। व्यक्तिको कभी दावा नहीं करना चाहिये कि वह ऐसा **है** : उसे सहज-स्वाभाविक रूपमें वैसा **होना** चाहिये।

इसीका नाम सच्चाई है।

१९ जून, १९५७

मधुर मां, जब कोई व्यक्ति सख्त बीमार हो जाता है तो यह विशुद्ध भौतिक घटना होती है या उसके आध्यात्मिक जीवनकी कठिनाई ?

यह निर्भर करता है व्यक्तिपर! यदि वह व्यक्ति योग कर रहा हो तो स्पष्ट ही यह उसके आध्यात्मिक जीवनकी एक कठिनाई होती है। यदि उस व्यक्तिका योगसे कुछ भी संबंध न हो और वह साधारण प्रकारका जीवन व्यतीत कर रहा हो तो यह एक साधारण दुर्घटना होती है। यह पूरी तरह व्यक्तिपर निर्भर है। बाह्य घटना एक जैसी हो सकती है परन्तु आंतरिक कारण बिलकुल भिन्न होते हैं। कोई भी दो बीमारियां ठीक एक जैसी नहीं होतीं, यद्यपि बीमारियोंपर नामके परचे लगा दिये गये हैं और उनके श्रेणीकरणका प्रयत्न किया गया है, पर वास्तविक बात यह है कि हर कोई अपने ढंगसे बीमार पड़ता है और उसका ढंग इसपर निर्भर है कि वह क्या है, उसकी चेतनाकी स्थिति क्या है और वह कैसा जीवन व्यतीत करता है।

हम बहुत बार कह चुके हैं कि रोग हमेशा संतुलन-भंगका परिणाम होते हैं। परन्तु यह संतुलन-भंग सत्ताकी बिलकुल विभिन्न अवस्थाओंमें हो सकता है। एक साधारण आदमीके लिये, जिसकी चेतना बाह्य भौतिक जीवनमें

केंद्रित है, यह विशुद्ध रूपसे भौतिक संतुलनका, उसके विभिन्न अवयवोंकी क्रियामें संतुलनका, भंग होता है। परन्तु जब इस विशुद्ध ऊपरी जीवनके पीछे आंतरिक जीवनका निर्माण होता है तो रोगके कारण बदल जाते हैं। वे सदा ही सत्ताके विभिन्न भागोंके बीच असंतुलनको प्रकट करते हैं: व्यक्तिकी आंतरिक प्रगति या आंतरिक प्रयत्न और उसके जीवनकी, शरीरकी बाह्य स्थिति या प्रतिरोधके बीच असंतुलनको प्रकट करते हैं ;

यहांतक कि सामान्य बाह्य दृष्टिसे भी, बहुत लंबे समयसे लोग इसे जानते हैं कि तात्कालिक नैतिक कारणोंसे होनेवाली प्राणमें प्रतिरोधकी कमी ही सदा बीमारीका मूल कारण होती है। जब व्यक्ति एक सामान्य संतुलनकी अवस्थामें होता है और सामान्य शारीरिक समस्वरताकी अवस्थामें रहता है तो शरीरमें प्रतिरोधकी अपनी शक्ति होती है, बीमारियोंके प्रतिरोधका एक यथेष्ट वातावरण उसके अंदर होता है: उसका अत्यधिक भौतिक तत्त्व ऐसे सूक्ष्म स्पन्दन भेजता है जिनमें रोगोंका, यहांतक कि संक्रामक कहलानेवाले रोगोंका भी सामना करनेकी शक्ति होती है (वस्तुतः सभी स्पंदन संक्रामक होते हैं, फिर भी कुछ रोग विशेष रूपसे संक्रामक माने जाते हैं)। हां तो, विशुद्ध बाह्य दृष्टिसे भी यदि कोई व्यक्ति ऐसी अवस्थामें हो कि उसके अंगोंकी क्रियाएं समस्वर हों और उसमें यथेष्ट नैतिक संतुलन हो तो उसके साथ ही उसमें प्रतिरोधकी भी ऐसी शक्ति होती है कि छूतकी बीमारी उसे छू नहीं सकती। परन्तु यदि किसी-न-किसी कारण वह अपना संतुलन खो बैठे या उदाहरणार्थ किसी अवसाद, असंतोष, नैतिक कठिनाई या अत्यधिक थकानके कारण कमजोर पड़ जाय तो शरीरकी सामान्य प्रतिरोध शक्ति कम हो जाती है और वह रोगके प्रति खुल जाता है। परन्तु यदि हम उस व्यक्तिका विचार करें जो योग कर रहा है तो बात एकदम अलग हो जाती है, इन अर्थोंमें कि तब असंतुलनके कारण दूसरे प्रकारके होते हैं और बीमारी सामान्यतः किसी ऐसी आंतरिक कठिनाईको प्रकट करती है जिसे जीतना है।

तो प्रत्येकको अपने-आप ढूंढना होगा कि वह बीमार क्यों है।

सामान्य दृष्टिकोणसे, अधिकतर लोगोंमें प्रायः भय — यह मानसिक या प्राणिक भय हो सकता है, पर प्रायः सदा ही यह शारीरिक भय, कोषाणुगत भय — होता है जो सब प्रकारकी छूतकी बीमारियोंके प्रति द्वार खोल देता है। मानसिक भयको वे सब व्यक्ति हटा सकते हैं जिनमें थोड़ा आत्मसंयम और मानवोचित गौरव हो। प्राणिक भय अधिक सूक्ष्म होता है और अधिक बड़े संयमकी मांग करता है। और जहांतक शारीरिक भयकी बात है उसपर विजय पानेके लिये तो सच्चे योगकी आवश्यकता पड़ती है,

कारण, शरीरके कोषाणु सभी अप्रिय एवं कष्टकारी वस्तुओंसे डरते हैं और ज्यों ही कुछ बेचैनी हुई, चाहे वह बहुत मामूली-सी हो, वे चिंताकुल हो उठते हैं, वे आराममें जरा भी बाधा पसंद नहीं करते। तो उनपर विजय पानेके लिये व्यक्तिका चेतन संकल्पपर प्रभुत्व जरूरी है। सामान्यतः इस प्रकारका भय ही बीमारियोंके लिये द्वार खोल देता है। मैं पहले दो भयों (मानसिक और प्राणिक भयों) की बात नहीं करती, उनपर तो, जैसा कि मैंने कहा, किसी भी मनुष्यको जो इस शब्दके श्रेष्ठतम अर्थमें मनुष्य होना चाहता है विजय पा लेनी चाहिये क्योंकि वह (भय) एक कायरता है। पर शारीरिक भयको जीतना अधिक कठिन है, इसके न रहनेपर तो अत्यंत प्रबल आक्रमणोंको भी हटाया जा सकता है। यदि व्यक्तिका अपने शरीर-पर थोड़ा भी नियंत्रण हो तो वह रोगके प्रभावोंको कम कर सकता है पर वह निरापदता नहीं है। शरीरके कोषाणु स्थूल भौतिक भयके कारण सिहर उठते हैं, यही चीज बीमारियोंको बढ़ा देती है।

कई ऐसे व्यक्ति होते हैं जो स्वाभाविक रूपसे नहीं डरते, शरीरमें भी नहीं; उनमें यथेष्ट प्राणिक संतुलन होता है, इससे वे भय नहीं खाते, डरते नहीं, उनके शारीरिक जीवनके लय-तालमें एक स्वाभाविक समस्वरता होती है जिससे वे सहज ही बीमारीको बहुत हलका कर लेते हैं। इसके विप-रीत, दूसरे कई ऐसे होते हैं जिनके लिये बीमारी बुरे-से-बुरा रूप ले लेती है, यहांतक कि कभी-कभी तो विनाशकारी स्थिततिक पहुंच जाती है। यहां एक पूरा सोपान-क्रम है जिसे आसानीसे देखा जा सकता है। हां, यह उनके जीवनकी गतिके एक प्रकारके सुखकर लय-तालपर निर्भर होता है जो या तो इतनी यथेष्ट मात्रामें समस्वर होता है कि वह रोगके बाह्य आक्रमणोंका प्रतिरोध कर सकता है, या फिर होता ही नहीं, अथवा पर्याप्त सशक्त नहीं होता और उसका स्थान भयकी सिहरन, एक प्रकारकी सहजात आशंका ले लेती है जो जरा-से भी अप्रिय संपर्कको किसी कष्टदायक और बुरी चीजमें बदल डालती है। तो यह एक पूरा सोपान-क्रम है, उस व्यक्ति-से लेकर जो गंभीर संक्रामक रोगों और महामारियोंसे भी अछूता निकल जाता है, उस व्यक्तितक जो जरा-सी बातसे बीमार पड़ जाता है। अतः स्वाभाविक रूपसे यह हर व्यक्तिके गठनपर निर्भर है। और जैसे ही वह प्रगतिके लिये प्रयत्न करना चाहता है यह स्वभावतः उसके अर्जित आत्म-प्रभुत्वपर निर्भर करता है — जबतक कि शरीर उच्चतर 'इच्छा-शक्ति'-का आज्ञा माननेवाला यंत्र नहीं बन जाता और इससे समस्त आक्रमणोंके लिये एक सामान्य निवारण शक्ति नहीं पा लेता।

परन्तु जब व्यक्ति भयको निकाल सकता है तो वह लगभग सुरक्षित हो

जाता है। उदाहरणार्थ, महामारियां या तथाकथित महामारियां — जैसी कि आजकल फैली हुई हैं — निन्यानवे प्रतिशत भयसे आती हैं, यह भय तब एक बहुत ही गंदे मानसिक भयका रूप ले लेता है, और इसे पैदा करनेवाली चीजें हैं अखबारोंकी खबरें, व्यर्थकी बातें और न जाने क्या-क्या।

मां, दवाइयोंकी उस शरीरके लिये क्या उपयोगिता है जो पूरा अचेतन नहीं है? क्योंकि जब हम भागवत कृपाको उतारनेकी चेष्टा करते हैं तब भी देखते हैं कि थोड़ी-सी दवाकी जरूरत है, यदि दवा दी जाती है तो वह लाभ करती है। क्या इसका अर्थ यह है कि केवल शरीरको दवाकी आवश्यकता है या यह कि मन-प्राणमें कहीं कोई दोष है?

अधिकतर प्रसंगोंमें दवाका उपयोग (जब उसे उचित मात्रामें लिया जाता है, अर्थात् व्यक्ति उससे अपने-आपको विषाक्त नहीं करता) बस, इतना ही है कि वह शरीरमें आत्म-विश्वास पैदा करनेमें सहायता पहुंचाती है। शरीर ही अपने-आपको नीरोग करता है। जब यह अच्छा होना चाहता है तो अच्छा हो जाता है। और इस बातको अब काफी बड़ी संख्यामें लोग मानने लगे हैं, यहांतक कि बहुत-से परंपरावादी डाक्टर भी कहते हैं: "हां, हमारी दवाइयां सहायता करती हैं, पर दवाइयां नीरोग नहीं करतीं, शरीर ही नीरोग होनेका निश्चय करता है।" ठीक है, जब शरीरसे कहा जाता है "यह लो" तो यह अपने-आपसे कहता है, "अब मैं अच्छा हो जाऊंगा" और जब यह कहता है कि "मैं नीरोग हो रहा हूं" तो हां, यह नीरोग हो जाता है!

लगभग सभी रोगोंके लिये ऐसी चीजें हैं जो सहायता करती हैं — थोड़ी-सी — बशर्ते कि उनका उपयोग उचित मात्रामें किया जाय। यदि उचित रूपमें न किया गया तो निश्चय रखो कि तुम पूरी तरह टूट जाओगे। तुम एक चीजका इलाज करोगे और दूसरीके शिकार हो जाओगे जो साधारणतया उससे भी बुरी होगी। पर फिर भी, यह थोड़ी-सी सहायता, बस, थोड़ी-सी कोई चीज जो तुम्हारे शरीरको यह विश्वास दिला दे: "अब ठीक होगा, अब चूंकि मैंने यह ले ली है इसलिये निश्चय ही सब कुछ बिलकुल ठीक हो जायगा," शरीरको बहुत सहायता पहुंचाती है और यह अच्छा होनेका निश्चय कर लेता है और अच्छा हो जाता है।

यहां भी संभावनाओंका एक पूरा "सरगम" है उस योगीसे लेकर जो

आंतरिक संयमकी ऐसी पूर्ण अवस्थामें होता है कि विष खाकर भी उससे विषाक्त नहीं होता, उस व्यक्तितक जो जरा-सी खरोंच लगनेपर डाक्टरके पास भागा जाता है और जिसे सब प्रकारकी विशेष दवाइयोंकी जरूरत होती है ताकि शरीर स्वस्थ होनेके लिये उपयुक्त क्रिया कर सके। यह एक पूरा "सरगम" है, जिसमें सभी संभव उदाहरण हैं, सर्वांगीण एवं उच्चतम आत्म-प्रभुत्वसे लेकर समस्त बाह्य सहौषधियों और बाहरसे सेवन की जानेवाली चीजोंकी दासतातक — दासता और पूर्ण स्वतंत्रता। यह एक पूरा क्रम-सोपान है। सभी कुछ संभव है। यह बाह्य स्वरोंके एक बहुत बड़े पर्देके समान है, जो अत्यधिक जटिल, पर अत्यधिक पूर्ण है, जिसे तुम बजा सकते हो और शरीर वाद्य-यंत्र है।

मां, क्या व्यक्ति मानसिक प्रयत्नके द्वारा (उदाहरणार्थ, बीमार पड़नेपर दवा न लेनेके संकल्पके द्वारा) शरीरको समझानेमें सफल हो सकता है?

इतना काफी नहीं है। मानसिक संकल्प काफी नहीं है, बिल्कुल नहीं। तुम्हारे शरीरमें ऐसी सूक्ष्म प्रतिक्रियाएं होती हैं जो मानसिक संकल्पकी बात नहीं मानतीं, यह काफी नहीं होता। किसी और चीजकी जरूरत है।

दूसरी भूमिकाओंका स्पर्श करना चाहिये। मनकी शक्तिसे अधिक उच्च शक्तिकी आवश्यकता है।

और इस दृष्टिसे देखें तो मनकी सभी चीजें आंतरिक शंकाका विषय होती हैं। तुम एक निश्चय कर लेते हो पर विश्वास रखो कि हमेशा कोई ऐसी चीज आयेगी जो शायद इस निश्चयका खुला विरोध तो न करे, पर इसकी प्रभावकारितापर शंका करेगी। इतना काफी है, समझे, जरा-से भी संदेहके उठ खड़े होनेसे संकल्पका आधा प्रभाव खो जाता है। जब तुम कहते हो, "मैं यह चाहता हूं," ठीक उसी समय यदि कहीं पीछे, पृष्ठ-भूमिमें कोई ऐसी चीज छिपी हो जो पूछती हो, "परिणाम क्या होगा?" तो सब कुछ नष्ट करनेके लिये इतना काफी है।

मनकी क्रियावलीका यह खेल अति सूक्ष्म है और कोई भी सामान्य मानवी साधन इसे पूरी तरह नियंत्रित करनेमें सफल नहीं हो सकता। उदाहरणके लिये, इस चीजको वे सब अच्छी तरह जानते हैं जो योगका अभ्यास करते हैं और अपने शरीरपर प्रभुत्व पाना चाहते हैं: यदि उन्होंने कठोर यौगिक साधनाके द्वारा अपने अंदरकी किसी चीजको — शरीरकी

किसी विशेष दुर्बलताको, किसी असंतुलनकी ओर खुलनेको — नियंत्रित करनेमें सफलता पा ली हो, यदि उन्होंने इसपर काबू पा लिया हो और उसका कुछ फल सामने आया हो, उदाहरणके लिये, वह असंतुलन लंबे समयतक, बरसोंतक न रहा हो, तो यदि किसी दिन, किसी मुहूर्त उनके मनमें यह विचार घूम जाय, "आह! अब यह समाप्त हो गया," तो अगले ही क्षण वह वापस आ जाता है। इतना-भर काफी होता है। क्योंकि यह चीज बताती है कि व्यक्ति विचारके स्तरपर, जहां कि उसपर आक्रमण हो सकता है परित्यक्त वस्तुके स्पंदनोंके संपर्कमें आ गया और इस चीजने शक्तियोंकी क्रीड़ामें उन्हें एक प्रकारका कारण प्रदान कर दिया, उसे उधर खोल दिया और वह चीज वापस आ जाती है।

योगमें यह तथ्य खूब सुपरिचित है। प्राप्त विजयके बारेमें कहना-भर ही — मनसे कहना भी, समझे, उसके बारेमें सोचना भी — योगके वर्षोंके समस्त प्रभावको नष्ट कर देनेके लिये काफी है। बाहरसे आनेवाले समस्त स्पंदनोंको रोकनेके लिये एक प्रबल मानसिक नीरवता अपरिहार्य है। पर इस नीरवताको पाना इतना कठिन है कि उसके लिये व्यक्तिको, श्रीअरविंदने जिसे "निम्न गोलार्द्ध" कहा है, उसे पार करके उच्चतर, पूर्णतः आध्यात्मिक गोलार्द्धमें पहुंच जाना होगा, ताकि ऐसी बात फिर न हो।

नहीं, मानसिक क्षेत्रमें विजयकी प्राप्ति नहीं हुआ करती। यह असंभव है। यह क्षेत्र सभी प्रभावोंके प्रति, सभी विरोधी धाराओंके प्रति खुला है। तुम्हारी बनायी हुई सभी मानसिक रचनाएं, अपना विरोधी तत्त्व भी अपने साथ लिये रहती हैं। व्यक्ति उसे दमन करनेकी कोशिश कर सकता है, जहांतक संभव हो उसे अ-हानिकर बना सकता है, पर उसका अस्तित्व बना रहता है, वह चीज विद्यमान रहती है और जरा-सी भी दुर्बलता पाकर या जागरूकता अथवा सावधानताकी कमी पाकर अंदर घुस आती है और सारे कार्यको नष्ट कर देती है। मनके द्वारा बहुत कम परिणाम प्राप्त होते हैं और जो होते भी हैं वे मिश्रित होते हैं। किसी और चीजकी आवश्यकता है। सुरक्षित रूपमें कार्य करनेके लिये व्यक्तिको मनके क्षेत्रसे श्रद्धाके क्षेत्रमें या फिर उच्चतर चेतनाके क्षेत्रमें जाना चाहिये।

यह बहुत स्पष्ट है कि श्रद्धा शरीरपर क्रिया करनेके लिये एक बहुत प्रभावशाली साधन है। वे लोग जो सरलहृदय होते हैं, जिनमें विचारोंकी जटिलता नहीं होती — सीधे-सादे लोग, हं — जिनका मानसिक विकास बहुत उच्च और जटिल नहीं होता, पर जिनमें एक गहरी श्रद्धा

होती है, अपने शरीरको अत्यधिक प्रभावित कर सकते हैं, अत्यधिक। यही कारण है कि कभी-कभी लोग आश्चर्य करते हैं: "देखो, एक यह व्यक्ति है जो महान् उपलब्धि पा चुका है, असाधारण है, फिर भी छोटी-छोटी भौतिक वस्तुओंका दास है जब कि वह दूसरा व्यक्ति, हे भगवान्! — जो बिलकुल साधारण, सीधा-सादा आदमी है, और अनगढ़ लगता है पर जिसमें बड़ी श्रद्धा है, कठिनाइयों और बिघ्न-बाधाओंको ऐसे पार कर जाता है मानों एक विजेता हो!"

मैं यह नहीं कहती कि उच्च मानसिक विकासवाला व्यक्ति श्रद्धा प्राप्त नहीं कर सकता, पर यह अधिक कठिन है। क्योंकि वहां सदा ही यह मानसिक तत्त्व विद्यमान रहता है जो प्रतिवाद करता, तर्क करता व समझनेकी कोशिश करता है, पर जिसे समझना व विश्वास दिलाना कठिन है, वह प्रमाण चाहता है। उसकी श्रद्धा कम खरी होती है। उसके लिये इस सर्पिल विकासमें एक अधिक ऊंची स्थितिको प्राप्त करना, मनसे परे आध्यात्मिकतामें जाना जरूरी है, तब वहां स्वभावतः ही श्रद्धा एक ऐसा रूप ले लेती है जो बहुत ऊंचे प्रकारका होता है। परंतु मेरा मतलब है कि साधारण दैनिक जीवनमें एक बहुत सीधा-सादा मनुष्य जिसमें बहुत ज्वलंत श्रद्धा हो शरीरपर प्रभुत्व पा सकता है (यह सच्चा "प्रभुत्व" नहीं होता, यह केवल एक सहज-स्वाभाविक गति होती है), अपने शरीर-पर अधिक बड़ा नियंत्रण रख सकता है अपेक्षा उसके जो विकासकी बहुत ऊंची अवस्थाको पहुंच चुका हो।

> **मां, मुझे एक व्यक्तिगत प्रश्न पूछना है। एक असाध्य रोग, अंग-संबंधी रोग आपकी कृपासे दूर हो गया है, पर जरा-सा क्रिया-संबंधी रोग दूर नहीं हो पा रहा। यह कैसे? फिर उसी शरीरमें! यह ग्रहणशीलताकी कमी है या ...**

यह चीज इतनी अधिक व्यक्तिगत है कि इसका उत्तर देना असंभव है। जैसा कि मैंने कहा कि प्रत्येक व्यक्तिके लिये बात बिलकुल भिन्न होती है, और जबतक क्रिया-व्यापारके पूरे विस्तारमें न जाया जाये तबतक इन चीजों-की व्याख्या नहीं दी जा सकती। प्रत्येक व्यक्तिका प्रसंग भिन्न होता है।

और प्रत्येक वस्तुके लिये, प्रत्येक घटनाके लिये उतनी ही व्याख्याएं दी जा सकती हैं जितने चेतनाके स्तर हैं। एक दृष्टिसे ... निश्चय ही, यह अत्यधिक सीधी-सादी दृष्टि है, यह कहा जा सकता है कि एक भौतिक व्याख्या है, एक प्राणिक व्याख्या है, एक मानसिक व्याख्या है, एक आध्या-

त्मिक व्याख्या है, एक...। एक ही तथ्यके लिये व्याख्याके अनगिनत स्तर हैं। कोई भी व्याख्या पूरी सच्ची नहीं, सभीमें सत्यका अंश होता है। और अंतमें यह कहा जा सकता है कि यदि तुम व्याख्याओंके क्षेत्रमें प्रवेश करना चाहो, यदि तुम एक चीजको लो और उसकी व्याख्या देने लगो तो सदा ही तुम उसकी व्याख्या किसी दूसरी चीजके द्वारा देनेके लिये बाधित होते हो। और तुम अनिश्चित रूपसे एक चीजके द्वारा दूसरीकी व्याख्या करते हुए सारे संसारका चक्कर लगा लोगे और कभी तुम्हारी व्याख्याका अंत नहीं आयेगा।

मूलतः, जब कोई व्यक्ति इस तथ्यको इसकी समग्रतामें और इसके साररूपमें देख लेता है तो सबसे बुद्धिमत्ताकी बात जो वह कह सकता है वह यही है: "यह चीज ऐसी है क्योंकि यह ऐसी है।"

२६ जून, १९५७

"परंतु फिर भी प्रजननके साधारण साधनों और भौतिक प्रकृतिकी स्थूल पद्धतिका सहारा लेनेकी आवश्यकता है। अगर इस आवश्यकतासे बचना हो तो एक विशुद्ध गुह्य पद्धतिको संभव बनाना होगा, ऐसी अतिभौतिक प्रक्रियाओंका सहारा लेना होगा जो भौतिक फल उत्पन्न करनेके लिये अतिभौतिक साधनोंके द्वारा कार्य करें; इसके बिना काम-प्रेरणा और उसकी पशु-सुलभ प्रक्रियाको अतिक्रम नहीं किया जा सकता। अगर स्थूल वस्तुको सूक्ष्म रूपमें बदल देने और फिर उसे सूक्ष्म रूपसे स्थूल रूपमें ले आनेकी प्रक्रियामें कुछ सत्यता हो, जिसके संभव होनेका दावा गुह्य-विद्या-विशारद करते हैं और जिसे घटनाओंके द्वारा सिद्ध होते हुए हम लोगोंमेंसे बहुतोंने देखा है[1], तो फिर इस तरहकी पद्धतिका होना संभा-

---

[1]संभवतः श्रीअरविंदका संकेत (दूसरी चीजोंके साथ-साथ) उस घटनाकी ओर है जो १९२१ में, पांडिचेरीमें "अतिथिगृह" में हुई थी जहां श्रीअरविंद रहा करते थे। एक रसोइयेको निकाल दिया गया था। अपना बदला लेनेकी कोशिशमें वह एक स्थानीय जादूगरके पास गया, और "अतिथि-

व्यताके क्षेत्रसे बाहर नहीं होगा। क्योंकि गुह्य-वेत्ताओंके सिद्धांतके अनुसार और अपनी सत्ताके क्षेत्रों एवं स्तरोंकी जो रूपरेखा यौगिक ज्ञानने हमें दी है उसके अनुसार एकमात्र सूक्ष्म भौतिक शक्ति ही नहीं, बल्कि, प्राण और स्थूल जड़-तत्त्वके बीच एक सूक्ष्म भौतिक जड़-तत्त्व भी है, और इस सूक्ष्म भौतिक पदार्थके अंदर रूपोंका निर्माण करना और इस तरह निर्मित रूपोंको स्थूल पार्थिव सघनतामें ले आना शक्य है। यह संभव होना चाहिये और इसे संभव माना जाता है कि इस सूक्ष्म भौतिक पदार्थमें निर्मित रूपोंको किसी गुह्य शक्ति और प्रक्रियाके हस्तक्षेपद्वारा उसकी सूक्ष्म अवस्थासे सीधा स्थूल भौतिक अवस्थामें लाया जा सके, चाहे यह किसी स्थूल भौतिक प्रक्रियाकी सहायता व हस्तक्षेपसे हो अथवा उसके बिना। यदि कोई अंतरात्मा किसी शरीरमें आना या अपने लिये किसी शरीरका निर्माण करना चाहे ताकि वह पृथ्वीपर दिव्य जीवनमें भाग ले सके तो उसे इसमें सहायता की जा सकती है अथवा, सीधे रूपग्रहणकी इस पद्धतिद्वारा उसे एक निर्मित रूप प्रदान किया जा सकता है ताकि उसे काम-प्रक्रिया-द्वारा प्राप्त जन्ममेंसे न गुजरना पड़े और मन व स्थूल शरीर-

---

गृह"के चौकमें पत्थरोंकी बौछार होने लगी और नियमित रूपसे कई दिन-तक होती रही। जो लोग वहां पहली मंजिलपर रहते थे उन्होंने अपनी आंखकी ठीक ऊंचाईपर इन पत्थरोंको बनते और चौकमें गिरते देखा था। ये पत्थर इतने वास्तविक थे कि एक युवा सेवक इनसे घायल हुआ था और इन्हें इकट्ठा किया जा सकता था (विचित्र बात यह है कि सबपर काई लगी थी)। अंतमें, जब पत्थर बंद कमरोंमें भी गिरने लगे और अधिकाधिक बड़े होते गये और इसमें कोई सन्देह नहीं रहा कि इनका स्रोत कोई गुह्य शक्ति है तो श्रीमांने अपनी आंतरिक शक्तिसे इसमें हस्तक्षेप किया और "बौछार" बन्द हो गयी...। कुछ दिन बाद जादूगरकी पत्नी भागी-भागी श्रीअरविंदके पास आयी और क्षमा और कृपाके लिये याचना करने लगी: जादूगर हस्पतालमें था, और अपने पत्थरोंकी बौछारके प्रत्या-घातसे मरनेको हो रहा था। श्रीअरविंदने मुस्कराकर उत्तर दिया, "इसके लिये उसे मरनेकी जरूरत नहीं!" और सब चीज फिरसे ठीक हो गयी। यह घटना श्री अंबालाल पुराणीद्वारा लिखित 'द लाइफ ऑफ श्रीअरविंदो' नामक अंग्रेजी पुस्तकके पृ० २७३ पर विस्तारसे दी हुई है।

की वृद्धि एवं विकासके लिये किसी निम्न अवस्था या बोझिल सीमाओंके अंदरसे न गुजरना पड़े, जो जीवनके वर्तमान ढंगमें एक अनिवार्य चीज है। तब वह तुरत ही ऐसे शारीरिक गठन और ऐसी महत्तर शक्तियों व क्रियाओंसे अपना जीवन शुरू कर सकेगा जो सचमुच दिव्य भौतिक शरीरके उपयुक्त हों, और ऐसा दिव्य शरीर इस क्रमिक विकासमें, एक दिन जब दिव्यीकृत पार्थिव प्रकृतिमें जीवन और बाह्य आकार दोनों-का संपूर्णतः रूपांतर हो जायगा, अवश्य प्रकट होगा।"

(अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

मां, अब जब कि अतिमानस यहां पृथ्वीपर है क्या गर्भमेंसे बिना गुजरे सीधे रूप धारण करनेकी यह पद्धति संभव है?

क्या यह संभव है? तुम पूछ रहे हो कि यह संभव है या नहीं? ... प्रत्येक चीज संभव है? तुम क्या जानना चाहते हो? क्या यह हो चुका है?

जी।

एकदम निचले, पूर्ण भौतिक स्तरतक नहीं; गोचर सूक्ष्म भौतिक स्तरतक हो चुका है, मध्यवर्ती इंद्रियोंद्वारा, जो भौतिक इंद्रियों और सूक्ष्म भौतिक इंद्रियोंके बीचमें हैं उनके द्वारा उसे जाना जा सकता है। उदाहरणार्थ, जैसे हम श्वासको एक हलकी वायुके रूपमें अनुभव करते हैं, जैसे गन्धके कुछ बोध सूक्ष्म सुगन्धोंके रूपमें होते हैं। स्वभावतः, जिन्हें अंतर्दृष्टि प्राप्त है वे देख भी सकते हैं, पर अत्यधिक स्थूल इंद्रियोंको वहां—कैसे कहूं? —किसी ऐसी सुस्थिर वस्तुका बोध नहीं होता जैसा कि भौतिक शरीरका होता है जिसे हम स्थूल रूपमें अनुभव करते हैं। ऐसे आभास होते हैं, हां, उन्हें देखा भी जा सकता है, पर वे उड़ते-से होते हैं, उनमें दृढ़ता, जड़-तत्त्वकी दृढ़ता नहीं होती, आकारकी **ठोस निश्चितता** अभीतक प्राप्त नहीं हुई है। मेरा मतलब है वहां संपर्क होता है, यहांतक कि स्पर्शका संपर्क भी प्राप्त होता है, उसे देखा भी जा सकता है पर वहां ऐसी सुस्थिरता नहीं होती जैसी हम स्थूल शरीरमें देखते हैं। ये आते-जाते आभास हैं और स्वभावतः एकदम ठोस वास्तविकताकी वही अनुभूति नहीं देते। तथापि प्रभाव निरंतर रहता है, हस्तक्षेप निरंतर रहता है, बोध

निरंतर रहता है, पर उस शरीरकी-सी दृढ़ता नहीं होती... हां, जो कमरेसे बाहर जाता है और उसी रूपमें लौट आता है जिस रूपमें गया था, समझ रहे हो न? अथवा जैसे जब तुम किसी स्थानपर बैठते हो तो उतने स्थान-को पूरे ठोस रूपमें घेरे होते हो, उस प्रकारकी स्थिरता नहीं होती।

मैं नहीं कह सकती क्योंकि मैं वह सब नहीं जानती जो पृथ्वीपर हो चुका है या हो रहा है, पर जहांतक मुझे मालूम है, यह चीज, यह ठोस सुस्थिरता अभीतक प्राप्त नहीं हुई है।

फिर भी, (जो कुछ प्राप्त हुआ) वह भौतिकतासे संबंध रखता था क्योंकि उसमें दर्शन, संपर्क और श्रवण मौजूद था। किंतु श्रवण — उसके लिये अत्यन्त भौतिक रूप लेना जरूरी नहीं है: सूक्ष्म भौतिक जीवनके नाद, उसके प्रकंपन अच्छी तरह सुने जा सकते हैं और यह एक बहुत विचित्र बात है कि सूक्ष्म भौतिक जगत्में श्रवण और गन्ध ही सबसे सुस्थिर प्रतीत होते हैं, रूप-दर्शनसे भी अधिक — और साथ ही संपर्ककी भी एक विशिष्ट भावना, जो बहुत, बहुत यथार्थ होती है। केवल भौतिक शरीरकी यह बहुत अधिक भौतिक उपस्थिति जो एक सुनिश्चित स्थानको इतने यथार्थ रूपमें घेरे होती है कि कोई दूसरी वस्तु उस स्थानपर नहीं आ सकती अभीतक संभव नहीं हुई है। अतः जो कुछ अभीतक प्राप्त किया गया है वह अत्यधिक भौतिक होनेकी अपेक्षा अधिक तरल रहा है।

क्या यह प्रगति मानव चेतनापर निर्भर है?

तुम्हारा मतलब है अधिक पूर्ण मूर्त रूप लेनेके लिये? ... यह निर्भर है जड़-तत्त्वके स्पंदनोंके साथ व्यवहार करनेकी क्षमतापर, और व्यवहार करने-की यह क्षमता अवश्य ही चेतनाकी विशिष्ट स्थितिका परिणाम है। और सब कुछ तुम्हारे दृष्टि-बिंदुपर निर्भर है, क्योंकि कोई भी वैयक्तिक प्रगति उसके बिना नहीं हो सकती जिसे भागवत संकल्पकी "स्वीकृति" कहा जाता है। और अंतमें, सृष्टिमें कुछ भी भागवत संकल्पकी स्वीकृतिके बिना नहीं हो सकता। इसलिये ....

मां, क्या पहला अतिमानसिक शरीर इसी तरहका होगा?

किस तरहका?

पार्थिव जन्ममेंसे गुजरे बिना रूपांतर?

आह! क्षमा करना, चीजोंको उलझाओ नहीं। दो बातें हैं। एक ओर तो विशुद्ध अतिमानसिक सृष्टिकी संभावना है और दूसरी ओर इस भौतिक शरीरके अतिमानवीय शरीरमें प्रगतिशील रूपसे रूपांतरित होते जानेकी संभावना है। यह एक प्रगतिशील रूपांतर होगा जिसमें कुछ वर्ष लगेंगे, संभवतः काफी वर्ष लगें और उससे एक ऐसे प्राणीका आविर्भाव हो जो "मनुष्य" शब्दके साथ पशुताकी जो भावना जुड़ी है उस अर्थमें तो "मनुष्य" नहीं होगा, पर ऐसा अतिमानसिक प्राणी भी न होगा जो समस्त पशुतासे पूरी तरह बाहर हो, क्योंकि उसका वास्तविक मूल उद्‌भव मजबूरन पाशविक है। इस प्रकार रूपांतर तो हो सकता है और इतना रूपांतर हो सकता है कि इस मूल स्रोतसे काफी कुछ मुक्ति मिल जाय, पर फिर भी वह चीज विशुद्ध और संपूर्णतः अतिमानसिक सृष्टि नहीं होगी। श्री-अरविंदने कहा है कि एक मध्यवर्ती जाति होगी — जाति होगी या शायद कुछ व्यक्ति होंगे, कहना कठिन है — एक मध्यवर्ती पैड़ी जो रास्तेका काम देगी अथवा सृष्टिके प्रयोजन एवं आवश्यकताकी दृष्टिसे इसे स्थायी भी बनाया जा सकता है। परंतु यदि हम उस शरीरसे शुरू करें जो वर्तमान मानव शरीरोंकी तरह बना हुआ है तो वही परिणाम कभी नहीं प्राप्त होगा जो तब होगा जब शरीर पूरी तरह अतिमानसिक पद्धति और प्रक्रियासे बनकर तैयार होगा। शायद वह इस अर्थमें बहुत कुछ अति-मानवकी तरह होगा कि पशु-समान समस्त व्यक्त रूप समाप्त हो जायंगे पर उसमें उस शरीरकी वह चरम पूर्णता नहीं होगी जो अपनी रचनामें विशुद्ध रूपसे अतिमानसिक होगा।

और इस रूपांतरित मानव शरीरमें क्या स्त्री और पुरुषका भेद रहेगा?

क्या, क्या कहा तुमने?

यदि अतिमानस इस रूपांतरित शरीरको स्वीकार करे ...

स्वीकार करे? क्या मतलब हुआ इसका कि "स्वीकार करे"?

इसका मतलब यह कि इस अर्ध-मानव शरीरमें "उतर आये" — क्या तब भेद रहेगा?

पर यह ऐसी बात नहीं है, यह बोतल नहीं है जिसमें तुम कोई द्रव-पदार्थ भर लो। यह ऐसा नहीं है।

तुम यह पूछ रहे हो कि शरीरका अपना नर या मादा रूप रहेगा या नहीं ? संभवत: यह चीज उस सत्ताके चुनावपर छोड़ दी जायेगी जो इस गृह-में प्रवेश करेगी, गृहस्वामीपर ...। तुम्हें इसमें, इस भेदमें बहुत अधिक रुचि है ? (हंसी)

आप कहती हैं कि भेद नहीं होगा, पर अभीतक तो काफी भेद बना हुआ है।

किस दृष्टिसे ? यदि शारीरिक आकृतिसे तुम्हारा मतलब है तो बात समझमें आती है — तो भी, इतना अधिक नहीं, फिर भी। किस दृष्टिसे ?

सेक्स-विषयक इस विचारकी दृष्टिसे कि दो विभिन्न सेक्स हैं। यह अभीतक बना हुआ है।

विचार ? पर वह तो सोचनेवालेका दोष है ! इसे बिना सोचे भी काम चल सकता है। ये, समझे, विचारकी अत्यंत संकीर्ण सीमाएं हैं और ये ऐसी चीजें हैं जिन्हें तुम अपने शरीरके रूपांतरके लिये प्रयत्न करो उससे पहले ही लुप्त हो जाना चाहिये। यदि तुम अभी भी इन अति तुच्छ, निरी पशूचित कल्पनाओंमें निवास करते हो तो इसकी बहुत आशा नहीं कि तुम शरीरके रूपांतरकी कुछ जरा-सी भी प्रक्रिया शुरू कर सकोगे। तुम्हें पहले अपने विचारको रूपांतरित करना होगा ...। क्योंकि वह एक ऐसी चीज है जो अभी भी बहुत नीचे तलमें रेंग रही है। यदि तुम इसे अनुभव करनेमें असमर्थ हो कि कोई सचेतन और सजीव सत्ता सेक्सकी समस्त भावनासे, किसी विशिष्ट आकारमें भी, पूर्णत: मुक्त हो सकती है तो इसका ... इसका मतलब है कि तुम अभीतक जन्म-विषयक पशुतामें आकंठ डूबे हुए हो।

आंतरिक विचारमें व्यक्ति इसे अनुभव कर सकता है, पर भौतिक जीवनकी यथार्थतामें ...

क्या, यथार्थता ?

मैंने बाह्य जीवनमें इसे अभी नहीं पाया हूं। आंतरिक रूपमें...

तुम अपना समय इसीके बारेमें सोचनेमें बिताते हो?

परंतु व्यक्ति चौबीस-के-चौबीस घंटे ऐसे रह सकता है कि इस भेद-के बारेमें एक भी विचार न आये। तुम अवश्य ही इस चीजसे पूरी तरह सम्मोहित हो गये लगते हो। तुम सोचते हो कि जब मैं तुमसे बात करती हूं तो मैं यह सोचती हूं कि तुम पुरुष हो और जब मैं तारासे बात करती हूं तो यह सोचती हूं कि वह स्त्री है।

फिर भी भेद तो है ही!

आह! पर यह आवश्यक बिलकुल भी नहीं है।

सिद्धांत रूपमें मैं समझता हूं।

सिद्धान्त रूपमें! कौन-सा सिद्धान्त?

कि कोई भेद नहीं है। किंतु जब मैं किसी व्यक्तिके संपर्कमें आता हूं तो मैं किसी पुरुष या स्त्रीसे ही बात करता हूं।

ओह, यह तुम्हारे लिये और उसके लिये बहुत खेदकी बात है।

नहीं, यह जो होना चाहिये उससे ठीक उलटी बात है। जब तुम किसी व्यक्तिके संपर्कमें आते हो और उससे बात करते हो तो तुम्हें उसके अंदर-की ठीक उस वस्तुसे बात करनी चाहिये जो समस्त पशुतासे ऊपर है, तुम्हें उसकी अंतरात्माको संबोधित करना चाहिये, उसके शरीरको नहीं। बल्कि तुमसे और अधिककी आशा की जाती है, तुमसे चाहा जाता है कि तुम भगवान्‌को संबोधित करो — अंतरात्माको भी नहीं — प्रत्येक प्राणीमें स्थित एकमेव भगवान्‌को संबोधित करो और उसके प्रति सचेतन बने रहो।

परंतु यदि केवल एक तरफका व्यक्ति ही सचेतन हो और दूसरा पशुवत् हो तो क्या होगा?

यदि केवल एक ही सचेतन हो? पर इस बारेमें तुम जानते ही क्या हो? कैसे और किस स्तरसे तुम यह निर्णय करते हो कि दूसरा सचेतन नहीं है?

उत्तर देनेके ढंगसे।

पर शायद वह तुम्हारे बारेमें यही सोचता हो!

अच्छा, लो मैं तुम्हें बताती हूं कि जबतक दूसरेसे बात करते समय तुम उसमें भागवत उपस्थितिको संबोधित नहीं करते, तबतक इसका मतलब यही होता है कि तुम अपने अंदर भी उसके प्रति सचेतन नहीं हो। और उस हालतमें दूसरे व्यक्तिकी अवस्थाके बारेमें निर्णय देना एक बहुत बड़ी ढिठाई है। तुम उसके बारेमें जानते ही क्या हो? यदि तुम स्वयं दूसरे-में भगवान्के प्रति सचेतन नहीं हो तो तुम किस अधिकारसे कह सकते हो कि वह उनके बारेमें सचेतन है या नहीं? किस आधारपर? अपनी तुच्छ बाह्य बुद्धिके? किंतु वह तो कुछ भी नहीं जानती! वह किसी भी चीजको देखनेमें बिलकुल असमर्थ है।

जबतक तुम्हारी दृष्टि सब चीजोंमें **सतत रूपसे** भगवान्के दर्शन नहीं करती तबतक दूसरे किस स्थितिमें हैं इसपर निर्णय देनेका न केवल तुम्हें अधिकार नहीं होता, बल्कि तुम्हारे अंदर क्षमता भी नहीं होती। और ऐसी अवस्था पाये बिना जिसमें यह दृष्टि सहज और अनायास रूपमें सतत बनी रहे किसी व्यक्तिके बारेमें राय देना मनकी धृष्टताको सूचित करता है जो कि ठीक वही चीज है जिसके बारेमें श्रीअरविंदने हमेशा कहा है...। और होता यह है कि जिसमें यह दृष्टि और चेतना है, जो सब वस्तुओंमें स्थित सत्य देख सकता है, उसे कभी किसी वस्तुका, चाहे वह कुछ भी हो, मूल्यांकन करनेकी आवश्यकता अनुभव नहीं होती। क्योंकि वह प्रत्येक वस्तुको समझता और जानता है। फलस्वरूप तुम्हें यह बात निश्चित रूप-से बता देनेकी जरूरत है कि जिस क्षण तुम वस्तुओं, व्यक्तियों और परि-स्थितियोंका मूल्यांकन करने लगते हो तुम सर्वथा मानवी अज्ञानमें होते हो।

इसे सारांशमें यों कह सकते हैं: जब तुम समझते हो तो मूल्यांकन करने नहीं बैठते और जब मूल्यांकन करते हो तो इसका मतलब होता है कि तुम जानते ही नहीं।

मूल्यांकन उन पहली चीजोंमेंसे है जो, इससे पहले कि तुम अतिमानसके पथपर एक कदम भी धर सको, चेतनामेंसे पूरी तरह साफ हो जानी चाहिये, कारण यह भौतिक प्रगति या शारीरिक प्रगति नहीं है, यह केवल विचारकी एक बहुत जरा-सी प्रगति, मानसिक प्रगति है। और जबतक तुम अपने मनमेंसे इस सब अज्ञानका पूरी तरह सफाया नहीं कर देते तुम अतिमानसके पथपर एक कदम भी चलनेकी आशा नहीं कर सकते।

वास्तवमें, तुमने ऐसी बात कही है जो बहुत भयंकर है। यह कहकर

कि "यदि वह पशुवत् है तो मैं उसकी अंतरात्माको संबोधित नहीं कर सकता," तुमने अपना ही परिचय दिया है... तुमने अपनेपर ही लेबल लगाया है। खैर।

उन सब लोगोंने जिन्हें भागवत उपस्थितिका सच्चा और निश्छल अनुभव प्राप्त हो चुका है, उन सबोंने जो सचमुच भगवान्के संपर्कमें रह चुके हैं हमेशा कहा है कि कभी-कभी, बल्कि प्रायः ही मनुष्योंद्वारा अत्यन्त निंदित, अत्यन्त उपेक्षित और मानव 'बुद्धि' द्वारा अत्यधिक तिरस्कृत वस्तुमें भी तुम दिव्य प्रकाशकी चमक पा सकते हो।

ये कोरे शब्द नहीं हैं, ये सजीव अनुभूतियां हैं।

अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ, ऊंच-नीचके सब विचार, सब धारणाएं मानव मनके अज्ञानसे संबंध रखती हैं, यदि तुम सचमुच भागवत जीवनके संपर्कमें आना चाहते हो तो तुम्हें इस अज्ञानसे पूरी तरह मुक्त हो जाना चाहिये, तुम्हें चेतनाकी ऐसी भूमिकामें उठ जाना चाहिये जहां ये विचार कोई वास्तविकता **नहीं** रखते। (वहां) ऊंच-नीचकी भावना पूरी तरह समाप्त हो जाती है, इसका स्थान एक दूसरी चीज ले लेती है जिसका स्वरूप बहुत भिन्न होता है — यह एक प्रकारसे बाह्य प्रतीतियोंको पार करने और ऊपरी आवरणोंको वेधने और दृष्टि-बिन्दुको बदलनेकी क्षमता है।

और ये शब्द नहीं हैं, यह बिल्कुल सच है कि **प्रत्येक वस्तु**का रूप पूरी तरह बदल जाता है, जीवन और सब वस्तुएं जैसी लगती थीं उससे बिलकुल भिन्न हो जाती हैं।

वह समस्त सांसारिक संपर्क, अर्थात् संसारके प्रति वह साधारण दृष्टि (जो पहले थी) अपनी वास्तविकता पूरी तरह खो देती है। वही अवास्तविक, माया, मिथ्या, असत् प्रतीत होने लगता है। कोई दूसरी चीज — जो बहुत पार्थिव, यथार्थ, भौतिक है — सत्ताकी वास्तविकता बन जाती है और देखनेके सामान्य तरीकेके साथ इसका कुछ मेल नहीं होता। जब व्यक्ति उस दृष्टिको पा जाता है — जो दृष्टि दिव्य शक्तिके कार्यको देखती है, उस गतिको देखती है जो बाह्य प्रतीतियोंके पीछे, उनके अंदर, उनके द्वारा कार्य करती है — तो वह सामान्य मानव मिथ्यात्वमें निवास करनेकी अपेक्षा किसी अधिक सत्य वस्तुमें निवासके लिये तैयार हो जाता है, पर उससे पहले नहीं।

इसमें समझौता नहीं होता, समझे? यह बीमारीके बाद धीरे-धीरे स्वस्थ होने जैसी चीज नहीं है: तुम्हें जगतोंकी अदला-बदली करनी होती है। जबतक तुम्हारा मन तुम्हारे लिये वास्तविक है, तुम्हारा सोचनेका तरीका तुम्हारे लिये सच्चा, वास्तविक, यथार्थ है, यह प्रमाणित करता है कि तुम

अभी वहां नहीं पहुंचे हो। तुम्हें पहले दूसरी ओर पहुंचना होगा, तभी तुम उसे समझ सकोगे जो मैं कह रही हूं।

दूसरी ओर पहुंचो।

यह सच नहीं है कि व्यक्ति थोड़ा-थोड़ा करके समझ सकता है, यह ऐसी बात नहीं है। इस प्रकारकी प्रगति दूसरी है। अधिक सत्य यह है कि व्यक्ति एक खोलमें बन्द है और इस खोलके अंदर कुछ चीज बन रही है जैसे अण्डेमें मुर्गीका बच्चा। यह अंदर तैयार होता रहता है। यह अंदर होता है, तुम इसे नहीं देखते। खोलके अंदर कुछ होता है, परन्तु व्यक्ति बाहर कुछ नहीं देखता। और जब सब तैयार हो जाता है तभी खोलको भेदने और तोड़कर बाहर आ जानेकी सामर्थ्य प्राप्त होती है। ऐसा नहीं है कि व्यक्ति अधिकाधिक गोचर या दृश्य बनता जाता है: व्यक्ति अंदर बंद होता है — अंदर बंद — और संवेदनशील व्यक्तियोंको तो ऐसा भयंकर अनुभव होता है कि वे दबे जा रहे हैं, वे बाहर निकलनेकी कोशिश कर रहे हैं पर सामने एक दीवार है, वे टकराते हैं, टकराते हैं, टकराते जाते हैं पर बाहर नहीं निकल पाते।

और जबतक व्यक्ति वहां, अंदर होता है, वह मिथ्यात्वमें रहता है और जिस दिन भगवान्‌की कृपासे उस खोलको तोड़कर बाहर प्रकाशमें आ जाता है, वह स्वतंत्र हो जाता है।

यह एकाएक, सहज रूपमें, बिलकुल अप्रत्याशित रूपमें हो सकता है।

मुझे नहीं लगता कि व्यक्ति धीरे-धीरे पार जा सकता है। मुझे नहीं लगता कि यह एक ऐसी चीज है जो आहिस्ता-आहिस्ता घिसती जाती है और एक दिन तुम पार देखने योग्य हो जाते हो। मुझे अबतक एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला। बल्कि वहां, अंदर शक्तिका ऐसा जमाव, आवश्यकताकी ऐसी घनता और प्रयत्नमें ऐसी धीरता होती है जो समस्त भय, चिंता और गणनासे मुक्त हो जाती है, वह आवश्यकता ऐसी जबर्दस्त होती है कि व्यक्ति परिणामकी फिर कोई परवाह नहीं करता।

व्यक्ति एक विस्फोटककी तरह हो जाता है, जिसे कोई रोक नहीं सकता और वह फूट पड़ता है, अपने कारागारसे बाहर जाज्वल्यमान प्रकाशमें निकल जाता है।

उसके बाद वह कभी पीछे नहीं लौटता।

सचमुच, यह एक नया जन्म होता है।

३ जुलाई, १९५७

मुझसे पूछा गया है कि क्या हम सामूहिक योग कर रहे हैं और सामूहिक योगकी शर्तें क्या हैं।

मैं सबसे पहले तो यह कह सकती हूं कि सामूहिक योग करनेके लिये यह आवश्यक है कि हम एक समूह हों (!) और फिर यह कि समूह होनेके लिये कौन-कौन-सी शर्तें हैं। पर गत रात्रि (मुस्कराते हुए) मुझे यहांके अपने समूहका एक प्रतीकात्मक स्वप्न आया।

यह स्वप्न मुझे रातके पहले पहरमें आया और उसकी अप्रिय छापने मुझे जगा दिया। मैं दुबारा सो गयी और इसे पूरी तरह भूल गयी और अभी जब मैंने इस पूछे गये प्रश्नके बारेमें सोचा तो सहसा वह स्वप्न-दर्शन वापस आ गया। यह इतनी अधिक तीव्रताके साथ और इतने अनिवार्य रूपमें वापस आया कि अब जब कि मैं तुम्हें ठीक यह बताना चाहती थी कि श्रीअरविंदने 'दिव्य जीवन'के अंतिम अध्यायमें जिस आदर्श समूहका वर्णन किया है — यह वर्णन एक अतिमानसिक, विज्ञानमय समूहका है, और केवल वही श्रीअरविन्दका पूर्ण योग कर सकता है और वह एक ऐसे प्रगतिशील सामूहिक शरीरमें भौतिक रूपमें चरितार्थ हो सकता है जो अधिकाधिक दिव्य बनता जा रहा हो — उसके अनुसार हम किस प्रकारके समूहको चरितार्थ करना चाहते हैं, तो उस स्वप्न-दर्शनकी स्मृति इतनी अनिवार्य हो उठी कि उसने मुझे उसे कहनेसे रोक दिया।

इसका प्रतीक बहुत स्पष्ट था, यद्यपि वह, ऐसा कहा जा सकता है कि, बहुत परिचित ढंगका था, पर ठीक अपनी परिचितताके कारण वह इतना वास्तविक है कि उसमें भ्रांति नहीं हो सकती . . .। यदि मैं इसे विस्तारसे सुनाऊं तो शायद तुम समझ नहीं सकोगे, यह काफी जटिल था। यह कुछ इस प्रकारका बिम्ब था — कैसे कहूं ? — जैसे एक बड़ा भारी होटल हो, जिसके विभिन्न कमरोंमें समस्त पार्थिव संभावनाओंका वास था। और यह सब निरंतर एक रूपांतरणकी अवस्थामें था; सभी लोगोंके अंदर रहते, भवनके कुछ भाग अथवा पूरे-के-पूरे खंड एकाएक ध्वस्त कर दिये जाते और फिर नये बनाये जाते थे। यह सब इस तरह हो रहा था कि यदि कोई व्यक्ति इधर-उधर घूम रहा हो, चाहे वह इसी विशाल होटलके अंदर हो, तो यह खतरा था कि जब वह अपने कमरेमें वापस आना चाहे तो दुबारा अपना कमरा न पा सके! क्योंकि वह ध्वस्त किया जा चुका होगा और एक दूसरी ही योजनाके अनुसार फिरसे बनाया जा रहा होगा।

वहां व्यवस्था थी, प्रबंध था....... और वहां वह अजीब अस्तव्यस्तता भी थी जिसका मैंने जिक्र किया है, और उसमें एक प्रतीक था। वहां एक प्रतीक था जो निश्चित रूपसे उसपर लागू होता है जो श्रीअरविन्दने यहां[1] शरीरके रूपांतरकी आवश्यकताके बारेमें लिखा है, कि जीवनको दिव्य जीवनमें परिवर्तित करनेके लिये किस प्रकारका रूपांतर होना चाहिये।

यह स्वप्न कुछ-कुछ इस प्रकार था: कहीं, इस विशाल मकानके बीचोंबीच एक कमरा सुरक्षित था, कहानीमें ऐसा लगता था कि यह मां और उसकी बेटीके लिये है। मां एक बड़ी बूढ़ी औरत थी, बहुत सत्तावाली एवं अति महत्त्वपूर्ण अध्यक्षा थी और सारी व्यवस्थाके बारेमें उसके अपने विचार थे। बेटीके पास गति और क्रियाकी एक प्रकारकी ऐसी शक्ति थी जिससे वह तुरत सब जगह उपस्थित हो सकती थी, तब भी जब कि वह उस कमरेमें होती थी जो.......हां, वह कमरेसे कुछ बड़ा एक कोठा-सा था और सबसे बड़ी बात यह कि वह ठीक बीचोंबीच लगता था। परंतु वह अपनी मांके साथ हमेशा बहसमें लगी रहती थी। मां चाहती थी कि चीजें जैसी थीं वैसी ही बनी रहें, उनका छंद वही रहे जो पहले था, अर्थात्, ठीक उसी पुरानी पद्धतिसे चलता रहे कि एक चीजको ध्वस्त कर उससे दूसरी चीज बना ली जाय और फिर कोई और चीज बनानेके लिये इसे भी नष्ट कर दिया जाय — इससे वह मकान भयंकर रूपसे अस्त-व्यस्त लगता था। और इस कारण बेटीको वह सब पसंद नहीं था, उसकी एक और योजना थी। वह सबसे पहले इस व्यवस्थामें कुछ बिलकुल नयी चीज, एक प्रकारकी उच्चतर व्यवस्था ले आना चाहती थी जिससे यह सारी अस्तव्यस्तता आवश्यक न रह जाय। अंतमें, चूंकि समझौतेपर पहुंचना असंभव था इसलिये वह निरीक्षणका चक्कर लगानेके लिये कमरेसे बाहर चली गयी। उसने अपना चक्कर लगाया, हर चीज देखी और फिर अपने कमरेमें वापस जाना चाहा (क्योंकि यह उसका भी कमरा था), ताकि वह कोई सुनिश्चित कार्रवाई कर सके। और तब एक बिलकुल विचित्र चीज शुरू हुई। उसे अच्छी तरह ख्याल था कि उसका कमरा किस जगह था, किंतु हर बार जब-जब उसने उधर जानेका रास्ता पकड़ा या तो सीढ़ियां गायब हो गयीं या फिर चीजें इतनी अधिक बदल गयीं कि वह अपना रास्ता न पहचान सकी! और इस कारण वह यहां गयी, वहां गयी, ऊपर चढ़ी, नीचे उतरी, ढूंढ़ा, बाहर गयी, वापस आयी... अपने कमरेमें

---

[1]अतिमानसिक अभिव्यक्ति

वापस जानेका रास्ता पाना असंभव था! ऐसा लग रहा था मानों यह सब एक भौतिक रूपमें हो रहा है, मैं बता चुकी हूं कि यह रूप बहुत ही परिचित और सामान्य था, और जैसा कि इन सब प्रतीकात्मक स्वप्नोंमें सदा होता है, वहां कहीं (इसे कैसे कहूं?) इस होटलका एक प्रबंध-विभाग भी था और एक महिला थी जो एक प्रकारसे इस होटलकी प्रबंध-संचालिका (मैनेजर) थी, जिसके पास सब चाबियां थीं और प्रत्येक व्यक्ति कहां ठहरा है इसे जानती थी। तो बेटी इस महिलाके पास गयी और पूछा: "क्या आप मेरे कमरेका रास्ता बता सकेंगी?" — "आह, हां, निश्चय ही, यह बहुत सरल है।" चारों तरफ जो लोग थे उन्होंने उसे ऐसे देखा मानों कह रहे हों, "यह तुम कैसे कह सकती हो?" परंतु वह उठी, और उसने साधिकार एक कमरेकी, उस कमरेकी चाबी मांगी और कहा, "मैं तुम्हें वहां लिये चलती हूं।" फिर उसने तरह-तरहके रास्ते पकड़े, बड़े ही जटिल, और बड़े बेतुके! और बेटी बड़े ध्यानसे उसका अनुसरण कर रही थी कि कहीं वह आंखसे ओझल न हो जाय। और ठीक उसी क्षण जब उन्हें उस स्थानपर पहुंच जाना चाहिये था जहां वह तथाकथित कमरा था, एकाएक मैनेजर (हम उस महिलाको अब मैनेजर कहेंगे), वह मैनेजर अपनी चाबी सहित...... विलुप्त हो गयी! और विलुप्त हो जानेका यह संवेदन इतना तीव्र था कि ... सभी कुछ एक साथ विलुप्त हो गया।

यदि ...। इस पहेलीको समझनेमें सहायता देनेके लिये मैं तुम्हें यह बता सकती हूं कि मां अपने वर्तमान स्वरूपमें भौतिक प्रकृति है और बेटी है नयी सृष्टि। मैनेजर मानसिक चेतना है, प्रकृतिने संसारको अभीतक जैसा बनाया है उसकी वह व्यवस्थापिका है, अर्थात्, वर्तमान भौतिक प्रकृतिमें अभिव्यक्त उच्चतम व्यवस्था-बोध है। यह इस स्वप्न-दर्शनकी कुंजी है। अवश्य ही, जब मैं दुबारा उठी तो तुरत जान गयी कि समस्याका — जिसे सुलझाना असंभव लगता है — समाधान क्या हो सकता है। मैनेजर और चाबीका विलुप्त हो जाना स्पष्ट चिह्न था कि वह उसे, जिसे हम नये संसारकी सर्जिका चेतना कह सकते हैं, अपने सच्चे स्थानपर पहुंचानेमें बिलकुल असमर्थ थी।

मैं इसे जानती थी पर मैंने इसका समाधान नहीं देखा था, जिसका मतलब होता है कि यह एक ऐसी चीज है जिसे अभी चरितार्थ होना है। यह उस मकानमें, उस अजीब इमारतमें अभीतक चरितार्थ नहीं हुई थी। और बस, चेतनाका यही प्रकार इस संगति-विहीन सृष्टिको किसी ऐसी चीजमें परिवर्तित कर देगा जो वास्तविक हो, सच्चे ढंगसे सोच-विचारकर, संकल्पपूर्वक क्रियान्वित की गयी हो, जिसमें एक केंद्र हो जो अपने सच्चे स्थान-

पर, एक जाने-पहचाने स्थानपर हो और उसके पास **सच्ची** कार्यकारी शक्ति हो।

(मौन)

प्रतीक बिलकुल स्पष्ट है : सभी संभावनाएं और सभी क्रियाएं मौजूद हैं पर हैं अव्यवस्थित और अस्त-व्यस्त। उनमें न तो सामंजस्य है और न ही वे केंद्रीय सत्य, चेतना और संकल्पके चारों ओर केंद्रित व एकत्रित हैं। तो अब हम वापस आते हैं ... ठीक इस सामूहिक योगके प्रश्नपर और उस समूहपर जो इसे चरितार्थ करेगा, अर्थात्, इस बातपर कि वह समूह किस प्रकारका होगा।

निश्चय ही यह कोई मनमानी रचना नहीं होगी जैसी कि मनुष्य बनाते हैं जिसमें वे चीजोंको ऐसे ही बेतरतीब, बिना किसी व्यवस्था और वास्तविकताके रख देते हैं; और सारी चीज केवल कुछ अवास्तविक कड़ियोंद्वारा एक साथ जुड़ी रहती है। यहां उसका प्रतीक हैं होटलकी दीवारें। और सामान्य मानवी रचनाओंमें (यदि हम उदाहरणके तौरपर धार्मिक समाजको लें तो), वास्तवमें, उसका प्रतीक जो चीजें हैं वे हैं मठकी इमारत एवं वस्त्रों, क्रियाओं तथा गतिविधिकी एकरूपता — मैं इसे और अधिक स्पष्ट करके कहती हूं : सबका परिधान एक-सा होता है, सब एक समयपर उठते, एक-सा खाना खाते, एक-सी प्रार्थना करते हैं इत्यादि-इत्यादि, वहां एक सामान्य समानता होती है, पर अंदर चेतनाओंकी बड़ी विषमता होती है, प्रत्येक अपने ही ढंगसे चलता है, क्योंकि यह समानता जो लगभग विश्वास और मतकी अभिन्नतातक पहुंच जाती है बिलकुल भ्रामक समानता है।

यह मानव-समूहका अत्यंत सामान्य प्रकार है : लोग किसी समान आदर्श, समान कर्म, समान उपलब्धिके चारों ओर एकत्रित, संयुक्त, सम्मिलित होते हैं, पर होते हैं बिलकुल कृत्रिम ढंगसे। इसके विपरीत श्रीअरविन्द हमें बताते हैं कि एक सच्चा समाज — जिसे वह विज्ञानमय या अतिमानसिक समाज कहते हैं — केवल प्रत्येक सदस्यकी आंतरिक उपलब्धिके आधारपर ही टिक सकता है जिसमें प्रत्येक समाजके अन्य सब सदस्योंके साथ अपनी सच्ची और यथार्थ एकता व समानता महसूस करने लगे, अर्थात्, प्रत्येकको यह महसूस होना चाहिये कि वह एक सदस्य नहीं है जो जिस किसी तरह औरोंसे जुड़ा हुआ है, बल्कि सब एकमें हैं, उसीमें हैं। प्रत्येकके लिये दूसरे सब इतने अधिक अपने होने चाहिये जितना उसका अपना शरीर, और वह

भी मानसिक या कृत्रिम तौरसे नहीं, वरन् चेतनाके तथ्यके द्वारा, आंतरिक उपलब्धिके द्वारा।

(मौन)

इसका मतलब है कि इस विज्ञानमय समाजको चरितार्थ करनेकी अभीप्सा करनेसे पहले प्रत्येक व्यक्तिको पहले विज्ञानमय सत्ता बनना चाहिये (या कम-से-कम बनना शुरू कर देना चाहिये)। यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत कार्य आगे-आगे चलना चाहिये और सामूहिक कार्य उसके पीछे-पीछे; परंतु होता ऐसा है कि सहज-स्वाभाविक रूपमें, या यूं कहें, संकल्पके मनमाने हस्त-क्षेपके बिना, व्यक्तिगत प्रगति सामाजिक अवस्थाद्वारा नियंत्रित या शिथिल कर दी जाती है। व्यक्ति और समूहके बीच एक ऐसी परस्पर-निर्भरता है जिससे चाहकर भी अपने-आपको पूरी तरह मुक्त नहीं किया जा सकता। यहांतक कि वह व्यक्ति भी जो अपने योगमें चेतनाकी पार्थिव और मानव अवस्थासे अपने-आपको पूरी तरह मुक्त करनेकी कोशिश कर रहा है, समूचे जन-समूहके साथ, कम-से-कम अपनी अवचेतनामें, बंधा रहता है, जो उसपर लगाम या रोक लगाती है, यहांतक कि पीछेकी ओर **खींचती** भी है। व्यक्ति बहुत तेजीसे आगे बढ़नेका प्रयत्न कर सकता है, आसक्ति और उत्तर-दायित्वके सारे बोझको उतार फेंकनेके लिये प्रयत्न कर सकता है, पर सब कुछके बावजूद, उपलब्धि, उस व्यक्तिकी भी उपलब्धि जो अत्युच्च ऊंचाई-पर है और विकास-पथपर सबसे आगे है, समष्टिकी उपलब्धिपर, पृथ्वीपर मानव-समूहकी अवस्थापर निर्भर है। और यह चीज निश्चय ही पीछेकी ओर खींचती है, यहांतक कि कभी-कभी तो जो चीज उपलब्ध करनी है उसे पानेके लिये पृथ्वीके तैयार होनेकी शताब्दियोंतक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

यही कारण है कि श्रीअरविन्दने भी, किसी और जगह, यह कहा है कि दोहरी क्रियाकी आवश्यकता है, और यह कि व्यक्तिगत प्रगति और उप-लब्धिके लिये किये जानेवाले प्रयत्नमें, समूचे समाजको ऊपर उठानेके प्रयत्न व उपक्रमको भी मिला देना चाहिये, ताकि वह उस प्रगतिको साधित कर सके जो व्यक्तिकी महत्तर प्रगतिके लिये अनिवार्य है : कहा जा सकता है कि यह सामूहिक प्रगति व्यक्तिको एक और कदम आगे बढ़ानेका अवसर देगी।

और अब, मैं तुम्हें यह बताती हूं कि यही कारण था जिससे मैंने सोचा कि यह उपयोगी रहेगा कि सम्मिलित ध्यान किये जायं ताकि एक ऐसे सामूहिक वातावरणके निर्माणका कार्य हो सके जो गत रात्रिके मेरे विशाल होटलसे कुछ अधिक व्यवस्थित हो!

तो, इन ध्यानोंका (जो धीरे-धीरे अब अधिक बार हुआ करेंगे क्योंकि अब हम "वितरण"[१]के स्थानपर भी ध्यान किया करेंगे) जो सबसे अच्छा लाभ तुम उठा सकते हो वह यह है कि अपने अंदर, जितना तुम जा सकते हो, जाओ और अपनी सत्ताकी गहराईमें उस स्थानका पता लगाओ जहां तुम एकताके वातावरणको महसूस कर सको, प्रत्यक्ष कर सको और संभवतः बना भी सको, इस एकताके वातावरणमें व्यवस्था और संगठनकी शक्ति प्रत्येक तत्त्वको उसके अपने स्थानपर रख सकेगी और इस वर्तमान अस्तव्यस्ततामेंसे एक नये, सुसमंजस संसारकी रचना कर सकेगी। अच्छा।

९ जुलाई, १९५७

बच्चोंके साथ यह बातचीत असामान्य
रूपसे मंगलवारको ध्यानसे पहले हुई थी।

हमने कहा था कि हम अपने-आपको विधिवत् साधनाके लिये तैयार कर रहे हैं...। इस विषयमें एक बात ऐसी है जिसपर मैं पहले भी बहुत जोर दे चुकी हूं, पर खेद है तुम लोगोंपर उसका कुछ अधिक असर नहीं हुआ। मुझे ख्याल आया कि भावी साधनाके निमित्त तुम्हें तैयार करनेके लिये शायद उसीसे शुरू करना अच्छा रहेगा।

तो, आजके हमारे ध्यानका विषय होगा: "वाणीके असंयमद्वारा होनेवाली हानि।"

अनेक बार मैंने तुमसे यह कहा है कि प्रत्येक शब्द जो निरर्थक रूपमें बोला जाता है एक खतरनाक बकवास है। पर इस प्रसंगमें, "स्थिति" अब चरम सीमापर पहुंच गयी है (ऐसी कई बातें हैं जो कही गयी हैं, बार-बार कही गयी हैं, और उन सबने जिन्होंने मनुष्य-जातिको पूर्ण बनानेका प्रयत्न किया है उन्हें दोहराया है — दुर्भाग्यवश उनका अधिक फल नहीं निकला), यह प्रश्न है निन्दात्मक बातचीतका... परापवादका, उस रसका जो दूसरोंकी बुराई करनेसे मिलता है। जो इस असंयममें लिप्त होता है वह

---

[१] उन दिनों माताजी खेलके मैदानमें खेल-कूदके बाद मूंगफली या कुछ मिठाई बांटा करती थीं — अनु.

अपनी चेतनाको नीचे गिराता है, पर इस असंयमके साथ जब व्यक्ति गन्दी तकरार पर उतर आता है और अशिष्ट शब्दोंका प्रयोग करता है तो वह आत्महत्याके बराबर है, अपने अंदर आध्यात्मिक आत्म-हत्याके बराबर है।

मैं इस बातपर जोर देती हूं और आग्रहपूर्वक कहती हूं कि इसे अत्यन्त गंभीरतासे लो।

(ध्यान)

१० जुलाई, १९५७

"यह भी संभव है कि विकासका प्रवेग यह रूप ले कि स्वयं अंगोंका ही परिवर्तन हो जाय, उनकी क्रिया एवं उपयोगमें परिवर्तन आ जाय और उनके उपकरणत्वकी, बल्कि उनके अस्तित्वकी भी आवश्यकता बहुत कुछ कम हो जाय। सूक्ष्म शरीरके केंद्र ही –– व्यक्ति सूक्ष्म शरीरसे सचेतन हो जायगा और उसके अंदर जो कुछ होता है उसे जान जायेगा –– अपनी शक्तियोंको स्थूल स्नायु, चक्रों और तंतुओंमें उंडेल देंगे और वे शक्तियां फिर सारे स्थूल शरीरमेंसे विकीर्ण होंगी। इस प्रकार इस नये जीवनमें सारा भौतिक जीवन और उसके आवश्यक क्रिया-कलाप इन उच्चतर अभिकरणोंद्वारा अधिक स्वच्छंद और प्रचुर रूपमें तथा कम बोझिल और कम सीमाकारी पद्धतिसे चलते रहेंगे और संपादित होते रहेंगे। और यह क्रिया इतनी दूरतक जा सकती ह कि ये अंग अनिवार्य ही न रह जायं, बल्कि हो सकता है कि ये अत्यंत बाधक प्रतीत होने लगें : केंद्रीय शक्ति इनका व्यवहार कम-से-कम करती जा सकती और अंतमें उनके व्यवहारको पूरी तरह हटा सकती है। यदि ऐसा हुआ तो वे अंग पोषणके अभावमें क्षीण हो सकते हैं और नगण्य अवस्थाको प्राप्त हो सकते हैं या लुप्त हो सकते हैं। केंद्रीय शक्ति उनके स्थानपर बिलकुल भिन्न गुण-धर्मवाले सूक्ष्म अंगोंको ला सकती है, और यदि किसी स्थूल वस्तुकी आवश्यकता हो तो ऐसे उपकरणोंको ले आ सकती है जो क्रिया-शक्तिके रूप या नमनीय वाहन हों,

> **हो सकता ह वे ऐसे अंग न हों जिन्हें हम जानते हैं। यह (परिवर्तन) शरीरके परमोच्च संपूर्ण रूपांतरका एक भाग हो सकता है, यद्यपि यह भी अंतिम नहीं होगा। ऐसे परिवर्तनों-की कल्पनाके लिये हमें बहुत आगेकी ओर देखना होगा और जो मन वस्तुओंके वर्तमान रूपसे आसक्त है वह उनकी संभा-वनापर विश्वास करनेमें असमर्थ हो सकता है। पर किसी आवश्यक परिवर्तनको लानेके विषयमें कोई ऐसी सीमा या असंभावना विकासके प्रवेगपर नहीं लादी जा सकती...। जिस चीजका अतिक्रमण करना है, जिस चीजका अब कोई उपयोग नहीं रह गया है या जो ह्रासको प्राप्त हो गयी है, जो सहायक नहीं रही, या जो बाधक बन गयी है, उसे छांटा एवं रास्तेमें छोड़ा जा सकता है। शरीरके विकासके, उसके शुरूके प्रारंभिक रूपसे लेकर अत्युन्नत रूप, मानव रूपतक हुए विकासके इतिहासमें यह बात स्पष्ट रही है, तो कोई कारण नहीं कि यही प्रक्रिया मानवसे दिव्य शरीरकी ओर संक्रमणमें क्यों न दखल करे। क्योंकि पृथ्वीपर दिव्य शरीरके आवि-र्भाव या निर्माणके लिये एक प्रारंभिक रूपांतर अवश्य होना चाहिये, एक नया, महत्तर एवं अधिक उन्नत रूप अवश्य प्रकट होना चाहिये, न कि छोटे-मोटे सुधारोंके साथ वर्तमान भौतिक रूप और उसकी सीमित संभावनाओंको ही चलते जाना चाहिये।"**
>
> (अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

एक नये जीवनकी, नये संसारकी स्वच्छन्द कल्पना कर सकनेके लिये सत्ताकी पुरानी आदतोंसे मुक्ति पानेमें सफल होना होगा जो काफी कठिन है। स्वभावतः, मुक्तिका प्रारंभ चेतनाके उच्चतम स्तरोंसे होता है: मनके लिये यह अधिक आसान है कि वह नयी चीजोंकी कल्पना कर ले अपेक्षा प्राण-के कि वह, उदाहरणार्थ, चीजोंको नये रूपमें महसूस करे और शरीरके लिये तो यह और भी कठिन है कि इसका विशुद्ध भौतिक बोध प्राप्त कर सके कि नया जगत् कैसा होगा। फिर भी यह बोध भौतिक रूपांतरसे **पहले होना** जरूरी है: पहले व्यक्तिको पुरानी चीजोंकी अस्वाभाविकता, और यदि ऐसा कह सकूं तो, उनमें वास्तविकताका अभाव अत्यन्त यथार्थ रूपमें **महसूस** होना चाहिये। उसे ऐसे महसूस होना चाहिये, बल्कि ऐसी ठोस छाप होनी चाहिये कि वे जीर्ण-शीर्ण, भूतकालकी वस्तुएं हैं और जिनके बने रहनेका कोई हेतु नहीं रह गया है। भूतकालकी वस्तुएं, जो ऐति-

हासिक बन चुकी हैं (जो उस दृष्टिसे अपना महत्त्व रखती हैं और वर्तमान और भविष्यको आगे बढ़ाती हैं), उनकी पुरानी छाप एक ऐसी गति है जो पुराने जगत्से संबंध रखती है: यह पुराना जगत् है जो अनावृत हो रहा है जिसका अपना भूत, वर्तमान और भविष्य है। पर जहांतक नये जगत्की सृष्टिकी बात है हम कह सकते हैं कि वहां केवल अवस्थांतर चल रहा है, देखनेमें ऐसा लगता है — ऐसी छाप डालता है कि दो चीजें हैं जो एक-दूसरेमें मिली हुई हैं, पर जो लगभग अलग-अलग हैं; भूतकालकी चीजोंमें, भले न्यूनाधिक परिवर्तन कर दिये जायें, नयी चीजोंके साथ बने रहनेकी शक्ति-सामर्थ्य नहीं रह गयी है। वह, वह नया जगत् हठात् एक **बिलकुल** नया ही अनुभव है। इससे मिलते-जुलते कालको जाननेके लिये हमें पीछेके उस समयमें जाना चाहिये जब पशुसे मानव सृष्टिमें संक्रमण हुआ था, पर उस समय चेतना इतने पर्याप्त रूपमें मानसिक नहीं हुई थी कि वह निरीक्षण कर सकती, समझ सकती और बुद्धिपूर्वक अनुभव कर सकती — संक्रम बिलकुल अविज्ञात रूपमें बनाना पड़ा होगा। इसलिये जिस चीजके बारेमें मैं कह रही हूं वह पार्थिव सृष्टिमें बिलकुल नयी है, **अपूर्व** है, ऐसी चीज है जिसका कोई पूर्व-दृष्टांत नहीं, सचमुच यह एक ऐसा बोध या संवेदन या छाप है... जो बिलकुल निराला और नया है। (थोड़ी चुप्पीके बाद) एक स्थानान्तरण; एक ऐसी वस्तुसे जो अनावश्यक रूपसे बनी हुई है और जिसके पास, बस, बहुत गौण-सी अस्तित्व-शक्ति शेष है एक ऐसी वस्तुकी ओर जो बिलकुल नयी है, पर जो इतनी छोटी है, इतनी अलक्ष्य है, कह सकते हैं, अभी प्रायः दुर्बल ही है; उसके पास अभी अपना प्रभाव डालने, अपने स्वत्वको स्थापित करने, अपनी प्रभुता जमानेकी इतनी शक्ति नहीं है कि वह दूसरेका स्थान ले सके। इस कारण दोनों साथ-साथ बनी हुई हैं, पर, जैसा कि मैंने कहा है, एक दूसरेको स्थानांतरित करती हुई, अर्थात्, दोनोंके बीच संबंध गुम है।

इसका वर्णन करना कठिन है, परंतु यह बात मैं तुमसे इसलिये कह रही हूं क्योंकि यही चीज थी जिसे मैंने कल शाम महसूस किया था। मुझे यह इतनी तीव्रतासे महसूस हुई... कि उसने मुझे कुछ चीजें दिखलायीं और एक बार जब मैं उन्हें देख चुकी तो मुझे लगा कि इनके बारेमें तुमसे कहना मजेदार रहेगा।

(मौन)

यह विचित्र बात है कि इतनी नयी, इतनी विशेष और मैं कह सकती

हूं कि इतनी अप्रत्याशित चीज सिनेमा[1] दिखाये जाते समय घटी। जो लोग यह मानते हैं कि कुछ चीजें महत्त्वपूर्ण हैं और कुछ नहीं, कुछ क्रिया-कलाप योगमें सहायक हैं दूसरे नहीं, हां, उनके लिये यह एक और अवसर है जो उन्हें झुठलाता है। मैंने सदा यह पाया है कि अप्रत्याशित चीजें ही सबसे रोचक अनुभव प्रदान करती हैं।

कल शाम एकाएक कुछ ऐसी चीज हुई जिसका मैंने अभी, जितनी अच्छी तरह मुझसे हो सका, वर्णन किया है (मुझे मालूम नहीं कि मैं तुम्हें अपनी बात समझानेमें सफल हुई या नहीं), पर यह चीज सचमुच बिलकुल नयी और एकदम अप्रत्याशित थी। हमें गंगा-किनारे स्थित एक मंदिरमें मूर्तिका चित्र दिखाया गया था, जो काफी भद्दा-सा था (क्योंकि मैं समझती हूं कि यह मूर्तिका फोटो रहा होगा, मैं इस बारेमें कोई ठीक जानकारी नहीं प्राप्त कर सकी), जब मैं उस चित्रको देख रही थी, जो देखनेमें बहुत साधारण-सा और जैसा मैंने कहा काफी भद्दा था, तो मैंने उस वास्तविकताको भी देखा था जिसे वह निरूपित करनेका प्रयत्न कर रहा था और जो उसके पीछे था, और उसने मुझे उस समूचे जगत्के संपर्कमें ला दिया जो धर्मका, पूजा-उपासनाका, अभीप्साका और देवताओंके साथ मनुष्यके संबंधका जगत् था, — मैं पहले ही भूतकालकी क्रियाका प्रयोग कर रही हूं — जो मनुष्यका अपनेसे दिव्यतर किसी चीजको पानेके आध्यात्मिक प्रयासका पुष्प-रूप था, कुछ ऐसी चीज थी जो अपनेसे उच्चतर वस्तुकी ओर उसके प्रयत्नकी उच्चतम और लगभग शुद्धतम अभिव्यक्ति थी। और एकाएक बहुत यथार्थ और ठोस रूपमें मुझपर यह छाप पड़ी कि यह एक दूसरा ही जगत् है, ऐसा जगत् है जो अब वास्तविक और सजीव नहीं रहा, जो पुराना हो चुका है, अपनी वास्तविकता, अपना सत्य खो चुका है, किसी ऐसी चीजने, जिसने अभी जन्म ग्रहण किया है, इसे अतिक्रांत कर दिया है, पीछे छोड़ दिया है। उसने अपने-आपको व्यक्त करना केवल शुरू ही किया है, पर उसका जीवन इतना प्रबल, इतना सत्य और इतना उदात्त है कि उसके आगे यह सब मिथ्या, अवास्तविक और निःसार हो गया है।

---

[1]यहां उल्लेख "रानी रासमणि" नामक बंगला फिलमके बारेमें है जिसमें श्री रामकृष्ण परमहंसका जीवन अंशतः चित्रित किया गया है और रानी रासमणिका भी, जो एक धनी, अत्यन्त बुद्धिमती और धार्मिक प्रवृत्तिकी बंगाली विधवा थीं। उन्होंने १८४७ में दक्षिणेश्वर (बंगाल) में कालीका मंदिर बनवाया था। वहीं श्री रामकृष्ण रहा करते थे और कालीकी पूजा किया करते थे।

तब मैंने सचमुच समझा —— क्योंकि मैंने सिरसे या बुद्धिसे नहीं, बल्कि शरीरसे समझा, तुम समझ रहे हो कि मेरा क्या मतलब है —— शरीरके कोषाणुओंमें इसे समझा —— कि एक नये जगत्ने जन्म ले लिया है और बढ़ना शुरू कर रहा है।

जब मैंने यह सब देखा तो उससे मुझे एक चीजकी याद हो आयी जो .... मेरा ख्याल है कि मुझे ठीक याद है, सन् १९२६[1] में हुई थी।

श्रीअरविन्दने बाह्य कार्यका दायित्व मुझे सौंप दिया था क्योंकि वे अतिमानसिक चेतनाकी अभिव्यक्तिमें शीघ्रता लानेके लिये एकाग्रतामें निमग्न हो जाना चाहते थे। कुछ लोगोंसे जो वहां थे उन्होंने कहा था कि वे 'उन्हें सहायता एवं पथ-प्रदर्शनके लिये मुझे सौंप रहे हैं, स्पष्ट ही मैं उनके संपर्कमें रहूंगी और वे मेरे द्वारा कार्य करेंगे। चीजें एकाएक और जल्दी ही एक निश्चित रूप लेने लगीं; एक बहुत अद्भुत सृष्टि चरितार्थ की जा रही थी, असाधारण ब्योरोंतकमें; अद्भुत अनुभव हो रहे थे, दिव्य सत्ताओंके साथ संपर्क प्राप्त होता था और सब प्रकारकी अभिव्यक्तियां हो रही थीं जिन्हें सामान्यतः चामत्कारिक समझा जाता है। अनुभव एक-पर-एक होने लगे थे, सचमुच चीजें बिलकुल अद्भुत रूपमें और.... मुझे कहना चाहिये, अतीव रोचक रूपमें आत्मप्रकाश कर रही थीं।

एक दिन, रोजानाकी तरह मैं श्रीअरविन्दको यह बताने गयी कि क्या हुआ है —— हम किसी ऐसी चीजतक पहुंच गये थे जो सचमुच बहुत ही दिलचस्प थी और शायद जो हुआ था उसे सुनानेमें मैंने जरा अत्युत्साह दिखाया था —— तो श्रीअरविन्दने मेरी ओर ताका... और कहा: "हां, यह अधिमानसिक सृष्टि है। यह बहुत रोचक है और बहुत सुन्दरतासे संपादित की गयी है। तुम चमत्कारोंको संपन्न कर सकोगी और वे तुम्हें सारे संसारमें प्रसिद्ध कर देंगे, तुम पृथ्वीपर सब घटनाओंको उलट-पुलट सकोगी, निश्चित ही...।" और फिर वे मुस्कराये और बोले: "यह **बहुत बड़ी** सफलता होगी। परंतु यह अधिमानसिक सृष्टि है। यह वह सफलता नहीं है जो हम चाहते हैं। एक नये जगत्की, अतिमानसिक जगत्की, उसकी समग्रतामें, सृष्टि कर सकनेके लिये तात्कालिक सफलताको कैसे छोड़ा जाता है यह जानना चाहिये।"

अपनी आंतरिक चेतनामें मैं तुरत समझ गयी: कुछ घंटोंके बाद वह

---

[1] यह सन् १९२६ की बात है कि श्रीअरविन्द एकांतमें चले गये और आश्रमकी आधिकारिक रूपसे स्थापना हुई।

सृष्टि समाप्त हो गयी . . .। और तबसे हमने फिरसे दूसरे आधारपर (कार्य) शुरू किया है।

हां तो, मैंने तुम लोगोंके सामने यह घोषणा की थी कि नया संसार उत्पन्न हो चुका है। परंतु यह पुराने संसारके भंवर-जालमें इतना अधिक निमग्न था कि आजतक बहुतोंको भेदका कुछ खास पता नहीं लगता। फिर भी नयी शक्तियोंका कार्य अत्यन्त नियमित रूपसे, अत्यन्त धीर-स्थिर रूपमें, अत्यन्त दृढ़ रूपमें और एक हदतक अत्यन्त प्रभावशाली रूपमें चल रहा है। मेरा कल शामका अनुभव — सचमुच इतना नवीन अनुभव — इस कार्यकी ही एक अभिव्यक्ति था। इस सारेका परिणाम मैंने उत्तरोत्तर रूपमें प्रायः प्रतिदिनके अनुभवोंमें लक्ष्य किया है। इसे संक्षेपमें, बल्कि सीधेसे रूपमें, इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

पहली बात तो यह कि यह आध्यात्मिक जीवन और दिव्य 'सद्वस्तु' का केवल एक 'नया विचार' मात्र नहीं है। इस विचारको श्रीअरविन्दने व्यक्त किया था और स्वयं मैंने भी इसे बहुत बार व्यक्त किया है, इसे कुछ-कुछ ऐसा रूप दिया जा सकता है : पुरानी आध्यात्मिकताका मतलब था जीवनसे भागकर दिव्य 'सद्वस्तु' में चले जाना और संसारको वहीं और उसी रूपमें छोड़ देना जहां और जिस रूपमें यह था, जब कि, इसके विपरीत, हमारी नयी दृष्टिका स्वरूप है जीवनको दिव्य बनाना, भौतिक जगत्को दिव्य जगत्में रूपांतरित करना। यह पहले कहा जा चुका है, बार-बार कहा जा चुका है, बल्कि थोड़ा-बहुत समझा भी जा चुका है, और निश्चय ही यही उस कार्यका आधारभूत विचार है जिसे हम करना चाहते हैं। परंतु यह ऐसे भी हो सकता था कि उन्नति और विस्तारके साथ पुराना जगत् ही बना रहता (और जबतक यह धारणा विचारके क्षेत्रमें मौजूद है, वस्तुतः यह उससे भिन्न चीज नहीं हो सकती), परंतु जो चीज हुई है, सचमुचमें नयी चीज, वह यह है कि एक नया संसार **जन्मा** है, **जन्मा** है, **जन्मा** है। यह रूपांतरित होता हुआ पुराना संसार नहीं है, बल्कि यह एक **नया** संसार है जो **जन्मा** है। और हम ठीक उस कालमें हैं जो संक्रमणका काल है जहां दोनों एक-दूसरेमें गुंथे हैं — जहां दूसरा अभी सर्वशक्तिमान् बना हुआ है और साधारण चेतनाको पूरी तरह शासित करता है, पर जहां नया भी चुपके-से घुस आता है, बहुत नम्र बने रहकर और बिना पता लगे — इसका पता इस हदतक नहीं लग पाता कि बाहरी रूपमें यह अभीतक अधिक उलट-फेर नहीं कर रहा और अधिकतर लोगोंकी चेतनाके लिये ही एकदम अलक्ष्य है। फिर भी यह कार्यरत है और बढ़ रहा है — समय आयेगा जब यह इतना प्रबल हो जायेगा कि दृश्य तौरपर भी अपनेको मनवा सकेगा।

जो भी हो, चीजोंको सरल ढंगसे प्रस्तुत करनेके लिये यह कहा जा सकता है कि पुराना संसार, जिसे श्रीअरविंदने अधिमानसिक सृष्टि कहा है, विशिष्ट रूपमें, देवताओंका युग था और फलस्वरूप धर्मोंका युग था। और जैसा कि मैंने कहा, यह अपनेसे उच्चतर वस्तुके प्रति मानव प्रयासका पुष्प-रूप था, इसने अनेक धर्मोंको जन्म दिया जो कि सर्वश्रेष्ठ आत्माओं और अदृश्य जगत्के बीच एक धार्मिक संपर्क-रूप थे। इन सबसे ऊपर एक और भी अधिक ऊंची उपलब्धिको पानेके प्रयत्नस्वरूप धर्मोंकी एकता-के विचारने, सब अभिव्यक्त धर्मोंके पीछे स्थित इस 'अद्वितीय किसी वस्तु'के विचारने जन्म लिया; और यह विचार, कहा जा सकता है कि, सचमुच मानव अभीप्साकी पराकाष्ठा थी। हां तो, यह है अग्रभाग, एक ऐसी चीज जो अभीतक **पूरी तरह** अधिमानसिक जगत्से, अधिमानसिक सृष्टिसे संबंध रखती है और वहांसें इस "दूसरी किसी चीज"को देखती प्रतीत होती है जो एक नयी सृष्टि है, पर इसे पकड़ नहीं पाती — इसतक पहुंचनेका प्रयत्न करती है, इसे आता हुआ अनुभव करती है, पर इसे समझ नहीं पाती। इसे समझनेके लिये (चेतनाका) विपर्यय जरूरी है। यह जरूरी है कि अधिमानसिक सृष्टिसे बाहर निकल आया जाय। नयी सृष्टि, अति-मानसिक सृष्टिको आना था।

और अब ये सब पुरानी चीजें इतनी पुरानी, इतनी अव्यवहार्य, इतनी अविहित प्रतीत होती हैं — जैसे ये वास्तविक सत्यकी विडंबना हों।

अतिमानसिक जगत्में धर्म नहीं रहेंगे। सारा जीवन ही जगत्में प्रकट होती हुई दिव्य 'एकता'की, रूपोंमें अभिव्यक्ति एवं प्रस्फुटन होगा। और जिन्हें लोग आज देवता कहते हैं वे भी नहीं रहेंगे।

ये महान् दिव्य सत्ताएं स्वयं भी नयी सृष्टिमें भाग ले सकेंगी; पर इसके लिये उन्हें उस परिधानके साथ जिसे "अतिमानसिक उपादान" कहा जा सकता है पृथ्वीपर आना होगा। और यदि उनमेंसे कुछ अपने ही जगत्में, जैसे वे हैं वैसे ही, बने रहना पसंद करें, यदि वे यह निश्चय करें कि उन्हें भौतिक रूपमें अभिव्यक्त नहीं होना है तो उनका संबंध अतिमानसिक पृथ्वीके प्राणियोंके साथ मित्रताका, सहयोगिताका, और बराबरीका संबंध होगा, क्योंकि उच्चतम दिव्य तत्त्व नये अतिमानसिक जगत्के प्राणियोंमें पृथ्वीपर प्रकट हो चुका होगा।

जब भौतिक उपादान अतिमानसिक रूप ले लेगा तो पृथ्वीपर जन्म लेना हीनताका परिचायक नहीं रह जायेगा, इसके ठीक विपरीत, इससे उस परि-पूर्णता एवं प्राचुर्यको प्राप्त किया जा सकेगा जो किसी और तरह नहीं पाया जा सकता।

परन्तु यह सब भविष्यकी बात है, उस भविष्यकी जो शुरू हो चुका है, पर इसे पूरी तरहसे चरितार्थ होनेमें कुछ समय लगेगा। इस बीच, हम एक ऐसी विशेष, अतीव विशेष अवस्थामें स्थित हैं जैसी पहले कभी नहीं आयी। हम उस वेलामें उपस्थित हैं जब नया जगत् जन्म ले रहा है, पर जो बहुत छोटा है, दुर्बल है — अपने सार-रूपमें नहीं बल्कि बाह्य अभिव्यक्तिमें — जो अभी पहचाना नहीं गया, अनुभव नहीं किया गया, और बहुतोंने तो उसे इंकार ही किया है। पर यह मौजूद है। मौजूद है और बढ़नेका प्रयत्न भी कर रहा है तथा परिणामके बारेमें सुनिश्चित है। तो भी इसतक पहुंचनेवाला पथ बिलकुल नया पथ है जिसपर अबतक कोई नहीं चला — कोई नहीं गया, किसीने अभीतक ऐसा नहीं किया! यह आरंभ है, **एक विश्वव्यापी आरंभ**। इसलिये यह एक बिल्कुल अप्रत्याशित और अकल्पित अभियान है।

कुछ लोगोंको अभियान प्रिय होते हैं। उन्हीं लोगोंका मैं आह्वान कर रही हूं और उनसे यह कहती हूं: "मैं तुम्हें इस महान् अभियानके लिये निमंत्रित करती हूं।"

यह आध्यात्मिक रूपसे उन्हीं कार्योंको, जिन्हें दूसरे हमसे पहले कर चुके हैं, दुबारा करनेका प्रश्न नहीं है, क्योंकि हमारा अभियान उससे आगेसे शुरू होता है। यह नयी सृष्टिका, बिल्कुल नयी सृष्टिका प्रश्न है जिसमें सब अनपेक्षित चीजें, संकट, खतरे एवं संयोग मौजूद हैं — यह सच्चे रूपमें एक अभियान है। इसका लक्ष्य है सुनिश्चित विजय, पर उधर जानेका मार्ग अज्ञात है, इसे बीहड़ प्रदेशमेंसे पग-पगपर खोजना होगा। यह एक ऐसी बात है जो इस वर्तमान जगत्‌में इससे पहले कभी नहीं हुई और इसी रूपमें फिर कभी होगी भी नहीं। यदि तुम्हें इसमें रुचि हो...। हां तो, हम चल पड़ें। कल तुम्हारे साथ क्या होगा — इस बाबत मैं कुछ नहीं जानती।

उस सबको एक तरफ रख दो जो पहले देखा जा चुका है, सोचा जा चुका है, बनाया जा चुका है और तब...अज्ञातमें चलना शुरू करो। जो होना है, हुआ करे! अच्छा।

१७ जुलाई, १९५७

किसीको पाठमेंसे कोई प्रश्न नहीं पूछना है ?... आज मेरे पास तुमसे कहनेके लिये कुछ विशेष नहीं है, और यदि तुम्हें कोई उत्सुकता न हो कि शरीरकी नयी पूर्णताएं क्या हो सकती हैं...

> **मां, यहां प्रचलित शारीरिक शिक्षामें हमारा उद्देश्य है: "शरीरपर अधिकाधिक नियंत्रण पाना", है न? और पिछली बार हमने जो पढ़ा था उसमें श्रीअरविंदने कहा है कि हठयोग और तांत्रिक पद्धतियां शरीरपर बहुत बड़ा नियंत्रण प्रदान करती हैं[1] तो हम अपनी प्रणालीमें इन पद्धतियोंको शामिल क्यों नहीं करते ?**

---

[1]कोई चीज हमारे अंदर है अथवा कोई चीज विकसित करनी होगी, संभवत: अपनी सत्ताके किसी केंद्रीय और अभीतक गुह्य अंगको विकसित करना होगा जो शक्तियोंसे भरा है और उसकी शक्तियां जिस हदतक प्रकट हो सकती थीं उनका केवल एक अंश ही हमारे प्रकृत और वर्तमान गठनमें प्रकट हुआ है, पर यदि वे शक्तियां पूरी तरह प्रकट एवं प्रभावशाली हो जायं तो वे आत्मा और अतिमानसिक सत्य-चेतनाकी ज्योति और शक्तिकी सहायतासे आवश्यक भौतिक रूपांतर साधित कर सकती एवं उसके फलोंको ला सकती हैं। इस चीजको तंत्र-विद्याद्वारा प्रकाशित एवं योग-पद्धतियोंद्वारा स्वीकृत चक्र-व्यवस्थामें पाया जा सकता है। ये चक्र हमारी सत्ताकी समस्त सक्रिय शक्तियोंके सचेतन केंद्र और स्रोत हैं, विभिन्न ग्रन्थियोंद्वारा अपना कार्य करते हैं और ऊपर उठती हुई एक क्रम-परंपरामें व्यवस्थित हैं जो सबसे नीचेके भौतिक केंद्रसे प्रारंभ कर सबसे ऊपर मानस-केंद्र और आध्यात्मिक केंद्रतक जाती हैं। इस सर्वोच्च-केंद्रको ही सहस्र-दल कमल कहा जाता है, जहां आरोहण करती हुई प्रकृति, तांत्रिकोंकी 'कुंडलिनी शक्ति', ब्रह्ममें जाकर मिल जाती और दिव्य सत्तामें मुक्त हो जाती है। ये सब चक्र हमारे अंदर निमीलित या अर्ध-निमीलित अवस्थामें हैं, इन्हें खोलना होगा ताकि इनका पूर्ण सामर्थ्य हमारी भौतिक प्रकृतिमें प्रकट हो सके: परंतु एक बार जब ये खुल जाते हैं तो इनकी क्षमताओंके विकासकी और सर्वांगीण रूपांतरको संभव बनानेकी कोई सीमा सहज ही नहीं बांधी जा सकती...। परंतु ये परिवर्तन भी भौतिक प्रक्रियाओंका

ये शरीरपर क्रिया करनेकी गुह्य प्रक्रियाएं हैं (कम-से-कम तांत्रिक पद्धतियां), जब कि उन्नतिकी आधुनिक पद्धतियां सामान्य भौतिक प्रक्रियाओंका व्यवहार करती हैं, ताकि शरीर अपनी वर्तमान अवस्थामें जितनी पूर्णता प्राप्त कर सकता है, कर ले...मैं तुम्हारा प्रश्न पूरी तरह पकड़ नहीं पायी। ये प्रक्रियाएं पूर्णतया भिन्न हैं।

इन सब पद्धतियोंका आधार है वह शक्ति जो सचेतन संकल्पद्वारा जड़-तत्त्वपर प्रयुक्त की जाती है। साधारणतः यह एक ऐसी पद्धति है जिसका किसी व्यक्तिने काफी सफलताके साथ प्रयोग किया और इसे एक क्रिया-सिद्धान्तके तौरपर स्थिर कर औरोंको बताया और फिर उन्होंने भी इसे जारी रखा और पूर्ण बनाते गये, अंतमें इसने एक या दूसरे प्रकारकी काफी स्थिर शिक्षण-पद्धतिका रूप ले लिया। परन्तु इसका जो संपूर्ण आधार है वह है सचेतन संकल्पका शरीरपर प्रभाव। पद्धतिके सुनिश्चित रूपका बहुत अधिक महत्त्व नहीं है। देशों और कालोंके अनुसार किसी एक या दूसरी पद्धतिका प्रयोग किया जाता रहा है, पर इसके पीछे जो चीज है वह है एक निश्चित धारामें विधिवत् कार्य करती हुई मानसिक शक्ति। स्वभावतः, कुछ पद्धतियां उच्चतर शक्तिको प्रयोगमें लानेका प्रयत्न करती हैं जो धीरे-धीरे अपनी क्षमता मानसिक शक्तिमें उंडेल देती हैं : जब उच्च कोटिकी कोई शक्ति मानसिक पद्धतिमें उंडेली जाती है तो स्वभावतः वह अधिक प्रभावकारी और सक्षम बन जाती है। पर प्रधानतः ये सब शिक्षण-पद्धतियां सबसे अधिक उस व्यक्तिपर निर्भर हैं जो इनका व्यवहार करता है और उस ढंगपर जिसे वह प्रयोगमें लाता है। वह शिक्षणके इस सर्वथा बाह्य आधारका अत्यधिक भौतिक व सामान्य प्रक्रियाओंमें भी उच्च कोटिकी शक्तियोंको भरनेके लिये उपयोग कर सकता है। तो, सब पद्धतियां, वे चाहे जो भी हों, लगभग पूरी तरह उस व्यक्तिपर निर्भर हैं जो उनका उपयोग करता है और इस बातपर कि वह उनमें क्या भरता है।

कुछ ऐसा अवशेष छोड़ देंगे जो पुराने रास्ते चलता रहेगा और उच्चतर नियंत्रणके वशवर्ती नहीं होगा। यदि इसे परिवर्तित न किया जा सका तो बाकी रूपांतर भी स्वयं रुक सकता या अपूर्ण रह सकता है। शरीरका संपूर्ण रूपांतर इस बातकी अपेक्षा रखता है कि इसका जो अत्यधिक भौतिक भाग है उसका, उसकी रचना, प्रक्रिया एवं स्वभावके गठनका, पर्याप्त परि-वर्तन हो जाय।

(अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

लेकिन देखो, यदि इस प्रश्नको अत्यंत आधुनिक और अत्यंत बाह्य रूपमें लें, कि ऐसा कैसे होता है कि जो क्रियाएं हम अपने प्रति दिनके जीवनमें, प्रायः सदा ही, करते हैं या जो हमें अपने काममें, यदि वह स्थूल भौतिक काम हो तो, करनी पड़ती हैं वे हमारी मांसपेशियोंको विकसित करने एवं शरीरमें समस्वरता लानेमें कोई सहायता नहीं करतीं या बहुत थोड़ी-सी, न के बराबर ही करती हैं, जब कि दूसरी ओर ठीक वे ही क्रियाएं यदि सचेतनताके साथ, स्वेच्छापूर्वक, विशिष्ट उद्देश्यको सामने रखकर की जायं तो एकाएक हमारी पेशियों और शरीरके निर्माणमें सहायता करती हैं। यह कैसे होता है ? उदाहरणार्थ, कुछ ऐसे काम हैं जिनमें लोगोंको अत्यधिक भारी बोझ, जैसे सीमेंट या अनाज या कोयलेके बोरे, ढोने होते हैं; वे बहुत परिश्रम करते हैं और इसे एक हदतक उपार्जित सहजताके साथ कर लेते हैं, पर उससे उन्हें शरीरकी समस्वरताकी प्राप्ति नहीं होती क्योंकि वे इसे अपनी पेशियोंको विकसित करनेकी **भावना**के साथ नहीं करते, वे इसे, बस, "यों ही" करते रहते हैं। पर जो व्यक्ति किसी एक पद्धतिका, वह चाहे सीखी हुई हो अथवा अपनी बनायी हुई, अनुसरण करता है और बिल्कुल इन्हीं क्रियाओंको इस या उस पेशीको उन्नत करनेके और अपने शरीरमें सामान्य समस्वरता लानेके संकल्पके साथ करता है — वह सफल होता है। परिणामस्वरूप, हम कह सकते हैं कि सचेतन संकल्पमें कुछ ऐसी चीज है जो स्वयं क्रियाके अंदर बहुत कुछ जोड़ देती है। जो लोग सच-मुच शारीरिक शिक्षणका — जैसा कि इसे अब समझा जाता है — अभ्यास करना चाहते हैं वे जो कुछ करते हैं सब सचेतनताके साथ करते हैं। वे सीढ़ीसे नीचे उतरते हैं सचेतन भावमें, वे साधारण जीवनकी क्रियाओंको करते हैं सचेतन भावमें, न कि यंत्रवत्। एक सजग दृष्टिको शायद इनमें कुछ फर्क मालूम दे पर सबसे बड़ा फर्क होता है उस संकल्पका, उस चेतना-का जो उसमें डाली जाती है। कहीं जानेके लिये चलना और व्यायामके तौरपर चलना, यह एक ही तरहका चलना नहीं है। तो, यह सचेतन संकल्प ही है जो इन सब चीजोंमें महत्त्वकी वस्तु है, यही उन्नति साधित करता और फल प्राप्त करता है। अतः मेरे कहनेका अभिप्राय यह है कि प्रयुक्त पद्धतिका अपने-आपमें केवल सापेक्षिक महत्त्व है, किसी विशिष्ट परिणामको सिद्ध करनेका संकल्प ही असलमें महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

एक योगी या साधक आसनोंको आध्यात्मिक परिणाम या केवल अपने शरीरपर ही नियंत्रण पानेके लिये करता है और वह इन परिणामोंको पा लेता है, क्योंकि वह इसी उद्देश्यके साथ उन्हें करता है, जब कि मैं ऐसे लोगोंको जानती हूं जो बिल्कुल ये ही चीजें करते हैं पर ऐसे कारणोंसे

जिनका आध्यात्मिकतासे कोई संबंध नहीं और वे उनसे उत्तम स्वास्थ्यतक नहीं पा सके ! पर फिर भी वे करते हैं ठीक ये ही चीजें और प्रायः इन्हें योगीसे भी अधिक अच्छी तरह करते हैं, पर इससे उन्हें स्थायी स्वास्थ्यकी प्राप्ति नहीं हुई . . . क्योंकि उन्होंने इस विचारके साथ, इस लक्ष्यको मनमें रखकर आसन नहीं किये थे। मैंने उनसे पूछा, "भला, यह कैसी बात कि यह सब करते हुए भी तुम बीमार हो ?" — "ओह ! इस बारेमें तो मैंने कभी सोचा ही नहीं, मैं जो आसन करता हूं वह इसलिये नहीं करता।" यह चीज इस कथनकी पुष्टि करती है कि सचेतन संकल्प ही जड़पर क्रिया करता है, स्थूल कर्म नहीं।

परन्तु तुम जरा प्रयोग करके देख लो, और तब तुम अच्छी तरह समझ जाओगे कि मेरा मतलब क्या है। उदाहरणार्थ, अपनी क्रियाओंको, कपड़े पहनने, नहाने, कमरा साफ करने . . आदिकी जो भी क्रियाएं हैं सबको सचेतन भावसे करो, इस संकल्पके साथ करो कि अब यह पेशी काम करेगी, अब वह पेशी काम करेगी, तब तुम उसका फल देखोगे, तुम बहुत ही आश्चर्यकर परिणाम प्राप्त करोगे।

सीढ़ियोंपर चढ़ना और उतरना — तुम कल्पना नहीं कर सकते कि यह चीज शारीरिक शिक्षाकी दृष्टिसे कितनी अधिक उपयोगी हो सकती है, यदि तुम जानते हो कि इसका उपयोग कैसे किया जाता है। एक साधारण आदमीकी तरह इसलिये ऊपर जाना क्योंकि तुम ऊपर जा रहे हो और इसलिये नीचे उतरना क्योंकि तुम नीचे आ रहे हो, इसके स्थानपर यदि तुम काम करनेवाली सब पेशियोंसे सचेतन रहते हुए और इसका ख्याल रखते हुए कि वे समस्वरतामें कार्य करें ऊपर जाओ तो तुम उसका फल देखोगे। जरा कोशिश कर देखो ! कहनेका मतलब यह कि जीवनकी सभी गतियोंको तुम अपने शरीरके समस्वर विकासके लिये उपयोगमें ला सकते हो।

तुम किसी चीजको उठानेके लिये झुकते हो, अलमारीके एकदम ऊपर पड़ी किसी चीजको खोजनेके लिये उचकते हो, दरवाजा खोलते हो, उसे बंद करते हो, रुकावटको देखनेके लिये चारों ओर मुड़ते हो, ऐसी सैकड़ों चीजें हैं जिन्हें तुम निरन्तर करते हो और जिनका तुम अपने शारीरिक शिक्षणमें उपयोग कर सकते हो और वे तुम्हें सिद्ध कर दिखायेंगी कि क्रियाओंके अंदर रखी गयी चेतनाका ही प्रभाव होता है, ऐसे ही किये जानेवाले भौतिक कर्मकी अपेक्षा सौगुना अधिक प्रभाव होता है। तो, जो भी पद्धति तुम्हें पसन्द हो तुम उसे चुन सकते हो, पर तुम दिन-भरके अपने सारे जीवनको ही इस तरहसे उपयोगमें ला सकते हो . . .। निरंतर शरीरकी समस्वरताके बारेमें और

गतियोंके सौंदर्यके बारेमें सोचो, ऐसी कोई चेष्टा न करो जो सुललित न हो, जो शोभन न जान पड़ती हो। तब तुम गतियों और भाव-भंगिमाका एक असाधारण छन्द पा जाओगे।

हम अब इस सबपर ध्यान करेंगे।

२४ जुलाई, १९५७

"वास्तवमें एक अतिमानस यहां अब भी विद्यमान है, पर है निर्वातित अवस्थामें। इस व्यक्त मन, प्राण और जड़-तत्त्वके पीछे छिपा हुआ है। अतः अभी प्रकट रूपमें या अपनी स्वीय शक्तिसे क्रिया नहीं करता : अगर वह क्रिया करता है तो इन्हीं निम्नतर शक्तियोंके माध्यमसे, इनके गुण-धर्मोंद्वारा उसमें हेर-फेर हो जाते हैं और इसी कारण उसे अभी पहचाना नहीं जाता। जब ऊपरसे अवतरण करता हुआ अतिमानस सन्निकट आ जायेगा और यहां पहुंच जायेगा केवल तभी यह (निर्वातित अतिमानस) पृथ्वीपर मुक्त हो सकेगा और हमारे अन्नमय, प्राणमय और मनोमय अंगोंकी क्रियामें अपने-आपको प्रकट कर सकेगा, ताकि ये निम्नतर शक्तियां भी हमारी समस्त सत्ताकी संपूर्णतः दिव्यीकृत क्रियाका अंग बन सकें; यही चीज है जो हमें सुसिद्ध दिव्यत्व या दिव्य जीवन प्राप्त करायेगी। 'जड़-तत्त्व'में निर्वातित प्राण और मनने भी बिलकुल इसी तरह अपने-आपको यहां संसिद्ध किया है, क्योंकि जो चीज निर्वातित है केवल वही विवर्तित हो सकती है, अन्यथा कोई आविर्भाव ही न हो सकता।"

(अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

मधुर मां, निर्वातित अतिमानस क्या है?

यह वही है जो अ-निर्वातित है!

यह वही चीज है जिसे श्रीअरविंदने इस रूपमें कहा है कि यदि भगवान् सब वस्तुओंके केंद्रमें न होते तो वह इस जगत्में कभी अभिव्यक्त न हो

सकते; और उन्होंने इसे इस रूपमें भी कहा ह कि तत्त्वतः, अपने मूल रूपमें एवं अपनी अंतरतम रचनामें, यह सृष्टि, यह जगत् दिव्य है; और यही कारण है कि दिव्यता एक दिन स्थापित हो सकती है, गोचर बन सकती है और इस समय जो कुछ इसे आवृत एवं विकृत करता है उस सबको स्थानान्तरित कर सकती है। इस दिव्यताका जितना अंश अबतक प्रकट हुआ है वह यह जगत् है जिसे हम देखते हैं; किंतु अभिव्यक्ति अपरिसीम है और इस वर्तमान मानसिक जगत्के बाद, जिसका शिखर तथा आदर्श है मनुष्य, एक दूसरा तत्त्व प्रकट होगा जिसे श्रीअरविंद अतिमानस कहते हैं, वस्तुतः यह मनके बाद अगला कदम है; और वर्तमान जगत्की दृष्टिसे देखें तो, स्वभावतः यह "अतिमानस", अर्थात्, मनसे ऊपरकी कोई चीज होगा। और वह यह भी कहते हैं कि यह सचमुच एक जगत्का दूसरे जगत्में परिवर्तन होगा, क्योंकि अबतक की सारी सृष्टि, जिस रूपमें उसे हम जानते हैं, उससे संबंध रखती है जिसे उन्होंने "निम्नतर गोलार्द्ध" कहा है और जो अज्ञानद्वारा शासित एवं अचेतनापर आधारित हैं, जब कि दूसरा जगत् इससे एकदम उलटा होगा, वह किसी ऐसी चीजका प्रकट रूप होगा जो बिलकुल दूसरे ही जगत्से संबंध रखती होगी, उस जगत्से जो अज्ञानपर आधारित न होकर 'सत्य'पर आधारित होगा। यही कारण है कि यह सचमुच एक नया जगत् होगा। परंतु यदि इस (अतिमानस) जगत्का **सार**, इसका मूल-तत्त्व इस वर्तमान जगत्में अंतर्निहित न होता तो एकसे दूसरेमें रूपांतरित होनेकी कोई आशा ही न रहती। तब वे इतने अधिक और पूर्णतया भिन्न एवं विरोधी दो जगत् होते कि उनमें जरा भी पारस्परिक संबंध न होता। और तब अपरिहार्य रूपसे यह होता कि जिस क्षण व्यक्ति इस जगत्मेंसे बाहर आ जाता और 'सत्य', 'प्रकाश' और 'ज्ञान' के जगत्में उदित हो जाता तो वह निरे अज्ञान और अचेतनाके इस जगत्के लिये, मानों, अगोचर एवं अस्तित्वहीन हो जाता।

इसका क्या कारण है कि जब यह परिवर्तन हो भी जायगा तब भी एक संबंध बना रहेगा और नया जगत् पुरानेपर क्रिया कर सकेगा? यही कि अपने सार और मूल रूपमें यह पुराने जगत्में पहलेसे विद्यमान और निवर्तित है। तो वस्तुतः यह यहां विद्यमान है, अंदर, एकदम गहराईमें, छिपा हुआ, अदृश्य, अबोध्य एवं अप्रकट है, पर अपने सार रूपमें यह यहां है अवश्य। फिर भी, जबतक ऊपरकी ऊंचाइयोंसे अतिमानसिक चेतना, शक्ति, ज्योति इस जगत्में सीधी अभिव्यक्त नहीं होती, जैसी कि डेढ़ वर्ष पहले हुई थी, तबतक इस अतिमानसके, जो एक **मूल-तत्त्वके रूपमें** इस भौतिक जगत्का आधार-शैल है, अभिव्यक्त होनेकी संभावना नहीं होगी। नीचे

इसकी जागृति और अभिव्यक्ति ऊपरसे आनेवाले स्पर्शका प्रत्युत्तर रूप होगी, जो स्पर्श इस जड़-तत्त्वकी गहराइयोंमें छिपे अपने समरूप तत्त्वको बाहर निकाल लायेगा...। बस, यही चीज है जो आजकल हो रही है। परंतु जैसा कि मैंने दो सप्ताह पहले तुमसे कहा था, यह भौतिक जगत् अपने प्रत्यक्ष प्रकट रूपमें सामान्य चेतनाके लिये इतना शक्तिशाली और इतने पूर्ण रूपमें सत्य है कि जब अतिमानसिक शक्ति और चेतना आविर्भूत हुई तो यह उसे मानों निगल ही गया, और अब उसकी उपस्थितिका किसी प्रकार-का जरा-सा आभास, अनुभूति या प्रतीति पानेके लिये भी एक लंबी तैयारी-की आवश्यकता है। और इसी कार्यमें वह आजकल व्यस्त है।

इसमें कितना समय लगेगा यह पहलेसे देखना कठिन है। यह अधिकतर कुछ लोगोंकी शुभेच्छा और ग्रहणशीलतापर निर्भर होगा, कारण, व्यक्ति सदा ही समूहकी अपेक्षा अधिक तेजीसे आगे बढ़ता है और अपनी प्रकृतिवश मानव-जाति ही शेष सृष्टिसे पहले अतिमानसको अभिव्यक्त करनेके लिये नियत है।

इसमें सहयोगकी आधारभूत चीज अवश्य ही परिवर्तनका संकल्प है, यह संकल्प कि हम जैसे हैं वैसे ही न बने रहें और यह कि वस्तुएं जैसी हैं वैसी ही न बनी रहें। इसे करनेके कई तरीके हैं। और जब वे सफल हो जाती हैं तो सभी पद्धतियां अच्छी होती हैं। कोई व्यक्ति इस वर्तमान स्थितिसे गहरे तौरसे विरक्त होकर उससे बाहर आने और किसी अन्य वस्तुको पानेकी तीव्र चाह अनुभव कर सकता है। कोई दूसरा ऐसा अनु-भव कर सकता है — और यह अधिक भावात्मक पद्धति है — वह अपने अंदर सुनिश्चित रूपसे किसी सुन्दर और सत्य वस्तुका स्पर्श एवं सान्निध्य पाकर स्वेच्छासे शेष सबको छोड़नेके लिये तैयार हो सकता है ताकि इस नये सौंदर्य और सत्यकी ओर प्रयाणमें कोई चीज भार न बने।

प्रत्येक दशामें जो चीज अनिवार्य है वह है प्रगतिके लिये एक **प्रदीप्त** संकल्प और अग्रगतिको अटकानेवाली सब चीजोंका स्वेच्छासे प्रसन्नतापूर्वक त्याग : आगे बढ़नेसे जो कुछ रोकता हो उसे अपनेसे परे फेंक दो और अज्ञातकी ओर, इस प्रज्वलित विश्वासके साथ कूच करो कि यही कलका सत्य है, यह **अवश्यंभावी** है, अवश्य प्रकट होगा, कोई चीज, कोई व्यक्ति, कोई असद्भावना, यहांतक कि प्रकृति भी, इसे वास्तविक रूप लेनेसे नहीं रोक सकती — शायद यह सुदूर भविष्यकी चीज नहीं है — यह एक वास्तविकता है जो इस क्षण भी क्रियान्वित की जा रही है। और जो परिवर्तित होना तथा पुरानी आदतोंसे अपनेको बोझिल न होने देना जानते हैं वे **निश्चय** ही उसे न केवल देखनेका, बल्कि जीवनमें चरितार्थ करनेका भी सौभाग्य प्राप्त करेंगे!

लोग सो जाते हैं, भूल जाते हैं, जीवनको हल्के रूपमें लेते हैं—वे भूले रहते हैं, सब समय भूले रहते हैं...। परन्तु यदि तुम यह याद रख सको... कि हम एक विशेष घड़ीमें, एक **अनुपम** कालमें उपस्थित हैं, और यह कि नये जगत्के प्रादुर्भावके समय उपस्थित होनेका एक बहुत बड़ा सौभाग्य, एक बहुमूल्य अवसर हमें प्राप्त हुआ है तो तुम उस सबसे आसानी-से छुटकारा पा सकते हो जो बाधा पहुंचाता और प्रगतिको अटकाता है।

तो जो चीज सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है वह है इस तथ्यको याद रखना और इसकी ठोस अनुभूति न होनेपर भी इसमें निश्चयता और विश्वास बनाये रखना; सदा याद रखना, बार-बार उस स्मृतिको वापस बुला लाना, इसी विचारके साथ सोना, इसी भावनाके साथ उठना, जो कुछ भी करना सब इसी महान् सत्यको, एक सतत अवलंबके रूपमें, पृष्ठभूमिमें रखते हुए करना कि हम एक नये जगत्के प्रादुर्भावकी वेलामें उपस्थित हैं।

हम इसमें भाग ले सकते हैं, हम यह नया जगत् बन सकते हैं। और सचमुच, जब तुम्हें इतना अद्भुत अवसर प्राप्त हुआ है तो इसके लिये सब कुछ छोड़नेको तत्पर होना चाहिये।

३१ जुलाई, १९५७

मधुर मां, शुक्रवारको आपने हमें ध्यानके लिये यह विषय दिया था: "शरीरमें भगवान्के लिये अभीप्सा कैसे जगायी जाय।"

हां।

मां, इसे कैसे किया जाय?

स्वभावतः इसे करनेके कई तरीके हैं, और वस्तुतः प्रत्येकको अपना-अपना तरीका ढूंढना चाहिये। प्रारंभमें वह बहुत भिन्न और बाह्य रूपसे काफी कुछ विरोधी भी हो सकता है।

पहले समयमें, जब योग जीवनसे पलायन-रूप था, सामान्य रीति यही थी कि, कुछ थोड़े-से पूर्व-निर्दिष्ट व्यक्तियोंको छोड़कर, लोग योगके बारेमें

तभी सोचते थे जब वे बूढ़े हो जाते, काफी लंबा जी लेते, जीवनके उतार-चढ़ाव, सुख-दुःख, खुशी और गमको, इसके दायित्वोंको और इसके भ्रम-भंजनोंको जान चुकते थे। निश्चय ही उस सबको जान चुकते थे जिसे सामान्यतः मनुष्य जीवनसे प्राप्त करता है और स्वभावतः इस सबसे जीवन-के सुखोंकी अवास्तविकताके प्रति उनकी आंखें कुछ-कुछ खुल जाती थीं, और इस कारण वे किसी दूसरी चीजको सोचनेके लिये काफी पक चुके होते थे, और उनका शरीर भले जवानीके जोशसे भरा न हो (!), कम-से-कम बाधक नहीं बनता था, तृप्तियोंको छककर जान लेनेके कारण ज्यादा कुछ मांगता न था ...। इस छोरसे आध्यात्मिकताके लिये प्रयत्न करना तब बहुत अच्छा है जब व्यक्ति जीवनको पीछे छोड़ देना चाहता हो और उससे रूपांतरके लिये किसी सहयोगकी आशा न करता हो। स्पष्ट ही यह सबसे सरल पद्धति है। परंतु यह भी सुस्पष्ट है कि यदि व्यक्ति चाहता हो कि यह भौतिक जीवन भी दिव्य जीवनमें **भाग** ले, उसकी क्रिया एवं उपलब्धिका क्षेत्र बने तो यह अधिक अच्छा है कि इसकी प्रतीक्षा न की जाय कि शरीर जीर्ण-शीर्ण और बूढ़ा होकर पर्याप्त रूपसे... शांत हो ले ताकि वह योगमें रुकावट न डाल सके। इसके विपरीत यह कहीं अधिक अच्छा है कि इसे तब योगमें लगाया जाय जब यह बिलकुल युवा हो, शक्ति-से भरा हो और अपनी अभीप्सामें यथेष्ट उत्साह और तीव्रता भर सकता हो। तब व्यक्तिको ऐसी थकावट या क्लांतिपर निर्भर रहनेकी अपेक्षा, जिसमें किसी भी चीजके लिये और अधिक मांगें नहीं रह जातीं, एक प्रकार-के आंतरिक प्रवेगपर, अज्ञातके प्रति, नवीनके प्रति — पूर्णताके प्रति, अंदर-मे उठनेवाले उत्साह व प्रवेगपर निर्भर करना चाहिये। और यदि तुम्हें ऐसी अवस्थाओंमें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हो जहां तुम बचपनसे ही सहायता और पथ-प्रदर्शन प्राप्त कर सको तो जब तुम बहुत छोटे हो तभी जीवनसे मिलनेवाले क्षणिक और उथले सुखों और उस अद्‌भुत वस्तुके बीच विवेक करनेका प्रयत्न करो जब जीवन, कर्म और उन्नति एक पूर्णता और सत्यके जगत्‌में संपादित होंगे, जहां सभी तुच्छ सीमाएं और तुच्छ अक्षमताएं विलीन हो जायेंगी।

जब व्यक्ति बहुत छोटा होता है और जिसे मैं "शुभ-जात" कहती हूं, अर्थात् वह सचेतन चैत्य-पुरुषके साथ जन्म लेता है तो उस बालकके सपनोंमें सदा इस प्रकारकी अभीप्सा रहती है जो उसकी बाल-चेतनाके लिये एक प्रकारकी महत्त्वाकांक्षा होती है, वह अभीप्सा किसी ऐसी चीजके लिये होती है जो सुंदर-ही-सुंदर है, जहां कुरूपताका नाम नहीं, जहां, बस, न्याय है, अनीति या अन्यायाचरण नहीं, जहां अपार सौजन्य है और अंतमें जहां सचेतन

और सतत रूपसे मिलनेवाली सफलता-ही-सफलता है और जहां नित्य-निरंतर चमत्कार-पर-चमत्कार होते हैं। जब वह छोटा होता है तो चमत्कारोंके ही सपने लेता है, वह चाहता है सब दुष्टता और दुर्जनता मिट जाय, प्रत्येक वस्तु सदा प्रकाशपूर्ण, सुंदर और आनंदमय बनी रहे, वह उन कहानियोंको पसंद करता है जो सुखान्त होती हैं। यही चीज है जिसपर तुम्हें निर्भर करना चाहिये। जब शरीर दुःख-दर्द महसूस करता हो तथा अपनी अक्षमता एवं अशक्तता महसूस करता हो तो उसे ऐसी शक्तिके सपने दो जिसके सामर्थ्यकी कोई सीमा नहीं, ऐसे सौंदर्यके जिसमें कोई कुरूपता नहीं और अद्‌भुत क्षमताओंके सपने दो : बालक ऐसे-ऐसे सपने लेता है कि वह हवामें उड़ सकता है, जहां जरूरत हो वहां उपस्थित हो सकता है, बीमारोंको अच्छा कर सकता है; सचमुच ही बचपनमें व्यक्ति इसी प्रकारके सब सपने लेता है . . . । सामान्यतः माता-पिता और शिक्षक इन सबपर पानी फेर देते हैं, यह कह-कर कि "ओह ! वह, वह तो सपना है, वह वास्तविकता नहीं है।" जब कि होना इससे ठीक उलटा चाहिये। बच्चोंको बताना चाहिये कि "हां, **यही** चीज है जिसे सिद्ध करनेका तुम्हें प्रयत्न करना चाहिये और यह केवल संभव ही नहीं, बल्कि **सुनिश्चित** भी है, बशर्ते तुम अपने अंदर उस वस्तुके संपर्कमें आ जाओ जिसमें इसे करनेकी सामर्थ्य है। **इसी**को तुम्हारे जीवनका पथ-प्रदर्शन करना चाहिये, उसमें व्यवस्था लानी चाहिये और उस **सच्ची वास्तविकता**की ओर तुम्हें विकसित करना चाहिये जिसे दुनिया भ्रम समझती है।"

ऐसा ही होना चाहिये, बजाय इसके कि बच्चोंको साधारण मामूली बच्चे बना डाला जाय, जिनकी समझ सादी और ग्राम्य होती है, जिसमें ऐसी सत्यानासी आदत जमकर बैठ जाती है, जहां कहीं कुछ अच्छा शुरू हुआ नहीं कि झट यह विचार ऊपर उठ आता है कि "ओह ! ऐसा ज्यादा दिन नहीं चलेगा," जब कोई व्यक्ति मधुर और शिष्ट बर्ताव करता है तो यह छाप कि "ओह ! वह बदल जायेगा !" जब तुम किसी चीजको संपन्न करनेमें समर्थ हो जाते हो तो यह भावना, "ओह ! कल मैं इसे इतनी अच्छी तरह न कर सकूंगा।" यह चीज तुम्हारे अंदर सब कुछको नष्ट कर देनेवाले तेजाबकी तरह काम करती है, और यह भविष्यकी संभावनाओंमें आशा, निश्चयता और आत्म-विश्वासको हर लेती है।

बालक जब उत्साहसे भरा हो तो उसपर कभी पानी न फेरो। उससे कभी यह न कहो, "देखो, जीवन इस प्रकारका नहीं है।" बल्कि तुम्हें उसको उत्साहित करना चाहिये, उससे कहना चाहिये, "हां, अभी तो चीजें बेशक उस प्रकारकी नहीं हैं, वे कुरूप **प्रतीत** होती हैं, परंतु इनके पीछे एक सौंदर्य है जो अपने-आपको प्रकट करनेका प्रयत्न कर रहा है। उसीके

लिये प्रेम पैदा करो, उसीको आकर्षित करो। उसीको अपने सपनों और महत्त्वाकांक्षाओंका विषय बनाओ।"

और यदि इस कामको तभी किया जाय जब व्यक्ति बहुत छोटा होता है तो उससे कठिनाई तबकी अपेक्षा बहुत कम होती है जब बादमें उसे इन सब चीजोंको रद्द करना पड़ता है, बुरी शिक्षा-जन्य बुरे परिणामोंको मिटाना होता है और उस प्रकारकी मूढ़ तथा तुच्छ सामान्य बुद्धिसे मुक्त होना होता है जो जीवनसे किसी अच्छी चीजकी आशा नहीं करती, उसे नीरस और दुःखदायी बना डालती है, फलस्वरूप सब आशाएं और सौंदर्यके सब तथा-कथित मिथ्या सपने खंडित हो जाते हैं। इसके विपरीत तुम्हें बच्चेसे (और यदि तुम गोदके बच्चे न हो तो अपने-आपसे) यह कहना चाहिये, "मुझ-में जो कुछ अवास्तविक, असंभव, भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है **वही** वास्तवमें सत्य है और **उसे** ही मुझे संवर्धित करना है।" जब मेरे अंदर यह अभीप्सा है कि "मैं किसी असमर्थताद्वारा सदाके लिये सीमित नहीं रहूंगा और किसी अशुभ भावनाद्वारा हमेशाके लिये रुद्ध नहीं रहूंगा," तो यह भी जरूरी है कि मैं अपने अंदर इस विश्वासको बढ़ाऊं कि **यही चीज है** जो वस्तुतः सत्य है और **इसे** ही मुझे जीवनमें पाना है।

तब शरीरके कोषोंमें विश्वास जाग्रत् हो जाता है। और तुम देखोगे कि स्वयं शरीरके अंदर भी तुम्हें एक प्रत्युत्तर मिलता है। स्वयं शरीर अनुभव करेगा कि यदि आंतरिक संकल्प सहायता करे, दृढ़ता प्रदान करे, दिशा-निर्देश कर ले चले तो हां, सब सीमाएं, सब अक्षमताएं धीरे-धीरे दूर हो जायेंगी।

और इस प्रकार, जब पहला अनुभव होता है — कभी-कभी यह तभी हो जाता है जब तुम बहुत छोटे होते हो — आंतरिक हर्ष, आंतरिक सौंदर्य, आंतरिक प्रकाशके साथ जब पहला संपर्क होता है, **उस चीज**के साथ पहला संपर्क होता है जिसे पानेपर तुम एकाएक महसूस करते हो, "आह! यही तो चीज थी जिसे मैं चाहता था," तो तुम्हें चाहिये कि तुम इसे पुष्ट करो, कभी भूलो नहीं, इसे सामने बनाये रखो, अपने-आपसे कहो, "मैंने इसे जब एक बार महसूस किया है तो मैं इसे दुबारा भी महसूस कर सकता हूं। यह मेरे लिये वास्तविक रह चुका है, चाहे सैकण्ड-भरके लिये ही रहा हो, पर यही चीज है जिसे मैं अपनेमें वापस लाना चाहता हूं...।" और शरीरको इसी ओर आंखें लगाये रखनेके लिये — इसीकी तलाशके लिये उत्साहित करो, यह **विश्वास रखते हुए** कि इसके अंदर यह संभावना है और यदि यह इसे पुकारे तो यह वापस आयेगी और जीवनमें फिर प्रकट होगी।

यह ऐसी चीज है जिसे छुटपनमें ही कर लेना चाहिये; बल्कि ऐसी चीज

है जिसे हर समय करना चाहिये जब भी तुम्हें अपने अंदर मुड़ने, अपने अंदर संपर्क स्थापित करने, अपने अंदर अवलोकन करनेका अवसर मिले।

और तब तुम देखोगे। जब बालक अपनी सहज प्राकृत अवस्थामें होता है, अर्थात् जब वह बुरी शिक्षा और बुरे दृष्टांतद्वारा बिगड़ा नहीं होता, जब वह स्वस्थ, अपेक्षाकृत संतुलित और सामान्य वातावरणमें पैदा होता और पलता है तो शरीरमें एक सहज-स्वाभाविक विश्वास होता है कि यदि कोई चीज बिगड़ भी गयी तो वह ठीक हो जायगी, इसमें मन या प्राणके हस्तक्षेपकी आवश्यकता नहीं होती। स्वयं शरीरमें यह निश्चयता होती है कि वह अच्छा हो जायेगा, उसे निश्चित विश्वास होता है कि बीमारी या अस्वस्थता अवश्य दूर हो जायेगी। यह तो वातावरणके बुरे संस्कारोंका परिणाम होता है कि शरीर धीरे-धीरे यह सीखने लगता है कि ऐसी भी बीमारियां हैं जो असाध्य हैं, ऐसी भी दुर्घटनाएं हैं जो ठीक नहीं हो सकतीं और यह कि बुढ़ापा भी एक दिन आयेगा, और इसी प्रकारकी सब वाहियात बातें जो उसके विश्वास और उसकी आस्थाको हर लेती हैं। पर सामान्य अवस्थामें एक सामान्य बच्चेका शरीर (शरीर, मैं विचारकी बात नहीं कर रही), स्वयं शरीर यह महसूस करता है कि जब कोई चीज बिगड़ जायेगी तो निश्चित ही वह फिरसे ठीक भी हो जायेगी। और यदि ऐसा नहीं होता तो इसका अर्थ है कि वह पहले ही बिगड़ चुका है। सुस्थता इसे **स्वाभाविक** अवस्था प्रतीत होती है और जब कोई चीज खलल डालती है और यह बीमार पड़ जाता है तो यह इसे एकदम अस्वाभाविक प्रतीत होता है। अपने सहज-बोधके, स्वाभाविक सहज-बोधके द्वारा इसे निश्चित विश्वास होता है कि सब ठीक हो जायेगा। यह तो केवल विचार-की अशुद्धता ही है जो इसके इस विश्वासको हर लेती है। ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता है विचार अधिकाधिक मिथ्या होता जाता है, तमाम सामूहिक सुझाव आते हैं और इस प्रकार, थोड़ा-थोड़ा करके शरीर अपनी आस्था खो बैठता है और स्वभावतः अपना आत्म-विश्वास खो देनेके कारण, संतुलन-को, जब कोई चीज बिगड़ गयी हो तो, पुनः स्थापित करनेकी अपनी स्वाभाविक क्षमताको भी खो बैठता है।

और यदि तुम्हें, जब तुम बहुत छोटे हो तभीसे, एकदम बचपनसे, धोखा देनेवाली, अवसाद लानेवाली, बल्कि सड़ांध पैदा करनेवाली या यूं कहूं, नष्ट-भ्रष्ट कर देनेवाली चीजें सिखायी जायें — तो बेचारा यह शरीर अपनी पूरी कोशिशोंके बावजूद बिगड़ चुका होता है, स्वास्थ्य खो चुका होता है और अपनी आन्तरिक सामर्थ्य, अपनी आन्तरिक शक्ति, और प्रतिक्रियाकी क्षमताका भी इसे बोध नहीं रहता।

पर यदि तुम ध्यान रखो कि यह बिगड़ने न पाये तो शरीरमें अपने ही अंदर 'विजय'का विश्वास होता है। विचारके गलत उपयोगसे और उसका शरीरपर जो प्रभाव पड़ता है वही उससे विजयकी निश्चितिको छीन लेता है। तो, करने लायक पहली चीज है इस विश्वासको नष्ट करनेकी जगह पोषण एवं संवर्धन करना, और इसके साथ, फिर अभीप्साके प्रयत्नकी जरूरत नहीं रहती, फिर तो, बस, यह विजयमें इसी आंतरिक विश्वासका बिल्कुल सहज रूपमें प्रस्फुटित होना या उन्मीलित होना होता है।

शरीर अपने अंदर दिव्य होनेका भाव लिये रहता है।

तो यदि तुमने इसे खो दिया है तो इसे अपने अंदर पुनः प्राप्त करनेकी कोशिश करो।

जब कोई बालक तुम्हें ऐसा सुंदर सपना सुनाये जिसमें उसके पास बहुत सारी शक्तियां थीं और सब कुछ बहुत सुंदर था तो ध्यान रखो, उससे ऐसा कभी न कहो, "ओह! जीवन इस प्रकारका नहीं है," क्योंकि ऐसा करना गलत होगा। इसके विपरीत, उससे कहो, "जीवन **ऐसा ही होना चाहिये** और इसी प्रकारका **होगा**।"

७ अगस्त, १९५७

> **श्रीअरविंद लिखते हैं: "अतिमानसका अवतरण उस मनुष्यके लिये, जो उसे ग्रहण करेगा और सत्य-चैतन्यसे भर उठेगा, दिव्य जीवनकी सब संभावनाएं खोल देगा। यह न केवल उस संपूर्ण विशिष्ट अनुभवके क्षेत्रको, जिसे पहलेसे आध्यात्मिक जीवनका गठन करनेवाला माना जाता है, बल्कि उस सबको भी हाथमें लेगा जिसे हम इस समय उस क्षेत्रसे बाहर रखते हैं...।"**
>
> (अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

तो, तुम क्या जानना चाहते हो? क्या बाहर रखा गया है? हम किसे बाहर रखते हैं!... यह व्यक्तियोंपर निर्भर है। पर, वास्तवमें तुम पूछ क्या रहे हो?

मैं नहीं देख पाता कि हम किस चीजको अलग रखते हैं।

ओह! यह समझदारीकी बात है। यहां हम कहते हैं कि हम कुछ भी बाहर नहीं रखते। ठीक उसी कारणसे। हमने सभी मानव-प्रवृत्तियों-को अपना लिया है, वे चाहे जो भी हों, उनको भी जिन्हें बिलकुल आध्यात्मिक नहीं समझा जाता। पर मैं यह अवश्य कहूंगी कि उनकी प्रकृति बदलना बहुत कठिन है! फिर भी, हम चेष्टा कर रहे हैं, हम इसमें यथासंभव पूरी सद्भावना लगा रहे हैं।

यह भी कहा गया है कि अवतरण परिवर्तनको अधिक आसान बना देगा।[1]

दो बिन्दु हैं जो बहुत जोरसे विरोध करते हैं — एक तो वह सब जो राज-नीतिसे संबंध रखता है और दूसरा वह सब जो धनसे संबंध रखता है। ये दो स्थल ऐसे हैं जिनके बारेमें मनुष्यकी वृत्तिको बदलना सबसे कठिन है।

सिद्धान्त रूपमें हमने कहा है कि हमारा राजनीतिसे कोई संबंध नहीं है और यह सच है कि इस समय प्रचलित राजनीतिसे हमारा कोई संबंध

---

[1] पृथ्वीपर दिव्य जीवनके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह पार्थिव जीवन-से कोई संबंध न रखनेवाला और उससे बिलकुल अलग-थलग हो: वह मानव और मानव-जीवनको लेकर, जो कुछ रूपांतरित हो सकता है उसे रूपांतरित करेगा, जो आध्यात्मिक बन सकता है उसे आध्यात्मिक बनायेगा, शेषपर अपना प्रभाव डालेगा और उसमें एक मौलिक या ऊपर उठानेवाला परिवर्तन ले आयेगा, वैश्व और व्यक्तिके बीच एक गभीर संबंध स्थापित करेगा और आदर्शको आध्यात्मिक सत्यसे, जिसकी वह ज्योतिर्मय छाया है, आक्रांत कर उसे एक महत्तर एवं उच्चतर जीवनमें या उसकी ओर ऊपर उठानेमें सहायता करेगा...। यह स्पष्ट ही है कि यदि अतिमानस आ जाय और पार्थिव प्रकृतिमें अतिमानसिक सत्ताकी व्यवस्था एक प्रधान तत्त्वके रूपमें स्थापित हो जाय, जैसे आजकल मन प्रधान तत्त्व है, पर हो जाय पूर्ण निश्चितताके साथ, तो पार्थिव जीवनपर प्रभुत्व प्राप्त करना और सब चीजोंको उनके स्तरपर और उनकी स्वाभाविक सीमाओंके अंदर रूपांतरित करनेकी क्षमता प्राप्त करना, जिसके लिये मन अपनी अपूर्णतामें सक्षम नहीं था, अर्थात् मानव-जीवनमें एक बहुत बड़े परिवर्तनका आ जाना अनिवार्यतः सुनिश्चित हो जायेगा, चाहे वह रूपांतरकी अवस्थातक न भी जा सके।

(अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

नहीं है। पर यह भी एकदम स्पष्ट है कि यदि राजनीतिको इसकी सच्ची भावनामें लिया जाये, अर्थात्, इसे मानव-समुदायोंके संगठन, शासनके ब्योरे, सामूहिक जीवनकी व्यवस्था और दूसरे समुदायों (अर्थात्, दूसरे राष्ट्रों व देशों) के साथ संबंधके रूपमें लिया जाये तो अवश्य ही इसे अतिमानसिक रूपांतरके अंतर्गत होना होगा, क्योंकि जबतक राष्ट्रीय जीवन और राष्ट्रोंका पारस्परिक संबंध वैसा ही बना रहेगा जैसा अब है तबतक पृथ्वीपर अतिमानसिक जीवन बिताना बिलकुल असंभव है। इसलिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि यह परिवर्तित हो, यह बहुत जरूरी है कि इसपर भी ध्यान दिया जाय।

जहांतक वित्त-व्यवस्थाका प्रश्न है, अर्थात्, विनिमय और उत्पादनका ऐसा साधन प्राप्त करना जो सरल हो —"सरल", कम-से-कम जो सरल होना चाहिये, आदिमकालकी उस विनिमय पद्धतिसे भी अधिक सरल जब एक चीज देकर दूसरी चीज प्राप्त की जाती थी—ऐसा साधन जो तत्त्वतः समूची पृथ्वीके लिये हो, सार्वभौम एवं सर्वत्रोपयोगी हो; जीवनको सरल बनानेके लिये यह चीज बहुत अनिवार्य है। परन्तु मानव प्रकृतिके कारण जो चीज अब हो रही है वह ठीक इससे उलटी है। स्थिति ऐसी है कि वह प्रायः असह्य-सी हो उठी है। दूसरे देशोंके साथ थोड़ा भी संबंध रखना असंभव-सा हो गया है, और विनिमयका वह साधन जिसे जीवनको सरल बनानेवाला होना चाहिये था इतना जटिल बन गया है कि जल्दी ही हम गतिरोधकी विकट स्थितिमें पहुंच जायेंगे — हम उस अवस्थाके बहुत, बहुत नजदीक हैं जब हम कुछ भी न कर सकेंगे, सब बातों-में बंध जायेंगे। यदि कोई दूसरे देशसे जरा-सी चीज मंगाना चाहता है तो उसे ऐसी जटिल और कष्टकारक प्रक्रियाओंका अनुसरण करना पड़ता है कि वह सब छोड़-छाड़ अपने छोटे-से कोनेमें बैठ रहता है और अपने ही बगीचेमें होनेवाले आलुओंपर संतोष कर लेता है और यह जाननेकी जरा भी आशा नहीं करता कि दूसरे स्थानोंपर क्या चल या हो रहा है।

हां तो, ये दो स्थल हैं जहां सबसे अधिक प्रतिरोध है। मानव चेतना-में यही चीज सबसे अधिक अज्ञान और अचेतनाकी और सामान्य रूपसे कह सकती हूं कि दुर्भावनाकी शक्तियोंके अधीन है। यही उन्नतिमें और सत्यकी ओर बढ़नेमें सबसे अधिक रुकावट डालती है। दुर्भाग्यसे प्रत्येक मनुष्यमें भी यही स्थल है जो दुराग्रही होता है और संकीर्ण रूपमें मूर्खता-पूर्ण बना रहता है और जो उसके सामान्य अभ्यासकी बात नहीं, उस सबको समझनेसे इंकार करता है। तो, इन चीजोंको लेकर इन्हें रूपांतरित करने-की इच्छा करना सचमुच एक वीरतापूर्ण कार्य है। हां, हम इसके लिये

भी प्रयत्न कर रहे हैं और जबतक यह हो नहीं जाता तबतक पृथ्वीकी अवस्थाओंको बदलना असंभव है।

आर्थिक और सामाजिक अवस्थाओंको बदलना राजनीतिक और वित्तीय अवस्थाओंको बदलनेकी अपेक्षा, (अपेक्षा ही) ज्यादा आसान है। आर्थिक और सामाजिक दृष्टिसे कुछ ऐसे सामान्य और सार्वभौम विचार हैं जिन्हें मानव-मन समझता है। कुछ ऐसी उदार और विशाल भावनाएं और सामूहिक संगठनकी बातें हैं जो एकदम निरर्थक और अव्यवहार्य प्रतीत नहीं होतीं, परन्तु ज्यों ही तुम दूसरी दो बातोंको छेड़ते हो, जो अत्यधिक महत्त्वकी हैं, विशेषत: राजनीतिका प्रश्न, तो बात बिलकुल और हो जाती है...। कारण, हम ऐसे जीवनकी कल्पना कर सकते हैं जो वित्तसंबंधी सब जटिलताओंसे मुक्त हो — यद्यपि वह, बिना शब्दालंकारके, होगी एक विशुद्ध दरिद्रता ही : वित्तीय संभावनाओं और प्रक्रियाओंमें अतिशय भरपूर संभावनाएं निहित हैं, क्योंकि यदि उनका उचित ढंग और उचित वृत्तिके साथ उपयोग किया जाये तो वे मनुष्योंके समस्त संबंधों और कामोंको बहुत हदतक सरल बना देंगी और जीवनकी जटिलताको कम कर देंगी जो किन्हीं दूसरी परिस्थितियोंमें करना बहुत कठिन है। पर मैं नहीं जानती कि किस कारणसे (सिवाय इसके कि बुरे-से-बुरा सामान्यत: अच्छे-से-अच्छेके पहले आता है), सरल रास्ता लेनेके बजाय मनुष्योंने इतना जटिल रास्ता पकड़ा है कि बावजूद वायुयानोंके जो तुम्हें संसारके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक कुछ ही दिनोंमें पहुंचा देते हैं, बावजूद सारे आधुनिक आविष्कारोंके जो जीवनको "छोटा" बनानेकी कोशिश करते हैं, इतना नजदीक कि अब दुनियाभरकी सैरके लिये ८० दिन नहीं लगते, बावजूद इस सबके विदेशी मुद्राके विनिमयकी जटिलता, उदाहरणार्थ, इतनी अधिक है कि बहुत-से लोग बाहर नहीं निकल पाते (मेरा मतलब है अपने देशसे बाहर नहीं निकल पाते), क्योंकि उनके पास दूसरे देशमें जानेके लिये साधन नहीं हैं और यदि वे दूसरे देशमें रहनेके लिये अपेक्षित धनकी मांग करते हैं तो उनसे कहा जाता है : "क्या तुम्हारा वहां जाना बहुत जरूरी है? क्या तुम कुछ प्रतीक्षा नहीं कर सकते, इस समय हमारे लिये प्रबंध करना बहुत कठिन है...।" मैं मजाक नहीं कर रही, गंभीरतासे कह रही हूं, यही हो रहा है। इसका मतलब है कि जिस स्थानपर हमने जन्म लिया है उसीमें हम अधिकाधिक बंदी होते जा रहे हैं, जब कि विज्ञानकी प्रवृत्तियां देशोंको इतना निकट लाती जा रही हैं कि मनुष्य सारे विश्वका हो सकता है या कम-से-कम सारी पृथ्वीका तो हो ही सकता है।

अच्छा, तो यह है दशा। पिछले युद्धसे तो यह और भी बिगड़ गयी

है और हर साल बिगड़ती ही जाती है। लोग अपने-आपको एक ऐसी अजीब स्थितिमें पा रहे हैं कि जिस चीजको उन्होंने इतना जटिल बना डाला है, दुर्भाग्यसे उसे सरल बनानेका कोई साधन उन्हें नहीं मिल रहा और फलस्वरूप पार्थिव वातावरणमें यह विचार विकसित हो रहा है — एक ऐसा विचार जिसे अति मूर्खतापूर्ण कहा जा सकता है, पर दुर्भाग्यसे यह मूर्खतापूर्ण होनेसे कहीं अधिक बुरा है, यह विपत्तिपूर्ण है — यह विचार कि यदि संसारमें एक बहुत बड़ी क्रांति हो जाय तो शायद पीछे स्थिति अधिक अच्छी हो जायगी ...। लोग निषेध, असंभवता, प्रत्यादेश, नियम और प्रतिक्षणकी जटिलताओंके बीच ऐसे जकड़ गये हैं कि उनका दम घुटने लगा है और सचमुच उनके अंदर यह विचार आता है कि यदि सब ध्वस्त हो जाय तो शायद चीजें अधिक अच्छी हो जायं! ... यह विचार हवा-में है। सभी सरकारोंने अपनी स्थिति ऐसी असंभव बना ली है और वे इतनी अधिक जकड़ दी गयी हैं कि उन्हें लगता है कि आगे बढ़नेके लिये सब कुछ तोड़ना जरूरी है ... (चुप्पी)। दुर्भाग्यसे यह स्थिति संभावनासे कुछ अधिक बन गयी है, एक बहुत गंभीर संकट बन गयी है। और यह भी निश्चित नहीं है कि जीवन अभी और अधिक असंभव नहीं बनेगा क्योंकि मनुष्य इस दुर्व्यवस्थामेंसे — जटिलताओंकी इस दुर्व्यवस्थामेंसे, जिसमें मानव-जाति जा फंसी है — बाहर निकलनेमें अपने-आपको बहुत ही असहाय अनुभव कर रहा है। यह एक छाया है — पर दुर्भाग्यसे बहुत सक्रिय छाया है — उस नयी आशाकी छाया जो मानव चेतनामें उदित हो रही है, वह आशा और आवश्यकता किसी ऐसी चीजके लिये है जो अधिक समस्वर हो; और जैसे-जैसे जीवन, जैसा कि यह आजकल बना हुआ है, अधिकाधिक इस समस्वरताका विरोधी होता जाता है वैसे-वैसे वह आवश्यकता भी तीव्र-से-तीव्रतर होती जाती है। ये दो विपरीत अवस्थाएं इतने प्रचण्ड रूपमें आमने-सामने मुकाबलेमें खड़ी हैं कि किसी भी समय विस्फोट जैसी कोई चीज घट सकती है।

(मौन)

यह है इस समय संसारकी हालत और यह कोई बहुत अच्छी अवस्था नहीं है। परंतु हमारे लिये एक संभावना रहती है (मैं पहले भी कई बार तुमसे उसके बारेमें चर्चा कर चुकी हूं): चाहे बाहरके संसारमें चीजें पूरी तरह बिगड़ गयी हों और विपत्तिको टाला न जा सकता हो तो भी हमारे लिये एक संभावना है (मेरा मतलब उन लोगोंसे है जिनके लिये अति-

मानसिक जीवन कोरा स्वप्न नहीं है; जो इसकी वास्तविकतामें विश्वास रखते हैं और जिनमें इसे चरितार्थ करनेकी अभीप्सा है, (मेरा मतलब अनिवार्य रूपसे उन लोगोंसे नहीं है जो यहां पाण्डिचेरी आश्रममें एकत्र हुए हैं, बल्कि उन लोगोंसे है जो श्रीअरविंद-प्रदत्त ज्ञानसे तथा इस ज्ञानद्वारा ही जीवन-यापन करनेके संकल्पसे परस्पर बंधे हुए हैं), उनके लिये यह संभावना है कि वे अपनी अभीप्सा, संकल्प और प्रयत्नमें तीव्रता भर तथा अपनी शक्तियोंको एकत्रित कर दिव्य चरितार्थताके समयको कम कर दें, उनके पास इस चमत्कारको कार्यान्वित करनेकी संभावना है कि वे (व्यक्तिगत रूपमें और थोड़ी मात्रामें सामूहिक रूपमें) दिव्य चरितार्थतामें अपेक्षित समय, अवधि एवं देशपर विजय पा लें, प्रयत्नकी तीव्रताके द्वारा समयका स्थान ले लें, चरितार्थताकी ओर काफी द्रुत गतिसे और काफी दूरतक बढ़ जायं ताकि संसारकी वर्तमान स्थितिके परिणामोंसे अपने-आपको बचा सकें, यह संभावना है कि वे शक्ति, बल, प्रकाश और सत्यपर अपने-आपको इतना एकाग्र कर दें कि इसी उपलब्धिके द्वारा वे इन परिणामोंसे ऊपर उठ जायं और उनसे अपने-आपको बचा लें और यह कि 'प्रकाश', 'सत्य' और 'पवित्रता' — आंतरिक रूपांतरसे प्राप्त होनेवाली दिव्य 'पवित्रता' — द्वारा प्रदान की गयी सुरक्षाका उपभोग करें और इसके परिणामस्वरूप ऐसा हो सकता है कि तूफान संसारपरसे ऐसे ही गुजर जाय और निकट भविष्यकी इस महान् आशाको नष्ट न कर पाये और यह कि यह झंझा दिव्य चरितार्थताके सूत्रपातको अपने साथ बहा न ले जाय!

आरामसे शांतिके साथ सोते पड़े रहने और चीजोंको उनके अपने ही छंदसे चलते रहने देनेकी अपेक्षा यदि तुम अपने संकल्प, उत्साह और अभीप्साका दबाव डालो और प्रकाशमें उभर आओ तो तुम अपना सिर ऊंचा उठा सकते हो; तुम चेतनाके उच्चतर क्षेत्रमें अपने रहने, श्वास लेने, उन्नत होने और विकसित होनेके लिये ऐसा स्थान प्राप्त कर सकते हो जो गुजरते तूफानसे ऊपर अछूता हो।

यह संभव है। बहुत थोड़े परिमाणमें यह पहले भी किया जा चुका है जब पिछली लड़ाई चल रही थी और श्रीअरविन्द यहां थे। इसे दुबारा भी किया जा सकता है। परंतु तुममें इसके लिये चाह होनी चाहिये और प्रत्येकको अपना कार्य जितनी सच्चाई और पूर्णतासे वह कर सकता है, करना चाहिये।

१४ अगस्त, १९५७

आज शामको प्रश्नोंका उत्तर देनेके स्थानपर मैं चाहती हूं कि हम श्री-अरविन्दकी स्मृतिमें ध्यान करें, इसपर ध्यान करें कि उस स्मृतिको अपने अंदर जीवंत कैसे बनाये रखा जाय और उस कृतज्ञताको भी, जो हमारे अंदर उस सबके लिये होनी चाहिये जो उन्होंने किया और अब भी अपनी सदा ज्योतिर्मय, सजीव और सक्रिय चेतनामें इस महान् दिव्य चरितार्थता-के लिये कर रहे हैं। वे पृथ्वीपर इस दिव्य चरितार्थताकी केवल घोषणा करने ही नहीं, बल्कि उसे संसिद्ध करने भी आये थे और वे इसे सिद्ध करने-में लगे हुए हैं।

कल उनका जन्मदिन है, यह विश्वके इतिहासमें एक शाश्वत जन्म है।

२१ अगस्त, १९५७

मां, काफी समयसे कुछ ऐसा महसूस होता है कि हमारी प्रवृत्तियोंमें सामान्य चेतना कुछ नीचे गिर गयी है, विशेषतः, जबसे आश्रम इतना अधिक बढ़ गया है। इसका क्या कारण है और हम इसका क्या इलाज कर सकते हैं?

क्या तुम आश्रमकी सभी प्रवृत्तियोंकी बात कर रहे हो या केवल खेल-कूदकी? ... आश्रमकी सभी प्रवृत्तियां?

बहुत अधिकको तो मैं जानता नहीं, मां, जिनको मैं देखता हूं उनमें।

(लंबी चुप्पीके बाद) बात कुछ जटिल-सी है, मैं समझानेकी कोशिश करती हूं।

एक लंबे अर्सेतक आश्रम व्यक्तियोंका केवल एक जमघट था, प्रत्येक व्यक्ति किसी चीजका प्रतिनिधित्व करता था, पर एक व्यष्टिके तौरपर ही, उनमें कोई सामूहिक संगठन नहीं था। यह शतरंज-पटलपर रखे पृथक्-

पृथक् प्यादोंकी तरह था — उनमें केवल ऊपरसे दीखनेवाली एकता थी — या यूं कहें कि यह एक ऊपरी तथ्य था कि लोग एक स्थानपर एक साथ रहते थे और उनमें कुछ आदतें समान थीं — वे भी बहुत नहीं, बस कुछेक ही। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यताके अनुसार विकास करता था — या नहीं करता था और दूसरोंके साथ उसका संबंध कम-से-कम था। इस प्रकार, इस विचित्र समूहका गठन करनेवाले व्यक्तियोंके मूल्यके अनुरूप यह कहा जा सकता था कि उसका एक सामान्य मूल्य था, पर था बहुत बदलता हुआ और उसमें कोई सामूहिक सत्त्व नहीं था। यह स्थिति बहुत लंबे— बहुत ही लंबे समयतक बनी रही। और यह तो केवल अभी हाल ही में एक सामूहिक सत्त्वकी आवश्यकता अनुभव होनी शुरू हुई — यह जरूरी नहीं है कि यह आश्रमतक ही सीमित हो, बल्कि उन सबको भी अपने अंदर समाविष्ट किये हुए है जो अपने-आपको श्रीअरविंदका शिष्य कहते हैं (मेरा मतलब है : भौतिक रूपसे नहीं, बल्कि अपनी चेतनामें), और उनकी शिक्षा-के अनुसार जीवन बितानेका प्रयत्न करते हैं। उन सबमें एक ऐसे सर्व-सामान्य जीवनकी आवश्यकता जाग्रत हो गयी है जो पूर्णतया भौतिक परि-स्थितिपर ही आधारित न हो, बल्कि एक गहनतर सत्यका प्रतिनिधित्व करता हो, और जबसे अतिमानसिक चेतना और शक्तिका अवतरण हुआ है तबसे यह और भी प्रबल हो उठी है। यह एक ऐसे समाजका आरंभ है जिसे श्रीअरविंदने अतिमानसिक या विज्ञानमय समाज कहा है . . .। निश्चय ही, उन्होंने यह कहा है कि इसके लिये समुदायके व्यक्तियोंमें, स्वयं भी, अतिमानसिक चेतना होनी चाहिये; परंतु इस व्यक्तिगत पूर्णतातक पहुंचे बिना — बल्कि इस पूर्णतासे बहुत दूर रहते हुए भी — जिसे हम "सामूहिक व्यक्तित्व" कह सकते हैं उसके निर्माणके लिये एक आंतरिक प्रयत्न भी साथ-साथ चलता रहा है। सच्ची एकताकी, एक गहनतर संबंधकी आवश्यकता अनुभव होती रही है और उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न किया गया है।

इससे कुछ . . . कठिनाइयां उठ खड़ी हुईं, क्योंकि पहलेका रुख इतना अधिक वैयक्तिक था कि कुछ प्रवृत्तियोंमें खलल पड़ा, मेरा मतलब यह नहीं है कि भौतिक रूपमें पड़ा, क्योंकि चीजें उससे बहुत भिन्न नहीं हैं जैसी पहले थीं, खलल कुछ गहरी चेतनामें पड़ा। और **सबसे बढ़कर यह** (इसी बातपर मैं जोर देना चाहती हूं) कि इसने कुछ हदतक एक आंतरिक परस्पर निर्भरता पैदा कर दी है जिसने, स्वभावतः ही, वैयक्तिक स्तरको — जरा — नीचा कर दिया है, सिवाय उन लोगोंके जिन्होंने, हम कह सकते हैं, पहले ही समतल करनेकी प्रवृत्तिका मुकाबला करने लायक पर्याप्त सक्षम

आंतरिक उपलब्धि पा ली है। इसीसे ऐसी छाप पड़ती है कि सामान्य स्तर नीचे गिर गया है, पर यह बात ठीक नहीं है। सामान्य स्तर पहलेसे अधिक ऊंचा है, परंतु वैयक्तिक स्तर कइयोंमें नीचे आ गया है, वे लोग भी, जो किसी एक या दूसरी उपलब्धिके योग्य थे, ऐसा अनुभव करने लगे हैं मानों उनपर एक भार आ पड़ा है, जो पहले नहीं था, वे नहीं जानते कि ऐसा क्यों हुआ, यह भार परस्पर-निर्भरताका परिणाम है। पर यह केवल एक अस्थायी प्रभाव है जो उलटे, सुधारकी ओर, एक बहुत स्पष्ट सामान्य प्रगतिकी ओर ले जायगा।

स्वभावतः, यदि प्रत्येक व्यक्ति सचेतन होता और इस प्रकारके समतलन-के प्रभावके आगे झुकनेके बजाय इसका मुकाबला करता, ताकि वह समष्टिसे आनेवाले तत्त्वों, प्रभावों, प्रवाहोंको रूपांतरित कर सकता, उन्हें परिवर्तित एवं उन्नत कर सकता तो **समूचा** समुदाय ही वेगके साथ उच्च-तर चेतनामें उठ जाता और उससे बहुत आगे बढ़ जाता जहां व्यक्ति पहले था।

मैंने जब तुमसे प्रयत्न करनेकी अधिकाधिक अनिवार्य आवश्यकताके बारेमें कहा था (विस्तारपूर्वक समझाये बिना), तो मेरा लक्ष्य यही था। और निश्चित रूपसे मेरा यह इरादा भी था कि मैं तुम्हें एक दिन यह समझाऊं कि तुम जो व्यक्तिगत प्रयत्न करोगे उससे केवल व्यक्तिगत उन्नति ही न होगी, बल्कि यूं कह सकते हैं कि, वह फैलेगी या उसके अत्यंत महत्त्वपूर्ण सामूहिक परिणाम होंगे। परंतु मैंने महीनोंतक कुछ नहीं कहा क्योंकि मैं चाह रही थी कि व्यक्तिगत चेतना सामूहिक व्यक्तित्वकी आवश्यकताको स्वीकार करने, बल्कि कह सकती हूं कि उसे माननेके लिये ही सही, तैयार हो जाय। यही चीज है जो तुम्हें अब बतायी जानी चाहिये। इस ऊपरसे दीखनेवाले उतारका, जो केवल अकेला नहीं है, दूसरा कोई कारण नहीं। यह विकासकी सर्पिल गति है जिसका यह तकाजा है कि व्यक्ति उपलब्ध स्थितिसे दूर चला जाय, ताकि वह उप-लब्धि न केवल अधिक विस्तृत, बल्कि अधिक ऊंची भी हो जाय। यदि इसमें प्रत्येक व्यक्ति चेतन रूपसे और शुभ भावनाके साथ सहयोग दे तो यह विकास कहीं अधिक द्रुतगतिसे आगे बढ़ेगा।

यह एक अनिवार्य आवश्यकता है यदि तुम चाहते हो कि आश्रमका यह जीवन जीने लायक हो। प्रत्येक वस्तु जो उन्नति नहीं करती आवश्यक रूपसे अवनत होने लगती है और नष्ट हो जाती है। यदि आश्रमको बने रहना है तो उसे अपनी चेतनामें विकास करना होगा और एक सजीव समष्टि बनना होगा। तो यह बात है।

विकासके सर्पिल चक्करमें इस समय हम उपलब्धिकी उस रेखासे कुछ दूर चले गये हैं जहां हम कुछ वर्ष पूर्व थे, परंतु हम दुबारा उसपर लौट आयेंगे, पर पहलेसे ऊंचे स्तरपर।

तो यह है उत्तर।

कुछ गतिविधियां ऐसी हो सकती हैं जो बाहरी तौरसे उसके विपरीत मालूम दें जो कुछ मैंने अभी कहा है, पर वह . . . ऐसा तो सदा ही होता है। कारण प्रत्येक बार जब तुम कोई चीज चरितार्थ करना चाहते हो तो पहली कठिनाई जो तुम्हारे सामने आती है वह है विरोध, उन सब वस्तुओंका विरोध जो पहले सक्रिय नहीं थीं और अब विरोध करनेके लिये उठ खड़ी हुई हैं। वह सब जो इस परिवर्तनको स्वीकार करना नहीं चाहता, स्वभावतः, भड़क उठता और विद्रोह करता है। पर इसका कुछ महत्त्व नहीं। यह वैसी ही चीज है जैसी व्यक्तिमें होती है। जब तुम प्रगति करना चाहते हो, जिस कठिनाईको जीतना चाहते हो वह तुम्हारी चेतनामें दसगुना अधिक महत्त्वपूर्ण और बलवती हो उठती है। वहां केवल डटे रहनेकी बात है, बस। वह गुजर जायगी।

२८ अगस्त, १९५७

मां, श्रीअरविंद यहां कहते हैं : "समूची मानवजाति (अति-मानसिक प्रभावके) स्पर्शको प्राप्त करेगी या परिवर्तनके लिये तैयार उसका केवल एक भाग, यह इस बातपर निर्भर है कि विश्वके धारावाहि-क्रममें क्या अभिप्रेत या संभव है।"

(अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

"क्या अभिप्रेत या संभव है" का क्या मतलब है? ये दोनों तो अलग-अलग बातें हैं। अभीतक आप कहती रही हैं कि यदि मानवजाति परिवर्तित हो जाय, यदि वह नवजन्ममें भाग लेना चाहे . . .

दोनों बातें एक ही हैं। जब तुम किसी चीजको खास एक स्तरसे देखते हो तो तुम उसे पड़ी रेखामें देखते हो और जब दूसरे स्तरसे देखते हो

तो खड़ी रेखामें देखते हो (श्रीमां अपनी पुस्तकका आवरण और पृष्ठ भाग दिखाती हैं)। तो यदि तुम ऊपरसे देखो तो कहोगे "अभिप्रेत" है; और नीचेसे देखनेपर कहोगे "संभव" है ...। पर यह है बिलकुल एक ही बात, केवल देखनेके दृष्टि-बिंदुका फर्क है।

परंतु उस स्थितिमें, हमारी अक्षमतासे या परिवर्तनेच्छाके अभावसे उसमें कोई फर्क नहीं पड़ना चाहिये।

हम इस बारेमें पहले कई बार कह चुके हैं। यदि तुम उस चेतनामें रहते हो जो मनद्वारा कार्य करती है, चाहे वह उच्चतम मन ही क्यों न हो, तो तुम्हें यह बोध होता है कि कारण और परिणाम पूर्णतया नियत हैं और तुम महसूस करते हो कि वस्तुएं जैसी हैं वैसी वे इसीलिये हैं क्योंकि वे उससे भिन्न हो ही नहीं सकतीं।

जब तुम मानसिक चेतनासे पूरी तरह बाहर निकल आते हो और वस्तुओं-संबंधी उच्चतर बोधमें — जिसे तुम आध्यात्मिक या दिव्य कह सकते हो — प्रवेश पा जाते हो, केवल तभी तुम अपने-आपको एकाएक **पूर्ण** स्वतंत्रताकी अवस्थामें पाते हो जहां **सब कुछ** संभव है।

(मौन)

जिन लोगोंने उस अवस्थाका स्पर्श पाया है अथवा उसमें रहे हैं, चाहे क्षण-भरके लिये ही सही, उन्होंने उसका वर्णन इस रूपमें करनेका प्रयत्न किया है कि वह एक सर्व-समर्थ पूर्ण निरपेक्ष 'संकल्प' है, और यह चीज मानव मनमें तुरत यह भाव पैदा करती है कि वह स्वेच्छाचारी है। इसी विकृतिके कारण उस विचारकी उत्पत्ति हुई — जिसे मैं परंपरागत कहती हूं — कि एक सर्वोपरि निरंकुश भगवान् हैं, जिसे किसी भी आलोकित मनके लिये **स्वीकार करना संभव नहीं**। मेरा ख्याल है कि ठीक ढंगसे व्यक्त न किया गया यह अनुभव ही उस भावनाका मूल-स्रोत है। असलमें इसे पूर्ण निरपेक्ष 'संकल्प' कहना गलत है: यह उससे बहुत, बहुत, बहुत भिन्न है। यह बिल्कुल दूसरी ही चीज है। कारण, मनुष्य "संकल्प" से ऐसा समझता है कि वह एक निर्णय है जो लिया जाता और कार्यान्वित किया जाता है। हम "संकल्प" शब्दका प्रयोग करनेको विवश होते हैं पर विश्व-में क्रियारत 'संकल्प' वास्तवमें न तो किया गया चुनाव है और न ही निर्णय। इसके लिये जो शब्द मुझे निकटतम प्रतीत होता है वह है

ईक्षण, अंतर्दर्शन। वस्तुओंकी विद्यमानता इसलिये है क्योंकि वे **देखी गयी** थीं। स्वभावतः यह "देखना" वही नहीं है जैसा हम इन आंखोंसे देखते हैं (श्रीमां अपनी आंखोंको छूती हैं), फिर भी यही निकटतम है। यह एक अंतर्दर्शन है — अपने-आपको उन्मीलित करता हुआ एक अंतर्दर्शन।

क्रमिक रूपमें जैसे-जैसे विश्वका ईक्षण चलता है — वह वस्तुगत रूप लेता जाता है।

इसीसे श्रीअरविन्दने कहा है: "अभिप्रेत या संभव है।" यह न तो एक चीज है, न दूसरी। जो कुछ भी हम कहते हैं वह एक विकृति है।

(मौन)

वस्तुगत रूप धारण करना — विश्वका वस्तुगत रूपमें आना — एक ऐसी चीज है मानो यह शाश्वत कालसे **विद्यमान** वस्तुका देश और कालमें प्रक्षेप हो, उसका मानों एक सजीव बिम्ब हो। और जैसे-जैसे यह बिंब देश और कालके पर्देपर प्रक्षिप्त होता है यह वस्तुगत रूप लेता जाता है।

परम पुरुष 'अपना बिंब' निहार रहे होते हैं।

४ सितम्बर, १९५७

आज किसीने मुझसे एक प्रश्न पूछा है। यह मेरे उन शब्दोंसे सम्बन्ध रखता है जो मैंने तुमसे १४ अगस्तको, श्रीअरविन्दके जन्मदिवसके पहले कहे थे। यह प्रश्न मुझे रोचक प्रतीत हुआ क्योंकि इसका सम्बन्ध उन वाक्योंमेंसे एकके साथ है जो जरा गूढ़ या रहस्यमय होते हैं और सरलीकरणके कारण अनेकार्थक या अस्पष्ट-से हो जाते हैं। जानबूझकर ही उन्हें ऐसा रखा गया था ताकि प्रत्येक व्यक्ति उसे अपनी चेतनाके स्तरके अनुसार समझ सके। यह बात मैं तुम्हें पहले कई बार बता चुकी हूं कि यह संभव है कि ठीक उन्हीं शब्दोंको विभिन्न स्तरोंपर समझा जाय। इन शब्दोंको जानबूझकर सरल और जानबूझकर ही अस्पष्ट रखा गया था ताकि उन्हें अर्थकी जिस जटिलताको व्यक्त करना था उसके वाहक बन सकें।

वह अर्थ विभिन्न स्तरोंपर थोड़ा-थोड़ा भिन्न होता है परन्तु वह एक-दूसरेका पूरक होता है और वह तबतक सचमुच पूर्ण नहीं होता जबतक कि

उसे एक साथ सब स्तरोंपर न समझा जाय। सच्ची समझ सब अर्थोंकी एक साथ समझ है, उसमें सभी अर्थ एक साथ दृष्टिमें, पकड़में, समझमें आ जाते हैं। पर उन्हें व्यक्त करनेके लिये, हमारे पास जो भाषा है वह बहुत अक्षम है, हमें चीजोंको विवश होकर एकके बाद एक करके, बहुत-से शब्दों और अनेक व्याख्याओंके द्वारा कहना पड़ता है..। मैं भी अब वही करने जा रही हूं!

यह प्रश्न उन शब्दोंसे संबंधित है जो मैंने श्रीअरविन्दके जन्मके बारेमें कहे थे (यह उनके जन्मदिनसे पहले कहे गये थे)। मैंने उसका एक "सनातन जन्म"के रूपमें वर्णन किया था। मुझसे पूछा गया है कि "सनातन"से मेरा क्या अभिप्राय है।

स्वभावतः, यदि इन शब्दोंको अक्षरशः लिया जाय तो एक "सनातन जन्म"का कुछ विशेष अर्थ नहीं बनता। पर मैं तुम्हें अभी बताऊंगी कि कैसे इसकी एक भौतिक व्याख्या या अर्थ, एक मानसिक अर्थ, एक चैत्य अर्थ और एक आध्यात्मिक अर्थ हो सकता है — और वास्तवमें है भी।

भौतिक रूपमें, इसका अर्थ यह है कि इस जन्मके परिणाम तबतक रहेंगे जबतक स्वयं पृथ्वी रहेगी। श्रीअरविन्दके जन्मके परिणाम पृथ्वीके संपूर्ण अस्तित्वकालमें अनुभव होते रहेंगे। अतः मैंने इसे कुछ कवित्वपूर्ण ढंगसे "सनातन" कहा है।

मानसिक रूपमें, यह एक ऐसा जन्म है जिसकी स्मृति सनातन कालतक बनी रहेगी। आगे युगांतक श्रीअरविन्दका जन्म और उसके प्रभाव स्मरण किये जायेंगे।

चैत्य रूपमें यह एक ऐसा जन्म है जिसकी पुनरावृत्ति विश्वके इतिहासमें शाश्वत रूपसे युग-युगतक होती रहेगी। यह एक ऐसा प्रादुर्भाव है जो पृथ्वीके इतिहासमें, युग-युगमें, समय-समयपर होता है, अर्थात् यह जन्म स्वयं अपने-आपको नये-नये रूपोंमें बार-बार दुहराता है और शायद प्रत्येक बार कुछ अधिक बड़ी चीज — अधिक सिद्ध और अधिक पूर्ण चीज — अपने साथ लाता है, परन्तु यह पार्थिव शरीरमें अवतरित होने, अभिव्यक्त होने, जन्म लेनेकी वही क्रिया होती है।

और अन्तमें, विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिसे, यह कहा जा सकता है कि यह जन्म पृथ्वीपर "सनातन"का जन्म है। क्योंकि प्रत्येक बार जब अवतार भौतिक रूप ग्रहण करते हैं तो यह पृथ्वीपर स्वयं "सनातन"का जन्म होता है।

यह सब बात, दो शब्दोंमें आ गयी है: "सनातन जन्म"।

तो, अपनी बात पूरी करते हुए अन्तमें, मैं तुम्हें एक सलाह देती हूं —

भविष्यमें, अपने-आपसे यह कहनेसे पहले : "लो, इसका, भला, क्या अर्थ है, मुझे तो कुछ समझमें नहीं आया, शायद ठीकसे अभिव्यक्त नहीं किया गया," तुम अपने-आपसे यह कह सकते हो : "संभवतः मैं उस स्तरपर नहीं हूं जहां मैं इसे समझ सकूं," और तब शब्दोंके पीछे केवल शब्दोंको नहीं, बल्कि किसी और चीजको खोजनेकी कोशिश करो। यह लो!

मैं सोचती हूं हमारे ध्यानके लिये यह एक अच्छा विषय है।

(ध्यान)

११ सितम्बर, १९५७

मधुर मां, ऐसा क्यों होता है कि हम पहली दृष्टिमें ही कुछके प्रति आकर्षित हो जाते हैं और दूसरोंके प्रति हटाव अनुभव करते हैं?

सामान्यतः यह प्राणिक सादृश्य एवं समानताओंपर आधारित होता है, किसी और चीजपर नहीं। कुछ प्राणिक स्पन्दन परस्पर-अनुकूल होते हैं और कुछ नहीं होते। सामान्यतः यही बात होती है, और कुछ नहीं। यह प्राणिक रसायन-विद्या है।

इससे भिन्न दृष्टिकोण अपनानेके लिये व्यक्तिको बहुत गहरी और बहुत ही स्पष्टदर्शी चेतनामें स्थित होना चाहिये। चैत्य चेतनापर आधारित एक ऐसा आन्तरिक बोध होता है जो हमे जता देता है कि किन लोगोंकी अभीप्सा और उद्देश्य हमारे जैसे हैं और कौन मार्गपर हमारे संगी हो सकते हैं और वह बोध तुम्हें यह स्पष्ट दृष्टि भी प्रदान करता है कि किन लोगोंका मार्ग बहुत भिन्न है, या किनमें ऐसी शक्तियां हैं जो तुम्हारे लिये विरोधी और तुम्हारी प्रगतिमें हानि पहुंचानेवाली हो सकती हैं। पर इस बोधको प्राप्त करनेके लिये व्यक्तिको अनन्य भावसे अपनी आध्यात्मिक उन्नति एवं सर्वांगीण सिद्धिमें ही निमग्न रहना चाहिये। किन्तु ऐसा प्रायः होता नहीं। और सामान्यतः, जब व्यक्तिको यह अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है तो इसका परिणाम आकर्षण या विकर्षण नहीं होता, बल्कि यह एक, यूं कह सकते हैं कि अत्यन्त "वस्तुगत" ज्ञान होता है, और एक प्रकारकी

आन्तरिक निश्चयता होती है जो तुम्हें आकर्षणों या विकर्षणोंद्वारा नहीं, वरन् शान्ति और विवेकसे काम करनेके लिये प्रेरित करती है।

अतः सामान्य रूपसे और लगभग पूर्ण रूपसे यह कहा जा सकता है कि जिन लोगोंमें अत्यन्त प्रबल और आवेगयुक्त राग व द्वेष होते हैं वे प्राणिक चेतनामें निवास करते हैं। उनके साथ मानसिक समानताएं भी मिली रह सकती हैं, अर्थात् ऐसे बुद्धिशाली व्यक्ति होते हैं जो समान प्रवृत्तियोंसे संपर्क बनाना पसन्द करते हैं, पर वहां भी —ये वे लोग होते हैं जो बौद्धिक रूपसे बहुत ऊंचे स्तरपर होते हैं—उसका अधिक ठीक रूप यही होता है कि उन्हें संपर्कमें कम या अधिक सुखानुभूति होती है, कुछ ऐसी चीज जो अधिक शान्त और अनासक्त होती है। व्यक्ति कुछके साथ बातचीत करके प्रसन्न होता है जब कि दूसरोंके प्रति जरा भी आकर्षण नहीं होता। वहां कोई लाभ नहीं दिखायी देता। इस संपर्कमें थोड़ी दूरी रहती है और यह शान्त होता है; यह बुद्धिके क्षेत्रसे अधिक सम्बन्धित है। परन्तु राग और द्वेष स्पष्ट ही प्राणिक जगत्की चीजें हैं। हां तो, जैसे एक भौतिक रसायन-विद्या है उसी तरह एक प्राणिक रसायन-विद्या भी है: कुछ शरीर ऐसे होते हैं जो एक-दूसरेसे दूर हटते हैं जब कि कुछ आकृष्ट करते हैं, ऐसे पदार्थ होते हैं जो परस्पर मिल जाते हैं और ऐसे भी होते हैं जिनके मिलनेसे विस्फोट होता है, यह भी ऐसी ही बात है। कुछ प्राणिक स्पन्दन ऐसे होते हैं जिनमें समस्वरता होती है और इतनी अधिक होती है कि सौमें निन्यानवे बार लोग इन सहभावनाओंको उस रूपमें ले लेते हैं जिसे मनुष्य प्रेम कहते हैं और एकाएक वे महसूस करने लगते हैं: "ओह! वह पुरुष, उसीके लिये तो मैं प्रतीक्षा कर रही थी," "ओह! वह लड़की, उसीकी तो मुझे खोज थी!" (हंसती हुई) और वे एक-दूसरेकी ओर दौड़ पड़ते हैं,—जबतक कि वे यह नहीं जान लेते कि ये बहुत ही ऊपरी बातें हैं और देरतक नहीं टिकतीं। तो बात ऐसी है। इसलिये जो योग करना चाहते हैं उन्हें पहली सलाह यही दी जाती है: "राग-द्वेषसे ऊपर उठो।" यह ऐसी चीज है जिसमें कुछ भी गहरी वास्तविकता नहीं होती और यह कम-से-कम तुम्हें ऐसी कठिनाइयोंमें डाल सकती है जिन्हें कभी-कभी जीतना बहुत ही कठिन होता है। इन चीजोंसे तुम्हारा जीवन बरबाद हो जा सकता है। और सर्वोत्तम तो यह है कि इन चीजोंकी ओर बिलकुल ही ध्यान न दो —थोड़ा अन्तर्मुख होओ और अपने-आपसे पूछो कि किस कारण—यह कारण अधिक रहस्यमय नहीं होता—तुम इस व्यक्तिसे मिलना पसन्द करते हो, और दूसरेसे नहीं।

परन्तु एक ऐसा क्षण होता है जब व्यक्ति पूरी तरह अपनी साधनामें लगा होता है, तब वह अनुभव कर सकता है (पर बहुत सूक्ष्म और बहुत ही शान्त रूपमें) कि यह संपर्क-विशेष साधनाके लिये हितकर है। और दूसरा हानिकर है। परन्तु वह सदा, ऐसा कह सकते हैं कि, बहुत अधिक "तटस्थ" रूप लेता है। और यहांतक कि प्राणके इन तथाकथित आकर्षणों और विकर्षणोंका विरोधी भी होता है; अधिकतर इसका उनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता।

अतएव, सबसे अच्छी बात यह है कि इन बातोंसे जरा दूर रहकर इन-पर दृष्टिपात करो और अपनेको इन चीजोंकी व्यर्थताका उपदेश दो।

स्पष्ट ही, कुछ प्रकृतियां प्रायः मूलतः बुरी होती हैं, ये सत्ताएं जन्मसे ही दुष्ट होती हैं और दूसरोंको हानि पहुंचाना पसन्द करती हैं, और युक्ति-युक्त रूपमें, यदि तुम बिलकुल स्वाभाविक अवस्थामें होओ, बिगड़े न होओ, सहज प्राकृतिक अवस्थामें होओ जैसे कि पशु होते हैं (इस दृष्टिसे वे मनुष्योंसे बहुत अच्छे होते हैं, विकृति मनुष्यजातिसे शुरू होती है), तो तुम अलग रहोगे, जैसे तुम मूलतः हानिकर वस्तुसे परे रहते हो। परन्तु सौभाग्यसे ये लोग बहुत नहीं होते और जीवनमें जिन लोगोंसे तुम मिलते हो वे सामान्यतया काफी मिश्रित स्वभावके होते हैं, उनमें भलाई और बुराईमें, यूं कह सकते हैं कि, एक प्रकारका संतुलन रहता है और उनके साथ तुम्हारा सम्बन्ध भी एक ही साथ भला और बुरा होता है। सो, इसका कोई कारण नहीं कि तुम उनके प्रति तीव्र विद्वेषका अनुभव करो क्योंकि तुम स्वयं भी वैसे ही, काफी मिश्रित ढंगके व्यक्ति हो (हंसते हुए), जैसेको तैसा मिलता है!

यह भी कहा जाता है कि कुछ लोग पिशाच-सदृश होते हैं और जब वे किसी व्यक्तिके पास आते हैं तो सहज रूपमें उसकी प्राण-शक्ति और बल चूस लेते हैं, उनसे ऐसे ही सावधान रहना चाहिये जैसे किसी भयानक संकटसे रहा जाता है। परन्तु वह भी... यह नहीं कि उनका अस्तित्व ही नहीं होता परन्तु वे बहुत नहीं होते और निश्चित रूपसे इतने पूर्ण रूपसे (बुरे) नहीं होते कि उनसे मिलनेपर दूर भागनेकी जरूरत पड़े।

तो, साररूपमें, यदि तुम योगमें उन्नति करना चाहते हो तो करने योग्य पहली बात है अपनी नापसन्दगियोंको जीतना... और अपनी पसन्दगियोंको भी। इन सबपर मुस्कानके साथ नजर डालो।

(मौन)

"एक नयी जाति तब पृथ्वीपर और पार्थिव शरीरमें ऐसे मनोमय जीवोंकी जाति होगी जो विश्वगत अज्ञानके राज्यकी वर्तमान अवस्थाओंसे मुक्त होगी और इस हदतक मुक्त होगी कि उसे एक पूर्णताप्राप्त एवं ज्योतिर्मय मन प्राप्त होगा। यह मन अतिमानस या 'सत्य-चेतना' की एक छोटी सहायक क्रिया होगा और हर हालतमें उन समस्त संभावनाओंसे भरा होगा जो उस सत्यके प्रतिग्रहीताके रूपमें कार्य कर सकेंगी और कम-से-कम विचार और जीवनमें उसकी द्वितीय कोटिकी क्रिया होगा। यह उसका एक भाग भी हो सकता है जिसे पृथ्वीपर दिव्य जीवन कहा जाता है और कम-से-कम ज्ञानमें होनेवाले विकासका आरंभ हो सकता ह, जो पूर्णतः या मुख्यतः अज्ञानमें नहीं होगा। यह किस हदतक संभव हो सकेगा, सारी मानवजातिको यह अंतमें अपनेमें समेट लेगा या केवल इसका एक उन्नत भाग ही इसे प्राप्त करेगा, यह इसपर निर्भर होगा कि स्वयं क्रम-विकासके अंदर कौन-सा अभिप्राय निहित है, इसपर कि जो भी वैश्व या परात्पर 'संकल्प' विश्वकी गतियोंको निर्धारित करता है उसका अभिप्राय क्या है?"

(अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

क्या यह अभिप्राय अज्ञात है?

क्या तुम इसे जानते हो? जानते हो?

यह स्पष्ट ही है कि विकासका एक उद्देश्य है और अब अधबीच नहीं रुक सकता।

तुम इसे जानते हो क्योंकि तुमने श्रीअरविंदकी पुस्तकें पढ़ी हैं। परंतु राह-चलते किसी व्यक्तिको लो — वह चाहे जो भी हो — और उससे पूछो कि इस विश्वका, इस क्रम-विकासका क्या अभिप्राय है, तो तुम्हें पता चलेगा कि वह क्या उत्तर देता है! यही कि वह इस बारेमें कुछ नहीं जानता। स्वभावतः, जिन्होंने श्रीअरविंदकी पुस्तकें पढ़ी हैं और उनका अध्ययन किया है वे समझते हैं कि वे इस बारेमें कम-से-कम कुछ तो जानते हैं। जब श्रीअरविंदने यह लेख लिखा था तो स्पष्ट ही उन्होंने इसे उन लोगोंके लिये लिखा था जो योग नहीं कर रहे, जिन्होंने उनकी

पुस्तकें नहीं पढ़ीं और जो शारीरिक शिक्षाके काममें लगे हुए हैं; अतः उन्होंने अपने-आपको उनके स्थानपर रखा और उनके विचारोंको व्यक्त किया और उन्हें कुछ आगे ले चलनेकी कोशिश की। उन्होंने यहां अपना आधार उन्हींको बनाया है जिन्होंने उनकी पुस्तकें नहीं पढ़ीं।

परंतु तुम कहते हो, "यह स्पष्ट ही है।" यहां ऐसे कई हैं — निश्चय ही अनेकों हैं — यदि तुम उनमें प्रत्येकसे व्यक्तिगत रूपसे पूछो कि जो कुछ उन्होंने पढ़ा है उसे बिना दोहराये इस जागतिक क्रम-विकासमें निहित अभिप्रायके बारेमें वे स्वयं क्या महसूस करते या सोचते हैं, क्या इसमें कोई अभिप्राय है...। मुझे नहीं लगता कि ऐसे बहुत मिलेंगे जो पूरी सच्चाईसे कह सकें: "यह ऐसा है, वैसा है, वह है... यह स्पष्ट ही वह है।" उनमेंसे ऐसे लोग तो होंगे जो श्रीअरविंदकी रचनाओंके अंश उद्धृत कर सकें, पर वैसे ...।

स्वयं तुम यदि सोचना — जो कुछ तुमने पढ़ा है उसकी सहायतासे सोचना — बंद कर दो और अपने व्यक्तिगत अनुभवको व्यक्त करनेकी कोशिश करो तो क्या कोई निश्चिति रहेगी?

मैं पढ़नेसे, या सुननेसे या ऐसी और चीजोंसे जो परिणाम प्राप्त होता है उसके बारेमें नहीं कह रही, समझे? मैं तो उसके बारेमें कह रही हूं जो व्यक्तिके निजी, उसके अपने स्वीय अनुभवका परिणाम है, ऐसी चीज जो उसके लिये इसलिये स्पष्ट है क्योंकि वह उसका अपना निजी अनुभव है — क्या तुम उसका वर्णन कर सकते हो? कर सकते हो क्या?

जी।

जी! तो, मैं तुम्हें बधाई देती हूं।

मेरे बावजूद, बात ऐसी है।

अच्छा, मैं आशा करती हूं कि तुम जैसे बहुत-से होंगे। बस, इतना ही।

मुझमें कई विरोधी तत्त्व भी हैं, पर फिर भी कुछ चीज है...

हां, यह अच्छी बात है, यह अच्छा है — यह बहुत अच्छा है।

तो मैं कह सकती हूं तुमने यहां अपना समय बर्बाद नहीं किया है ! (हंसी) तो, इस चीजको अब हम अपने अंदर देखेंगे।

(ध्यान)

१८ सितम्बर, १९५७

मां, अतिमानसिक जीवनमें गुह्यविद्याका क्या स्थान होगा?

विशेष रूपसे गुह्यविद्या ही क्यों?

क्योंकि सब कुछ ज्ञात होगा, है न?

गुह्यविद्या ही क्यों? अतिमानसिक जीवनमें हर चीजके लिये स्थान है। क्या तुम्हें इसमें विशेष रुचि है?

गुह्यविद्याके बारेमें हम जो कुछ समझते हैं उसके अनुसार यह एक ऐसी विद्या है जो हमें अदृश्य चीजोंका ज्ञान प्रदान करती है, अदृश्य जगत्का, अदृश्य शक्तियोंका...। परंतु अतिमानसिक जगत्में तो यह सब ज्ञात ही होगा।

गुह्यविद्यासे तुम क्या समझते हो?

अदृश्य जगत् और अदृश्य शक्तियोंका ज्ञान।

तो — मैं पूरी तरह समझी नहीं। अतिमानसमें व्यक्तिके पास ज्ञान नहीं रहेगा या कुछ और?

व्यक्तिके पास पहलेसे ही ज्ञान होगा, इसलिये...

पहलेसे... पर तब वह गुह्यज्ञान होगा! मैं तरह ठीक नहीं समझी।

गुह्यविद्या चीजोंके साथ बरतनेका एक खास ढंग है। 'दिव्य जीवन' पुस्तकमें श्रीअरविंदने इसे काफी विस्तारसे समझाया है। यह जानने और क्रिया करनेकी विशेष पद्धति है और कोई कारण नहीं कि इसे लुप्त हो जाना चाहिये या ...

यह स्वाभाविक चेतना बन जायेगी। शायद तब इस गुह्य-विद्याको सीखनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी।

ओह! तुम सोचते हो कि गुह्यविद्या ऐसे सीखी जाती है जैसे कोई पियानो बजाना सीखता है! (हंसी) पर यह ऐसी बात नहीं है, कुछ भी हो, यह ऐसे नहीं होता। असलमें, जिनमें कोई खास अभिवृत्ति नहीं होती वे गुह्यविद्यापर संसारकी सब पुस्तकें पढ़ सकते हैं और फिर भी उन्हें पता नहीं चलेगा कि इसका प्रयोग कैसे किया जाय। इसके लिये खास योग्यताकी आवश्यकता होती है।

यह ऐसा ही है जैसे तुम पियानो बजानेकी विधिपर संसारकी सभी पुस्तकें पढ़ लो — यदि तुम उसे बजाओगे नहीं तो तुम्हें कभी बजाना नहीं आयेगा। पर जैसे कुछ जन्मजात संगीतज्ञ और जन्मजात कलाकार होते हैं वैसे ही कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो अपने सारे जीवन-भर इसपर मेहनत करते हैं और कुछ हासिल नहीं कर पाते। गुह्यविद्याके साथ भी ऐसी ही बात है। यदि तुम्हारा मतलब यह हो कि जब व्यक्ति अतिमानव बन जायेगा तो उसे सब कुछ करनेकी नैसर्गिक क्षमता प्राप्त हो जायगी तो यह बात ठीक है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि क्षमता सहज-स्वाभाविक होगी। हो सकता है तुम्हें अपना काम सीखनेके लिये विषयपर ध्यान एकाग्र करनेकी आवश्यकता पड़े और यह भी हो सकता है कि व्यक्तिके पास सब कुछ कर सकनेकी सामर्थ्य हो, पर यह जरूरी नहीं कि वह उसे करे ही! यह सब होते हुए भी भेद होंगे, श्रेणी-करण होगा, व्यक्ति-व्यक्तिके और उनकी विशिष्ट रुचियोंके अनुसार विशेष योग्यताएं भी होंगी। मैं नहीं समझ पाती कि तुम अतिमानसिक जगत्को किसी औरकी अपेक्षा विशेषतः गुह्यक्रियासे ही वंचित क्यों रखना चाहते हो।

अतिमानसिक जीवनके बारेमें तुम्हारी क्या धारणा है? क्या तुम इसे एक ऐसा स्वर्ग समझते हो जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एक ही-सी चीज, एक ही-से ढंगसे करता होगा ... स्वर्ग-सम्बन्धी पुराना विचार कि प्रत्येक व्यक्ति वहां देवदूत होता है और वीणा बजाया करता है? बात बिलकुल ऐसी ही नहीं है। वहां सब विभेद होंगे, विशिष्टताएं होंगी और विभिन्न क्रिया-

कलाप होंगे, पर व्यक्ति साधारण मानव अज्ञानमें कार्य करनेके स्थानपर ज्ञानमें कार्य करेगा, बस, यही फर्क होगा।

और क्षमताएं भी बढ़ जायेंगी, है न?

क्षमताएं ? . . . तुम गुह्यविद्याको इस रूपमें ले रहे हो कि यह जीवन और वस्तुओंपर, एक प्रक्रियाके रूपमें, कार्य करनेकी शक्ति है, पर वह गुह्यविद्या नहीं, वह तो जादूगरी है।

गुह्यविद्या चेतनाका एक विशेष प्रयोग है, बस। कहनेका मतलब यह कि इस समय, जैसा कि मनुष्य इसका व्यवहार करते हैं, यह बाह्य रूपोंके पीछे स्थित शक्तियोंका और उनकी क्रीड़ाका सीधा प्रत्यक्ष एवं सचेतन बोध है और चूंकि यह उनका सीधा प्रत्यक्ष बोध होता है इसलिये व्यक्तिके पास उनपर क्रिया करनेकी शक्ति-सामर्थ्य भी रहती है और वह इन शक्तियोंकी क्रीड़ामें, अभीष्ट परिणामकी प्राप्तिके लिये, कम व अधिक उच्च संकल्पका हस्तक्षेप करा लेता है।

अतिमानसिक जगत्में ये शक्ति-सामर्थ्य सहज-स्वाभाविक रूपमें व्यक्तिको प्राप्त रहेंगे।

सहज-स्वाभाविक रूपमें . . .। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति ही गुह्यविद्याका प्रयोग करता है, बिना यह जाने कि वह उसका प्रयोग कर रहा है। प्रत्येक व्यक्तिको यह सामर्थ्य सहज-स्वाभाविक रूपमें प्राप्त है पर वह जानता नहीं कि उसे यह प्राप्त है। यह सामर्थ्य सुईकी नोक बराबर बहुत थोड़ी हो सकती है, और यह बहुत बड़ी भी हो सकती है, पृथ्वी या विश्व जितनी बड़ी भी; पर तुम उसका प्रयोग किये बिना रह नहीं सकते, केवल तुम उस बारेमें कुछ जानते नहीं। तो, जो फर्क तुम कर सकते हो वह, बस, इतना ही है कि जब व्यक्तिको अतिमानसिक चेतना प्राप्त हो जायगी तो वह उसे जानता होगा, बस इतना ही। तो, तुम्हारा प्रश्न अपने-आप समाप्त हो जाता है।

जब तुम सोचते हो (इस बातको पता नहीं कितनी ही बार मैंने तुम्हें बताया है), जब तुम सोचते हो तो तुम गुह्यविद्याका ही व्यवहार कर रहे होते हो। केवल, तुम इस बारेमें कुछ जानते नहीं। जब तुम किसी व्यक्तिके बारेमें सोचते हो तो तुम्हारा एक भाग स्वतः ही उसके संपर्कमें आ जाता है और यदि तुम्हारे विचारके साथ कोई संकल्प भी जुड़ा हुआ

हो कि वह व्यक्ति इस प्रकार या उस प्रकारका हो, इस काम या उस कामको करे, इस बात या उस बातको समझे (वह चाहे जो भी हो), हां तो, तुम गुह्यविद्याका ही व्यवहार कर रहे होते हो, केवल तुम इसे जानते नहीं...। कुछ लोग इसे शक्तिशाली ढंगसे कर लेते हैं और यदि उनका विचार सशक्त हो तो वह चीज चरितार्थ और सिद्ध हो जाती है, जब कि दूसरोंमें यह (सामर्थ्य) बहुत दुर्बल होती है और उन्हें बहुत फल नहीं मिलता। यह तुम्हारे विचारकी प्रबलतापर और साथ ही तुम्हारी एकाग्रताकी क्षमतापर निर्भर है। पर इस प्रकारकी गुह्यविद्याका हर कोई बिना जाने ही व्यवहार करता है। तो फर्क इतना ही है कि जो गुह्यविद्याका वस्तुतः अभ्यास एवं प्रयोग करता है वह जानता है कि वह इसे कर रहा है और शायद यह भी कि वह कैसे इसका प्रयोग कर रहा है।

आपने हमें श्रीयुत 'क्ष' के बारेमें कई बार बताया है कि वे एक महान् गुह्यवेत्ता थे, मैंने सोचा कि अतिमानसिक जगत्‌में तो यह एक सहज प्राकृतिक चीज होगी, हर कोई उन जैसा समर्थ होगा।

परन्तु विशेष रूपसे यही क्यों? यही बात तो मेरी समझमें नहीं आयी! विशेष रूपसे गुह्यविद्या ही क्यों?

क्योंकि मैं सोचता हूं कि अदृश्य जगत्‌का सब ज्ञान गुह्यविद्याके क्षेत्रके अंतर्गत आ जाता है।

हां।

तो, इस समय साधारण जीवनमें मनुष्य अचेतन या अर्द्ध-चेतन है, पर पूर्ण चेतना प्राप्त हो जानेपर वह गुह्यविद्यासे भी वैसे ही पूर्ण रूपसे सचेतन हो जायगा।

नहीं, यह सब बहुत सुन्दर है, परन्तु तुम सोचते हो कि अतिमानसिक जीवनमें कार्य-कलापोंमें कोई श्रेणी-विभाजन नहीं रहेगा या कुछ और? यह कि वहां सब अभिन्न, एक-सदृश होगा, सबके पास एक सर्व-सामान्य सहज प्राकृतिक क्षमता होगी?

नहीं, वहां भी क्रम-सोपान होगा।

वहां वस्तुओंसे बरतनेके सदा विभिन्न तरीके होंगे। हो सकता है कि गुह्य-**शक्ति** अधिक सर्व-सामान्य हो, परन्तु यदि तुम्हारी कल्पना ऐसी हो कि वहां प्रत्येकके पास समान रूपसे एक ही-सी गुह्यशक्ति होगी तो वहां कोई विभेद नहीं रहेगा। समझ रहे हो? कुछ लोगोंके पास गुह्यशक्ति होती है और वे उसका प्रयोग उनपर करते हैं जिनके पास वह नहीं होती किन्तु यदि प्रत्येकको वह समान रूपसे उपलब्ध हो तो वह फिर गुह्यविद्या ही नहीं रहेगी...। तुम्हारा अभिप्राय यही है?

जी।

आह!... खैर, मुझे पूरा विश्वास है कि अत्यन्त पूर्ण अतिमानसिक स्थितिके चरितार्थ हो जानेपर भी व्यक्ति-व्यक्तिके बीच क्षमताओं और गुणोंका विभेद सदा बना रहेगा। परन्तु बजाय इसके कि व्यक्ति कभी तो अपने स्थान-पर रहे और कभी न रहे, जो करना चाहिये उसे कभी तो करे और कभी न करे, और करे भी तो अचेतन रूपमें, इसकी जगह वह अपने सही स्थान-पर — मैं सोचती हूं सदा अपने ही स्थानपर — होगा और जो उसे करना चाहिये उसे सदा करेगा और सचेतन रूपसे करेगा। दूसरे शब्दोंमें, बजाय वहां होने, और अंधेरेमें जाननेकी कोशिश करने एवं टटोलनेके वह जानता होगा कि उसे क्या करना है और उसे उतम रूपसे करेगा। यही सारा फर्क है। विभिन्नताएं वहां रहेंगी, प्रत्येकका अपना भाग होगा, अपना स्थान होगा, प्रत्येकके अपने क्रिया-कलाप होंगे। यह मत सोचो कि हर एक एक जैसा दीखने लगेगा, एक ही-सा काम, एक ही-से तरीकेसे करता होगा! वह तो भयंकर संसार होगा।

हम कह सकते हैं कि अतिमानसिक जगत्में और हमारे वर्तमान जगत्में इस प्रकारका भेद होगा: जो कुछ तुम नहीं जानते उसे जान जाओगे, जो तुम नहीं कर सकते उसे कर सकोगे, जो तुम नहीं समझते उसे समझ लोगे और जिन चीजोंसे तुम अचेतन हो उनसे सचेतन हो जाओगे। और मूलतः नयी सृष्टिका आधार यही है: अज्ञानके स्थानपर ज्ञान, अचेतनाके स्थानपर चेतना और दुर्बलताके स्थानपर बल-सामर्थ्यकी स्थापना करना। परन्तु इसका जरूरी तौरसे यह मतलब नहीं है कि प्रत्येक चीज एकसदृश होगी और इस हदतक कि उसे पहचाना भी न जा सके।

(लंबा मौन)

श्रीअरविन्दने हमें बताया है कि स्वयं अतिमानसमें उपलब्धिके विभिन्न स्तर हैं और ये स्तर क्रमिक रूपसे विकासकी उसी गतिके साथ ही व्यक्त होंगे जो विश्वकी उन्नतिकी अधिष्ठात्री रही है। लोगोंके लिये अतिमानसिक जीवनमें विकासकी कल्पना करना कठिन केवल इसलिये हो रहा है क्योंकि अबतक यह जगत् मनुष्योंके अधिकतर भागके लिये बन्द रहा है या कुछके लिये मुश्किलसे थोड़ा-सा खुला है, पर विकास वहां बना ही रहेगा। और जिस क्षण प्रगति होती है उसके साथ आरोहण भी होता है। वहां पूर्णता है पर वह भी एक निश्चित विधानके अनुसार उन्नत होती रहती है। और यह विधान चेतनाके सामने — चाहे वह पूर्णतः आलोकित चेतना ही क्यों न हो — क्रमशः उद्घाटित होता है और यह अज्ञानमें काम करनेके बदले सत्यमें काम करता है...। वह कुछ चीज[1] जो 'अभिव्यक्ति'में संपूर्ण एवं समग्र रूपमें, एक बारगी ही (कुछ-कुछ यूं भी कहा जा सकता है कि अतिविस्तृत रूपमें) विद्यमान नहीं है, पर जो उत्तरोत्तर बढ़ रही है, वह भी वृद्धिके उसी विधानका अनुसरण करेगी जैसा कि यह जगत् जिसमें हम अब रहते हैं। पर इसके स्थानपर कि हमें पता ही न हो कि हम कहां जा रहे हैं, हां, हमें अपने रास्तेका पता होगा और हम उसका सचेतन रूपसे अनुसरण करेंगे। इसके स्थानपर कि व्यक्ति, बस, खड़ा कल्पना करता या अनुमान या अटकल लगाता रहे कि क्या करना चाहिये, वह देख सकेगा कि उसे कहां जाना है और जान सकेगा कि वहां कैसे पहुंचना है। तो यही मौलिक भेद होगा। निश्चय ही, यह कोई नीरस, उबाऊ जीवन नहीं होगा जहां सब कुछ अनिश्चित कालतक बना रहे और उसमें कोई परिवर्तन न हो।

मैं समझती हूं मानव चेतनामें सदा यह प्रवृत्ति होती है कि वह कहीं पहुंच जाना, बैठ जाना चाहती है, वह ऐसा अनुभव करना चाहती है कि आखिर, यह समाप्त हो गया : "हम पहुंच गये, ठिकाने लग गये, अब और नहीं हिलना।" वह तो एक दुर्बल अतिमानस होगा।

पर बढ़ती हुई पूर्णताकी ओर आरोहण एवं विकासकी यह गति निश्चय ही वहां स्पष्ट दीख पड़ेगी। और अन्धकारमें अपने-आपको उन्मीलित करनेके स्थानपर — जहां हर एक अन्धा है और टटोलता है — यह प्रकाश-में अपने-आपको उन्मीलित करेगी और व्यक्तिको यह जाननेका आनन्द

---

[1]इस वार्ताके प्रथम प्रकाशनके समय, श्रीमांने इस "कुछ चीज"का अधिक स्पष्टतासे वर्णन किया : "वह अनभिव्यक्ति जो अपनी अभिव्यक्तिके लिये अतिमानसिक जगत्का प्रयोग करेगी।"

प्राप्त होगा कि वह कहां जा रहा है और कैसे चल रहा है। बस इतना ही।

तो तुम्हें मेरे पास आकर यह नहीं पूछना चाहिये : "क्या वहां यह चीज होगी ?" या : "क्या वहां वह चीज नहीं होगी ?" जितनी चीजें हमारे पास अब हैं उससे बहुत ज्यादा चीजें वहां होंगी। सब संभव चीजें वहां होंगी।

२५ सितम्बर, १९५७

"एक नवीन मानवजातिका हमारे लिये अर्थ है मनोमय प्राणियोंकी एक ऐसी जाति या संततिका आविर्भाव या विकास जिसका मानसिक तत्त्व अज्ञानमें रहनेवाला ठीक वही मन नहीं होगा जो ज्ञानकी तलाश करता है, पर अपने ज्ञानकी स्थितिमें भी अज्ञानसे बंधा होता है, जो ज्योतिकी खोज तो करता है पर उसका स्वाभाविक स्वामी नहीं होता, ज्योतिकी ओर खुला तो होता है पर ज्योतिके अंदर निवास नहीं करता, जो अभीतक पूर्णताप्राप्त यंत्र नहीं है, सत्यसे सचेतन और अज्ञानसे मुक्त नहीं है। इसके स्थानपर वह जाति पहलेसे ही उस वस्तुपर अधिकार पा चुकी होगी जिसे ज्योतिर्मय मन कहा जा सकता है, ऐसा मन जो सत्यमें निवास करनेमें समर्थ होगा, सत्यके विषयमें सचेतन होने और अपने जीवनमें अप्रत्यक्षकी जगह प्रत्यक्ष ज्ञानको व्यक्त करनेमें समर्थ होगा। उसकी मनःशक्ति ज्योतिका यंत्र होगी और अब अज्ञानका यंत्र नहीं रहेगी। अपनी उच्चतम अवस्थामें वह अतिमानसमें प्रवेश करनेमें समर्थ होगी, और उस नयी जातिमेंसे ही अतिमानवोंकी नयी जाति तैयार की जायगी जो पार्थिव प्रकृतिके विकासके अग्रणीके रूपमें आविर्भूत होंगे।"

(अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

निश्चय ही यह वही चीज है जिसकी श्रीअरविन्द हमसे आशा करते थे और जिसकी उन्होंने एक ऐसे अतिमानवके रूपमें कल्पना की थी जो वर्तमान मानव और अतिमानवके बीच एक मध्यवर्ती सत्ता होगी, उस अतिमानवके

जो अतिमानसिक तरीकेसे निर्मित होगा, जो पशुकी श्रेणीमें बिलकुल न रहेगा और जो पशुजीवन-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओंसे मुक्त होगा।

हम लोग, जैसे अब हैं, सामान्य पशु-प्रणालीसे उत्पन्न हुए हैं और परिणामतः यदि हम अपने-आपको रूपान्तरित कर भी लें तब भी हममें पशु-उद्‌गमका कुछ-न-कुछ अंश बचा ही रहेगा। पर श्रीअरविन्दकी दृष्टिका अतिमानव साधारण पशु-पद्धतिसे जन्म हर्गिज नहीं लेगा, बल्कि वह सीधा, एक ऐसी प्रक्रियाद्वारा निर्मित होगा जो अभीतक हमें गुह्य प्रतीत होती है, पर जो शक्तियों और उपादानका एक ऐसा प्रयोग होगी जिससे शरीर साधारण पशु-विधानके अनुसार की गयी रचना न होकर 'भौतिकीकरण' होगा, न कि साधारण पशु-विधानके अनुसार सृष्ट एक रचना।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि मध्यवर्ती जीवोंका होना जरूरी है और यह भी कि इन्हीं मध्यवर्ती जीवोंको ही उन साधनोंको खोजना होगा जो अतिमानसके जीवोंको रूपायित कर सकें। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीअरविन्दने जब यह लिखा था तो उनका विश्वास था कि इसी कार्यको हमें करना है।

मैं सोचती हूं — मैं जानती हूं — कि अब यह सुनिश्चित है कि हम उस चीजको पा लेंगे जिसकी उन्होंने हमसे आशा की है। अब यह आशा-मात्र नहीं रही, बल्कि एक निश्चयता हो गयी है। अब केवल समयकी बात है जो इस उपलब्धिके लिये जरूरी है और वह हमारे व्यक्तिगत प्रयत्न, हमारी एकाग्रता और हमारी सद्‌भावनाके . . . और उस **महत्त्व**के अनुसार जो हम इस तथ्यको देते हैं कम या अधिक लम्बा होगा। अन्य-मनस्क दर्शकको चीजें बहुत कुछ वैसी ही लग सकती हैं जैसी वे पहले थीं, पर जो देखना जानता है और बाह्य प्रतीतियोंद्वारा भ्रान्त नहीं होता उसके लिये चीजें ठीक चल रही हैं।

प्रत्येक अपना अधिकतम प्रयत्न करता चले तो शायद सबके लिये पहले प्रत्यक्ष परिणामोंके दृष्टिगत होनेमें बहुत अधिक वर्षोंके बीतनेकी जरूरत न होगी।

यह देखना तुम्हारा काम है कि यह कार्य तुम्हें संसारकी अन्य सब वस्तुओंसे अधिक रोचक लगता है या नहीं . . .। एक समय होता है जब स्वयं शरीर अनुभव करने लगता है कि इसके समान, इस रूपांन्तरके समान **संसारकी कोई चीज नहीं है** जिसके लिये जीवन धारण किया जाय, ऐसी कोई चीज नहीं जिसके लिये इतनी अभिरुचि हो सके जितनी रूपान्तरके लिये तीव्र अभिरुचि। ऐसा प्रतीत होता है मानों शरीरके सब कोषाणु उस 'प्रकाश'के प्यासे हैं जो व्यक्त होना चाहता है, उसको पुकारते हैं,

उसमें एक गभीर आनन्द पाते हैं और 'विजय'के बारेमें **सुनिश्चित** हैं।

इसी अभीप्साको मैं तुम्हारे अन्दर संचारित करनेकी कोशिश कर रही हूं और तुम समझ जाओगे कि इस कार्यकी तुलनामें, 'प्रकाश'में रूपान्तरित होनेकी तुलनामें जीवनका और सब कुछ नीरस, निःसार, निरर्थक और निकम्मा है।

२ अक्तूबर, १९५७

"अतिमानसका मूल स्वरूप है सत्य-चेतना जो अपने स्वभावके सहज अधिकारसे, अपने ही प्रकाशद्वारा जानता है : उसे ज्ञानपर पहुंचना नहीं होता, बल्कि ज्ञान उसके पास पहलेसे होता है। निश्चय ही वह, विशेषतः अपने विकास-कार्यमें, ज्ञानको बाह्य चेतनाके पीछे रख सकता और इस तरह उसे सामने ले आ सकता है मानों वह पर्देके पीछेसे आया हो; पर, तब भी, यह पर्दा केवल प्रतीत होता है, वास्तवमें यह वहां होता नहीं : ज्ञान बराबर वहां था, चेतना उसे अधिकृत किये थी और अब प्रकट करती है ... 'ज्योतिर्मय मन' में, जब वह पूरी वर्तुल पूर्णताको प्राप्त कर लेता है, सत्यका यह विशिष्ट गुण अपने-आपको प्रकट करता है। यद्यपि यह गुण वसन धारे होता है, पर वह वसन, उसे ढकता हुआ प्रतीत होनेपर भी, पारदर्शक होता है। क्योंकि यह भी एक सत्य-चेतना, ज्ञानकी एक आत्म-शक्ति ही है जो अतिमानससे ही उद्भूत और उसीपर आश्रित है, यद्यपि है सीमित और अवर-कोटिका। जिस चीजको हमने विशेषतः 'ज्योतिर्मय मन'-का नाम दिया है वह वास्तवमें चेतनाके लोकोंकी उतरती क्रमपरंपरामें ऐसा अंतिम स्तर है जिसमें अतिमानस अपनी पसंदकी सीमाद्वारा या स्व-अभिव्यक्तिकी क्रियाओंके अल्प-परिवर्तित रूपोंके द्वारा अपने-आपको आवृत कर रखता है, परंतु उसका मूल स्वभाव ज्यों-का-त्यों बना रहता है : उसमें प्रकाशकी, सत्यकी, ज्ञानकी ही क्रिया होती है, वहां अचेतना, अज्ञान, भूल-भ्रांतिके लिये कोई स्थान नहीं । वह ज्ञानसे

ज्ञानकी ओर बढ़ता है, यहां अभी हम सत्य-चेतनाकी सीमा पार कर अज्ञानके अंदर नहीं आये हैं।"

(अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

मधुर मां, मैं प्रकरणके इस अंशको समझा नहीं :
" 'ज्योतिर्मय मन' में, जब वह पूरी वर्तुल पूर्णताको प्राप्त कर लेता है, सत्यका यह विशिष्ट गुण अपने-आपको प्रकट करता है, यद्यपि यह गुण वसन धारे होता है, पर वह वसन, उसे ढकता हुआ प्रतीत होनेपर भी, पारदर्शक होता है . . .।"

हुं, इसमें तुम क्या नहीं समझे ?

ऐसा वसन जो पारदर्शक होता है और . . .

यह एक प्रतीक है।

यह कुछ-कुछ ऐसी बात है। अतिमानसिक दृष्टिमें व्यक्तिको वस्तुओंका सीधा, समग्र और तत्काल ज्ञान प्राप्त हो जाता है, इन अर्थोंमें कि व्यक्ति प्रत्येक वस्तुको उसके अपने पूरे और समग्र रूपमें एक साथ देख लेता है, वस्तुके सत्यको उसके सब पहलुओंमें एक साथ और . . . इन पहलुओंको भी युगपत् पूरा-का-पूरा देख लेता है। पर ज्यों ही वह उसे समझाना या निरूपित करना चाहता है, यूं कह सकते हैं कि, वह उस स्तरपर उतरनेको विवश होता है जिसे श्रीअरविन्दने यहां "ज्योतिर्मय मन" कहा है जहांपर वस्तुओंको एकके बाद एक करके, एक विशेष क्रममें और एक-दूसरेके साथ विशेष संबंधमें कहना या सोचना या व्यक्त करना होता है। इससे युग-पदता लुप्त हो जाती है क्योंकि व्यक्त करनेके हमारे वर्तमान ढंगकी स्थिति-में सब चीजोंको एक साथ, एक ही बारमें कह सकना असंभव है, अतः हम जो कुछ देखते या जानते हैं उसके एक भागको पर्देमें रखनेको विवश होते हैं ताकि हम उसे एक-एक करके सामने ला सकें; इसी चीजको उन्होंने "पर्दा" कहा है, जो पारदर्शक है क्योंकि व्यक्ति एक साथ सब कुछ देखता और जानता है, उसे वस्तुका समग्र ज्ञान होता है, परंतु वह उसे एक बारमें ही पूरे-का-पूरा व्यक्त नहीं कर सकता। जबतक हम वैसे ही बने हैं जैसे हम हैं, हमारे पास न तो शब्द हैं और न व्यक्त करनेकी संभावना। हमें अपने-आपको व्यक्त करनेके लिये आवश्यक रूपसे निम्न कोटिकी प्रक्रिया-का उपयोग करना पड़ता है, पर फिर भी हममें उस समय पूरा ज्ञान रहता

है; इस ज्ञानको शब्दोंमें संचारित करनेकी आवश्यकता ही हमें, यूं कह लें, हम जो कुछ जानते हैं उसके एक भागको पर्देमें रखने और उसे क्रमिक रूपसे बाहर लानेको विवश करती है। पर यह पर्दा पारदर्शक है क्योंकि हम वस्तुको जानते हैं — उसे उसकी समग्रतामें जानते, देखते, समझते हैं — पर हम सब कुछ एक ही साथ व्यक्त नहीं कर सकते, हमें चीजोंको एक-एक करके क्रमिक रूपसे कहना होता है। यह अभिव्यक्तिका पर्दा है जो हमारी प्रस्तुत करने और समझनेकी, दोनों ही आवश्यकताओंके अनुकूल है। ज्ञान वहां विद्यमान है, सचमुच विद्यमान है — ऐसा नहीं है कि व्यक्ति उसे खोज रहा हो और ज्यों-ज्यों पाता जाता हो त्यों-त्यों व्यक्त करता जाता हो — यह वहां अपनी संपूर्णतामें विद्यमान है, पर अभिव्यक्तिकी आवश्यकता व्यक्तिको वस्तुओंको एक-एक करके कहनेको विवश करती है; और इससे स्वभावतः जो कुछ वह बोलता है उसकी सर्वशक्तिमत्तामें कमी आ जाती है क्योंकि उसमें सर्वशक्तिमत्ता तभी रह पाती है जब वस्तुकी समग्र दृष्टिको उसकी समग्रतामें व्यक्त किया जाय। सर्वज्ञता वहां तत्त्वतः विद्यमान है, वहां है, सुस्पष्ट रूपमें है, परंतु इस सर्वज्ञताकी संपूर्ण शक्ति कार्य नहीं कर सकती क्योंकि उसे अपने-आपको व्यक्त करनेके लिये एक स्तर नीचे उतर आना पड़ता है।

समझमें आया कि मेरा क्या मतलब है? हां?

पूरे तौरसे अतिमानसिक ज्ञानमें वास कर सकनेके लिये अभिव्यक्तिके वर्तमान साधनोंसे भिन्न साधनोंकी आवश्यकता है। अतिमानसिक ज्ञानको अतिमानसिक तरीकेसे व्यक्त कर सकनेके लिये अभिव्यक्तिके नये साधनोंको विकसित करना होगा ...। अब, हम अपनी मानसिक क्षमताको उसकी चरम अवस्थातक उठानेको बाध्य हैं, ताकि वहां केवल एक प्रकारकी, यूं कह सकते हैं कि, मुश्किलसे दीखनेवाली सीमारेखा रहे — फिर भी सीमारेखा तो रहेगी, क्योंकि हमारे अभिव्यक्तिके साधन अभी भी मानसिक जगत्‌के हैं, उनमें अतिमानसिक क्षमता नहीं है। हमारे पास उनके लिये आवश्यक इन्द्रिय भी नहीं हैं। हमें अतिमानसके जीव बनना होगा, जिनका उपादान अतिमानसिक हो, आंतरिक रचना अतिमानसिक हो ताकि हम अतिमानसिक ज्ञानको अतिमानसिक तरीकेसे अभिव्यक्त कर सकें। अबतक हम ... आधे रास्तेमें हैं; हम, अपनी चेतनामें कहीं, पूरी तरह अतिमानसिक दृष्टि और ज्ञानमें उदित हो सकते हैं, परंतु उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते। अपने-आपको अभिव्यक्त करनेके लिये हमें फिरसे एक स्तर नीचे आनेको बाध्य होना पड़ता है।

तो यह पर्दा जो उसे ढकता हुआ प्रतीत होनेपर भी पारदर्शक होता है,

चेतनाके लिये पारदर्शक है समझ रहे हो ? क्योंकि चेतना वस्तुओंको अतिमानसिक तरीकेसे देखती और जानती है, पर एक भाग पर्देमें रहता है और केवल क्रमिक रूपसे ही बाहर आता है क्योंकि इसे दूसरी तरहसे करनेका कोई रास्ता नहीं। परंतु चेतनाके लिये यह पारदर्शक है, यद्यपि बाह्यतः यह छिपा प्रतीत होता है। यही बात है।

(मौन)

कल हमने जो सिनेमा देखा था उसके बारेमें मुझसे प्रश्न पूछे गये हैं[1] ...। पहला प्रश्न यदि और कुछ न कहा जाय तो विचित्र तो है ही ! मैं उसे ठीक उसी रूपमें तुम्हारे सामने रख रही हूं। मुझसे पूछा गया है:

> **"आपने 'प्रार्थना और ध्यान' पुस्तकमें जिन बुद्धका जिक्र किया है क्या वे ही वास्तविक बुद्ध हैं जिनकी प्रतिमाएं पूजी जाती हैं ?"**

प्रतिमाएं.....बुद्धकी प्रतिमाएं हजारों हैं। एक बुद्ध वे हैं जिस रूपमें वे भारतमें माने जाते हैं, वे बुद्ध हैं जिस रूपमें वे लंकामें माने जाते हैं, वे बुद्ध हैं जो तिब्बतमें माने जाते हैं, वे बुद्ध हैं जो चीन, कंबोडिया, थाईलैंड, जापान और दूसरे स्थानोंपर माने जाते हैं। यदि तुम ऐतिहासिक तथ्यकी बात कर रहे हो तो मैं सोचती हूं, हर एक तुमसे यही कहेगा कि वे भारतके गौतम बुद्धकी स्तुति करते हैं, पर असलमें बुद्ध धर्मकी हर एक शाखा, और बहुत-सी दूसरी शाखाओंमें, प्रत्येककी बुद्धके बारेमें अपनी ही कल्पना है और वह एक दिव्य सत्ताकी कल्पना होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक उस देवताकी कल्पना होती है जो प्रतिमामें पूजा जाता है, इसलिये ... यदि तुम मुझे कोई प्रतिमा दिखाओ और पूछो: "क्या इस प्रतिमामें उन्हीं बुद्धका प्रभाव या उपस्थिति है जिन्हें आपने देखा है ?" तो मैं कह सकती हूं, हां या नहीं, परंतु जब तुम कहते हो : "जिनकी प्रतिमाएं पूजी जाती हैं", तो उत्तर दे सकना मेरे लिये संभव नहीं क्योंकि यह इसपर निर्भर है कि पूजी जानेवाली प्रतिमामें किस सत्ताको उतारा गया है। ऐतिहासिक दृष्टिसे यह सदा वही नाम होता है, पर वास्तवमें मैं नहीं जानती कि यह

---

[1]महात्मा बुद्धपर अंग्रेजीमें एक प्रलेख चित्र : गौतम बुद्ध।

[2]"प्रार्थना और ध्यान" दिसंबर २०-२१, १९१६ मातृवाणी खण्ड १, पृ० २००-२०१

सदा वही आध्यात्मिक व्यक्तित्व होता है या नहीं, इसलिये मैं कुछ नहीं कह सकती।

यदि तुम मुझसे उन प्रतिमाओंके बारेमें पूछो जो हमने कल देखी थीं... तुमने देखा कि वे कितनी अधिक थीं और उनमें कुछ तो बहुत, बहुत भिन्न थीं। वह एक बहुत ही भिन्न बुद्ध थे। एक प्रतिमा ऐसी थी जो बार-बार दिखायी गयी थी, वह जो कि बहुत प्रामाणिक है, पर वहां बहुत सारी ऐसी भी थीं जो कम-से-कम बुद्धके दूसरे ही व्यक्तित्वोंको प्रस्तुत करती थीं। सब इसपर निर्भर है कि तुम्हारा मतलब क्या है, यदि तुम्हारा मतलब ऐतिहासिक रूपसे है तो, हां, वे सदा तुमसे यही कहेंगे कि ये बुद्ध ही हैं, पर प्रत्येक प्रतिमा भिन्न होती है।

तो, यह हुआ पहला प्रश्न। अब हम दूसरी बातपर आते हैं जो बिलकुल भिन्न है:

> **"वर्तमान समयमें, बुद्धकी शिक्षा मानवजातिको अतिमानसीकरण-के पथपर (बढ़नेमें) किस रूपमें सहायता या बाधा पहुंचा सकती है?"**

प्रत्येक वस्तु जो मानवजातिको प्रगति करनेमें सहायता पहुंचाती है, एक सहायता है और वह सब जो उसे प्रगति करनेसे रोकता है एक बाधा है!

वस्तुतः, यह प्रश्न तुम मुझसे इसलिये कर रहे हो क्योंकि हम 'धम्मपद'-का अध्ययन करते और उसपर ध्यान करते हैं[1]... । स्वभावतः मैंने इस पुस्तकको इसलिये लिया है क्योंकि मैं समझती हूं कि विकासकी एक विशेष अवस्थामें यह बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यह एक साधना है जिसे कुछ सूत्रोंमें निश्चित रूप दिया गया है। यदि तुम इन सूत्रोंका यथोचित रूपमें उपयोग करो तो यह पुस्तक बहुत सहायक हो सकती है, अन्यथा मैं इसे लेती ही नहीं। कितनी सहायक हो सकती है यह प्रत्येक व्यक्तिपर निर्भर है। यह इसपर निर्भर है कि वह इससे लाभ उठा सकता है या नहीं।

अब, अंतिम प्रश्न है:

> **"श्रीअरविंदने कहा है कि बुद्ध एक अवतार थे..."**

---

[1] कुछ समयतक, प्रत्येक शुक्रवारको ध्यानसे पहले श्रीमां बौद्धधर्मकी अत्यंत पवित्र पुस्तक 'धम्मपद' मेंसे कुछ श्लोक पढ़ा करती थीं।

हम यह पहले कई बार कह चुके हैं।

और फिर यही वह स्थल है जो अधिक रहस्यमय हो उठता है:

> **"बुद्धके उपदेशोंको छोड़कर उनके व्यक्तित्वकी कौन-सी चीज संसारमें अभी भी विद्यमान है?"**

(जिस साधकने प्रश्न पूछा था उसे संबोधित करते हुए) यह भेद तुम किसलिये करते हो?

> **बुद्ध जब निर्वाणमें चले गये तो यह कहा गया कि उनके उपदेश अब उनके अवशेषमें रहेंगे।**

अवशेषमें! अच्छा, तो इसका अर्थ हुआ कि दोनों चीजें साथ-साथ इकट्ठी रहती हैं। न मालूम क्यों तुम उसमें भेद कर रहे हो। उनके उपदेशोंमें उनके प्रभावकी कुछ चीज है, यह स्वाभाविक है! ये उपदेश ही उनके प्रभावको मानसिक क्षेत्रमें प्रसारित करते हैं।

उपदेशोंको छोड़कर उनकी जो सीधी क्रिया है वह इने-गिने लोगोंतक ही सीमित है, केवल उन्हींतक जो उनके अनन्य उपासक हैं और जिनमें आह्वान करनेकी शक्ति है। अन्यथा, उनकी क्रियाका अतिमहत्त्वपूर्ण भाग, बल्कि सारी-की-सारी क्रिया उनके उपदेशोंसे संबंधित है, उपदेशोंके साथ एक और मिली-जुली है। इनमें भेद करना कठिन प्रतीत होता है।

(थोड़ी चुप्पीके बाद) भागवत शक्तिके जो रूप अवतार-रूपसे भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी सूरतमें प्रकट हुए, वे किसी विशेष उद्देश्यको लेकर, किसी विशेष प्रयोजनके लिये और वैश्व-विकासके किसी विशेष कालमें प्रकट हुए हैं, परंतु वे थे 'एक सत्ता' के ही विभिन्न पहलू। अतः भेद केवल उसमें है जो उनके कार्यका विशिष्ट रूप है, नहीं तो यह वही एक 'सत्य', वही एक 'शक्ति', वही एक शाश्वत 'जीवन' है जो इन रूपोंमें अभिव्यक्त होता है और किसी विशेष कालमें, किसी विशेष कारण व किसी विशेष उद्देश्यके लिये इन रूपोंको प्रकट करता है; वह इतिहासकी कालगतिमें सुरक्षित हो जाता है, अतः नये रूपोंको ही सदा नयी प्रगतिके लिये प्रयोगमें लाया जाता है। पुराने रूप बने रह सकते हैं जैसे कि कोई स्पंदन चिरकालतक बना रहता है, पर ऐतिहासिक रूपसे यह कहा जा सकता है कि उनके अस्तित्वका हेतु अस्थायी होता है और नया कदम उठानेके लिये एक रूपका स्थान दूसरा रूप ले लेता है। मनुष्यकी भूल यह है कि वह सदा उससे

चिपका रहता है जो बीत चुका है, वह भूतको अनिश्चित कालतक बनाये रखना चाहता है। इन चीजोंका उपयोग उस कालमें करना चाहिये जब ये लाभकारी होती हैं। क्योंकि **प्रत्येक** व्यक्तिके विकासका एक इतिहास होता है: तुम उन अवस्थाओंमेंसे गुजर सकते हो जहां यह साधनाएं क्षणिक रूपमें उपयोगी हों, पर जब तुम उस क्षणको पार कर जाओ तो निश्चय ही तुम्हें किसी और चीजमें प्रवेश करना चाहिये और यह देखना चाहिये कि ऐतिहासिक रूपसे जो अबतक लाभकारी रहा है, वह अब लाभकारी नहीं रहा। निश्चय ही, मैं उन लोगोंसे जो, उदाहरणार्थ, मानसिक विकास और संयमकी एक विशेष अवस्थातक पहुंच गये हैं, यह नहीं कहूंगी: "धम्मपद पढ़ो और उसपर चिन्तन करो," यह तो समय नष्ट करना होगा। मैं इसे उन लोगोंको देती हूं जो उस अवस्थाके परे नहीं गये हैं जहां इसकी जरूरत होती है।

परन्तु मनुष्य अपने कन्धोंपर सदा अन्तहीन बोझ लिये फिरता है। वह भूतकालकी किसी चीजको छोड़ना नहीं चाहता और उस निरर्थक ढेरके बोझके नीचे अधिकाधिक दबता जाता है।

तुम्हारे पास एक पथ-प्रदर्शक होता है जो मार्गके एक भागके लिये होता है परन्तु जब तुम उतना चल लो तो उस पंथको और उस पथ-प्रदर्शकको छोड़ दो और, और आगे बढ़ जाओ! यह एक ऐसी चीज है जिसे मनुष्य कठिनाईसे कर पाते हैं। जब उन्हें कोई ऐसी चीज मिल जाती है जो उन्हें सहायता पहुंचाती है तो वे उससे चिपट जाते हैं और वे तनिक भी आगे सरकना नहीं चाहते। जिन्होंने ईसाई धर्मकी सहायतासे प्रगति की है वे उसे छोड़ना नहीं चाहते, वे उसे अपने कन्धोंपर ढोये फिरते हैं, जिन्होंने बौद्ध धर्मकी सहायतासे प्रगति की है वे उसे छोड़ना नहीं चाहते और उसे अपने कन्धोंपर ढोये फिरते हैं, और इस प्रकार यात्रा रुक जाती है और तुम्हें, अनिश्चित कालके लिये, देर हो जाती है।

एक बार जब तुमने उस अवस्थाको पार कर लिया तो उसे झड़ जाने दो, उसे विदा हो जाने दो! तुम आगे बढ़ो।

मां, बौद्धधर्मके पुनरुद्धारका जो वर्तमान धार्मिक-राजनीतिक आंदोलन ...

क्या? ओह! मैं राजनीतिमें भाग नहीं लेती। यह एकदम व्यर्थ है। लोग चीजोंका, बस, राजनीतिक आवश्यकताओंके लिये उपयोग कर लेते हैं, लेकिन वह बिलकुल रोचक नहीं।

९ अक्तूबर, १९५७

श्रीमां 'अतिमानसिक अभिव्यक्ति'के अंतिम पृष्ठोंका पढ़ना समाप्त करती हैं।

असलमें यह पुस्तक पूरी नहीं हुई थी, यह वहीं रह गयी, और भाग आनेवाले थे . . .

(मौन)

अच्छा तो, हम बिना प्रश्नोंके ही समाप्त करनेवाले हैं?

मां, एक प्रश्न है जो इस अंतिम पैरेके बारेमें है : "यहांतक कि इस भौतिक जड़ जगत्में भी, जो कि हमें अज्ञानका जगत् प्रतीत होता है तथा जो एक अंधी अचेतनासे आरंभ कर 'अज्ञान'मेंसे होती हुई और कठिनाईके साथ अपूर्ण 'प्रकाश' एवं 'ज्ञान'की ओर बढ़ती हुई 'शक्ति'का — कार्य प्रतीत होता है, ऐसे इस जड़ जगत्में भी वस्तुओंमें एक गुप्त 'सत्य' विद्यमान है जो सब कुछकी व्यवस्था करता है, सत्ताकी अनेक परस्पर-विरोधी शक्तियोंको 'आत्मा'की ओर निर्दिष्ट करता है और स्वयं अपनी ही उन ऊंचाइयोंकी ओर बढ़ता जाता है जहां वह अपने उच्चतम सत्यको अभिव्यक्त कर सके और विश्वके गुप्त प्रयोजनको पूरा कर सके। यहांतक कि अस्तित्व रखनेवाला यह भौतिक जगत् भी वस्तुओंमें विद्यमान उस सत्यके प्रतिरूप बना है जिसे हम प्रकृतिका 'विधान' कहते हैं, इसी सत्यसे हम उच्चतर सत्यकी ओर आरोहण करते हैं जबतक कि हम परमोच्च सत्ताके 'प्रकाश' में उभर नहीं आते। यह जगत् वस्तुतः प्रकृतिकी अंध शक्तिने नहीं बनाया है : 'अचेतना'तकमें परम 'सत्य'की उपस्थिति अपना कार्य कर रही है; इस अचेतनाके पीछे एक देखनेवाली 'शक्ति' है जो निर्भ्रान्त रूपसे कार्य करती है और स्वयं अज्ञानके कदम भी, जब वे लड़खड़ाते प्रतीत होते हैं तब भी, (इसी शक्तिद्वारा) निर्देशित होते हैं; क्योंकि जिसे हम 'अज्ञान' कहते हैं वह 'ज्ञान' ही है

जिसपर पर्दा पड़ा है, ऐसा 'ज्ञान' है जो उस शरीरमें कार्य करता है जो उसका अपना नहीं है, पर जो अपने परम आत्म-आविष्कारकी ओर अग्रसर हो रहा है। यह 'ज्ञान' ही प्रच्छन्न अतिमानस है जो सृष्टिका आधार है और सभीको अपनी ओर लिये चल रहा है और इन अनेकानेक बहुविध मनों, प्राणियों और पदार्थोंके समूहका पीछेसे मार्ग-दर्शन करता है जिसमें प्रत्येक अपनी ही प्रकृतिके विधानका अनुसरण करता प्रतीत होता है। इस विशाल और विस्तृत जगत्के ऊपरी जंजालमें एक विधान है, सत्ताका एक अनन्य सत्य है, जागतिक जीवनको परिचालित और परिपूर्ण करनेवाला एक उद्देश्य है। अतिमानस यहां आवृत-रूपसे विद्यमान है, वह अपनी सत्ताके स्वाभाविक विधान और आत्म-प्रकाशके अनुसार कार्य नहीं करता, परंतु यदि वह यहां न होता तो कोई चीज अपने लक्ष्यको प्राप्त न कर सकती। अज्ञानी मनद्वारा संचालित संसार शीघ्र ही विश्रृंखलामें बह जायगा; असलमें गुप्त 'सर्वज्ञता', जिसका कि यह आच्छादन है, के सहारेके बिना वह अस्तित्वमें ही न आ सकेगा और न बना रह सकेगा। और एक अंध अचेतन शक्तिसे चलनेवाला संसार निरंतर उन्हीं आंतरिक क्रियाओंको दुहराता तो रह सकता है, पर न तो उसका कोई अर्थ होगा और न वह कहीं पहुंच ही सकेगा। यह उस क्रम-विकासका मूल हेतु नहीं हो सकता, जो 'जड़-तत्त्व'मेंसे जीवन और जीवनमेंसे मनका तथा 'जड़-तत्त्व', 'जीवन' और 'मन'की चढ़ती हुई और अतिमानसतक पहुंचती हुई स्तरपरंपराका निर्माण करता है। वह गुप्त सत्य जो अतिमानसमें आकर आविर्भूत हो जाता है, सब समय वहां था, परंतु अब वह अपने-आपको तथा वस्तुओंमें विद्यमान सत्यको एवं हमारे अस्तित्वके अर्थको अभिव्यक्त करता है।

(अतिमानसिक अभिव्यक्ति)

यदि अतिमानस वस्तुओंके पीछे छिपा हुआ है तो उसे पाना इतना कठिन क्यों है?

क्योंकि वह छिपा हुआ है! (हंसी)

> **यहांतक कि अज्ञानमें भी यह कार्य करता है, यह उसे 'सत्य'-की ओर ले जा रहा है...**

श्रीअरविन्द बताते हैं कि यदि अतिमानसिक सत्य वस्तुओंके पीछे विद्यमान न होता तो संसार जैसा कुछ भी अब व्यवस्थित है उतना भी व्यवस्थित रूप न ले पाता। हम महसूस करते हैं कि एक चेतना है जो अत्यन्त आलोकित संकल्पवाली है, उसीने इस सबको एक सुनिश्चित योजनाके अनुरूप व्यवस्थित किया है और वह न तो अज्ञान और ना ही अचेतनाका परिणाम हो सकती है।

वस्तुतः, तुम्हारी अतिमानस या 'सत्य-चेतना'को वस्तुओंके पीछे देख सकनेकी जो कठिनाई है वह ठीक तुम्हारे अपने व्यक्तिगत अज्ञान और अचेतनाका ठीक परिमाण दिखाती है; क्योंकि जो लोग इस अज्ञान और अचेतनासे बाहर निकल आये हैं वे इसे बहुत स्पष्ट रूपमें देखते हैं। कठिनाई अचेतनाकी जिस अवस्थामें व्यक्ति होता है उसपर निर्भर होती है। पर जो अचेतनाकी इस अवस्थाको पार कर गया है उसके लिये अतिमानसको देख पाना जरा भी कठिन नहीं होता, उसके लिये यह एकदम प्रत्यक्ष होता है।

(मौन)

यदि कोई व्यक्ति जरा दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और आत्मनिष्ठ चेतनामें प्रवेश करे तो वह बहुत आसानीसे वस्तुओंकी एक प्रकारकी "वस्तुनिष्ठ अवास्तविकता"से परिचित हो सकता है; जो वस्तु सामान्य चेतनाके लिये एकमात्र वास्तविक, सुनिश्चित, ठोस और कह सकते हैं कि परिमेय होती है वही इतनी अनिश्चित, लगभग अवास्तविक-सी बन जाती है, उसकी वास्तविकता केवल उसे देखनेवाली चेतनामें ही रहती है — और वह पूरी तरह परिवर्तनशील वास्तविकता होती है, कभी-कभी तो चेतना-बोधके अनुसार परस्पर-विरोधी भी होती है। यदि हम संसारके बारेमें दी गयी विभिन्न व्याख्याओंको, इसे व्यक्त करनेवाले विभिन्न तरीकोंको अपने सामने रखें तो हमें कई तरहकी, कभी-कभी तो परस्पर-विरोधी, विचार-श्रृंखलाएं मिलेंगी, फिर भी वे हैं विभिन्न चेतनाओंके किसी एक ही चीजके बारेमें प्राप्त बोध। ठीक, इस अंतिम अनुच्छेदके बारेमें, यह एक चरम दृष्टिबिन्दु है, एक प्रतिज्ञा है कि जो कुछ है वह भागवत संकल्पकी ही पूरी-पूरी अभिव्यक्ति है (दार्शनिकोंके कुछ सम्प्रदाय ऐसे हैं जो, अपने

व्यक्तिगत अनुभवके आधारपर, इस बातका प्रतिपादन करते हैं कि प्रत्येक वस्तु पूरे रूपमें भागवत संकल्पकी ही अभिव्यक्ति है), और फिर एकदम दूसरे सिरेपर यह कथन है कि जगत् एक प्रकारका गड़बड़झाला है, इसमें कोई छन्द नहीं, कोई हेतु नहीं, न जाने यह क्यों और कैसे अस्तित्वमें आया, और न मालूम किधर जा रहा है, इसमें न कोई तर्क है, न युक्ति-युक्तता, न संगति — यह केवल एक संयोग है। यह यूं ही है, हम नहीं जानते क्यों। अच्छा तो, अब यदि तुम इन दो चरम दृष्टिबिन्दुओंको लो और उस सबको अपने सामने रखो जो जगत्के विषयमें इस सिरेसे उस सिरेतक कहा गया, लिखा गया, बताया और सोचा गया है और यदि तुम उस सबको इकट्ठा एक साथ देख सको तो तुम देखोगे कि यह सब है तो उसी एक जगत्के बारेमें, पर फिर भी व्याख्याएं इतनी अधिक भिन्न-भिन्न हैं कि यह जगत्, यूं कह सकते हैं कि, केवल देखनेवालेकी चेतनामें ही अस्तित्व रखता है...। निश्चय ही, वहां जरूर "कुछ चीज" होनी चाहिये, पर वह कुछ चीज मनुष्य जो सोचते हैं उससे परेकी होनी चाहिये — बहुत परेकी, बहुत भिन्न। इसीसे व्यक्तिको पूरी तरह ऐसा महसूस होता है कि जगत् भ्रमपूर्ण एवं अवास्तविक है।

मूलतः, जगत्की वास्तविकता प्रत्येक व्यक्तिकी चेतनाके लिये बिलकुल व्यक्तिनिष्ठ होती है, उसकी कोई व्यक्ति-निरपेक्ष वास्तविकता नहीं है, कारण, एक तरफ तो यह कहा जा सकता है कि यह जगत् परम सचेतन सर्वोच्च संकल्पका परिणाम है और वही सब कुछको शासित करता है और दूसरी तरफ यह भी कहा जा सकता है कि इस जगत्के अस्तित्वका कोई तर्कसंगत कारण नहीं, यह, बस, एक अगम्य संयोग है — पर फिर भी ये दोनों धारणाएं किसी ऐसी चीजके बारेमें हैं जो बिलकुल एक ही चीज है।

क्या तुमने इसके बारेमें कभी सोचा नहीं?

हर एकका अपना विचार होता है — जो थोड़ा-बहुत स्पष्ट, थोड़ा-बहुत व्यवस्थित और थोड़ा-बहुत सुनिश्चित होता है — इसी विचारको वह जगत् कहता है। प्रत्येकका देखनेका अपना तरीका होता है, अनुभव करनेका अपना तरीका होता है, और दूसरोंके साथ उसके अपने विशिष्ट सम्बन्ध होते हैं, इसी चीजको वह जगत् कहता है। वह स्वभावतः अपने-आपको केन्द्रमें रखता है और तब हर एक उसके देखने, अनुभव करने, समझने और चाहनेके, उसकी अपनी प्रतिक्रियाके अनुसार उसके चारों ओर व्यवस्थित हो जाता है। पर चूंकि यह प्रत्येक चेतनाके लिये व्यक्तिगत रूपसे भिन्न होता है, इसलिये इसका अर्थ हुआ कि हम जिसे जगत् कहते

हैं — स्वयं वह चीज — वह हमारे अनुभवसे पूरी तरह छूट जाती है। यह कोई दूसरी ही चीज होनी चाहिये। और वह क्या है उसे समझ सकनेके लिये हमें अपनी व्यक्तिगत चेतनासे बाहर आ जाना चाहिये और इसी चीजको श्रीअरविन्द "निम्नसे उच्चतर गोलार्द्धका पथ" कहते हैं। निम्न गोलार्द्धमें उतने ही विश्व हैं जितने कि व्यक्ति, पर उच्चतर गोलार्द्ध-में ऐसी "कुछ चीज" है — जो वही है जो वह है — जिसमें सभी चेतनाएं जरूर ही मिल जाती हैं। इसीको वह "सत्य-चेतना" कहते हैं।

जैसे-जैसे मानव चेतना प्रगति करती है वैसे-वैसे उसमें यह सापेक्षताका बोध भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है और साथ ही एक प्रकारकी भावना, बल्कि यूं कहें कि एक अस्पष्ट-सी छाप कि एक 'सत्य' है जो साधारण तरीकोंसे नहीं जाना जा सकता, पर जो किसी-न-किसी तरीकेसे जाना जरूर जा सकता है।

बस, यही बात है। मैं आशा करती हूं कि हम जो अब अगली पुस्तक पढ़ेंगे, अर्थात् 'दिव्य जीवन', उसमें हमें इस समस्याकी कुंजी मिलेगी।

१६ अक्तूबर, १९५७

मेरे पास चार प्रश्न आये हैं। स्वभावतः ये उस बारेमें नहीं हैं जो मैंने अभी पढ़ा है, बल्कि ये अलग-अलग तीन विषयोंपर हैं। और प्रत्येकके लिये बहुत लम्बे उत्तरोंकी आवश्यकता है। पर, फिर भी मैं पहले दो प्रश्नोंको लेती हूं जो मेल खाते हैं। ये 'आत्मा'के अन्तर्लयनके बारेमें हैं।[1]

पहला प्रश्न है:

> **यदि वह सब जिसे कि अभिव्यक्त होना है जड़-तत्त्वमें पहलेसे ही अंतर्लीन है तो क्या उसमें अतिमानसके अतिरिक्त दूसरे**

---

[1]श्रीअरविंद हमसे कहते हैं कि विकास अथवा विवर्तन अंतर्लयनका ही परिणाम है। इस रीतिसे, जीवन जड़-तत्त्वमें अंतर्लीन है, मन जीवनमें नि-वर्त्तित है, और अतिमानस मनमें निवर्तित है। शून्यमेंसे किसी चीजका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। चूंकि सर्वोच्च सत्ता 'जड़-तत्त्व'में अंतर्भूत है इसीसे 'जड़-तत्त्व'मेंसे उसका प्रादुर्भाव हो सकना शक्य है।

तत्त्व भी अंतर्निहित हैं जो कि जब अतिमानस पूरी तरह अभिव्यक्त हो चुकेगा उसके बाद अभिव्यक्त होंगे ?

तर्कानुसार कहा जा सकता है "हां", क्योंकि तत्त्वतः जड़-तत्त्व और सर्वोच्च सत्तामें तादात्म्य है। परन्तु — और यह बात दूसरे प्रश्नको ले आती है।

क्या अंतर्लयन 'काल'में चरितार्थ हुआ और क्या उसका भी ऐसा ही इतिहास है जैसा कि क्रम-विकास है ?

लगभग यह कहा जा सकता है कि इस प्रश्नका उत्तर प्रश्नकर्ताकी मनोवस्थापर निर्भर है...। विद्वान तुमसे कहेंगे कि कई विभिन्न मत हैं जो इन विषयोंकी चर्चा बहुत भिन्न-भिन्न रूपोंमें करते हैं। तत्त्वविचारक हैं जो कहानियोंको मानते ही नहीं, उनका मन मुख्य रूपसे विचारशील और दार्शनिक होता है और जैसा कि मैंने कहा, तत्त्वमीमांसा और अमूर्त चिन्तनमें लगा रहता है, उनकी दृष्टिमें कहानियां केवल बच्चोंके लिये ही अच्छी हैं। फिर मनोवैज्ञानिक हैं जो प्रत्येक चीजको चेतनाकी गतियोंमें अनूदित कर देते हैं और अन्तमें वे लोग हैं जो चित्रोंको पसन्द करते हैं, उनके लिये विश्वका इतिहास एक महान् विकास है, जिसे "चल-चित्र"के जैसा कहा जा सकता है और चित्रोंमें यह विकास उनके लिये बहुत अधिक सजीव और वास्तविक वस्तु होता है, क्योंकि चाहे वह केवल प्रतीकरूप ही हो, पर वह चीजोंको अधिक घनिष्ठ और वास्तविक रूपमें समझनेमें सहायता करता है।

यह तो मानी हुई बात है कि तीनों व्याख्याएं समान रूपसे सच्ची हैं और मुख्य वस्तु है अपने विचारमें उनमें संगति और समन्वय स्थापित कर सकना। परंतु तत्त्व-शास्त्रकी रुक्षताको हम अलग छोड़ देते हैं इसलिये कि उन्हें विद्वान् लोगोंकी पुस्तकोंमें ही पढ़ना अधिक अच्छा है जो चीजोंको एकदम सुनियत, सुनिश्चित और रूखे ढंगसे कहते हैं! मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोण ... इसके बारेमें बोलनेकी जगह इसे जीना ज्यादा अच्छा है। तब, हमारे लिये बाकी रह जाती है बच्चोंके उपयोगकी कहानी। हमेशा बच्चा बना रहना अच्छा है। और यदि हम इसकी आवश्यक सावधानी रखें कि हम उसे एक रूढ़ सिद्धांत न बना दें — जिसमें, यदि व्यक्ति धर्मद्रोही बनना न चाहे तो कुछ भी परिवर्तित नहीं किया जाना चाहिये — तो हम इन कहानियोंको कम-से-कम एक ऐसे साधनके रूपमें ले सकते हैं जो हमारी बाल-सदृश चेतनाके सामने उस चीजको एक सजीव रूपमें उपस्थित कर देती है जो अन्यथा हमसे दूर ही रहती।

जो बहुत-सी कहानियां कही गयी हैं जो कम या अधिक सच्ची, कम या अधिक पूर्ण, कम या अधिक सार्थक हैं, उनमेंसे हम कोई भी चुन सकते हैं। परंतु यदि कोई व्यक्ति अपने अंदर या अपनेसे बाहर मूर्त्त रूप देकर (जो इस दृष्टिसे तत्त्वतः एक ही बात है) उस कहानीको फिर-से, कम-से-कम अंशतः मोटे रूपमें जी सके, तो यह चीज व्यक्ति-को चीजोंके क्यों और कैसेको जाननेमें और उनपर प्रभुत्व पानेमें सहायता करती है। कुछ लोगोंने इसे किया और वे एक साथ दीक्षित, गुह्यवेत्ता या पैगम्बर माने जाने लगे — और बहुत सुन्दर कहानियां कही गयी हैं।

मैं तुम्हें उनमेंसे एक कहानी बहुत संक्षेपमें सुनाती हूं। इसे वेदवाक्य न मान लेना, बल्कि इसे ... एक कहानीके रूपमें ही लेना।

परम प्रभुने जब अपने-आपको मूर्त रूप देनेका निश्चय किया, ताकि वह अपने-आपको देख सकें, तो जिस चीजको उन्होंने सबसे पहले अपनेमें-से बाहर प्रकट किया वह था जगत्का 'ज्ञान' और उसे बनानेकी 'शक्ति'। इस 'ज्ञान-चेतना' और 'शक्ति' ने अपना काम शुरू किया। परम 'संकल्प' में एक योजना थी और उस योजनाका पहला सिद्धांत यह था कि मूलभूत 'आनंद' और 'स्वतंत्रता' की साथ-ही-साथ अभिव्यक्ति हो, जो इस सृष्टिकी सबसे रोचक विशेषता मालूम होती है।

तो, इस 'आनंद' और 'स्वतंत्रता' को रूपोंमें अभिव्यक्त करनेके लिये मध्यवर्ती सत्ताओंकी आवश्यकता हुई। और शुरूमें चार सत्ताएं विश्व-विकासका प्रारंभ करनेके लिये बाहर प्रकट की गयीं, यह विश्व-विकास उस सबको क्रमशः बाहर प्रकट करनेके लिये था जो परम प्रभुमें संभाव्यताके रूपमें मौजूद था। वे सत्ताएं, अपने मूल अस्तित्वमें थीं : 'चेतना' और 'प्रकाश', जीवन', 'आनंद' और 'प्रेम' तथा 'सत्य'।

तुम आसानीसे कल्पना कर सकते हो कि उनमें एक ऐसी भावना थी कि उनके पास एक महान् शक्ति है, महान् बल है, कुछ ऐसी चीज है जो दुर्जेय है, क्योंकि मूलतः वे इन चीजोंका सत्त्वरूप ही तो थे। और साथ ही उन्हें चुनाव करनेकी पूरी स्वतंत्रता थी क्योंकि यह सृष्टि स्वयं स्वतंत्रता-का साकार रूप बननेवाली थी ...। जैसे ही उन्होंने काम करना शुरू किया (इसे कैसे किया जाय इस बारेमें उनकी अपनी-अपनी कल्पना थी), पूर्णतः स्वतंत्र होनेके कारण उन्होंने इसे स्वच्छंद रूपमें करना पसंद किया। सेवक और यंत्रकी वृत्तिको अपनानेकी जगह, जिसके बारेमें श्रीअरविंदने इसमें कहा है जो मैंने अभी पढ़ा[1] उन्होंने स्वभावतः स्वामी होनेकी वृत्ति

---

[1] "तलवार युद्ध-क्रीड़ामें आनंद पाती है, तीर अपनी सनसनाहट और

अपनायी, और यह भूल ही (मैं कह सकती हूं) विश्वकी अव्यवस्थाका प्रथम कारण, उसका मूल कारण थी। जैसे ही अलगाव हुआ — क्योंकि मूलभूत कारण यही है, विभाजनका — जैसे ही सर्वोच्च सत्ता और उससे प्रकट हुई वस्तुके बीच विभाजन हुआ वैसे ही 'चेतना' अचेतनामें, 'प्रकाश' अंधकारमें, 'प्रेम' घृणामें, 'आनंद', कष्टमें, 'जीवन' मृत्युमें और 'सत्य' मिथ्यात्वमें परिवर्तित हो गया। और वे स्वच्छंद रूपसे, विभाजन और अव्यवस्थामें अपनी सृष्टि बनाते चले गये।

उसीका परिणाम यह जगत् है जैसा कि हम उसे देखते हैं। यह धीरे-धीरे क्रमिक रूपोंमें संपन्न हुआ; यह सब तुम्हें बताऊं तो सचमुच बात लंबी हो जायगी, परंतु अंततः, इसकी चरम परणति है जड़-तत्त्व — अंधकार-मय, अचेतन, दयनीय....। सर्जक शक्ति, जिसने इन चार सत्ताओंको मूलतः संसारकी सृष्टिके लिये अपनेमेंसे बाहर प्रकट किया था वहां उपस्थित थी, उसने परम प्रभुकी ओर मुड़कर जो अशुभ उत्पन्न हो चुका था उसके उपचार और प्रतिकारके लिये प्रार्थना की।

तब उसे (सर्जक शक्तिको) अपनी 'चेतना' को नीचे अचेतनामें, अपने 'प्रेम'को इस दुःखमें और अपने 'सत्य' को इस मिथ्यात्वमें उतारनेका आदेश मिला। और यह, पहली बार जिन्हें प्रकट किया गया था उनकी अपेक्षा अधिक बड़ी चेतना, अधिक संपूर्ण प्रेम और अधिक पूर्ण सत्य जड़-तत्त्वकी वीभत्सतामें मानों कूद पड़े ताकि उसमें चेतना, प्रेम और सत्यको जगा सकें और 'उद्धार' की उस क्रियाका आरंभ कर सकें जिसका प्रयोजन इस भौतिक विश्वको उसके परम स्रोतकी ओर वापस ले जाना है।

इस प्रकार, जड़-तत्त्वमें ये, जिन्हें "क्रमिक अंतर्लयन" कहा जा सकता है, हुए हैं और उन अंतर्लयनोंका इतिहास रहा है। और इन्हीं अन्तर्लयनोंका वर्तमान परिणाम है अचेतनामेंसे उभरते अतिमानसका प्रकट होना; पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इस प्राकटचके बाद फिर कोई दूसरा नहीं होगा...। क्योंकि परम प्रभु अक्षय हैं, और हमेशा नये जगत् बनाते रहेंगे।

तो यह है मेरी कहानी।

उड़ानमें उल्लास अनुभव करता है, पृथ्वी अंतरिक्षमें चकरा देनेवाली तेजीसे घूमनेमें ही हर्ष-विह्वल है, और सूर्य अपने जाज्वल्यमान तेजःपुंज एवं सनातन गतिके सम्राट्-सम आनंदमें मस्त है। हे आत्म-सचेतन यंत्र, तू भी अपने निर्दिष्ट कर्मोंका आनंद ले।"

('कर्मोंका आनंद', 'अतिमानव' पुस्तकसे उद्धृत)

२३ अक्तूबर, १९५७

श्रीमां 'दिव्य जीवन' के अंतिम छः अध्यायों-
को पढ़ना शुरू करती हैं।

> **"एक आध्यात्मिक विकास ही, अर्थात्, 'जड़-तत्त्व'में चेतनाका ऐसा विकास कि वह अपने रूपोंको इस प्रकार निरंतर विकसित करती चले कि अंतमें वह रूप अंदर रहनेवाली 'आत्मा'को प्रकट कर सके, यही तब पार्थिव जीवनका मुख्य स्वर, उसका केंद्रीय अर्थपूर्ण हेतु है। यह अर्थ आरंभमें 'आत्मा'के, दिव्य सद्वस्तुके, सघन भौतिक 'निश्चेतना' में अंतर्लीन होनेके कारण छिपा रहता है; 'अचेतना'का आवरण, 'जड़-तत्त्व'की असंवेदनशीलताका आवरण, अपने भीतर कार्य करनेवाली वैश्व 'चित्-शक्ति'को छिपाये रहता है, फलतः, 'ऊर्जा', जो सर्जक 'शक्ति' का भौतिक 'विश्व' में धारण किया गया पहला रूप है, अपने-आपमें अचेतन प्रतीत होती है, पर तब भी एक विशाल गुह्य 'प्रज्ञा' के कार्य करती है।**
>
> ('लाइफ डिवाइन', पृ० ८२४)

मधुर मां, मेरी समझमें नहीं आया कि 'चित्-शक्ति' क्या थी, अतः मैं कुछ भी न समझ सका!

समझने लायक पहली चीज ठीक यह पहला वाक्य है जो एक तथ्यको, विश्व जीवनके मूलतत्त्व और उसके अस्तित्वके हेतुको बतलाता है। क्या तुम नहीं देखते कि हम इस खण्डके अंतसे शुरू कर रहे हैं, ये अंतिम छः अध्याय हैं। पुस्तकके सारे प्रारंभिक भागमें श्रीअरविंद विश्व और जीवनके कैसे और क्यों समझानेवाले सभी सिद्धांतोंको एकके बाद एक लेते हैं। वे उन्हें उनकी अंतिम सीमातक ले जाते हैं ताकि यह बता सकें कि उनका अर्थ क्या था, अन्तमें उन्होंने दिखाया है कि वे कहांतक अधूरे और अपूर्ण थे, और उन्होंने सच्चा समाधान दिया है। वह सब तो मानों हमारे पढ़नेके पहले ही समाप्त हो चुका। उस सारेमेंसे गुजरनेके लिये तो हमें लगभग दस वर्ष लग जाते! और उसे किसी लाभदायक ढंगसे समझनेके लिये तुम्हें बहुत प्रकारके ज्ञान, और बहुत अधिक बौद्धिक विकासकी जरूरत होती।

लेकिन हम वहांसे शुरू कर रहे हैं जहां उन्होंने पूरे बौद्धिक तरीकेसे बताया है कि जीवनके अस्तित्वका हेतु क्या था। वे इसे इस तरह सूत्रमें कहते हैं: "पार्थिव जीवनका केंद्रीय सार्थक हेतु . . ."। क्योंकि उन्हें सारे विश्वसे मतलब नहीं है। उन्होंने हमारे पार्थिव जीवनको ही लिया है, सारे विश्वके अस्तित्वके हेतुके प्रतीकात्मक घन प्रतिनिधिके रूपमें लिया है। वास्तवमें कई पुरानी परंपराओंके अनुसार धरती, गहरे आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे, विश्वके प्रतीकात्मक केंद्रके रूपमें बनी है ताकि रूपांतरका काम ज्यादा आसानीके साथ, एक सीमित, घन "देश" (यूं कहा जा सकता है) में किया जा सके जहां समस्याके सभी तत्त्व घने रूपमें इकट्ठे हों ताकि क्रिया ज्यादा समग्र और प्रभावशाली हो सके। इसलिये यहां श्रीअरविंद केवल पार्थिव जीवनकी बात करते हैं। लेकिन हम समझ सकते हैं कि यह एक प्रतीकात्मक जीवन है, यानी यह वैश्व क्रियाका **प्रतिनिधि** है। यह प्रतीकात्मक, घन प्रतिरूप है। और वे कहते हैं कि "केंद्रीय हेतु" यानी, पार्थिव जीवनके अस्तित्वका हेतु 'जड़-तत्त्व'के केंद्रमें छिपी हुई 'आत्मा' को — जो **अंदरसे** बाहरकी ओर एक क्रमशः बढ़ते हुए विकासकी ओर धकेलती है, जगाना, अंतिम रूपसे प्रकट करना और समग्र रूपमें अभिव्यक्त करना है।

तो, बाहरी रूपोंमें जैसा तुम देखते हो पहले-पहल खनिज जगत् मिलता है जिसमें पत्थर, मिट्टी, धातुएं आती हैं जो हमारी बाहरी चेतनाको बिलकुल निश्चेतन दीखती हैं। फिर भी इस निश्चेतनाके पीछे 'आत्मा'का प्राण है, 'आत्मा' की चेतना है जो पूरी तरह छिपी हुई है मानों सोयी हुई हो (यद्यपि यह केवल बाहरी रंगरूप है)। यह देखनेमें बिलकुल बेजान लगनेवाले जड़-तत्त्वको धीरे-धीरे, अंदरसे रूपांतरित करनेके लिये काम करती है, ताकि उसका संगठन अपने-आपको चेतनाकी अभिव्यक्तिके लिये अनुकूल बना सके। और वे कहते हैं कि पहले-पहल जड़-पदार्थका यह परदा इतना संपूर्ण होता है कि ऊपरी दृष्टिसे यही लगता है कि इसमें न तो प्राण है, न चेतना। तुम एक पत्थरको उठाकर सामान्य दृष्टिसे और चेतनासे देखो तो कहोगे: "इसमें जान नहीं है, इसमें चेतना नहीं है।" लेकिन जो बाहरी रंगरूपके पीछे देखना जानता है उसके लिये इस पदार्थके केंद्रमें — पदार्थके **प्रत्येक अणु**में परम दिव्य सद्वस्तु छिपी हुई है जो अंदरसे, धीरे-धीरे, युगोंसे इस जड़-पदार्थको किसी ऐसी चीजमें बदलनेमें लगी है जो अंदरकी 'आत्मा' को अभिव्यक्त करनेके लिये काफी व्यंजक होगी। तब 'जीवन' की कहानीका अनुक्रम आगे बढ़ता है: कैसे पत्थरसे, उसकी विभिन्न जातियोंमेंसे होते हुए अचानक प्रारंभिक प्राण फूट पड़ा और उसीके साथ एक प्रकारका संगठन, यानी एक जैव तत्त्व जो प्राणको

प्रकट करनेमें सक्षम है। लेकिन खनिज और वनस्पति जगतोंके बीच अंतर्वर्ती तत्त्व हैं। पता नहीं चलता कि वे खनिजके अंश हैं या उनसे वनस्पतिका प्रारंभ हो चुका है (विस्तारसे उनका अध्ययन करनेपर अजीब-सी जातियां दिखायी देती हैं जो न यहांकी हैं, न वहांकी, जो पूरी तरह यहांकी नहीं हैं और अभीतक वहांकी भी नहीं हो पायीं)। तब वनस्पति-जगत्‌का विकास शुरू होता है जहां स्वभावतः प्राण प्रकट होता है क्योंकि यहां वृद्धि है, रूपांतरण है — पौधेमें अंकुर फूटते हैं, वह बढ़ता और विकसित होता है — जीवनके प्रथम तथ्यके साथ-ही-साथ सड़न और विघटनका तथ्य भी आता है जो पत्थरकी अपेक्षा यहां बहुत तेज होता है। अगर पत्थरको अन्य शक्तियोंके आघातोंसे बचाया जाय तो वह, हमें लगता है, अनिश्चित कालतक रह सकता है। जब कि वनस्पति वृद्धि, चढ़ाव, उतार और सड़नके चक्रका अनुसरण शुरू कर देती है — लेकिन यह सब बहुत ही सीमित चेतनाके साथ। जिन्होंने विस्तारपूर्वक वनस्पति-जगत्‌का अध्ययन किया है वे भली-भांति जानते हैं कि उनमें चेतना होती है। उदाहरणके लिये, वनस्पतिको जीनेके लिये सूर्यकी जरूरत होती है (सूर्य उन्हें वह ऊर्जा देता है जिससे उनकी वृद्धि होती है), तो, अगर तुम किसी पौधेको ऐसी जगह रख दो जहां धूप नहीं आती तो तुम उसे हमेशा धूपतक पहुंचनेके लिये चढ़ते, चढ़ते, चढ़ते हुए, कोशिश करते हुए **प्रयास** करते हुए देखोगे। उदाहरणके लिये, घने जंगलमें जहां मनुष्य हस्तक्षेप नहीं करता सभी पौधोंमें इस प्रकारका संघर्ष होता है जो एक-न-एक तरहसे धूपको पकड़नेके लिये सीधे चढ़नेका **प्रयास** करते हैं। यह बड़ा मनोरंजक है। लेकिन अगर तुम कोई गमला दीवारोंसे घिरे छोटे-से आंगनमें रख दो, जहां धूप नहीं आती, तो जो पौधा प्रायः इतना ऊंचा है (संकेत) इतना ऊंचा हो जाता है : वह धूप पानेके लिये प्रयास करते हुए अपने-आपको लंबा खींचता है। फलस्वरूप एक चेतना होती है, जीनेका संकल्प होता है जो अभिव्यक्त हो चुकता है। और फिर थोड़ा-थोड़ा करके जातियोंमें अधिकाधिक विकास होता जाता है। और तुम फिरसे एक ऐसी बीचकी स्थिति देखते हो, जो, अभी पशु तो नहीं है, पर अब वनस्पति भी नहीं रही। ऐसी बहुत-सी जातियां हैं जो बहुत मनोरंजक हैं। ऐसे पौधे हैं जो मांसाहारी हैं। खुले मुंह जैसे पौधे होते हैं, तुम उसमें एक मक्खी डालो और, गड़प, वे निगल जाते हैं। ये अब ठीक पौधे नहीं हैं, पर अभीतक पशु भी नहीं बने। इस तरहके बहुत-से पौधे हैं।

तब तुम पशुतक आते हो। पहले जानवरों और पौधोंमें फर्क करना कठिन है। उनमें चेतना नहींके बराबर होती है। फिर तुम जानवरोंकी

सभी जातियोंको देखो। तुम उन्हें जानते हो, जानते हो न? उच्चतर पशु जातियां, वास्तवमें **बहुत** सचेतन होती हैं। उनकी अपनी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति होती है। वे बहुत सचेतन और अद्‌भुत रूपसे बुद्धिमान होते हैं, उदाहरणके लिये, हाथी। तुम हाथी और उसकी अद्‌भुत बुद्धिकी बहुत सारी कहानियां जानते हो। फलस्वरूप यहां मन काफी स्पष्ट रूपसे दिखायी देता है। और इस क्रमिक विकासमेंसे होते हुए हम अचानक उस जातिपर जा पहुंचते हैं जो शायद गायब हो गयी है (जिसके कुछ अवशेष मिले हैं), यह बन्दरके जैसी या उसी कुलकी मध्यवर्ती जाति रही होगी। भले वह ठीक बन्दर न हो जिसे हम जानते हैं, पर उसके जैसी जाति — एक ऐसा पशु जो दो पैरोंपर चलता था। और वहांसे हम आदमीतक आ पहुंचते हैं। मनुष्यके विकासका एक पूरा प्रारम्भ है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उसमें बहुत बुद्धिमत्ता दिखायी देती है, लेकिन उसमें मनकी क्रिया शुरू हो चुकती है, स्वाधीनताका आरंभ, परिस्थितियों और प्रकृतिकी शक्तियोंके प्रति स्वतंत्र प्रतिक्रियाका आरंभ। इस तरह मनुष्यमें पूरा सप्तक है जिसके शिखरपर है वह व्यक्ति जो आध्यात्मिक जीवनके योग्य हो।

इस पृष्ठपर श्रीअरविन्द हमसे यही कहते हैं।

बस इतना है, तुम्हें कोई प्रश्न पूछना हो तो...?

मधुर मां, यहां वे कहते हैं, "यह चेतना... मनुष्यमें अपने चरमोत्कर्षतक पहुंचती है और उसे पार कर जाती है..."

हां, यही तो मैंने तुमसे अभी-अभी कहा है। अपनी उच्चतम अवस्थामें मनुष्य प्रकृतिसे बिलकुल स्वतंत्र होने लगता है — "बिलकुल" तो जरा अतिशयोक्ति है। वह बिलकुल स्वतंत्र **हो** जरूर सकता है। जिसने आध्यात्मिक चेतना उपलब्ध कर ली, जिसका भागवत मूलस्रोतके साथ सीधा सम्बन्ध है वह प्रकृतिसे, प्रकृतिकी शक्तियोंसे शब्दशः स्वतंत्र है।

(वर्षा शुरू हो जाती है) यह लो, यह हमें शान्त करनेके लिये है! (हंसी)

और इसीको वे "अपने-आपको पार कर जाना" कहते हैं। यानी, वह 'सत्ता', आन्तरिक भागवत चेतना, वह परम आध्यात्मिक सद्वस्तु अपने विकासके प्रयासमें... (वर्षा जोर पकड़ लेती है)... ओहो! हमें चुप रहना पड़ेगा।... अपने-आपको अभिव्यक्त करनेके सचेतन माध्यमको विकसित करनेकी खोजमें इस योग्य हो गयी है कि प्रकृतिकी सभी प्रक्रियाओं-मेंसे गुजरे बिना सीधा सम्पर्क स्थापित कर सके।

अब, मेरा ख्याल है हमें बन्द करना होगा। ध्यान नहीं होगा क्योंकि...

३० अक्तूबर, १९५७

"'जड़तत्त्व'से 'मन'तक और उससे भी परे होनेवाले प्रकृति-के इस पार्थिव विकासके कार्यकी द्विविध प्रक्रिया है: एक तो भौतिक विकासकी दृश्य प्रक्रिया है जिसका साधन है जन्म — कारण, प्रत्येक विकसित शारीरिक रूप जो चेतनाकी अपनी विकसित शक्तियोंको वहन करता है, वंश-परंपराद्वारा संरक्षित और अविच्छिन्न रखा जाता है, और उसके साथ ही, अंतरात्माके विकासकी अदृश्य प्रक्रिया है जिसका साधन है पुनर्जन्म, यह चेतना और आकारोंके उत्तरोत्तर उन्नत होते क्रममें अपने-आपको चरितार्थ करता है। पहलेको यदि अपने-आपमें लें तो इसका मतलब होगा केवल एक जागतिक विकास; क्योंकि व्यक्ति जल्दी नष्ट हो जानेवाला उपकरण है, और जाति ही, जो अधिक देरतक टिकनेवाली सामूहिक रचना है, जगत्‌के 'अधिवासी' का, वैश्व 'आत्मा'का क्रमिक अभिव्यक्तिमें वास्तविक पग होगी: अतः पुनर्जन्म एक अनि-वार्य अवस्था है यदि धरतीपर वैयक्तिक सत्ताका भी किसी प्रकारका दीर्घकालिक स्थायित्व और विकास अपेक्षित है। वैश्व अभिव्यक्तिमें प्रत्येक श्रेणी, प्रत्येक विशिष्ट रूप-रचना, जो अंतरस्थ 'आत्मा'को वहन कर सके, पुनर्जन्मद्वारा एक ऐसे साधनके रूपमें प्रयुक्त की जाती है कि उसमें वैयक्तिक आत्मा, चैत्य सत्ता अपनी अंतर्हित चेतनाको अधिकाधिक प्रकट कर सके। इस प्रकार प्रत्येक जीवन अंदरकी चेतनाकी महत्तर प्रगतिके द्वारा 'जड़-तत्त्व'पर विजय प्राप्त करनेमें एक पग बन जाता है, इसी तरह अंतमें एक दिन यह चेतना 'जड़-तत्त्व-'को भी 'आत्मा' की पूर्ण अभिव्यक्तिका साधन बना लेगी।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८२५-२६)

इसे समझना कठिन है, मधुर मां!

आह ! ......

यदि तुम पृथ्वीके इतिहासको लो तो जीवनके सभी रूप एकके बाद एक, एक साधारण योजना एवं क्रमके अनुसार इस प्रकार प्रकट हुए हैं कि उनमें हर बार एक नयी पूर्णता और एक नयी चेतना जोड़ी जाती रही है। पशुओं-के रूपोंको ही जरा ले लो (क्योंकि उन्हें समझना अधिक आसान है, ये मनुष्यसे पहलेका आखिरी रूप हैं); प्रत्येक पशु जो प्रकट हुआ उसके सामूहिक रूपमें (मेरा मतलब यह नहीं कि पूरे ब्योरेमें); एक अतिरिक्त पूर्णता, पूर्ववर्ती पूर्णताकी अपेक्षा एक अधिक बड़ी पूर्णता थी, और इस आरोहणशील प्रगतिका शिखर था मानव रूप, जो अभीके लिये चेतनाकी दृष्टिसे उसे अभिव्यक्त करनेमें सबसे अधिक समर्थ है, अर्थात् मानव रूप अपने उत्कृष्टतम रूपमें, अपनी उच्चतम संभावनाओंमें, पहलेके सभी पशु-रूपोंकी अपेक्षा अधिक चेतनाके उपयुक्त है।

यह प्रकृतिमें विकासका **एक** तरीका है।

गत सप्ताह श्रीअरविन्दने हमें बताया था कि यह प्रकृति एक आरोहण-शील प्रगतिका अनुसरण कर रही है ताकि वह सब रूपोंके अंदर विद्यमान दिव्य चेतनाको अधिकाधिक प्रकट कर सके। तो, प्रत्येक नये रूपके साथ जिसे यह उत्पन्न करती है, प्रकृति एक ऐसा रूप बनाती है जो इस रूपके अंदर विद्यमान आत्माको अधिक पूर्णताके साथ अभिव्यक्त कर सके। परंतु यदि इसी प्रकार चलता तो, एक रूप आता, उन्नत होता, अपने उच्चतम शिखरपर पहुंचता और पीछे दूसरा रूप आ जाया करता; पहले रूप लुप्त नहीं होते, परंतु व्यष्टिकी प्रगति न हो पाती। एक व्यष्टि कुत्ता या बंदर, उदाहरणार्थ, अपनी सब विशेषताओंके साथ अपनी जातिसे संबंध रखता है, जब बंदर या मनुष्य अपनी उच्चतम संभावनाओंपर पहुंच जायगा, अर्थात्, जब एक व्यष्टि-मानव मानवताका सर्वश्रेष्ठ प्ररूप बन जायगा, तो वहीं सब कुछ समाप्त हो जायगा; व्यक्ति और आगे प्रगति नहीं कर सकेगा। वह प्ररूपी मानव है और प्ररूपी मानव ही बना रहेगा। इस प्रकार, पार्थिव विकासकी दृष्टिसे इसमें एक प्रगति है क्योंकि आनेवाली प्रत्येक जाति अपने-से पूर्ववर्ती जातिकी तुलनामें एक प्रगतिको उपस्थापित करती है, परंतु व्यष्टि-की दृष्टिसे वहां कोई प्रगति नहीं होती; वह पैदा होता है, बढ़ता है, मर जाता है और लुप्त हो जाता है। इसलिये व्यष्टिकी प्रगतिको सुनिश्चित करनेके लिये यह जरूरी था कि किसी दूसरे साधनको खोजा जाय; पहला पर्याप्त न था। तभी तो, व्यष्टिके अपने अंदर, प्रत्येक रूपके भीतर विद्यमान, चेतनाका एक ऐसा संघटन मौजूद है जो आंतरिक दिव्य उपस्थिति-के अधिक समीप और अधिक सीधे प्रभावमें है और इस रूपका, जो उस

प्रभावके (ऊर्जाकी उस प्रकारकी आंतरिक संकेंद्रताके) अंतर्गत होता है, अपना एक जीवन होता है जो भौतिक रूपसे सर्वथा स्वतंत्र होता है — इसे ही हम सामान्यतः "अंतरात्मा" या "चैत्य सत्ता" कहते हैं — दिव्य केंद्रके चारों ओर संघटित यह सत्ता दिव्य प्रकृतिको ग्रहण कर लेती और अमर और शाश्वत बन जाती है। बाह्य शरीर झड़ जाता है, पर वह बना रहता है उन सारे अनुभवोंमेंसे गुजरता हुआ जो प्रत्येक जीवनसे उसे प्राप्त होते हैं, इस प्रकार एक जीवनसे दूसरे जीवनमें प्रगति चलती रहती है और यह प्रगति **उसी** एक व्यक्तिकी होती है। और विकासकी यह गति पहलीको पूर्ण बनाती है, इस अर्थमें कि पहले एक जाति पूर्ववर्ती जातिकी तुलनामें प्रगति करती थी, उसके स्थानपर अब व्यक्ति इन जातियोंकी प्रगतिकी सब अवस्थाओंमेंसे गुजरता है और तब भी प्रगति जारी रखनेमें समर्थ होता है जब वह जाति अपनी अधिकतम संभावनातक पहुंच जाती है; और... वहां रुक जाती या लुप्त हो जाती है (वह निर्भर करता है विभिन्न अवस्थाओं-पर), परंतु वे और आगे नहीं बढ़ सकतीं, जब कि व्यक्ति, इस निरे भौतिक रूपसे सर्वथा स्वतंत्र एक जीवन रखनेके कारण, एक रूपसे दूसरेमें जा सकता और **अनिश्चित कालतक** अपनी प्रगति जारी रख सकता है। यह द्विविध गति-का निर्माण करता है जो अपने-आपको पूर्ण बनाती है। और यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्यमें अपने उस रूपसे सर्वथा स्वतंत्र रूपमें उच्चतम उपलब्धिपर पहुंचनेकी शक्यता विद्यमान है जिसपर कि वह इस समय अस्थायी तौरसे निर्भर है।

ऐसे लोग हैं (ऐसे लोग रहे हैं और मुझे लगता है कि अब भी हैं!) जो कहते हैं कि उन्हें पूर्वजन्मोंकी स्मृति है और वे उस सबका वर्णन करते हैं जब वे कुत्ता, हाथी या बंदर थे और जो-जो उनके साथ हुआ उसकी बड़े विस्तारसे कहानियां सुनाते हैं। मैं उनके साथ किसी बहसमें नहीं पड़ूंगी, पर फिर भी ये उदाहरण इस तथ्यको स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य बननेसे पहले व्यक्ति बंदर रहा है — शायद व्यक्तिके पास इसे याद करनेकी सामर्थ्य नहीं होती! पर वह दूसरा विषय है — परंतु यह निश्चित है कि यह अन्तःस्थ दिव्य स्फुलिंग अपने-आपसे अधिकाधिक सचेतन होते जानेके लिये कई क्रमिक रूपोंमेंसे गुजरा है। और यदि यह प्रमाणित हो जाय कि व्यक्ति उस रूपकी स्मृति रख सकता है जो रूप मानव रूपमें पाये जाने-वाले चैत्य पुरुष बननेसे पहले था, तो हां, वह अच्छी तरह इसे याद कर सकता है कि वह पेड़ोंपर चढ़ा था, नारियल खाये थे और नीचेसे गुजरने-वाले यात्रियोंसे अनेक प्रकारकी शरारतें की थीं।

कुछ भी हो, तथ्य सामने है। शायद बादमें हम देखेंगे कि इस चैत्य पुरुषके लिये, जिस ढंगसे मनुष्य स्मरण करता है उस ढंगसे स्मृतियोंको प्राप्त करनेके लिये, एक विशेष प्रकारका आंतरिक संघटन जरूरी है — हम इस बारेमें बादमें बात करेंगे जब पुस्तकमें प्रसंग आयगा — पर हर हालतमें यह तथ्य स्थापित हो गया है : यह विकासकी द्विविध गति ही है जो एक-दूसरेको काटती हुई अपने-आपको पूर्ण बनाती है, जब कि यह प्रत्येक प्राणीमें स्थित दिव्य ज्योतिकी उपलब्धिकी अधिकतम संभावनाएं प्रदान करती है। इसी चीजको श्रीअरविन्दने यहां समझाया है। (बालकको संबोधित करते हुए) इसका मतलब है कि अपने बाह्य शरीरमें तुम उस पशुजातिके हो जो अतिमानसिक जाति बननेके रास्तेमें है। तुम अभी वह नहीं हो! परंतु तुम्हारे अंदर जो चैत्य पुरुष है वह इससे पहले भी बहुत-सी, बहुत-सी, अनगिनत जातियोंमें रह चुका है और अपनी सत्तामें हजारों वर्षोंका अनुभव लिये है और वह तबतक बना रहेगा जबतक तुम्हारा मानव शरीर विद्यमान है और विघटित नहीं हो जाता।

हम बादमें देखेंगे कि क्या इस चैत्य पुरुषमें अपने शरीरका रूपांतर करनेकी संभावना है और क्या यह पशु-मनुष्य और अतिमानवके बीचकी मध्यवर्ती जातिका निर्माण कर सकता है — इसका हम बादमें अध्ययन करेंगे — फिर भी, अभीके लिये, अमर अंतरात्मा ही मानव शरीरमें अपने-आपके बारेमें अधिकाधिक सचेतन होती जाती है। बस, यही बात है। अब समझ गये ?

(दूसरा बालक) **मां, प्रकृतिमें हम प्रायः देखते हैं कि एक पूरी-की-पूरी जाति लुप्त हो जाती है। ऐसा किसलिये होता है?**

संभवतः प्रकृतिने समझा होगा कि यह सफल नहीं है! . . . तुम जानते ही हो कि जब यह अपने-आपको कर्ममें डालती है तो पूरी प्रचुरताके साथ डाल देती है, इसमें मितव्ययिताकी भावनाका सर्वथा अभाव होता है। हम इसे देख सकते हैं। यह जो-जो परीक्षण कर सकती है, करती है, ऐसे-ऐसे आविष्कार कर डालती है, जो बहुत ही अद्भुत होते हैं, पर कभी-कभी यह . . . यह एक अंधी गलीके समान है। उस ओरसे धक्का देनेपर, प्रगति करनेके बजाय तुम उन चीजोंपर पहुंच जाते हो जो बिलकुल सुन्दर नहीं होतीं। यह अपनी सर्जन-प्रेरणाको पूरी प्रचुरताके साथ निर्माण-कार्यमें झोंक देती है, हिसाब नहीं लगाती, और जब समवाय बहुत सफल नहीं होता, तो हां, यह, बस, ऐसा कर देती है (इशारेसे बताती हैं), उसे मिटा देती

हैं, इससे उसे कुछ कष्ट नहीं होता। प्रकृतिके पास, तुम देखते ही हो, बहुतायतकी सीमा नहीं। मैं समझती हूं वह किसी भी प्रकारके परीक्षणके लिये ना नहीं करती। पर कोई चीज केवल तभी बनी रहती है जब उसका ऐसा सुयोग हो कि वह किसी सफल परिणामकी ओर ले जानेवाली हो। निश्चय ही बन्दर और मनुष्यके बीच कुछ मध्यवर्ती या समकक्ष जातियां रही हैं, उनके शेष चिह्न पाये गये हैं (शायद बड़ी सद्भावनाके साथ! पर फिर भी, शेष चिह्न तो मिले हैं), हां तो, वे जातियां लुप्त हो गयी हैं। तो, यदि हम परिकल्पना करना चाहें, तो पूछ सकते हैं कि क्या आगे आनेवाली जाति पशु-मनुष्य और अतिमानवके बीच मध्यवर्ती जाति चिरस्थायी होगी या महत्त्वहीन समझी जायगी और मिटा दी जायगी...? इसे हम बादमें देखेंगे। अगली बार जब हम मिलेंगे तो हम इस बारेमें बात करेंगे!

यह सिर्फ असीम प्राचुर्यका विलास है। प्रकृतिके पास यथेष्ट ज्ञान और चेतना है और वह ऐसे व्यवहार करती है कि उसके पास अनगिनत और असंख्य तत्त्व हैं जिन्हें आपसमें मिलाया जा सकता है, फिर पृथक् किया जा सकता है, उन्हें नया रूप दिया जा सकता और फिर मिटाया जा सकता है और... यह एक बहुत बड़ा विशाल कड़ाहा है, इसमें चीजें घोटी जा रही हैं, एक चीज बाहर लायी जाती है, वह काम नहीं देती तो उसीमें वापस डाल दी जाती है, दूसरी ले ली जाती है। इसके परिमाणकी जरा कल्पना करो... इसी पृथ्वीको ही ले लो: तुम समझते हो न? एक या दो रूप या सौ इसके लिये कोई महत्त्व नहीं रखते, वहां तो हजारों, लाखों रूप हैं। और फिर कुछ थोड़े-से वर्ष, सौ वर्ष, हजार वर्ष, या लाखों वर्ष भी इसके लिये कोई महत्त्व नहीं रखते, इसके सामने पूरा अनन्तकाल पड़ा है!

जब हम चीजोंको, देश और कालमें, मनुष्यके मानदण्डसे मापकर देखते हैं तो ओह! यह हमें बहुत ज्यादा लगता है, पर प्रकृतिके लिये यह कुछ भी नहीं है, बस, बच्चेका खेल है, एक मनोविनोद है। तुम इस मनोरंजनको पसन्द करो या न करो, पर है यह मनोविनोद ही।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि इससे प्रकृतिका मनोरंजन होता है और उसे कुछ जल्दी नहीं है। यदि उससे कहा जाय कि बिना रुके, अपनी पूरी गतिसे चलकर अपने कार्यके इस भाग या उस भागको तेजीसे समाप्त कर डालो, तो उसका उत्तर हमेशा एक ही होता है: "पर ऐसा किसलिये, क्यों भला? क्या तुम्हें यह मनोरंजक नहीं लगता?"

१३ नवम्बर, १९५७

मेरे पास पहले पृष्ठके बारेमें एक प्रश्न है जहां श्रीअरविन्दने कहा है: "एक आध्यात्मिक विकास ही, जड़-तत्त्वमें चेतनाका ऐसा विकास कि वह अपने रूपोंको इस प्रकार विकसित करती चले कि अंतमें रूप अंतरस्थ आत्माको अभिव्यक्त कर सके यही, तब पार्थिव जीवनका मुख्य स्वर, उसका केंद्रीय अर्थ-पूर्ण हेतु है।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८२४)

तो, रूप या आकारकी दृष्टिसे, मनुष्य दूसरे पशुओंसे किस अर्थमें अधिक श्रेष्ठ है?

मैं सोचती हूं इसे जानना काफी सरल है।

श्रीअरविंद एक ऐसे रूपकी बात कहते हैं जो 'आत्मा' को अभिव्यक्त कर सके। 'आत्मा' की अभिव्यक्तिका अपना स्वरूप ही है चेतना, ज्ञान और अंतमें प्रभुत्व। यह स्पष्ट ही है कि सौंदर्यकी दृष्टिसे और विशुद्ध बाह्य भौतिक रूपकी दृष्टिसे कुछ पशुओंके रूप ऐसे मिल सकते हैं जो सुन्दर हों और मैं समझती हूं शायद मनुष्यके इस रूपसे . . . इस अवनतिकी अवस्था-में जो रूप है उससे सुन्दर रूप मिल सकते हैं। ऐसे भी युग रहे हैं जब मनुष्यजाति अधिक सुन्दर और अधिक सामंजस्यपूर्ण प्रतीत होती थी, पर जहांतक 'आत्मा' को अभिव्यक्त करनेके ढंगका प्रश्न है, मनुष्यकी श्रेष्ठताके बारेमें लेशमात्र भी संदेह नहीं। और कुछ नहीं तो केवल यह तथ्य ही कि वह सीधा खड़ा हो सकता है चीजोंको ऊपरसे देख सकनेकी क्षमताका प्रतीक है। सदा जमीनकी ओर नाक लगाये रहनेकी जगह वह जिसे देखता है उसपर शासन करता है। स्पष्ट ही यह कहा जा सकता है कि पक्षी तो उड़ते हैं पर पंखोंसे बौद्धिक आत्म-अभिव्यक्तिका साधन प्राप्त करना कठिन है!

यह सीधी, खड़ी स्थिति बड़ी प्रतीकात्मक है। यदि तुम चौपाये बन-कर चलनेकी कोशिश करो तो देखोगे कि उस स्थितिमें, जब कि आंख और नाक आवश्यक रूपसे जमीनकी ओर होते हैं, ऐसा नहीं लगता कि तुम चीजोंको दृष्टिके एक दूसरे स्तरसे या ऊपरसे देख रहे हो। मानव शरीर-की सारी रचना ही मानसिक जीवनको अभिव्यक्त करनेके लिये हुई है।

उदाहरणार्थ, मस्तिष्कका अनुपात मनुष्यके सिरकी रचना, भुजाओं और हाथोंकी रचना, यह सब, आत्माको अभिव्यक्त करनेकी दृष्टिसे निर्विवाद है, उनसे एकदम श्रेष्ठ है, और ऐसा प्रतीत होता है कि उसे पूरी तरह बुद्धिको अभिव्यक्त करनेकी दृष्टिसे कल्पित करके ही गढ़ा गया है।

निश्चय ही, शक्ति, नमनीयता और स्फूर्तिकी दृष्टिसे मनुष्य पशुओंमें सबसे बढ़कर प्रतिभाशाली नहीं है, परंतु 'आत्मा'को अभिव्यक्त करनेमें कोई दूसरा प्राणी ऐसा नहीं जिससे उसकी तुलना की जा सके। उसकी प्रत्येक चीज इसी दृष्टिसे बनायी गयी है। हम चाह सकते हैं कि इस संभावनाके साथ उन दूसरी चीजोंको भी जोड़ दें जो केवल मानसिक जीवनके लिये ही उत्सर्ग कर दी गयी प्रतीत होती हैं — परंतु यह बात भी है कि ठीक इस मानसिक जीवनको अभिव्यक्त करनेकी क्षमताके कारण ही मनुष्य अपनेमें उन सामर्थ्योंको विकसित कर सकता है जो उसमें अभी केवल सुप्त अवस्थामें ही विद्यमान हैं। मनुष्यके पास प्रशिक्षण-शक्ति है, उसके शरीरको उन्नत एवं प्रशिक्षित किया जा सकता है। वह अपनी कुछ सामर्थ्योंको बढ़ा सकता है। तुम ऐसे किसी पशुकी कल्पना नहीं कर सकते, उनमेंसे भी किसी पशुकी नहीं जिन्हें कि हम बहुत सराहते हैं, जो उदाहरणार्थ, शारीरिक शिक्षणके, विशुद्ध रूपसे शारीरिक शिक्षणके योग्य हों (मैं स्कूल जाने और चीजोंको सीखनेकी बात नहीं कर रही हूं, बल्कि विशुद्ध रूपसे शारीरिक शिक्षणकी, मांसपेशियोंको विधिपूर्वक समुन्नत करनेकी बात कह रही हूं)। पशु जन्म लेता है और जो कुछ उसके पास है उससे लाभ उठाता है और अपनी प्रकृतिके नियमके अनुसार विकसित होता है किंतु वह अपने-आपको प्रशिक्षित नहीं करता या करता भी है तो बिलकुल प्रारंभिक अनगढ़ रूपमें और अत्यधिक सीमित क्षेत्रमें; जब कि मनुष्य एक सामान्य और योजनाबद्ध विकासके द्वारा अपने दोषोंको सुधार सकता और अपनी न्यूनताओंको पूरा कर सकता है। मनुष्य निश्चय ही एक सुव्यवस्थित तरीकेसे प्रगति करनेवाला पहला पशु है, क्योंकि वह अपनी योग्यताओं और अपनी संभावनाओंको बढ़ा सकता है, और अपनी क्षमताओंको विकसित कर उन वस्तुओंको पा सकता है जो सहज-स्वाभाविक रूपमें उसे प्राप्त नहीं हैं। परंतु ऐसा पशु एक भी नहीं जो यह कर सके।

हां, मनुष्यके प्रभावमें आकर बहुत-से पशुओंने उन क्रियाओंको करना सीख लिया है जिसे वे सहज-स्वाभाविक रूपमें नहीं कर सकते थे, पर फिर भी यह संभव हुआ है मनुष्यके प्रभावसे ही। निश्चय ही, यदि मनुष्य न होते तो कोई कुत्ता या घोड़ा उन क्रियाओंको कभी न सीख पाता जिन्हें वह मनुष्यके संपर्कमें आकर सीख जाता है। परिणामतः, यह स्पष्ट है कि

मानव शरीर-रचना 'आत्मा'को अभिव्यक्त करनेके लिये सबसे उपयुक्त है। यह शरीर हमें अपर्याप्त प्रतीत हो सकता है, पर यह सिर्फ इस कारण है क्योंकि हम महसूस करते हैं कि हम अपने शरीरसे उससे अधिक प्राप्त कर सकते हैं जितना यह अपने-आप सहज-स्वाभाविक रूपमें, प्रशिक्षित करनेके संकल्पके बिना देता। और बुद्धिको, निरीक्षण, अवधारणा और निगमनको —— सभी मानसिक क्षमताएं हैं —— अभिव्यक्त करनेकी शक्यताके कारण ही मनुष्यने प्रकृतिके नियमोंको धीरे-धीरे समझना सीखा है और उसने न केवल उन्हें समझनेका, बल्कि उनपर वशित्व प्राप्त करनेका भी प्रयत्न किया है।

यदि हम जो कुछ मनुष्य इस समय है उसकी तुलना 'सत्य'में निवास करनेवाले उस उच्चतर प्राणीसे करें जो हम बनना चाहते हैं तो स्पष्ट ही हम मनुष्यके बारेमें, जैसा कि वह अभी है, काफी निन्दा करते हुए बात कर सकते हैं और उसकी अपूर्णताओंकी शिकायत कर सकते हैं। परन्तु यदि हम अपने-आपको उन पशुओंके स्थानपर रखें जो विकासमें ठीक उससे पहले आये हैं तो वह ऐसी संभावनाओं और शक्तियोंसे सज्जित है जिन्हें दूसरे अभिव्यक्त करनेमें एकदम असमर्थ हैं। यह तथ्य ही कि उसमें ऐसी महत्त्वाकांक्षा, इच्छा, संकल्प मौजूद है कि मैं प्रकृतिके नियमोंको जानूं, उन-पर ऐसा वशित्व प्राप्त कर लूं कि उन्हें अपनी आवश्यकताओंके अनुरूप एक हदतक बदल डालूं, एक ऐसी चीज है जो किसी भी पशुके लिये असंभव है, अकल्पनीय है।

तुम कह सकते हो कि मुझे मनुष्यके बारेमें इतने प्रशंसात्मक रूपमें कहने-की आदत नहीं है (हंसी), परन्तु यह इसलिये है कि उसकी अपने बारेमें अत्यधिक प्रशंसात्मक रूपमें सोचनेकी आदत है!

परन्तु यदि हम उसकी तुलना प्रकृतिकी बनायी हुई दूसरी वस्तुओंसे करें तो निःसंदिग्ध रूपमें वह सीढ़ीके शिखरपर है।

परंतु, मां, तब प्रश्न उठता है: क्या चेतनाके अवतरणसे आकार-का विकास होता है या आकारका विकास ही उच्चतर चेतनाके अवतरणको आवश्यक बना देता है?

चेतनाके अवतरणके बिना कोई विश्व ही न होगा। वह, तुम्हारा विश्व, कहांसे और किसके द्वारा आरंभ होगा?

मनुष्यका उदाहरण लें तो, क्या पशु-मानव मनको नीचे लाया या मनके अवतरणसे ही . . .

ओह ! तुम्हारा मतलब है : क्या यह मध्यवर्ती प्राणी या उच्चतर वानरमें विद्यमान कोई चीज थी जिसने अपनी अभीप्साके द्वारा मनके आगमनको संभव बनाया ? परन्तु स्वयं अभीप्सा पहलेके अवतरणका फल है।

यह बहुत स्पष्ट है कि ऐसी कोई चीज उस वस्तुमेंसे अभिव्यक्त नहीं हो सकती जो उसमें शुरूसे विद्यमान न हो। तुम किसी चीजको शून्यमें-से नहीं प्रकटा सकते। तुम उसी चीजको जो पहलेसे है उमगने, प्रकट होने, खिलने और वर्धित होनेमें सहायता कर सकते हो। लेकिन यदि कुछ न होता तो कभी कुछ बाहर न आता। समस्त प्रगति, समस्त पूर्णता ऐसी "किसी चीज"के आन्तरिक प्रयत्नका फल है जो पहलेसे विद्यमान है और आत्म-अभिव्यक्तिको खोज रही है। कहनेका मतलब यह कि, पूरी तरह, यह मूलतत्त्व ही होता है जो पहले आता है, अभिव्यक्ति बादमें। जैसे-जैसे हम 'दिव्य जीवन'को आगे आगे पढ़ते जायंगे, श्रीअरविंद इस चीज-को हमारे आगे सभी संभव उपायोंसे सिद्ध करेंगे। यदि वहां कोई सनातन 'तत्त्व' न होता, कोई 'परमसद्वस्तु' न होती (इसे हम जो चाहे नाम दे सकते हैं, दे सकते हैं न !), तो कोई विश्व न हुआ होता, क्योंकि कुछ नहींमेंसे कभी कुछ चीज नहीं प्रकट हुआ करती।

इस बातको हम पढ़ते समय देखेंगे, तब तुम दार्शनिक कसरत करनेको मजबूर होओगे। पर फिर भी, बिना दर्शन या मानसिक व्यायामके, यह स्पष्ट है कि कोई चीज बनानेके लिये तुम्हारे पास कोई चीज होनी चाहिये जिससे तुम उसे बना सको।

मनुष्यके मानसिक विकासका एक पूरा युग ऐसा है या था जिसमें लोगों-ने बड़ी गंभीरतासे यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा की कि 'जड़-तत्त्व'के उत्कर्षने ही 'आत्मा'को जन्म दिया है। पर वह सिद्धान्त टिक नहीं सका (श्रीमां हंसती हैं)। तुम्हारी छोटी-से-छोटी चेष्टा, जो कुछ भी तुम करते हो वह सब, इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि पहले तुम सोचते हो और फिर उसे करते हो, छोटी-से-छोटी मात्रामें भी। जो जीवन चेतन संकल्पका परिणाम नहीं, वह एक सर्वथा असंबद्ध जीवन होगा। मेरा मतलब है कि यदि प्रकृति चेतन उद्देश्यसे युक्त एक चेतन शक्ति और चेतन संकल्प न होती तो कोई भी चीज रूप न ले पाती। यदि हम थोड़ा भी निरीक्षण करें, वैयक्तिक जीवनका जो बहुत छोटा-सा क्षेत्र हमें मिला है उसमें भी यदि हम देखें, तो हमें इसका पूरा-पूरा विश्वास हो जायगा।

पर फिर भी . . . यह ठीक उन विषयोंमें से एक है जिनपर श्रीअरविंदने काफी विस्तारसे कहा है, अतः इसके बारेमें हम फिर बात करेंगे।

(मौन)

यह कहा जा सकता है कि आगपर प्रभुत्व मनुष्यकी श्रेष्ठताका प्रतीकात्मक चिह्न है। जहां मनुष्य होता है, आग जलायी जाती है।

दो चीजें ऐसी हैं जो पशुओंकी क्रियाओंसे स्पष्ट रूपमें श्रेष्ठ हैं, एक तो लिखनेकी क्षमता, दूसरे सुस्पष्ट वाणीकी संभावना। और यह चीज स्पष्टतया इतनी श्रेष्ठ है कि सभी उन्नत पशु इस स्पष्टोच्चारित वाणीके प्रति अत्यधिक संवेदनशील होते हैं, यह उन्हें मोह लेती है। यदि तुम किसी जंगली पशुसे बहुत स्पष्टताके साथ, ठीक आवाजमें और साफ-साफ बोलो तो वह तत्काल आकर्षित हो जाता है, सचमुच मुग्ध हो जाता है (मैं उन पशुओंके बारेमें नहीं कह रही जो मनुष्यके पास रह चुके हैं, बल्कि ठीक उन पशुओंके बारेमें कह रही हूं जो मनुष्यके संपर्कमें पहले कभी नहीं आये)। एकदम वे ध्यान देते हैं और अभिव्यक्त होती हुई श्रेष्ठतर शक्तिको अनुभव करते हैं।

१७ नवम्बर, १९५७

> **"यह शंका भी की जा सकती है कि क्रम-विकास जहांतक पहुंच चुका है उससे और आगे जानेकी उसकी संभाव्यता है भी या नहीं, या क्या एक अतिमानसिक विकासकी, पार्थिव प्रकृतिके आधारभूत 'अज्ञान'के अंदर एक संपूर्ण 'सत्य-चेतना'के, एक 'ज्ञान'-पुरुषके आविर्भावकी संभाव्यता है . . .।**
>
> **माना कि सृष्टि 'कालातीत सनातन'की 'सनातन काल'में एक अभिव्यक्ति है, माना कि 'चेतना'के सात स्तर हैं और जड़ निश्चेतनाको ही आत्माके पुनरारोहणका आधार बनाया गया है, माना कि पुनर्जन्म एक तथ्य है और पृथ्वीकी व्यवस्थाका एक अंग है, फिर भी इनमेंसे किसी एकको या सबको सम्मिलित रूपमें मान लेनेका अनिवार्य रूपसे यह परिणाम नहीं निकलता कि वैयक्तिक सत्ताका आध्यात्मिक विकास होता है। पार्थिव अस्तित्वके आध्यात्मिक अर्थ एवं आंतरिक प्रक्रियाके बारेमें एक दूसरा दृष्टिकोण लेकर भी चला जा सकता है। यदि प्रत्येक सृष्ट वस्तु अभिव्यक्त भागवत सत्ताका ही एक रूप है**

> तो अपने अंदर विद्यमान आध्यात्मिक उपस्थितिके कारण प्रत्येक अपने-आपमें दिव्य है, चाहे प्रकृतिमें उसका बाह्य रूप, आकार या गुण-धर्म कुछ भी क्यों न हो। अभिव्यक्तिके प्रत्येक रूपमें भगवान् अस्तित्वका आनंद लेते हैं, अतः उसमें परिवर्तन या प्रगति हो इसकी कोई आवश्यकता नहीं। 'अनन्त सत्ता' की प्रकृति जिस प्रकारके आत्मप्रकाशको, वह सुनिश्चित क्रमका हो या चरितार्थ संभावनाओंकी श्रेणी-परंपराका, आवश्यक बना देती है, वह असंख्य प्रकारकी विविधता, रूपोंकी बहुविध संतति, चेतना व प्रकृतियोंके नमूनोंके रूपमें, जिन्हें हम अपने चारों ओर सर्वत्र देखते हैं, यथेष्ट मात्रामें प्रस्तुत है ही। सृष्टिमें कोई उद्देश्य-मूलक प्रयोजन नहीं है और हो भी नहीं सकता, क्योंकि सभी कुछ तो 'असीम' के अंदर विद्यमान है; ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे प्राप्त करनेकी भगवान्को आवश्यकता हो या जो उनके पास न हो; यदि सृष्टि और अभिव्यक्ति बनी है तो केवल सृष्टि और अभिव्यक्तिके आनंदके लिये, किसी उद्देश्यके लिये नहीं। तो, किसी ऐसी विकास-क्रियाको माननेका कोई युक्तियुक्त कारण नहीं है जिसके शिखरपर पहुंचना हो या जिसका चरितार्थ और सिद्ध करने योग्य कोई लक्ष्य हो या जो अंतिम पूर्णताके लिये कोई प्रवेग लिये हो।"
>
> ('लाइफ डिवाइन', पृ० ८२६-२७)

यह एक तर्क है जो श्रीअरविंदने उपस्थित किया है। जैसा कि उन्होंने कहा है कि यह समस्याको देखने और उसका समाधान करनेके तरीकोंमें-से **एक** है, पर इसका यह मतलब नहीं कि यह उनका अपना दृष्टिकोण है। ठीक इसी पद्धतिको उन्होंने इस सारी पुस्तकमें, सब जगह अपनाया है: वे विभिन्न तर्क, विभिन्न दृष्टिकोण, विभिन्न विचार व धारणाएं हमारे सामने रखते हैं और जब वे सब समस्याओंको हमारे सामने रख चुकते हैं उसके बाद समाधान प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि हमारे अध्ययनके ढंगमें एक असुविधा है, क्योंकि मैं तुम्हारे सामने एक अनुच्छेद पढ़ती हूं और यदि हम वहीं रुक जायं तो ऐसा प्रतीत होगा कि उन्होंने अपने दृष्टिकोणका प्रतिपादन किया है; और फिर यदि ऐसा हो कि वह पढ़ा हुआ तुम्हें ठीक याद न रहे और जब मैं अगली बार अगला अनुच्छेद पढ़ूं जिसमें वे दूसरे दृष्टिकोणकी व्याख्या करते हैं (कभी-कभी वह बहुत भिन्न, यहांतक कि एकदम उलटा भी होता है), और हम वहां रुक जायं तो निष्कर्ष होगा:

यह भी उनका दृष्टिकोण है। तो इससे एक परस्पर-विरोध उपस्थित हो जाता है। और यदि हम आगे जारी रखें तो दो या तीन परस्पर-विरोध उपस्थित हो जायंगे। मैं तुमसे यह बात इसलिये कह रही हूं क्योंकि मैंने लोगोंको, जो सर्वथा ऊपरी तौरसे पढ़ते हैं और संभवतः पूर्णतया अविच्छिन्न रूपसे भी नहीं पढ़ते (जो अपने-आपको अत्यधिक बुद्धिमान् और विद्वान् समझते हैं), कहते सुना है, वे मुझसे कहते हैं: "परन्तु श्रीअरविन्द इस पुस्तकमें सारे समय अपने-आपको दोहराते रहते हैं। प्रायः प्रत्येक अनुच्छेदमें वह हमसे फिर वही बात कहते हैं।" (श्रीमां हंसती हैं)। क्योंकि वह विचार-प्रणालीके सभी दृष्टि-बिन्दुओंको प्रस्तुत करते हैं और बादमें अपना दृष्टिकोण, निष्कर्ष प्रदान करते हैं; उसके बाद फिर एक बार विचार-प्रणालीके सभी दृष्टि-बिन्दुओंको प्रस्तुत करते हैं, सब समस्याओंको सामने लाते हैं और तब अन्तमें उस सत्यको सिद्ध करते हैं जिसे वे हमें समझाना चाहते हैं — "तो वह अपने-आपको दोहराते हैं।"

वास्तवमें, स्वभावतः इस जालमें फंसनेसे बचनेके लिये यह जरूरी है कि पर्याप्त ध्यानके साथ पढ़ा जाय। तुम्हें दत्तचित्त होना चाहिये और विषय-वस्तुके बीचमें ही निष्कर्षपर नहीं पहुंच जाना चाहिये, अपने-आपसे यह नहीं कहना चाहिये: "ओह, देखो! श्रीअरविन्दने कहा है यह ऐसा है।" वह नहीं कहते कि "यह ऐसा है," वह बताते हैं कि ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि ऐसा है। और वह तुम्हें दिखाते हैं कि इस समस्याको बहुत-से लोगोंने किस रूपमें रखा है और फिर दूसरी बार दिखाते हैं कि उसी समस्याको दूसरे लोगोंने कैसे रखा है; और जब वे (उस समस्याके) सभी दृष्टिकोणोंको स्पष्टताके साथ हमें समझा चुकते हैं, केवल तभी अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। और अतीव मनोरंजक बात तो यह है कि उनका निष्कर्ष हमेशा एक समन्वय होता है: सभी दूसरे दृष्टिकोणोंको उसमें अपना स्थान मिल जाता है बशर्ते कि वे यथोपयुक्त रूपमें ठीक बैठ जायं। वह (निष्कर्ष) किसीको अलग नहीं करता, सब दृष्टिकोणोंको संयुक्त करता है और उनमें समन्वय ला देता है।

परन्तु चूंकि हमारा पाठ हर तीसरे सप्ताह चलता है इसलिये हमें उस सबको (हंसते हुए) भूलनेका समय मिल जाता है जो पहले पढ़ा था! मुझे मालूम नहीं कि तुम प्रश्नको याद कर सकते हो या नहीं जो पूछा गया था? ... नहीं? ...

क्या व्यक्तिगत विकास भी होता है या नहीं होता?... एक वैश्व विकास है (श्रीअरविन्द इसे दिखाते हैं), परन्तु इस वैश्व विकासके अन्दर व्यक्तिगत रूपमें भी विकास होता है या नहीं?... तो अब, उन्होंने हमारे

सामने एक विचार-पद्धति प्रस्तुत की है (जो, स्पष्ट ही, एकदम तर्क-संगत है और एकदम युक्ति-संगत है) पर जिसमें वैयक्तिक विकासको माननेकी कोई आवश्यकता बिलकुल नहीं है। सारा वैश्व समवाय युक्ति-संगत रूपमें ठीक है, और वैयक्तिक विकासकी आवश्यकताको बीचमें लाये बिना ही उसे युक्तियुक्त रूपमें प्रमाणित किया जा सकता है।

परन्तु यदि हम धैर्यके साथ चलते चलें तो थोड़ी देरमें वह हमारे सामने यह प्रमाणित करेंगे कि विश्व-व्याख्याकी इस पद्धतिमें, जिसे हमने लिया है, वैयक्तिक विकासके विचारका होना क्यों और कैसे जरूरी है। परन्तु जो चीज मैं जानना चाहती हूं वह यह है कि यह समस्या तुम्हारे लिये कोई वास्तविकता रखती भी है या नहीं — इसका किसी ऐसी चीजसे मेल है या नहीं जिसे तुम समझते हो? क्या तुमने यह समझ लिया है कि एक ऐसे प्रगतिशील और विकसनशील विश्वकी कल्पना की जा सकती है जिसमें यह जरूरी नहीं कि व्यक्ति व्यक्तिगत रूपसे भी विकास कर रहा हो?...

यह जरूरी है कि मैं तुमसे प्रश्न पूछूं, यह पूछूं कि क्या तुम सबसे पहले, व्यक्तिगत विकास और वैश्व विकासके भेदको समझते हो, और यह कि ये दोनों कैसे आगे बढ़ सकते हैं?

प्रकृति अपने वैश्व विकासकी ओर कैसे बढ़ती है? इसे, मेरा ख्याल है, तुम समझ चुके हो?

व्यक्ति मरता है और फिर पैदा होता है.... भौतिक रूपमें, क्या यह वही बात नहीं है?

हां, मैं बाह्य जगत्‌की, भौतिक जगत्‌की बात कर रही हूं जैसा कि हम उसे देखते हैं।

व्यक्ति मरता है और पैदा होता है......

नहीं, वह और ही चीज है। जो कुछ तुम कह रहे हो — मरना और फिर पैदा होना, फिर मरकर फिर जन्म लेना — वह वैयक्तिक विकास-की प्रक्रिया है बशर्ते कि व्यक्तिकी कोई चीज जीवन और मृत्युमेंसे होती हुई शेष बनी रहती हो, क्योंकि यदि वह सर्वथा, निःशेषतः मर जाय, निःशेषतः विघटित हो जाय तो पुनर्जन्म किसका होगा? यह आवश्यक है कि कोई चीज शेष बनी रहे — पुनर्जन्मोंमेंसे होती हुई शेष बनी रहे

— अन्यथा वह वही व्यक्ति नहीं होगा। यदि कुछ भी शेष न रहे तो विकास करनेवाला व्यक्ति नहीं होगा, प्रकृति होगी। प्रकृति जड़-पदार्थका उपयोग करती है; इस जड़-पदार्थसे वह रूपोंको गढ़ती है (मैं तुम्हें यह अतीव सरल तरीकेसे समझा रही हूं, फिर भी), इसके पास जड़-पदार्थका ढेर है और उससे यह संयोग बनाती रहती है। वह एक रूप बनाती है, वह विकसित होता है, वह विघटित हो जाता है, व्यक्ति-तत्त्वके रूपमें बना नहीं रहता। वह किस कारण बना नहीं रहता? क्योंकि प्रकृतिको फिरसे दूसरे रूपोंको बना सकनेके लिये जड़-पदार्थकी, द्रव्यकी आवश्यकता होती है। तो वह जो बनाती है उसे नष्ट कर देती है और फिर उसीसे कोई दूसरी चीज बनाती है, वह इसी प्रकार जारी रखती है और यह धारा व्यक्तिकी प्रगतिके बिना ही अनिश्चित कालतक जारी रह सकती है: **समूची समष्टि** प्रगति करती है।

मान लो तुम्हारे पास प्लास्टिसीन है (तुम्हें प्लास्टिसीन मालूम है न, जिससे मॉडल बनाये जाते हैं? अच्छा।) तुम एक रूप बनाते हो, जब बना चुकते हो तो वह तुम्हें पसंद नहीं आता, तुम उसे तोड़ देते हो और उसकी फिरसे गाढ़ी लुगदी बनाकर दूसरा रूप बनानेका प्रयास करते हो। तुमने प्रगति की है, तुम प्रयास करते हो, अपने मुताबिक उसे ढालते हो; तुम कहते हो: "यह संतोषजनक नहीं था, मैं फिर कोशिश करता हूं," और तुम्हारा वह रूप पहलेसे कुछ अच्छा बनता है, पर फिर भी वह वैसा नहीं है जैसा तुम चाहते हो; इसलिये तुम उसे फिरसे तोड़ देते हो, थोड़ा पानी डालकर लुगदी बना लेते हो और दूसरा रूप शुरू करते हो। और तुम अनिश्चित कालतक यही कर सकते हो। द्रव्य सर्वदा वही एक होता है, पर अस्तित्व सदा वही एक नहीं होता, क्योंकि तुम्हारे प्रत्येक रूपका, एक रूपके तौरपर, एक विशिष्ट अस्तित्व तो है, पर जिस क्षण तुम उसे तोड़ देते हो फिर वहां कुछ भी शेष नहीं रह जाता।

तुम उस एक ही रूपको पूर्ण बनानेका प्रयास कर सकते हो या फिर दूसरे रूपोंके लिये भी प्रयास कर सकते हो। उदाहरणार्थ, तुम एक कुत्ता या घोड़ा बनानेकी कोशिश कर सकते हो, और यदि तुम सफल नहीं होते तो तुम दूसरा घोड़ा या कुत्ता बनानेकी कोशिश कर सकते हो, परंतु ऐसा भी हो सकता है कि तुम **कोई अलग ही** चीज बनाने लगो। यदि तुम एक घर बनाओ और वह घर यदि तुम्हें पसंद न आये तो तुम उसे तोड़ देते हो और दूसरे ही नमूनेपर दूसरा घर बनाते हो, परंतु पहले घरकी कोई चीज शेष नहीं रहती सिवाय स्मृतिके, यदि तुम उसे बनाये रखना चाहो। इसी प्रकार प्रकृति एकदम निश्चेतन और बिना आकृतिवाले

बेडौल जड़-पदार्थसे शुरू करती है; फिर एक या दूसरा रूप बनानेकी कोशिश करती है; केवल, हमारी तरह एक समयमें एक चीज बनानेके स्थानपर, वह एक साथ लाखों चीजें बनाती है। परंतु यह तो, बस, अनुपातका प्रश्न है, यह इसलिये है क्योंकि प्रकृतिके पास अधिक साधन हैं, बस इतनी ही बात है। पर इसका आवश्यक रूपसे यह मतलब नहीं कि वहां जीवनके तत्त्व या चेतनाके तत्त्व जैसी कोई स्थायी चीज होती है जो रूपमें प्रवेश करती हो और जब रूप तोड़ दिया जाय तो दूसरे रूपमें प्रवेश करनेके लिये शेष बनी रहे। यह बड़ी आसानीसे तुम्हारे और तुम्हारी प्लास्टीसीनके साथ भी हो सकता है: तुम कोई चीज बनाते हो, उसे तोड़ देते हो, फिर-से बनाते हो, और फिर तोड़ देते हो, अनिश्चित कालतक, और कुछ भी शेष नहीं रहता (जैसा कि मैंने कहा) सिवाय जो पहले बनाया था उसकी स्मृतिके। परंतु यदि हम व्यक्तिगत विकासको मान लें, कि वहां कोई चीज है जो स्थायी एवं नित्य है, जो एक रूपसे दूसरे रूपमें जाती है और प्रत्येक नये रूपके साथ एक नयी प्रगति करती है और उच्चतर तथा उच्चतरसे भी उच्चतर रूपोंमें जाने योग्य बनती जाती है जबतक कि वह "कोई चीज" विकासके अंतमें पूर्ण रूपसे सचेतन सत्ता नहीं बन जाती, तो यह इस सत्ता-का वैयक्तिक विकास होगा और यह प्रकृतिके विकासको द्विगुणित और पूर्ण बनानेवाला होगा (यह स्वतंत्र नहीं, उसके साथ-साथ चलेगा), बल्कि अधिक ठीक यह है कि यह सत्ता ही अपने वैयक्तिक विकासके क्षेत्रके तौरपर प्रकृतिके विकासका **उपयोग कर रही होगी** . . .। बात पकड़ रहे हो न? अच्छा!

श्रीअरविन्दने इस समय जिस चीजको हमारे सामने रखा है वह एक ऐसे जगत्‌की व्याख्या है जो बिलकुल युक्तिसंगत और बुद्धिगम्य रूपमें ऐसे किसी व्यक्तिकी आवश्यकताके बिना काम करता रहेगा जो एक रूपसे दूसरे रूपमें जाता है, किसी ऐसी चीजके बिना काम करता रहेगा जो स्थायी हो, समस्त विनाश और मृत्युसे मुक्त हो, जो सब रूपोंमेंसे गुजरती हुई शेष बनी रहती हो और प्रकृतिके विकासके **साथ-साथ** अपनी निजी, व्यक्तिगत प्रगति भी कर रही हो . . .। यह ऐसा है मानों तुम अपने बनाये रूपके बीचमें एक छोटा-सा कीमती पत्थर रख दो और चाहो कि अगले बनाये जानेवाले रूपोंके अंदर भी इसे ऐसे ही ढककर रखा जाय। तो अपने कीमती पत्थर-को तुम एक रूपसे दूसरे रूपमें ले जाते हो (पर अभी यह तुलना अपूर्ण है, क्योंकि कीमती पत्थर जैसे-जैसे एक चीजसे दूसरी चीजमें चलता जाता है अधिकाधिक कीमती बनता जाता है), और यह ऐसा है मानों जब वह एक रूपसे दूसरे रूपमें जाय तो वह अधिकाधिक प्रकाशपूर्ण और शुद्ध आकारमें अधिकाधिक सुस्पष्ट होता जाय।

तो, यह लो। समझे कि नहीं?

कुछ-कुछ।

कुछ-कुछ। आह! यह अपने-आपमें कुछ है!

तो, इसे पूरा करनेके लिये, तुम व्यक्तिगत विकासमें विश्वास करते हो या नहीं? ...क्या तुम्हें इसका कोई अनुभव है? ... और तुम उसका अनुभव किस प्रकार प्राप्त कर सकते हो? ... वह मनोरंजक होगा। व्यक्तिगत विकासको प्रकृतिके सामूहिक विकाससे स्वतंत्र रूपमें कैसे अनुभव किया जा सकता है?

तुम इसका उत्तर दे सकते हो? तुम?

जबतक कोई व्यक्ति अपने अंदर उस तत्त्वसे सचेत नहीं होता जो शाश्वत है, वह कैसे जान सकता है कि...

आह! ठीक, यह ठीक है। यह बहुत अच्छा है, तब बात इस प्रश्नपर लौट आती है कि क्या तुम इस शाश्वत तत्त्वसे सचेतन हो जो तुम्हारी सत्ताके अंदर है?

(मौन)

क्या तुम उसे खोज कर देखनेवाले हो कि वह तुम्हें अपने अंदर मिल सकती है या नहीं?

यह इतना छुपा हुआ क्यों है?

संभवत: केवल इसलिये कि लोग उसकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं देते! यदि उन्होंने द्वारोंको खोलनेका कष्ट उठाया होता तो शायद वे उसे पा जाते...। स्पष्ट ही वह एक भद्रपुरुष है— एक भद्रपुरुष या भद्रमहिला या कुछ और, चाहे जो भी हो — जो आत्म-प्रदर्शन पसंद नहीं करता, उपरितलपर आकर जबर्दस्ती तुम्हारा ध्यान नहीं खींचता। बल्कि संभवत: प्रतीक्षा करता है कि तुम उसकी खोजमें अंदर जाओ? संभवत: वह गृहकी एकदम गहराईमें बहुत प्रशांत रूपमें विराजमान है और हमें एक-एक करके द्वारोंको खोलना होगा।

कम-से-कम मैं तो ऐसा नहीं पाती कि वह छुपा हुआ है। मैं तो देखती हूं वह सब जगह अभिव्यक्त है, सब समय, सब क्षण, सब वस्तुओंमें अभिव्यक्त है।

क्या तुम उसे खोज रहे हो? उसे खोजनेवाले हो?

(ध्यान)

४ दिसम्बर, १९५७

"वास्तवमें हम देखते हैं कि सृष्टिके मूलतत्त्व स्थिर और अपरिवर्तनशील हैं: सत्ताका प्रत्येक प्ररूप अपने रूपमें बना रहता है और अपने स्वसे भिन्न होनेकी न तो चेष्टा करता है, न इसकी कोई आवश्यकता ही है। माना कि सत्ताके कुछ प्ररूप विलुप्त हो जाते हैं और अन्य प्ररूप उत्पन्न होते हैं, किंतु इसका कारण यह है कि विश्वगत 'चित्-शक्ति' विनष्ट होनेवाले प्ररूपोंसे अपने जीवन-आनंदको वापस ले लेती है और अपनी प्रसन्नताके लिये दूसरे रूपोंका सर्जन करने लगती है। परंतु प्रत्येक जीवनके प्ररूपका, जबतक वह रहता है, अपना एक खास प्रकार होता है और उसमें चाहे जो भी छोटे-मोटे परिवर्तन हों, वह अपने उस प्रकारके प्रति सच्चा बना रहता है: वह अपनी ही चेतनासे बंधा रहता है और उससे निकलकर अन्य चेतनामें नहीं जा सकता; अपनी ही प्रकृतिसे सीमित होनेके कारण इन सीमाओंका उल्लंघन करके अन्य-प्रकृतिमें नहीं जा सकता। यदि 'अनंत'की 'चित्-शक्ति'ने 'जड़-तत्त्व'को अभिव्यक्त कर चुकनेके बाद 'जीवन'-को अभिव्यक्त किया और 'जीवन'को अभिव्यक्त कर चुकनेके बाद 'मन'को अभिव्यक्त किया है तो इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि वह अगली पार्थिव सृष्टिके तौरपर अब अतिमानसको अभिव्यक्त करेगी! कारण, 'मन' और 'अतिमन' सर्वथा विभिन्न गोलार्द्धोंसे संबंध रखते हैं, 'मन' 'अज्ञान'की निम्नतर स्थितिकी वस्तु है और 'अतिमन' 'दिव्य ज्ञानकी', उच्चतर स्थितिकी। यह जगत् 'अज्ञान'का जगत् है और इस-

का ऐसा ही बने रहना अभिप्रेत है; उसमें यह अभिप्राय तो नहीं जान पड़ता कि उच्चतर गोलार्द्धकी शक्तियोंको सत्ताके इस निम्नतर गोलार्द्धमें नीचे उतार लाया जाय या उनकी छुपी उपस्थितिको यहां अभिव्यक्त किया जाय। क्योंकि यदि वे शक्तियां यहां विद्यमान हैं भी, तो एक छिपे, अगम्य अंत-र्व्याप्त रूपमें ही हैं, और सृष्टिको केवल बनाये रखनेके लिये हैं। उसे पूर्ण बनानेके लिये नहीं। मनुष्य इस अज्ञानमयी सृष्टिका शिखर है, वह उस चरम चेतना और ज्ञानतक पहुंच चुका है जहांतक यह सृष्टि पहुंच सकती थी: यदि वह और आगे जानेकी कोशिश करता है तो वह केवल अपने-आप मनके ही अधिक विस्तृत चक्रोंमें चक्कर काटता रहेगा। क्योंकि यहां तो उसके अस्तित्वकी चाप यही है, एक सीमित वृत्त जो 'मन' को अपने चक्करोंमें घुमाता रहता है और वह उसी बिंदु-पर वापस लौट आता है जहांसे वह चला था; 'मन' अपने चक्करोंसे बाहर नहीं निकल सकता — ऐसा सब विचार कि गति या प्रगतिकी एक सीधी रेखा है जो असीम रूपमें ऊपर या पार्श्व दिशामें, 'असीम'में जा पहुंचती है, एक भ्रम है। यदि मनुष्यकी आत्माको मानवताके परे जाना हो ताकि वह अति-मानस या उससे भी आगे पहुंच सके तो इसे वैश्व अस्तित्वमेंसे बाहर निकल जाना होगा या तो 'आनंद' और 'ज्ञान'की भूमिका अथवा जगत्में या फिर अनभिव्यक्त 'शाश्वत' और 'असीम'में चले जाना होगा।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८२७-२८)

वस्तुतः, कुछ प्रारंभिक तैयारी कर लेनी चाहिये, प्रत्येक नये अनुच्छेदके विचारको लिख लेना चाहिये और उसे पहलेके विचारके साथ जोड़ना चाहिये, ताकि अध्यायके अंतमें एक पूरा चित्र तुम्हारे सामने उपस्थित हो सके, क्योंकि जो कुछ मैंने अभी पढ़ा है उसमेंसे यदि तुम कोई प्रश्न पूछो तो उसके लिये ऐसे उत्तरकी जरूरत हो सकती है जो कभी-कभी हमने पहले अनुच्छेदमें जो पढ़ा है, उससे लगभग उलटा हो। यह प्रतिपादनका उनका तरीका है। यह ऐसा है मानों श्रीअरविन्द अपने-आपको एक प्रकारके गोलकके केंद्रमें, जैसे पहियेकी धुरीमें, रख रहे हों जिसके कि आरे नेमि या परिधिसे लगे होते हैं। श्रीअरविन्द सदा प्रारंभ-बिंदुपर वापस लौट आते हैं और वहांसे सीधे सतहतक आ जाते हैं और वह हर बार ऐसा करते हैं

जिससे यह छाप पड़ती है कि वह उसी एक चीजको बार-बार दोहराते रहे हैं, परंतु यह केवल विचारकी स्पष्टताके लिये है जिससे तुम उसे समझ सको। यह जरूरी है कि तुम्हें विचारोंकी बहुत स्पष्ट स्मृति हो ताकि जो वह कहते हैं तुम उसे ठीक-ठीक समझ सको।

मैं इसपर जोर इसलिये दे रही हूं कि यदि तुम क्रमसे नहीं बढ़ते तो अध्ययनसे बहुत लाभ नहीं उठा सकोगे, यह तुम्हें एक गोरखधंधेके समान लगेगा जिसमें रास्ता ढूंढ पाना बहुत मुश्किल होता है ...। सब विचार केंद्रमें एक साथ जुड़े हुए हैं और नेमिसे सर्वथा विभिन्न दिशाओंमें चले गये हैं।

क्या तुम्हारे पास इस बार कोई प्रश्न है?... नहीं।

यह कठिन है, है न? मैं पढ़ती हूं और यह बहुत अच्छी तरह देखती हूं कि प्रश्न करना कठिन है, क्योंकि जबतक हम उपपत्तिके अन्ततक न पहुंच जायं हम नहीं जानते कि वह कहां पहुंचना या क्या समझाना चाह रहे हैं; पर साथ ही यह भी ठीक है कि यदि तुम सारा विवरण पढ़ जाओ तो सब बातोंको याद कर सकना असंभव है (जबतक कि किसीको विशेष रूपसे सच्ची और यथार्थ स्मृति प्राप्त न हो)। अन्ततक पहुंचते-पहुंचते तुम यह भूल जाओगे कि शुरूमें क्या आया था। अतः कुछ लिख लेना, संक्षेपमें कुछ लिख लेना हितकर होगा, प्रत्येक अनुच्छेदका सारांश एक या दो प्रमुख विचारोंमें तैयार करके लिख लो ताकि अन्तमें मिलान कर सको।

(मौन)

श्रीअरविन्द यहां कहते हैं कि प्रत्येक जाति अपने जातिगत गुणोंसे, अपनी रचनाके मूल सूत्रोंसे, सन्तुष्ट रहती है, वह नयी जातिमें अपने-आपको रूपान्तरित या परिवर्तित करनेकी चेष्टा नहीं करती। एक कुत्ता कुत्ता बने रहनेसे और एक घोड़ा घोड़ा बने रहनेसे सन्तुष्ट है और कभी भी वह, उदाहरणार्थ, हाथी बननेकी चेष्टा नहीं करता! यहांसे शुरू करके श्रीअरविंद पूछते हैं: क्या मनुष्य भी मनुष्य बने रहनेसे सन्तुष्ट रहेगा या वह मनुष्यसे अतिरिक्त कुछ और बन जानेकी आवश्यकताके प्रति, अर्थात्, अतिमानव बन जानेकी आवश्यकताके प्रति जाग जायगा?

यह है इस अनुच्छेदका सार।

परन्तु जब व्यक्ति इन व्याख्याओंका, विचारशील मनका अभ्यस्त हो और वह इसे पढ़े तो सत्तामें कोई चीज सन्तुष्ट नहीं होती; कहनेका मतलब यह कि यहां जो प्रश्न है वह केवल बाह्यतम रूपका, सत्ताके बाहरी खोलका है, परन्तु इसके विपरीत व्यक्ति अपने अन्दर ऐसी 'कुछ चीज'

महसूस करता है जिसमें उस रूपके परे जानेकी अदम्य प्रवृत्ति है। इसी चीजको श्रीअरविन्द हमें स्पष्टतासे महसूस कराना चाहते हैं।

मैंने ऐसे पालतू पशु देखे हैं जिनमें वे जो कुछ थे उससे भिन्न बन जानेकी सचमुच एक प्रकारकी आन्तरिक आवश्यकता विद्यमान थी। मैंने ऐसे कुत्ते देखे हैं जो इस प्रकारके थे, बिल्लियां देखी हैं जो इस प्रकारकी थीं, घोड़े, यहांतक कि पक्षी भी देखे हैं जो इस प्रकारके थे। बाह्य रूप अवश्य ही वही था जो होता है, परन्तु वहां उन पशुओंके अन्दर कोई ऐसी सजीव और सुव्यक्त चीज थी जो दूसरी अभिव्यक्तिपर, दूसरे रूपपर पहुंचनेका स्पष्ट प्रयत्न कर रही थी। और प्रत्येक मनुष्य जो पशु-मानवकी अवस्थासे ऊपर उठ चुका है और मनुष्य-मानव बन चुका है उसमें इस सर्वथा असंतोषजनक अर्द्ध-पशुसे — जो अपनी अभिव्यक्तिमें और अभिव्यक्ति तथा जीवनके साधनोंमें असन्तोषजनक है — कुछ और बन जानेकी ऐसी आवश्यकता होती है जिसे मैं 'सुधारातीत' आवश्यकता कह सकती हूं। तो समस्या यह है : क्या यह अनिवार्य आवश्यकता अपनी अभीप्सामें इतने पर्याप्त रूपमें प्रभावकारी होगी कि स्वयं रूप या जाति, अपना विकास एवं रूपान्तर साधित कर सके अथवा यह चीज, सत्तामें स्थित यह अनश्वर चेतना, रूपके नष्ट होनेपर उससे बाहर उच्चतर रूपमें प्रविष्ट होनेके लिये चली जायगी, इसके अतिरिक्त वह रूप जैसा कि हम देखते हैं, अभीतक अस्तित्वमें नहीं आया है!

तो, जो समस्या हमारे सामने है वह यह है : यह उच्चतर रूप **कैसे बनेगा**? यदि तुम इस समस्यापर विचार करो तो यह बड़ी रोचक बन जाती है। क्या यह एक प्रक्रियाद्वारा होगा, हमें कल्पना करनी होगी, कि यह रूप ही थोड़ा-थोड़ा करके एक नये आकारको जन्म देनेके लिये रूपान्तरित हो जायगा या किन्हीं दूसरे साधनोंद्वारा, जिन्हें हम अभीतक नहीं जानते, वह नया रूप संसारमें प्रकट होगा?

कहनेका मतलब यह कि क्या एक सातत्य बना रहेगा या अकस्मात् नये रूपका आविर्भाव होगा? हम अभी जो हैं और हमारी आन्तरिक आत्मा जो बनना चाहती है इन दोनोंके बीच एक उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ संक्रम रहेगा या वहां एक व्यवधान होगा, अर्थात्, क्या हमें नये रूपके आविर्भावकी प्रत्याशामें — जिस आविर्भावकी प्रक्रियाका हमें कोई पूर्वानुमान नहीं और जिसका हमारे वर्तमान रूपसे कोई सम्बन्ध नहीं — इस वर्तमान मानव रूपको छोड़ देना पड़ेगा? क्या हम आशा कर सकते हैं कि इस शरीरके लिये ही, जो भौतिक अभिव्यक्तिका वर्तमान साधन है, यह संभव हो जायगा कि वह अपने-आपको किसी ऐसी चीजमें क्रमशः रूपान्तरित

कर ले जो उच्चतर जीवनको अभिव्यक्त करनेकी सामर्थ्य रखता हो या दूसरे रूपमें जानेके लिये, जो पृथ्वीपर अभीतक है ही नहीं, हमें इस रूपको पूरी तरह छोड़ देना जरूरी होगा?

यह है समस्या, और यह बहुत रोचक समस्या है।

यदि तुम इसपर चिन्तन करना चाहो तो वह तुम्हें कुछ अधिक प्रकाश-की ओर ले जायगी।

हम इसपर अभी चिन्तन कर सकते हैं।

(ध्यान)

[इस वार्ताके प्रथम प्रकाशनके समय (६ मार्च, १९६३), श्रीमांने निम्नलिखित टिप्पणी जोड़ी:]

दोनों क्यों नहीं?

दोनों एक ही समय होंगे। एक दूसरेका बहिष्कार नहीं करता।

हां, परंतु क्या एक दूसरेमें रूपांतरित हो जायगा?

एक रूपान्तरित हो जायगा और दूसरेकी मोटी रूपरेखाके समान होगा। और दूसरा, पूर्ण, तब प्रकट होगा जब यह अस्तित्वमें आ जायगा। क्योंकि दोनोंका अपना सौन्दर्य है, अपना अस्तित्व-हेतु है, अतः दोनों होंगे।

मन हमेशा चुनाव करना, निश्चयपर पहुंचना चाहता है — पर चीजें इस प्रकार नहीं हैं। यहांतक कि वह सब, जिसे हम कल्पनामें ला सकते हैं, उससे बहुत कम है जो होगा। सच पूछो तो उन सभीका, जिनमें तीव्र अभीप्सा और आन्तरिक निश्चयता है, इसकी चरितार्थताके लिये आवाहन किया जायगा।

सब जगह, सभी क्षेत्रोंमें, सर्वदा, शाश्वत रूपसे सब कुछ संभव होगा और जो कुछ संभव है वह सब, सब, किसी निश्चित समयपर चरितार्थ होगा — कम-या-अधिक लम्बे नियत समयपर, पर होगा सब।

ठीक ऐसे ही जैसे पशु और मनुष्यके बीच सब प्रकारकी संभावनाएं पायी गयी हैं, जो कि बनी नहीं रहीं, उसी प्रकार वहां भी सब प्रकारकी संभावनाएं होंगी: हर एक अपने ही ढंगसे प्रयत्न करेगा और वह सब मिलकर भावी उपलब्धिको तैयार करनेमें मदद करेगा।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है : क्या मानव जाति कुछ अन्य जातियों-की तरह ही पृथ्वीपरसे लुप्त हो जायगी ?... कुछ जातियां पृथ्वीपरसे लुप्त हो गयी हैं। पर मानवजातिके समान लम्बे समयतक बनी रहनेवाली जातियां नहीं। मेरा ख्याल ऐसा नहीं है; और निश्चय ही वे जातियां तो नहीं ही जिनमें प्रगतिका यह बीज, प्रगतिकी यह संभावना थी। बल्कि लगता तो कुछ ऐसा है कि क्रमविकास ऐसी धाराका अनुसरण करेगा जो अधिकाधिक उच्च जातिके सन्निकट पहुंचती जायगी, और, संभवतः, जो कुछ अभीतक निम्न जातिके बहुत अधिक समीप है वह सब मिट जायगा, जैसे वे जातियां मिट गयीं।

हम सदा यह भूल जाते हैं कि, न केवल सब चीजें संभव हैं — सब चीजें, यहांतक कि अत्यन्त विरोधी भी — बल्कि सब संभव चीजें कम-से-कम एक क्षणका अस्तित्व तो पाती ही हैं।

११ दिसम्बर, १९५७

"आगे चलकर खोजसे यदि यह भी पता चले कि कुछ रासायनिक या दूसरी स्थितियोंमें 'जीवन' प्रकट होता है तो इस संयोगसे केवल इतनी बात स्थापित होगी कि कुछ भौतिक अवस्थाओंमें 'जीवन' रूपायित होता है, न कि यह कि कुछ रासायनिक स्थितियां 'जीवन' की संघटक एवं मौलिक स्थितियां हैं या निष्प्राण 'जड़-तत्त्व' का सप्राण 'जड़-तत्त्व' में परिवर्तन साधनेवाले वैकासिक कारण हैं। अन्य स्थलोंकी तरह यहां भी जीवनका प्रत्येक क्रम अपने-आपमें और अपने द्वारा अस्तित्व रखता है, अपनी ही विशिष्ट ऊर्जाद्वारा एवं अपने ही स्वभावके अनुसार रूपायित हुआ है, इससे ऊपर या नीचेकी श्रेणियां इसकी उद्‌भव या परिणामी शृंखला नहीं हैं, बल्कि पार्थिव प्रकृतिकी अविच्छिन्न सोपान-पद्धतिमें केवल तारतम्यताकी स्थितियां हैं।

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८२९)

मधुर मां, पहला मनुष्य कैसे प्रकट हुआ था ?

श्रीअरविन्द वहां[1] कहते हैं, ठीक यही बात कि यदि हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाएं तो हम देखते हैं कि एकके बाद एक सिद्धान्त आते हैं और उनमें बहुत स्थिरता नहीं होती और ऐसी वस्तुएं होनेकी जगह, जिन्हें प्रमाणित किया जा सकता है, कहीं अधिक एक प्रकारकी क्रमिक कल्पनाओं-से प्रतीत-होते हैं (यदि हम विशुद्ध रूपसे भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाएं)। समझा यह जाता है कि चूंकि यह भौतिकवादी दृष्टिकोण है अतः इसे प्रमाणित करना सबसे आसान है, पर स्पष्ट ही यह सबसे कठिन है। यदि हम गुह्य दृष्टिकोणको लें तो हमें ऐसी परंपराएं मिलती हैं जो संभवतः कतिपय स्मृतियोंपर आधारित हैं, परन्तु, चूंकि यह ज्ञान समस्त भौतिक प्रमाणोंसे ऊपर है, यह वैज्ञानिक कल्पनाओं और ऊहापोहसे कहीं अधिक संदिग्ध माना जाता है। आन्तरिक तर्कके लिये तो इसे समझना और स्वीकार करना आसान है, परन्तु वहां भी भौतिक प्रमाणोंसे अधिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं कि पहला मनुष्य एक था या पहले मनुष्य कई थे या कुछ ऐसी चीज थी जो अभीतक मनुष्य नहीं थी पर फिर भी मनुष्य जैसी थी। ये अनुमानमात्र हैं।

परंपराएं — जो स्वभावतः केवल मौखिक परंपराएं ही हैं और वैज्ञानिक दृष्टिसे सर्वथा विवादास्पद हैं, परन्तु जिनका आधार व्यक्तिगत स्मृतियां हैं — कहती हैं कि पहला मानव या पहले मानव दंपति या पहले मानव व्यक्ति गुह्य पद्धतियोंके अनुसार — कुछ-कुछ वैसी पद्धतियोंके जिसकी पूर्वसूचना श्रीअरविन्दने भावी अतिमानसिक प्रक्रियाके बारेमें दी है — बने थे, अर्थात्, उच्चतर जगतोंसे संबंधित सत्ताओंने, एकाग्रता और भौतिकी-करणकी प्रक्रियाद्वारा अपने लिये भौतिक शरीर बना या गढ़ लिया! ऐसा नहीं हुआ कि निम्नतर जातियोंने उत्तरोत्तर विकसित होकर एक शरीरको उत्पन्न किया जो पहला मानव शरीर बना।

आध्यात्मिक और गुह्य ज्ञानके अनुसार चेतना ही रूपसे पहले आती है, चेतना ही अपनी एकाग्रताके द्वारा अपने रूपका निर्माण करती है; जब कि भौतिकतावादी विचारके अनुसार रूप ही चेतनासे पहले आता है और चेतना-

---

[1] "...वे तथ्य जिनसे विज्ञान व्यवहार करता है यदि विश्वसनीय हैं तो उनपरसे वह जिन सामान्य कारणोंपर दांव लगाता है वे अल्पजीवी होते हैं; वह उन्हें कुछ दशाब्दियों या शताब्दियोंतक पकड़े रहता है, पर फिर दूसरे सामान्यीकरणोंपर, वस्तुओंके सम्बन्धमें दूसरे सिद्धान्तोंपर चला जाता है। यह बात भौतिक विज्ञानतकमें होती है जहां तथ्योंको ठोस रूपमें जांचा जा सकता और परीक्षणोंद्वारा सत्य प्रमाणित किया जा सकता है।"

(वही, पृ० ८२८)

के लिये अभिव्यक्त होना संभव बनाता है। जिन लोगोंको अदृश्य जगतोंका ज्ञान और शक्तियोंकी क्रीड़ाका सीधा अनुभव है उन्हें इसमें कोई सन्देह नहीं : **आवश्यक रूपसे** यह चेतना ही है जो अपनी अभिव्यक्तिके लिये रूपका निर्माण करती है। अब, जिस ढंगसे चीजें पृथ्वीपर चरितार्थ होती हैं उसमें एकदम निश्चित रूपसे उच्च कोटिकी चेतना ही रूपमें प्रवेश करती और उसे रूपांतरित होनेमें सहायता करती है ताकि वह उसे — तुरत या कुछ पीढ़ियोंमें — अभिव्यक्त करनेके योग्य हो जाय ! जिन लोगोंको अंतर्दृष्टि और ज्ञान प्राप्त है उनके लिये इसमें जरा भी संदेह नहीं। यह असंभव है कि इससे उलटा हो। परंतु जो लोग दूसरे सिरेसे, नीचेसे, चीजोंको लेते हैं वे इसे स्वीकार नहीं करते — परंतु, तो भी, यह अज्ञान-का काम नहीं है कि वह ज्ञानको सीख दे ! फिर भी आज वह ठीक यही चीज कर रहा है। जाननेसे सन्देह करना सरल है, मानव मन सब चीजों-पर संदेहका अभ्यस्त है, यह उसकी पहली प्रवृत्ति है, और स्वभावतः इस तरीकेसे वह कुछ भी नहीं जान पाता।

आविर्भाव या अभिव्यक्तिसे पहले उसकी कुछ अवधारणा होती है यह बात एकदम सुनिश्चित है। जिन लोगोंका भूत कालके साथ सीधा संबंध रह चुका है उन्हें मानवके उस मूल आदर्श रूपकी स्मृति है, जो मानव जातिके वर्तमान स्वरूपसे कहीं अधिक उच्च कोटिका था, जो पृथ्वीपर एक उदाहरण प्रस्तुत करने आया था और एक प्रतिज्ञा-रूप था कि मानव-जाति जब अपने चरमोत्कर्षपर पहुंच जायगी तो वह कैसी होगी।

(मौन)

जीवनमें नकल करनेकी एक प्रवृत्ति, "किसी चीज" का अनुकरण करने-का एक प्रकारका प्रयत्न पाया जाता है। इसके अत्यन्त विस्मयकारी उदा-हरण हमें पशु-जीवनमें मिलते हैं — बल्कि यह चीज पहले ही, वनस्पति-जीवनसे ही आरंभ हो जाती है। परंतु पशु-जीवनमें वह बहुत ध्यान खींचती है। इसके अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। तो, उस रूपमें, पशु-जीवनके एक प्रकारके प्रयत्नकी, पृथ्वीपर गुह्य साधनोंद्वारा जो आदर्श रूप अभिव्यक्त होना था, उसके लिये चेष्टा करने एवं उसका प्रतिरूप बनने, उसकी नकल करने, उसका समरूप तैयार करनेके उनके प्रयत्नोंकी भली-भांति कल्पना की जा सकती है। और ऐसी सतत कोशिशोंके तथा अधि-काधिक सफल प्रयत्नोंके द्वारा ही पहले मानव रूप निर्मित हुए होंगे।

१८ दिसम्बर, १९५७

'दिव्य जीवन'मेंसे एक अनुच्छेद पढ़नेके बाद।

जिस एकमात्र सचमुच महत्त्वपूर्ण चीजकी आधुनिक विज्ञानने खोज की है वह यह है, विशुद्ध बाह्य और भौतिक दृष्किोणसे चीजें वैसी नहीं हैं जैसी प्रतीत होती हैं। जब तुम किसी शरीरको, किसी मनुष्य या पदार्थ या भूदृश्यको देखते हो तो तुम इन चीजोंका बोध आंख, स्पर्श और श्रवणकी सहायतासे प्राप्त करते हो और इनकी विशद जानकारी गन्ध एवं स्वादके द्वारा; हां तो, विज्ञान तुम्हें बताता है : "यह सब भ्रम है, तुम चीजोंको उस तरह बिलकुल नहीं देखते जैसे कि वे हैं", तुम उनका स्पर्श उस रूपमें नहीं पाते जैसी वे वास्तवमें हैं, उस रूपमें उन्हें अनुभव नहीं करते जैसी वे हैं, उनका स्वाद उस रूपमें प्राप्त नहीं करते जैसा कि वह है। तुम्हारे अंगोंकी रचना ऐसी है जो तुम्हें इन चीजोंके संपर्कमें खास ढंगसे लाती है और वह ढंग एकदम ऊपरी, बाह्य, भ्रामक और अवास्तविक होता है।"

विज्ञानकी दृष्टिसे तुम — अणुओंके नहीं — किसी ऐसी चीजके समूह हो जो अणुसे भी असीम रूपमें अतीन्द्रिय है और सदा गतिशील रहती है। ऐसी कोई चीज नहीं है जो किसी चेहरेसे, किसी नाक, आंख या मुंहसे मेल खाती हो, यह केवल बस, एक प्रतीति है। और वैज्ञानिक इस निष्कर्षपर पहुंचे हैं — उसीपर जिसपर प्राचीन निर्बन्ध अध्यात्मवेत्ता पहुंचे थे — कि संसार एक भ्रम है। यह एक बड़ी भारी खोज है, बहुत बड़ी... एक कदम और, और वे सत्यमें प्रवेश पा जायेंगे। तो, जब कोई आकर मुझसे कहता है : "मैं इसे **देखता, छूता, अनुभव करता** हूं, मैं इसके बारेमें सुनिश्चित हूं," तो वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे यह एक मूर्खता है। ऐसी बात वही कह सकता है जिसने वस्तुओंका कभी वैज्ञानिक ढंगसे, जैसी वे हैं उस रूपमें, अध्ययन नहीं किया। इस प्रकार बिलकुल विरोधी रास्तेसे वे उसी परिणामपर पहुंचे हैं : जगत्, जिस रूपमें तुम उसे देखते हो, एक भ्रम है।

अब, वह सत्य क्या है जो इसके पीछे है ? ... जिन लोगोंने आध्यात्मिक ज्ञानकी खोज की है, वे कहते हैं : "हमें इसका अनुभव है," परन्तु स्वभावतः यह विशुद्ध रूपसे उनका आत्मनिष्ठ अनुभव है, अभीतक ऐसा कोई आधार नहीं जिसके अनुसार पूरी तरह यह कहा जा सके कि यह अनुभव

हर एकके लिये निर्विवाद रूपसे सत्य है। प्रत्येक व्यक्तिका अनुभव उसके लिये निर्विवाद रूपसे सत्य होता है। परन्तु यदि तुम उससे कुछ आगे बढ़ते हो...।

वस्तुतः किसी अनुभव या अन्वेषणका महत्त्व उस शक्तिके द्वारा जाना जा सकता है जो वह हमें प्रदान करता है: इन बाह्य रूपोंको, वस्तुओं, परिस्थितियों और संसारको उस अनुभवमेंसे अभिव्यक्त संकल्पके अनुरूप चीजमें परिवर्तित एवं रूपांतरित करनेकी शक्ति। मुझे लगता है कि किसी वैयक्तिक या सामूहिक अनुभवकी यथार्थताका सबसे व्यापक प्रमाण यह होगा कि उसमें वस्तुओंको — इन दीखती वस्तुओंको ही हम संसार कहते हैं — जैसी वे अब हैं उससे भिन्न रूप देनेकी शक्ति हो। आत्मनिष्ठ दृष्टिकोणसे अनुभवका व्यक्तिगत चेतनापर जो प्रभाव पड़ता है वही उसका सुनिश्चित प्रमाण है: जिसने परमानन्दको, परम शांति, नित्य सुख और वस्तुविषयक गहन ज्ञानको पा लिया है उसे प्रमाण कहीं अधिक मिल चुका है। बाह्य रूपपर अनुभवका कैसा प्रभाव पड़ेगा यह अनुभवके अतिरिक्त और भी बहुत सारी चीजोंपर निर्भर है (संभवतः उन अनुभवोंके प्रथम कारणपर निर्भर है), पर इस सबमें **एक** चीज है जो ऐसा प्रमाण प्रतीत होती है जिसे दूसरे लोग और साथ ही वह स्वयं भी जिसे अनुभव हुआ है, सहज ही स्वीकार कर सकते हैं और वह है दूसरे लोगों और वस्तुओंपर (जो सामान्य चेतनाके लिये "वस्तुनिष्ठ" हैं उनपर) अधिकार-शक्ति। उदाहरणार्थ, यदि वह व्यक्ति, जिसने चेतनाकी उस स्थितिको पा लिया है जिसकी मैंने चर्चा की है, उसे दूसरोंतक पहुंचानेकी शक्ति-सामर्थ्य रखता है तो वह आंशिक रूपसे (केवल आंशिक रूपसे ही) उसके अनुभवकी वास्तविकताका प्रमाण होगी; परंतु यदि, इससे आगे बढ़कर, चेतनाकी जिस स्थितिमें वह है उसे यदि वह इस बाह्य जगत्में भी ला सके — उदाहरणार्थ, यदि वह पूर्ण समस्वरताकी स्थितिमें है तो उस समस्वरताको इस प्रत्यक्षतः असमस्वर जगत्में ला सके — तो, मैं समझती हूं, वह ऐसा प्रमाण होगा जिसे बहुत सरलतासे स्वीकार किया जा सकेगा, यहांतक कि जड़वादी, वैज्ञानिक मनोभाववाले व्यक्ति भी उसे स्वीकार कर सकेंगे। यदि इन आभासी रूपोंको किसी ऐसी चीजमें परिवर्तित किया जा सके जो इस जगत्से, जिसमें हम आजकल रहते हैं अधिक सुन्दर, अधिक सामंजस्यपूर्ण और अधिक आनन्दपूर्ण हो तो संभवतः वह एक ऐसा प्रमाण होगा जिससे इंकार नहीं किया जा सकेगा। यदि हम इस बातको कुछ और भी आगे बढ़ायें, यदि, जैसा कि श्रीअरविंद हमें विश्वास दिलाते हैं, अतिमानसिक शक्ति, चेतना व ज्योति इस जगत्को

परिवर्तित कर एक नयी जाति उत्पन्न कर दे तो जैसे बन्दर और पशु मनुष्य-के अस्तित्वसे इंकार नहीं कर सके (यदि वे बोलनेवाले होते), ऐसे ही मनुष्य भी इन नये प्राणियोंके अस्तित्वसे इंकार नहीं कर सकेगा — बशर्ते कि वे मानवजातिसे पर्याप्त रूपमें भिन्न हों, ताकि वह भेद मनुष्यके इन भ्रांतिजनक अंगोंसे भी स्पष्ट देखा जा सके।

इन तर्कोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि (अतिमानसिक अभिव्यक्तिका) सबसे सुनिश्चित और स्पष्ट पहलू और वह एक जो संभवतः सबसे पहले प्रकाशमें आयगा (संभवतः), वह 'आनन्द' और 'सत्य'की अपेक्षा 'शक्ति'का पहलू अधिक होगा। क्योंकि नयी जातिके पृथ्वीपर स्थापित हो सकने और जीवित रह सकनेके लिये यह जरूरी होगा कि पृथ्वीके अन्य तत्त्वोंसे उसकी रक्षा की जाय, और शक्ति ही सुरक्षा है — कृत्रिम, बाह्य और झूठी शक्ति नहीं, बल्कि सच्चा 'बल', जयशाली 'संकल्प'। तो यह मानना असंभव नहीं है कि अतिमानसिक क्रिया सामंजस्य, ज्योति, आनन्द और सौंदर्यकी क्रिया होनेसे भी पहले शक्तिकी एक क्रिया होगी, ताकि वह सुरक्षाका काम कर सके। स्वभावतः, शक्तिकी इस क्रियाको सचमुच प्रभावकारी हो सकने-के लिये 'ज्ञान', 'सत्य', 'प्रेम' और 'सामंजस्य'पर आधारित होना चाहिये; परंतु ये चीजें भी तभी अभिव्यक्त हो सकेंगी — दृश्य रूपमें, थोड़ी-थोड़ी करके अभिव्यक्त होंगी — जब, यूं कहा जा सकता है, कि आधार सर्वसमर्थ संकल्प एवं शक्तिकी क्रियाद्वारा तैयार हो चुकेगा।

परन्तु न्यूनतम रूपमें भी इनमेंसे किसी चीजके संभव हो सकनेके लिये सबसे पहले **पूर्ण** संतुलनका एक आधार होना जरूरी है, ऐसा संतुलन जो अहंके अत्यंताभाव, परम पुरुषके प्रति पूर्ण समर्पण तथा पूर्ण पवित्रताकी : परम पुरुषके साथ स्थापित तादात्म्यकी देन है। इस पूर्ण संतुलनके आधारके बिना अतिमानसिक शक्ति बहुत खतरनाक होती है, तुम्हें **किसी भी सूरतमें** उसे खोजना या अपनी ओर खींचना नहीं चाहिये, क्योंकि उसकी अत्यल्प मात्रा भी इतनी शक्तिशाली एवं भीषण होती है कि वह पूरी सत्ताके संतुलनको बिगाड़ सकती है।

इस बारेमें जब मैं तुमसे बात कर ही रही हूं तो मैं तुम्हें एक चीजकी सलाह देना चाहती हूं। अपनी प्रगतिकी इच्छा तथा उपलब्धिकी अभीप्सामें इसका ध्यान रखो कि कभी शक्तियोंको अपनी ओर मत खींचो। अपने-आपको दे दो, निरंतर आत्म-विस्मृतिद्वारा जितनी निःस्वार्थता तुम प्राप्त कर सकते हो उतने निःस्वार्थ-भावसे अपने-आपको खोलो, अपनी ग्रहणशीलताको जितना अधिक हो सके बढ़ाओ, परन्तु 'शक्ति'को अपनी ओर खींचनेकी **कभी** कोशिश **मत** करो, क्योंकि खींचनेकी इच्छा करना ही एक

खतरनाक अहंकार है। तुम अभीप्सा कर सकते हो, अपने-आपको खोल सकते हो, अपने-आपको दे सकते हो, पर लेनेकी इच्छा कभी मत करो। जब कुछ बिगड़ जाता है तो लोग 'शक्ति'को दोष देते हैं, पर इसके लिये उत्तरदायी शक्ति नहीं है; यह पात्रकी महत्त्वाकांक्षा, अहंकार, अज्ञान और दुर्बलता है जो उत्तरदायी है।

उदारता एवं पूर्ण निःस्वार्थताके साथ अपने-आपको दे दो और अधिक गहरे अर्थोंमें तुम्हारे साथ कभी कुछ बुरा नहीं होगा। लेनेकी कोशिश करो और तुम खाईके मुंहपर होगे।

प्रश्न और उत्तर

१९५८

१ जनवरी, १९५८

> **हे पार्थिव माता, प्रकृति, तूने कहा है कि तू सहयोग देगी, और तेरे इस सहयोगकी श्री-शोभा और महिमाका कोई ओर-छोर नहीं।**
>
> (१ जनवरी, १९५८ का सन्देश)

मधुर मां, क्या आप इस सालके संदेशको समझायेंगी?

इसका स्पष्टीकरण किया जा चुका है! यह लिखा जा चुका है, २१ फरवरी-के बुलेटिनमें छपनेके लिये तैयार है।

इसमें समझानेकी बात कुछ नहीं है। यह तो एक अनुभूति है, कुछ ऐसी बात जो घटी थी और जब घटी तभी मैंने उसे लिख लिया था। संयोगकी बात है कि यह ठीक उसी समय हुआ जब मुझे याद आया कि इस सालके लिये मुझे कुछ लिखना है (जो उस समय आनेवाला नया साल था जिसका आज पहला दिन है)। जब मुझे ख्याल आया कि मुझे कुछ लिखना था — लिखनेके लिये नहीं, बल्कि साथ-ही-साथ — यह अनुभूति भी आयी, और जब मैंने इसे लिख डाला तब एहसास हुआ कि... यह तो इसी वर्षके लिये संदेश है।

(मौन)

निम्न लेखांश २१ फरवरी, १९५८ के बुलेटिनमें दी गयी व्याख्या है:

(३० अक्तूबर, १९५७ की) अपनी एक क्लासमें मैंने प्रकृतिकी, अव्यय सिरजनहारी प्रकृतिकी, अपार प्रचुरताका जिक्र किया था जो सदा नये-नये समवायोंके लिये आकारोंके पूरे समूहको मिलाती है, फिर अलग करती है, दुबारा गढ़ती है, उन्हें बनाती है, बिगाड़ती है और नष्ट कर देती है। मैंने बताया था कि यह एक बहुत बड़ा कड़ाहा है। तुम इसे चलाओ तो कुछ-न-कुछ निकल आयगा। यदि वह ठीक न हो तो उसे उसीमें फेंक दो और कोई दूसरी चीज निकाल लो। उसके लिये एक या दो या सौ रूपोंका कुछ महत्त्व नहीं है, वहां तो हजारों, लाखों रूप हैं और साल? साल

तो सैकड़ों, हजारों, लाखों — बेहिसाब हैं, उनका कोई महत्त्व नहीं, अनन्त काल है उसके सामने। स्पष्ट ही उसे इसमें मजा आता है, और उसे कोई उतावली नहीं। यदि तुम उसे चटपट कुछ कर डालनेको कहो तो हमेशा उसका एक ही जवाब होता है : "पर किसलिये ऐसा करूं ? आखिर क्यों ? क्या तुम्हें इसमें मजा नहीं आता ?"

जिस शाम मैंने तुम्हें ये बातें बतायी थीं उसी शाम प्रकृतिके साथ मैंने अपना सर्वतः तादात्म्य किया था, उसकी लीलाके भीतर पैठ गयी थी। तादात्म्यकी इस क्रियाको प्रत्युत्तर मिला, — प्रकृति और मेरे बीच एक नयी प्रगाढ़ आन्तरिकता पनपी, पास, और अधिक पास आते जानेकी एक दीर्घ प्रक्रिया — और इसकी चरम पराकाष्ठा आयी ८ नवम्बरकी अनुभूतिमें।

एकाएक प्रकृतिको बोध हुआ। उसने समझ लिया कि जिस नयी चेतनाका जन्म हुआ है वह मुझे उठा फेंकनेपर उतारू नहीं, बल्कि अपनी भुजाओंमें भर लेनेको आतुर है। उसने समझ लिया कि यह नयी आध्यात्मिकता जीवनसे कन्नी नहीं काटती, उसकी गतिके दृढ़ विस्तारके सामने भयसे मैदान नहीं छोड़ती, इसके विपरीत, उसके सब पहलुओंको एक साथ लेकर चलना चाहती है। उसकी समझमें आ गया कि अतिमानसिक चेतना उसे घटानेके लिये नहीं, पूर्ण बनानेके लिये उतरी है।

और तब, परम सत्से आदेश आया, "उठ, आंखें खोल, हे प्रकृति, सहयोगका आनन्द तेरे सामने है।" और अचानक सारी प्रकृति आनन्दसे पुलकित हो उछल पड़ी और बोली, "मुझे स्वीकार है। मैं साथ दूंगी।" और उसके साथ-ही-साथ आयी शान्ति और पूर्ण निस्तब्धता, ताकि देहका यह आधार, प्रकृतिके आनन्दकी इस प्रबल बाढ़को जो मानों कृतज्ञताका अनवरत प्रवाह थी, कुछ तोड़े बिना, कुछ खोये बिना ग्रहण कर सके, अपनेमें समेट सके। उसने स्वीकारा, अनन्त कालमें दूरतक निहारा कि यह अतिमानसिक चेतना उसे अधिक पूर्ण रूपसे संसिद्ध करेगी, उसकी गतिको अधिक शक्ति प्रदान करेगी, उसकी लीलामें नये आयाम और नयी संभावनाएं जोड़ देगी।

और अचानक ही मैंने सुने धरतीके हर कोनेसे आते हुए वे महागान जो हम कभी-कभी सूक्ष्म-भौतिक जगत्में सुनते हैं। कुछ-कुछ बीथोवेनकी संगीत-रचनाके समान थे वे। ऐसी तान जो प्रगति-अभियानके समय ही बजायी जाती है। लगा मानों प्रकृति और आत्माके इस नये संगमके आनन्दको, चिर बिछुड़े दो पुराने बंधुओंके पुनर्मिलनके हर्षको व्यक्त करनेके लिये, एक भी सुर भंग किये बिना पचासों आर्केस्ट्रा एक साथ बज उठे हों।

तब फूट पड़े ये शब्द . "ओ पार्थिव माता, प्रकृति, तूने कहा है कि तू सहयोग देगी और इस सहयोगकी श्री-शोभा और महिमाका कोई ओर-छोर नहीं ।"

और इस श्री-शोभासे फूटता उल्लास पूर्ण शान्तिमें अनुभूत हुआ।

और इस तरह हुआ इस नये वर्षके संदेशका उद्भव।

पहली जनवरी, १९५८ की वार्ता जारी रहती है।

मैं तुमसे एक बात कहना चाहूंगी : इस अनुभूतिका गलत अर्थ मत लगाना, यह कल्पना मत कर बैठना कि बस अब सब कुछ बिना किसी कठिनाईके, और हमारी निजी इच्छाओंके अनुरूप संपन्न होगा। यह इस लोककी बात नहीं है। इसका यह मतलब नहीं है कि जब हम वर्षा न चाहें तो वह नहीं बरसेगी ! हम दुनियामें कोई घटना घटते देखना चाहें तो वह तुरन्त घट जायेगी; सारी-की-सारी कठिनाइयां बिला जायेंगी, सब कुछ परी-कथाओं जैसा होगा। नहीं, ऐसा नहीं है। इससे कहीं गहन बात है। जो नयी शक्ति अभिव्यक्त हो चुकी उसे प्रकृतिने अपनी शक्तियोंकी क्रीड़ामें स्वीकार कर लिया है, अपनी क्रियाओंमें इसे शामिल भी कर लिया है। और जैसा होता है, प्रकृतिकी गतियां और प्रयास ऐसे पैमानेपर होते हैं जो मनुष्यके मापदण्डसे अनन्त गुना बड़ा होता है और साधारण मानव चेतनाकी दृष्टिमें नहीं समाता। यह एक आंतरिक मनोवैज्ञानिक संभावना है जो धरापर उतरी है, धरतीके घटना-क्रमका कौतुकमय परिवर्तन नहीं है।

मैं यह इसलिये बताये दे रही हूं कि कहीं लोग यह माननेको न ललचा उठें कि धरतीपर परी-कथाएं सत्य होने जा रही हैं। अभी उसका समय नहीं आया।

(मौन)

चीजें कैसे घटती हैं यह जाननेके लिये चाहिये अतुल धैर्य, अति विशाल एवं व्यापक दृष्टि।

(मौन)

जो चमत्कार होते हैं उन्हें शब्दशः चमत्कार इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे उस तरह नहीं घटते जैसे किस्से-कहानियोंमें हुआ करते

हैं। वे चीजोंको देखनेकी बहुत गभीर दृष्टिको ही दिखायी देते हैं —अति गभीर, बहु-विस्तीर्ण, अपार दृष्टिको।

(मौन)

भागवत कृपाकी क्रियाको पहचाननेके लिये पहले उसकी विधियों और उपकरणोंका अनुसरण कर सकना आना चाहिये। वस्तुओंके गहनतर सत्यको देखनेके लिये आभासोंसे ही अन्धे न बन जानेकी शक्ति होनी चाहिये।

आओ, आजकी शाम हम यह सार्थक संकल्प लें: इस वर्ष भरसक अच्छे-से-अच्छा करनेकी चेष्टा करें जिससे समय बेकार न गुजर जाय।

८ जनवरी, १९५८

'दिव्य जीवन'से एक अनुच्छेद पढ़नेके बाद।

हमने निश्चय किया है हम एक-एक अनुच्छेद पढ़ेंगे ताकि हम विस्तृत व्याख्यामें गहरे पैठ सकें। पर इस ढंगसे पढ़नेमें एक असुविधा भी है। जैसा कि मैं पहले भी कह चुकी हूं, श्रीअरविन्द सभी मतोंको, उनके सब युक्ति-तर्कोंको साथ लेते हैं और सविस्तार खोलकर रख देते हैं, जिससे कि वे समस्याको हल करनेमें उनकी अक्षमता और खामियोंको दरशा सकें और उसका ठीक-ठीक समाधान सुझा सकें; पर (हंसती हुई) जब हम एक तर्क-वितर्कके बीचमें ही रुक जाते हैं और एक ही अनुच्छेद पढ़ते हैं, दलीलके अन्ततक नहीं पहुंचते तो संभव है कि हम बड़े इतमीनानसे कल्पना कर बैठें या विश्वास कर लें कि यह उनका अपना मत है।

सचमुच, ऐसे भी सिद्धांतशून्य व्यक्ति हैं जिन्होंने यह किया है। जब उन्होंने यह प्रमाणित करना चाहा कि उनके मत ठीक हैं तो उन्होंने अपने मतके समर्थनमें श्रीअरविन्दके अनुच्छेदोंको उद्धृत कर दिया, पर यह नहीं बताया कि उनके आगे-पीछे क्या है। उन्होंने कहा: "देखिये, 'दिव्य जीवन' में श्रीअरविन्दने ऐसा लिखा है . . .।" उन्होंने ऐसा लिखा है, पर इसका यह मतलब नहीं कि देखनेका यह तरीका उनका अपना था। अब हमारे सामने भी वही कठिनाई है। मैं दो अध्यायोंसे गुजरी हूं, जीवन, क्रम-विकास,

अस्तित्वका अभिप्राय (या अस्तित्वके अभिप्रायके अभाव) के बारेमें आधुनिक मतोंमेंसे एक मतका प्रमाण बारीकीसे पढ़ रही थी और श्रीअरविन्दने उसे बड़े निश्चयात्मक ढंगसे... प्रस्तुत किया है मानों यह उनका अपना मत और देखनेका ढंग हो। जब हम बीचमें ही रुक जाते हैं तो बेकल हो उठते हैं, लगने लगता है: "यह वह नहीं है जो उन्होंने हमें बताया था! यह कैसे हो सकता है कि अब वे ऐसे मतका प्रतिपादन कर रहे हैं?"... यह बड़ी दिक्कत पैदा करता है। लेकिन यदि मैं पूरी-की-पूरी दलील पढ़ने लगूं तो जब हम अंतिम कड़ीतक पहुंचेंगे तबतक तुम आरंभ भूल चुके होगे और कुछ न समझ पाओगे! अतः सर्वोत्तम बात यही है कि हम एक-एक अनुच्छेद पढ़ें और यह समझनेकी चेष्टा करते हुए कि वे क्या कहना चाहते हैं धीरे-धीरे आगे बढ़ें। लेकिन यह कल्पना मत पाल बैठना कि वे इसीको सत्य प्रमाणित करना चाहते हैं। वे केवल मतोंका और उनका समर्थन करनेवाली सभी बातोंका विशद विवरण देते हैं, यह नहीं कहते कि देखनेका सर्वश्रेष्ठ तरीका यही है।

वस्तुतः तुम्हें इस पढ़ाईको एक ऐसा सुअवसर समझना चाहिये जो तुम्हें दार्शनिक मनको विकसित करनेकी, चिंतनको युक्ति-युक्त क्रमसे सजानेकी योग्यता व तर्कको ठोस आधारपर प्रतिष्ठित करनेकी क्षमता देगा। इसे मांसपेशियोंको विकसित करनेके लिये डम्बल-व्यायामकी तरह समझना चाहिये: ये हैं मस्तिष्कको विकसित करनेवाले डम्बल-व्यायाम। पर हां, कोई निष्कर्ष निकालनेकी उतावली नहीं करनी चाहिये। यदि हम धीरजसे प्रतीक्षा कर सकें तो परिच्छेदके अंतमें अकाट्य तर्कके ठोस आधारपर हमें वे दिखायेंगे कि वे जिस निष्कर्षपर पहुंचे हैं, उसपर क्यों पहुंचे हैं।

इसमें कुछ ऐसी बात है जिसपर प्रश्न उठता हो...।

मां, इस पुस्तकसे संबंधित नहीं।

कुछ और? क्या है वह?

मां, कभी-कभी सहसा कुछ विचार आ जाते हैं। कहांसे आते हैं वे और किस तरह मस्तिष्कमें काम करते हैं?

कहांसे आते हैं? — मनके वातावरणसे।

क्यों आते हैं?... हो सकता है कि उनसे तुम्हारी भेंट वैसी हो जैसे आम चौराहेपर किसी राहगीरसे। ज्यादातर ऐसा ही होता है। तुम

अपने-आपको उस राहपर पाते हो जहां विचार मंडराते हैं। तुम्हारी मुठभेड़ उस विचारसे होती है और वह तुम्हारे सिरमें घुस आता है। स्वाभाविक है कि जिन्हें एकाग्र होने, ध्यान करनेका अभ्यास है और जिनके लिये बौद्धिक समस्याएं एक ठोस और मूर्त अस्तित्व रखती हैं, वे अपने मनकी एकाग्रताके कारण सहधर्मी विचारोंको आकर्षित करते हैं और तब वे "विचारोंकी एक टोली" रचते हैं जिसे वे इस तरह सुव्यवस्थित करते हैं कि अपने सामने आयी समस्याका हल निकाल सकें या अपने सामने आये हुए प्रश्नोंपर प्रकाश डाल सकें। पर इसके लिये चाहिये मनकी एकाग्रताका अभ्यास और वह दार्शनिक मन जिसके बारेमें मैं तुम्हें बता रही थी कि उसके लिये विचारोंका एक जीवन्त अस्तित्व है, उनका अपना स्वतंत्र जीवन है और जिन्हें सिलसिलेवार मनकी बिसातपर शतरंजके मोहरोंकी तरह सजाना है : तुम उन्हें उठाते हो, खिसकाते हो, चाल बदलते हो, फिरसे रखते हो, सुव्यवस्थित करते हो, इन विचारोंकी एक सुसंगत इकाई गढ़ते हो। इनकी अपनी व्यक्तिगत, स्वतंत्र सत्ताएं होती हैं जिनका आपसमें लगाव होता है। ये अपने आंतरिक धर्मके अनुसार संगठित होते हैं। पर इसके लिये तुममें होना चाहिये चिंतन, मनन, विश्लेषण, निगमन और मनको सुव्यवस्थित करनेका अभ्यास। नहीं तो, यदि कोई "ढीला-ढाला" रहे और जो कुछ भी सामने आये उसीके अनुसार जीवन बिताये तो वह एक खुला बाजार होगा : उसमें रास्ते हैं, रास्तेपर चलनेवाले हैं और तुम अपने-आपको पाते हो एक चौराहेपर, वहां कोई विचार तुम्हारे सिरमेंसे गुजर जाता है, यहांतक कि कभी-कभी तो एकदम असंबद्ध विचार आते हैं, यहांतक कि मनमें जो धमा-चौकड़ी मचती है उस सबको यदि लिख लिया जाय तो लगेगा कि अच्छी अण्डबण्ड है!

एक बार हमने कहा था कि हम एक छोटा-सा खेल कर सकते हैं, यह उपयोगी होगा — हठात् किसीसे पूछ बैठो : "तुम क्या सोच रहे हो?" तुम देखोगे कि बहुत थोड़े होंगे जो साफ-साफ कह सकें कि मैं अमुक बातके बारेमें सोच रहा था। यदि कोई तुम्हें ठीक-ठीक जवाब दे सके तो समझो कि वह विचारशील व्यक्ति है। आम तौरपर सहज उत्तर होता है : "ओह, मुझे मालूम नहीं।"

उदाहरणके लिये : तुम्हें तो पता है कि जिन्होंने सुव्यवस्थित और संगठित रूपमें शारीरिक व्यायाम किया है वे जानते हैं कि एक खास क्रियाके लिये कौन-कौन-सी मांसपेशियोंको काममें लाना होता है, उन मांसपेशियोंको गति देनेके लिये कौन-सा तरीका बेहतर होता है और कम-से-कम शक्तिको खोते हुए अधिक-से-अधिक फल मिल सकता है। अस्तु, विचारोंपर भी यही

बात लागू होती है। जब तुम विधिवत् प्रशिक्षण पाते हो तो ऐसा समय आता है जब तुम तर्क-मालाका इस तरह निष्पक्ष अनुसरण कर सकते हो जैसे रजत पटपर छायाचित्र प्रक्षेपण — तुम एक-दूसरेसे शुरू होनेवाले विचार-के तार्किक निगमनका अनुसरण कर सकोगे और आदिसे अंतिम निष्कर्षतक, कम-से-कम समयमें उसकी स्वाभाविक, तर्कसंगत व्यवस्थित गतिसे आगे बढ़ सकोगे। एक बार यदि यह करनेकी आदत हो जाय, जैसे कि एक निश्चित फल पानेके लिये मांसपेशियोंको चलाने-घुमानेकी आदत होती है, तो तुम्हारे विचार सुस्पष्ट होंगे। नहीं तो विचारोंकी गतियां, बौद्धिक गतियां धुंधली, अयथार्थ और डांवाडोल होती हैं। एकाएक कोई चीज उमड़ती है, पता नहीं क्यों, फिर दूसरी चीज घुसती है पहलीका खण्डन करनेके लिये, इसका भी कुछ पता नहीं होता कि क्यों। और यदि तुम इन्हें ठीक-ठीक सजाने-संवारनेकी चेष्टा करो, ताकि यह जान सको कि इन विचारोंका आपसी सम्बन्ध क्या है तो शुरू-शुरूमें कुछ बार ऐसा करनेका प्रयास करते हुए तुम अच्छा-खासा सिरदर्द मोल ले लोगे। तुम्हें लगेगा कि तुम किसी अछूते गहन वनमें राह पानेके लिये कोशिश कर रहे हो।

परिकल्पनात्मक मनको विकासके लिये अनुशासनकी आवश्यकता होती है। यदि तुम उसपर विधिवत् अनुशासन नहीं रखते तो हमेशा बादलोंमें डोलते रहोगे। अधिकतर लोग जरा भी परेशान हुए बिना अपने मनमें अत्यधिक विरोधी विचारोंको पोसते रहते हैं।

जबतक तुम अपने मनको व्यवस्थित करनेकी चेष्टा नहीं करते तबतक कम-से-कम अपने चिन्तनपर नियंत्रण न कर पानेका खतरा तो मोल लेते ही हो। बहुधा तुम अपने विचारोंका मूल्य तभी जान पाते हो जब वे कर्मतक उतर आयें। और अगर कर्मक्षेत्रतक नहीं तो कम-से-कम भावनातक तो निश्चय ही आ जायं। हठात् तुम महसूस करते हो कि तुममें ऐसी कुछ भावनाएं हैं जो बहुत वांछनीय नहीं हैं। तब तुम्हें अनु-भव होता है कि तुमने अपने सोचने-विचारनेपर जरा भी लगाम नहीं लगायी।

मधुर मां, लोगोंमें बुरे विचार क्या इसलिये उठते हैं कि उन-का अपने मनपर कोई वश नहीं होता?

बुरे विचार?... इसके कई कारण हो सकते हैं। वास्तवमें, इसके बहुत सारे कारण हैं। बुरे स्वभावके कारण भी ऐसा हो सकता है। यदि

उनमें कलुषित भावनाएं हों तो ये कलुषित भावनाएं मलिन विचारोंका कारण बन सकती हैं। इसका उलटा भी हो सकता है। शायद वे एक खुले मैदानकी तरह हैं जहां तरह-तरहके सुझाव बेरोक-टोक बाहरसे घुस आते हैं और, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, ये सुझाव उनमें घर कर लेते हैं और धीरे-धीरे बुरी भावनाओंको जन्म देते हैं। ये अवचेतन प्रभावके फल भी हो सकते हैं, क्योंकि ये नियंत्रणके अभावमें सदा आपसमें टकराते रहते हैं। ये प्रभाव जब ऊपरी सतहपर उभर आते हैं तो उन्हें नियंत्रित करने और अनचाहे प्रभावोंको रोकनेके बदले सबको अपनी मरजीके मुताबिक घुसने दिया जाता है, दरवाजे खुले रहते हैं।

तुम अच्छी-बुरी, उदासीन, आलोकित, अंधियारी, सब तरहकी चीजोंमें डूबते-उतराते हो। सामान्यतः, हर एकको चेतनाको छाननेका काम करना चाहिये। वही स्वीकारो जिसे तुम स्वीकारना चाहते हो, वही सोचो जो तुम सोचना चाहते हो। जबतक तुम विचारोंको औपचारिक स्वीकृति नहीं दे देते तबतक उन्हें भावनाओं और क्रियाओंमें मत बदलने दो।

मूलतः भौतिक अस्तित्वका यही सार है। हर कोई कतिपय स्पन्दनों-के समूहको, जो उसके खास कार्य-क्षेत्रका प्रतिनिधित्व करते हैं, संयमित करनेका साधन है। हर एकको वही ग्रहण करना चाहिये जो भगवान्की योजनाके साथ मेल खाता हो, बाकी सब त्याज्य है।

लेकिन हजारमें एक भी ऐसा नहीं जो यह करता हो। अर्ध-चेतन अवस्थामें या शायद परिस्थिति और परिवेशकी रगड़से तुम थोड़ा-बहुत कर लेते हो, पर जब स्वेच्छासे करनेकी बात उठती है तो निश्चय ही ऐसे बहुत कम लोग हैं जो स्वेच्छासे करते हों, और स्वेच्छासे करनेवालोंमें भी ठीक ढंगसे और सच्चे ज्ञानके साथ करनेवाले तो और भी विरल हैं।

अपने विचारोंपर नियंत्रण! अपने विचारोंपर कौन नियंत्रण रखता है? केवल वही जिन्होंने इसके लिये अपनेको साधा है, बचपनसे इसके लिये सतत सच्चा प्रयत्न किया है।

यहां तो पूरा सप्तक है, है न? यह विचारोंपर नियंत्रणके निपट अभाव-से शुरू होता है। अधिकतर लोगोंके लिये यह इस तरह रूपायित होता है: विचार उनपर शासन करते हैं, न कि वे विचारोंपर। मनुष्योंकी अधिक संख्या विचारोंसे परेशान रहती है, पर उनसे छुटकारा नहीं पा सकती। अक्षरशः वे उन्हें अपने अधिकारमें रखते हैं, उनमें इतनी क्षमता नहीं होती कि इन विचारोंके प्रति अपनी सक्रिय चेतनाके दरवाजे बंद कर सकें। विचार ही उनपर अधिकार जमाते और शासन करते हैं। हर रोज तुम लोगोंको यह कहते सुनते हो, "ओह! यह विचार, वह सारे समय, बार-बार

आता रहता है। मैं इससे पिण्ड नहीं छुड़ा सकता।" चिन्तासे लेकर दुर्भाव और भयतक, हर तरहके विचार इनपर सब तरफसे पिल पड़ते हैं। वे विचार जो डरका रूप धर लेते हैं बहुत कष्टदायक होते हैं। तुम उन्हें दूर फेंक देनेकी कोशिश करते हो, पर वे एलास्टिक फीतेकी तरह लौटकर तुमपर ही गिरते हैं। कौन है जिसे अधिकार प्राप्त हो? इसके लिये जरूरत है बरसोंके श्रमकी, एक लम्बे अभ्यासकी। और तब वहांतक पहुंच पाना जो अपने-आपमें पूर्ण नियंत्रण तो नहीं, फिर भी एक चरण तो है ही: ऐसा करनेकी क्षमता (मां बुहारनेकी मुद्रामें माथेपर हाथ फेरती हैं), मनकी सारी उथल-पुथलको बुहार फेंकनेकी, सारे स्पन्दनोंको आनेसे रोक देनेकी क्षमता। और तब मनकी सतह शून्य-सपाट हो जाती है। सब कुछ रुक जाता है, थम जाता है, जैसे खुली पुस्तकका सफेद पन्ना --- पर लगभग भौतिक दृष्टिसे, समझे... बिलकुल कोरा!

खुद जरा करके देखो। वह बड़ा मजेदार है।

और तब व्यक्ति मस्तिष्कमें नाचनेवाले बिन्दुतक पहुंच जाता है। मैंने देखा है, मैंने श्रीअरविन्दको किसीके मस्तिष्कमें ऐसा करते देखा है, एक व्यक्ति ठीक यह शिकायत किया करता था कि विचार उसे कष्ट दे रहे हैं। मानों उनका हाथ आया, नाचते काले बिन्दुको पकड़ा और ऐसे (दूर फेंकनेका इंगित) किया जैसे कोई एक कीड़ेको उठा फेंकता है, बहुत दूर। और बस, सब कुछ हो गया। सब कुछ था शान्त, नीरव, ज्योतिर्मय...। यह देखा जा सकता था, जानते हो, बिना कुछ कहे उन्होंने उठा फेंका — और सब खतम।

चीजें एक-दूसरेमें गुंथी रहती हैं: मैंने ऐसा भी देखा है जब कोई तीव्र वेदनासे कराहता हुआ उनके पास आया: "ओह! बड़ा दर्द हो रहा है, आह! कितना दर्द है!" उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, शान्त बने रहे, एकटक उसे देखा और मैंने देखा कि उनका सूक्ष्म हाथ आगे बढ़ा, अव्यवस्था और अस्तव्यस्ततामें चक्कर काटते उस छोटे-से बिन्दुको पकड़ा, और उसे निकाल फेंका (वही मुद्रा), और लो, सब छू-मन्तर हो गया।

"वाह, देखिये! मेरा सारा दर्द उड़ गया!"

बस!

१५ जनवरी, १९५८

मां "दिव्य जीवन"का एक अनुच्छेद पढ़ती हैं जिसमें भौतिकवादियोंकी दलीलोंका विवरण है ("मनुष्य और क्रमविकास" का दसवां अनुच्छेद)।

यदि ये सब दलीलें सच होतीं और कोई उच्चतर सिद्धि न होती... तो करनेको कुछ रह ही न जाता। सौभाग्यवश यह सच नहीं है।

पर श्रीअरविन्दने अक्सर कहा है कि उन्होंने जो कुछ कहा है या भविष्यवाणी की है उसकी सच्चाईका अकाटच प्रमाण तबतक नहीं मिलेगा जबतक वह संसिद्ध नहीं हो जाती; जब सब कुछ चरितार्थ हो जायगा तो जो माननेसे इंकार करते हैं वे लोग अपनी गलती पहचाननेको मजबूर हो जाएंगे — पर शायद वे तबतक जीवित ही न रहें!

अतः करनेको एक ही बात रह जाती है: विरोधों और नकारोंकी परवाह न करते हुए, अपनी श्रद्धा और अपने निश्चयपर दृढ़ रहते हुए अपनी राह चलते चलो।

कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जिन्हें सुख-चैन और आरामसे रहनेके लिये दूसरोंके सहारे, विश्वास और निश्चितिकी जरूरत है — ऐसे लोग सदा दुःखी रहते हैं, क्योंकि स्वभावतः उन्हें ऐसे लोग मिलते रहेंगे जो विश्वास नहीं करते और इससे वे परेशान और पीड़ित होंगे। हर एकको अपनी निश्चिति अपने ही भीतर खोजनी चाहिये, सब चीजोंके बावजूद इसे बनाये, संभाले रखना चाहिये और किसी भी कीमतपर लक्ष्यतक बढ़ते जाना चाहिये। विजय अधिक-से-अधिक सहिष्णुकी होती है।

सब विरोधोंके होते हुए अपनी सहन-शक्ति बनाये रखनेके लिये हमारे सहारेका आधार अचल-अटल होना चाहिये और **एक ही** सहारा अचल-अटल है, वह है 'सत्'का, 'परम सत्य'का सहारा।

किसी औरको खोजना बेकार है। केवल यही है जो कभी साथ नहीं छोड़ता।

२२ जनवरी, १९५८

श्रीमां "दिव्य जीवन" पढ़ना जारी रखती हैं और उच्चतर जातिके आविर्भावके विरुद्ध बौद्धिक तर्कोंकी अलोचना समाप्त करती हैं।

अगली बार हम असली तर्क-वितर्क आरंभ करेंगे। ये सब तर्क-वितर्क उस प्रदेशमें विचरते हैं जहां तुम्हें आने-जानेकी आदत नहीं है, है क्या? वह तुम्हारे लिये काफी अजाना क्षेत्र है।

असलमें तो यह एक खास प्रदेश है, कर्म और व्यावहारिक सिद्धिके लिये निपट बेगाना। मुझे हमेशा यह संभव लगता है कि मनुष्य किसी भी एक विचारको ले, तर्क-वितर्कका आरंभ-केन्द्र बनाकर बौद्धिक तर्कोंके द्वारा उसे पूर्ण सत्य प्रमाणित कर सकता है।

यह बात काफी ध्यान देने योग्य है कि मानव क्रिया-कलापके ये दो क्षेत्र — कर्म और चिन्तन — ऐसे हैं जिनका चेतनामें एक साथ निबाह प्रायः कठिन होता है। अतिविकसित चिन्तनशील मनवाले व्यक्तिका व्यावहारिक होना तो और भी विरल है। और दूसरी तरफ कर्मी-जन चिन्तनशील मननमें हमेशा बेचैनी महसूस करते हैं।

जब किसीका व्यावहारिक झुकाव मूलतः कार्य-सिद्धिकी ओर होता है तो उसे ये सब, चिन्तन-मनन, वाद-विवाद और निगमन, कम या अधिक आलसियोंके मनबहलावका धन्धा लगते हैं। लेकिन . . . इसे जोरसे नहीं कह सकती क्योंकि यह बात बुद्धिजीवियोंको रास नहीं आयेगी। मुझे तो यह सदा ही एक कसरत लगी है जो मानसिक विकासकी दृष्टिसे तो मनोरंजक है, पर उसका कोई खास व्यावहारिक परिणाम नहीं। अब अगर जरा तुम उनकी बात सुनो जो कल्पनाओंमें रमते हैं तो वे कहेंगे : "शारीरिक व्यायाम बेकारका धन्धा है जिसका कोई व्यावहारिक लाभ नहीं। क्या भला होता है कसरत करनेसे? तुम पुट्ठे ही तो हिलाते हो? जैसे तुम अपने शारीरिक पुट्ठे हिलाते हो, वैसे ही हम भी अपने मानसिक पुट्ठे क्यों न हिलायें?" और दोनों दलीलें एक ही स्तरकी हैं।

मेरे विचारमें इसका समाधान कहीं और है।

(लंबा अंतराल)

जैसे ही मनुष्यको यह विश्वास हो जाय कि एक जीवन्त और वास्तविक 'सत्य' इस यथार्थ जगत्में व्यक्त होनेकी कोशिशमें है तो उसके लिये जिस एकमात्र चीजका महत्त्व और मोल रह जाता है वह है इस 'सत्य'के साथ अपनेको एक स्वर करना, जितनी पूर्णतासे हो सके उसके साथ तादात्म्य साधना, केवल उसे अभिव्यक्त करनेवाले एक यंत्रके सिवा कुछ न होना, उसे अधिकाधिक जीता-जागता मूर्त रूप देते जाना, ताकि यह उत्तरोत्तर पूर्णताके साथ आविर्भूत हो सके। सभी मत, सभी सिद्धान्त और सभी प्रणालियां 'सत्य'को अभिव्यक्त करनेकी सामर्थ्यके अनुपातमें कम या अधिक अच्छी हैं। जैसे व्यक्ति इस पथपर आगे बढ़ता है अगर वह 'अज्ञान'की सभी सीमाओंके पार चला जाय तो उसे पता चलता है कि इस अभिव्यक्तिकी **समग्रता**, इसकी संपूर्णता, सर्वांगीणता 'सत्य'के आविर्भावके लिये आवश्यक हैं, **कुछ भी** त्याज्य नहीं, किसीका भी कम या ज्यादा महत्त्व नहीं है। एक ही चीज जो आवश्यक दीखती है, वह है सभी चीजोंका सामंजस्य जो हर चीज-को यथास्थान, बाकी सबके साथ सच्चे सम्बन्धमें रख दे, ताकि पूर्ण 'ऐक्य' समन्वयकारी ढंगसे प्रकट हो सके।

यदि कोई इस स्तरसे नीचे उतरता है तो मैं कहूंगी कि अब वह कुछ नहीं समझता और सभी तर्क-वितर्क सच्चे मूल्योंको हर लेनेवाली संकीर्णता और सीमाओंमें समान रूपसे अच्छे हैं।

सबके साथ समन्वय रखते हुए हर चीजका अपना स्थान है। और तब मनुष्य समझना और उसके अनुसार ज़ीना आरंभ कर सकता है।

(मौन)

व्यक्ति यह अनुभव करता है कि एक छोटी-सी क्रिया, चाहे वह कितनी ही तुच्छ और नगण्य क्यों न दीखती हो, **यदि** वह उस 'सत्य'के साथ समस्वर है तो सब शानदार युक्तियोंसे अधिक कीमती है।

अपने भीतर ज्योतिके एक बिन्दुको चमकने दो। और वही बिन्दु—प्रकाश क्या है और क्या कर सकता है—इसपर दुनिया-भरके सबसे सुन्दर भाषणोंकी अपेक्षा अंधेरेको विलीन करनेमें अधिक प्रभावशाली होगा।

२९ जनवरी, १९५८

"निश्चेतनमें भी, कम-से-कम छिपी हुई आवश्यकताकी एक ऐसी प्रेरणा है जो रूपोंके विकासको उत्पन्न करती है और रूपोंमें विकास पाती हुई चेतना है; यह भली-भांति माना जा सकता है कि यह प्रेरणा गुप्त चेतन पुरुषकी विकसनशील इच्छा है और प्रगतिशील अभिव्यक्तिके लिये उसका दबाव विकासमें छिपे हुए अभिप्रायका प्रमाण है . . . । अपने-आपको अनिवार्य रूपसे पूर्ण करनेवाला सत्ताका सत्य विकासका मूल-भूत तथ्य होगा, किंतु इच्छा और उसका उद्देश्य भी क्रिया-शील तत्त्वके उपकरणके अंगके रूपमें, उसके एक अंशके रूप-में अवश्य विद्यमान रहने चाहिये।"

('दिव्य जीवन')

मधुर मां, वाक्यका पिछला हिस्सा मेरी समझमें नहीं आया।

तुम क्या नहीं समझे? वे कहते हैं कि क्रमविकास 'सत्ताके सत्य'की, जो विश्वका सारभूत तत्त्व है, अपरिहार्य संसिद्धिका परिणाम है। इस 'सत्य'की संसिद्धि, 'सत्ताके सत्य'की संसिद्धि ही क्रमविकासका आधारभूत तत्त्व है, अर्थात्, यही क्रमविकासका निमित्त और कारण है; लेकिन स्वभावतया ही, यदि इस 'सत्ताके सत्य'की संसिद्धि अनिवार्य है तो वह एक संकल्प और योजनाकी मददसे ही होनी चाहिये। कोई उद्देश्य होना चाहिये और उस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये संकल्प होना चाहिये।

यह जरूरी है कि इस सत्यकी उपलब्धिके लिये उसमें उपलब्ध करनेकी इच्छा-शक्ति हो और कोई उद्देश्य, कोई योजना, परियोजना हो जिसे वह उपलब्ध करना चाहता है। कुछ उपलब्ध करनेके लिये मनुष्यमें उसके लिये संकल्प होना चाहिये और संकल्पके लिये यह जानना जरूरी है कि वह क्या करना चाहता है। यदि उसे यह पता न हो कि वह क्या करना चाहता है तो वह उसे नहीं कर सकता। पहले उसे **जानना** होगा, अपने सामने कोई योजना, कोई खाका, चाहे तो कार्यक्रम रखना होगा, उसे यह जानना होगा कि वह क्या करना चाहता है; उसके बाद करनेका **संकल्प** करना होगा और तब वह उसे कर पायेगा।

तुम्हें मालूम है कि वे कहते हैं : यह विश्व वैश्व 'सत्ता'के सत्यकी

क्रमिक परिपूर्ति है। विश्वका विस्तार वैश्व पुरुषके सत्यकी वर्धनशील, क्रमिक उपलब्धि है; लेकिन इस सत्यकी चरितार्थताके लिये यह आवश्यक है कि इसके पास कोई योजना हो, अर्थात्, इसे पता हो कि उसे क्या करना है और उसे संपन्न करनेके लिये संकल्प हो।

जब तुम कोई काम करने लगते हो तो तुम जानते हो कि तुम क्या करना चाहते हो, है न? और तब तुममें उसे करनेकी इच्छा होती है, नहीं तो नहीं कर सकते। यह भी वही बात है, वे यही कह रहे हैं।

यह मानना पड़ेगा कि विश्वकी कोई योजना है, यह संयोगसे पैदा होनेवाली कोई चीज नहीं है, और इस योजनाकी परिपूर्तिके लिये परम 'इच्छा-शक्ति' कार्यरत है, नहीं तो कुछ भी नहीं हो सकता। तुम देखते हो न कि श्रीअरविंद उन लोगोंका खंडन करते हैं जो कहते हैं कि विश्वकी कोई योजना और संकल्प नहीं है। जिस क्षण हम यह मान लेते हैं कि विश्वके पीछे एक चेतना — एक सचेतन सत्ता — है तो हम सहज ही सीधे-सीधे यह भी मान लेते हैं कि विश्वकी कोई योजना है और इस योजना-पूर्तिके लिये कोई इच्छा-शक्ति भी है। वे बस यही कहते हैं। यह तो आसान है, है न?

तुम्हें इसी बातको व्यक्तिगत रूपमें घटाना होगा। जब कोई सचेत होता है और सचेतनतासे कोई काम करता है तो निश्चय ही वह यह जानता है कि वह क्या करना चाहता है। उसकी क्या रूपरेखा है। उदाहरणके लिये, जब तुम छात्रावासके वार्षिक उत्सवके लिये कोई कार्य-क्रम तैयार करते हो तो तुम्हारा कोई उद्देश्य होता है, होता है न? तुम वार्षिकोत्सवके लिये कुछ कार्यक्रम बनाना चाहते हो, फलतः तुम एक योजना बनाते हो, क्या खेला जायगा, कैसे खेला जायगा, इसका चुनाव करते हो और साथ ही इसे करनेकी इच्छा करते हो, वरना तुम उसे करोगे ही नहीं — बस, श्रीअरविंद भी ठीक यही कहते हैं। अर्थात्, यदि यह विश्व एक सचेतन सत्ता है और यदि कोई 'चेतना' अपने-आपको अभिव्यक्त करती है तो वह **अवश्य** ही किसी योजनाके अनुरूप और अभिव्यक्तिके संकल्पके साथ अभिव्यक्त करती है — बहुत आसान है यह तो।

समझे? . . . थोड़ा-सा?

क्या तुम नहीं जानते कि कुछ करनेके लिये मनुष्यको यह ज्ञान होना चाहिये कि उसे क्या करना है, फिर उसे करना चाहिये, करनेका संकल्प होना चाहिये? यहांतक कि यदि तुम यहांसे वहांतक जानेकी सोचते हो तो तुम्हें निश्चय करना होगा कि तुम वहां जाना चाहते हो और फिर होनी चाहिये वहांतक चलनेकी इच्छा, नहीं तो तुम सरकोगे ही नहीं। है न ऐसा?

हां मां।

आह! बस ऐसा ही है, ऐसा ही सरल।

(मौन)

साधारणतया, लोग चीजें इतने सहज और स्वाभाविक ढंगसे करते हैं कि वे ध्यान ही नहीं देते कि वे कैसे कर रहे हैं। यदि वे अपनेसे पूछ बैठें कि यह कैसे होता है तो सारी प्रक्रियासे अवगत होनेमें कुछ क्षण लग जायेंगे। तुमने रहनेकी ऐसी आदत डाल ली है कि तुम यह भी नहीं जानते कि यह कैसे होता है। जीवनकी (सभी क्रियाएं) और गतिविधियां सहज, यंत्रवत्, प्रायः अचेतन अवस्थामें अर्धचेतनाके साथ की जाती हैं, और इतनी आसान-सी बात भी ख्यालमें नहीं आती कि कुछ करनेसे पहले यह मालूम होना चाहिये कि क्या करना है और फिर उसे करनेकी इच्छा होनी चाहिये। जब इन दोनों क्रियाओंमेंसे किसीमें कुछ खराबी आ जाती है — उदाहरणार्थ, मनमें योजना बनानेकी और उसे कार्यान्वित करनेकी क्षमता — जब दोनों गलत काम करने लगती हैं, तभी व्यक्तिको अपनी उचित कार्य-कुशलताके बारेमें चिंता सताने लगती है। उदाहरणके लिये, सवेरे उठनेपर यदि तुम्हें यह पता न हो या याद न रहे कि तुम्हें उठना, हाथ-मुंह धोना, कपड़े पहनना, नाश्ता करना है और इधर-उधरके काम करने हैं तो तुम अपनेसे कहोगे: "अरे! क्या बात है, कहीं कुछ दालमें काला है — मुझे यह भी पता नहीं है कि मुझे क्या करना, जरूर कहीं कुछ गड़बड़ है।"

बादमें, यदि यह जानकर कि तुम्हें क्या करना है — कि तुम्हें उठकर, नहा-धोकर कपड़े पहनने हैं — पर तुम उसे कर न सको: कोई चीज, प्रेरित करनेवाली शक्ति काम न करे या शरीरपर उसका कोई असर न हो तो एक बार फिर तुम चिंता करने लगोगे और कहोगे: "हाय राम! कहीं मैं बीमार तो नहीं पड़ गया?"

अन्यथा तुम्हें इसका भानतक न होता कि सारा जीवन ऐसा ही है। यह तुम्हें नितांत स्वाभाविक लगता है, बस, "यह ऐसा ही" है। इसका मतलब यह है कि कर्म करते हुए तुम अर्ध-सचेतन भी नहीं होते, यह तो स्वतःचालित, सहज आदत है और तुम कर्म करते हुए अपनी ओर ध्यान भी नहीं देते। इसलिये, यदि तुम अपनी वृत्तियोंको वशमें करना चाहते हो तो पहली चीज है यह जानना कि क्या हो रहा है।

मूलतः शायद यही कारण है कि चीजें हमेशा ठीक-ठीक नहीं चलतीं। यदि सब कुछ सहज-सामान्य लयसे चलता रहे तो हम कभी अपने कर्मके प्रति सचेतन नहीं होंगे; अपने-आप सहज रूपसे आदतके अनुसार सोचे-विचारे बिना सब कुछ करते जायेंगे, आत्म-निरीक्षण नहीं करेंगे। अतः कभी भी आत्म-प्रभुत्व नहीं प्राप्त कर सकेंगे। यह कुछ ऐसी चीज होगी, अपनेको पीछेसे व्यक्त करती कहीं कोई धुंधली-सी चेतना जो तुमसे काम करवाती है, पर तुम्हें उसका ख्याल भी नहीं होता। और यदि कहीं कोई परायी या अनजानी शक्तिकी लहर आ जाय तो वह तुमसे कुछ भी करवा सकती है, तुम उस प्रक्रियाको समझ भी न सकोगे जिससे वह तुमसे काम करा लेती है। और वास्तवमें यही होता है।

जब मनुष्य प्रक्रियासे पूरी तरह सचेत हो जाता है, जब वह जीवनकी कार्य-शैलीके विज्ञानसे, जीवनकी गतिविधि और प्रक्रियासे अवगत हो जाता है तभी वह स्वयंको संयमित करना शुरू करता है, वरना पहले तो वह संयमकी बात बिलकुल नहीं सोचता। हां, यदि कुछ अप्रिय बात हो जाय, जैसे, तुम कोई काम करो और उसके दुःखद फल हाथ आयें तो तुम सोचते हो : "अच्छा, तो मुझे वह काम बन्द कर देना चाहिये," और तब, उस मुहूर्त तुम यह अनुभव करते हो कि "कैसे जिया जाय" –– इसका भी अपना पूरा तकनीकी शास्त्र है और अपने जीवनपर अधिकार पा सकनेके लिये इसका ज्ञान आवश्यक है ! अन्यथा मनुष्य क्रियाओं-प्रतिक्रियाओंका, आवेगों-प्रवेगोंका न्यूनाधिक समन्वित ढेर होता है। उसे कुछ भी पता नहीं होता कि चीजें कैसे होती हैं। यह वही चीज है जो जीवनके आघातोंसे, रगड़ों-से और ऊपरसे दीखनेवाली अव्यवस्थाओंसे सत्तामें बनता है और जिसमें बहुत छोटे बच्चोंकी चेतना गढ़ी जाती है। छोटा बच्चा बिलकुल अचेतन होता है, धीरे-धीरे, बहुत धीरे उसे चीजोंका भान होता है। पर यदि कोई विशेष सावधानी न बरती जाय तो लोग जाने बिना ही कि वे कैसे जीते हैं, अपनी सारी-की-सारी जिन्दगी गुजार देते हैं। उन्हें इसका भान-तक नहीं होता।

अतः कुछ भी हो सकता है।

लेकिन यह तो भौतिक जगत्में अपने बारेमें सचेतन होनेका **सबसे पहला छोटा-सा कदम है।**

तुममें कुछ धुंधले-से विचार और भावनाएं होती हैं, होती हैं न ? जो कम या ज्यादा तर्कसंगत रूपसे विकसित होती हैं (कम ही, ज्यादा नहीं); उससे तुमपर हल्की-सी छाप पड़ती है और फिर जब तुम झुलस जाते हो तो तुम्हें पता लगता है कि कुछ गड़बड़ है, जब तुम गिरकर चोट लगा

लेते हो तो समझ जाते हो कि कहीं कुछ गड़बड़ है — यह तुम्हें सोचनेको प्रेरित करता है कि इस या उस चीजपर तुम्हें ध्यान देना चाहिये ताकि तुम गिर न पड़ो, जल न जाओ, खुदको चोट न पहुंचाओ। यह बात धीरे-धीरे बाह्य अनुभव और बाह्य संस्पर्शोंसे ही आती है। नहीं तो आदमी अर्ध-चेतनका ढेर है जो यह जाने बिना चलता-फिरता है कि वह क्यों और कैसे चल-फिर रहा है।

यह अचेतनताकी आदिम अवस्थासे उबरनेके लिये बहुत छोटा-सा आरंभ है।

५ फ़रवरी, १९५८

> "दार्शनिक आपत्ति अधिक गंभीर है; क्योंकि, यह स्वतः-सिद्ध जान पड़ता है कि निरपेक्ष ब्रह्मकी अभिव्यक्तिका केवल अभिव्यक्तिके आनंदको छोड़कर और कुछ उद्देश्य नहीं हो सकता; इस वैश्व वक्तव्यमें जड़-तत्त्वकी वैकासमूलक गति-धारा भी अभिव्यक्तिके एक अंगके रूपमें आ जानी चाहिये; वह वहां केवल उन्मीलनके, प्रगतिशील कार्यान्वयनके, उद्देश्यरहित क्रमिक आत्म-प्रकाशनके आनंदके लिये ही हो सकती है। समग्र विश्वको भी अपने-आपमें कोई संपूर्ण वस्तु माना जा सकता है; समग्र होनेके नाते, न तो उसे कुछ प्राप्त करना है, न अपने स्वरूपकी पूर्णतामें कुछ जोड़ना है। परंतु यहां भौतिक जगत् सर्वांगपूर्ण समग्रता नहीं है, वह संपूर्णका एक अंगमात्र है, स्तर-परंपरामें केवल एक स्तर है; अतः वह अपनेमें समग्रके उन अविकसित अभौतिक तत्त्वों या शक्तियोंकी, जो उसकी जड़ताके भीतर अंतर्लीन हैं, विद्यमानताको अंगीकार कर सकता है; केवल इतना ही नहीं, इसके साथ-साथ वह विश्व-संस्थानके उच्चतर स्तरोंसे उन्हीं शक्तियोंके अवतरणको भी अपनेमें अंगीकार कर सकता है जिससे कि उन स्तरोंकी सजातीय क्रियाएं यहां भौतिक परिसीमनकी कठोरतासे उन्मुक्त हो जायं। सत्की महत्तर शक्तियोंकी ऐसी अभिव्यक्ति जिसके अंतमें भौतिक जगत्की संपूर्ण सत्ता

एक उच्चतर, एक आध्यात्मिक सृष्टिके रूपमें अभिव्यक्त हो जाती है, विकासका उद्देश्य मानी जा सकती है। यह उद्देश्य किसी भी ऐसे तत्त्वको प्रविष्ट नहीं करता जो समग्रता-में न हो; यह केवल अंशमें समग्रताकी उपलब्धिका विचार प्रस्तुत करता है। वैश्व समग्रताकी आंशिक गति-धारामें उद्देश्य-रूप तत्त्वको अंगीकार करनेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती; यदि वह उद्देश्य वहां समग्र गति-धारामें अंतर्निहित समस्त संभावनाओंकी सुपूर्ण अभिव्यक्ति हो; यहां जिस उद्देश्य-की चर्चा की जा रही है वह मानव अर्थमें उद्देश्य नहीं है, अपितु अंतर्यामी ब्रह्मकी इच्छामें सचेतन, आभ्यन्तरिक सत्य आवश्यकताकी प्रेरणा है। निस्संदेह, यहां सब कुछ सत्ताके आनंदके लिये है, सब लीला है; परंतु लीला भी तो अपने भीतर एक ऐसा उद्देश्य रखती है जिसे पूरा करना है और उस उद्देश्यकी पूर्ति हुए बिना लीलाकी सार्थकता पूरी न होगी। बिना उपसंहारका नाटक एक कलात्मक संभावना हो सकती है, वह केवल पात्रोंके देखनेमें हर्ष अनुभव करनेके लिये और ऐसी समस्याओंमें हर्ष लेनेके लिये हो सकती है कि जिनका कोई समाधान नहीं दिया गया है अथवा समाधानको सदा-के लिये अनिश्चितताकी तुलामें लटकते रहनेके लिये छोड़ दिया गया है; यह विचारमें लाया जा सकता है कि पार्थिव विकासका नाटक भी इसी स्वभावका हो, किंतु यह भी संभव है कि उस विकासमें परिणाम अभिप्रेत हो या अंतर्निहित तथा पूर्व-निर्धारित हो और यह अधिक विश्वासप्रद हो सकता है। आनंद संपूर्ण सत्ताका गुह्य तत्त्व है और सत्ताकी संपूर्ण क्रिया-का आधार है; परंतु आनंद उस सत्यके कार्यान्वियनके आनंद-का बहिष्कार नहीं करता जो (सत्य) सत्तामें अंतर्निहित है, सत्ताकी शक्ति या इच्छामें पिरोया हुआ है और जो, उसकी (सत्ताकी) चित्-शक्ति उसकी (सत्ताकी) समस्त क्रियाओंकी क्रियात्मक और कार्यकारी अभिकर्त्री है और उनकी सार्थकता जाननेवाली है उस (चित्-शक्ति)के छिपे आत्म-ज्ञानमें धारण किया हुआ है।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८३४-३५)

यदि कोई समस्याको साधारण व्यावहारिक बुद्धिके लिये अधिक सुबोध

बनाना चाहे तो वह सोच सकता है कि सब कुछ शाश्वत कालसे अस्तित्वमें है और इसीलिये समकालिक भी है। लेकिन यह संपूर्ण समकालिक, शाश्वत अस्तित्व उस चेतनाकी जायदाद, मिल्कियतकी तरह है जो अपनी जमीनोंमें विचरनेमें आनन्द लेती है, अपनी पूरी जागीरकी लगभग असीम नहीं, तो कम-से-कम अनिश्चित यात्रामें सुख पाती है और इस तरह एकके बाद एक चीजको खोजती जाती है, ऐसी चीजोंको जो पहलेसे ही विद्यमान हैं, सदासे विद्यमान रही हैं . . . पर जहां परमकी चरण-धूलि कभी नहीं पड़ी। अपनी खोजमें वह जिस पथपर चलती है वह तुरन्त चुना हुआ इतना स्वतंत्र, अप्रत्याशित और अपूर्वदृष्ट पथ हो सकता है कि यद्यपि उसका संपूर्ण राज्य अनादि कालसे चला आ रहा है, और अनन्त कालतक रहेगा, फिर भी वह नितान्त अप्रत्याशित अज्ञात ढंगसे वहां पहुंच सकती है और इस तरह सारे संबंधों और सभी संभावनाओंके लिये द्वार खोल सकती है।

और यह खोज उसकी अपनी खोज भी है क्योंकि यह राज्य भी वह स्वयं ही है; तुरन्त लिये गये निश्चयोंद्वारा, मनकी किसी पूर्वनिर्धारित योजनाके बिना, पूर्ण स्वतंत्रता और हर पल अप्रत्याशितताके सारे आनन्द-के साथ यह खोज की जा सकती है — और यह होगी अपनी ही सत्तामें अनन्त विहार।

सब कुछ पूरी तरह पहलेसे निर्धारित है, क्योंकि सब कुछ चिरकालसे चला आ रहा है, फिर भी पार किये जानेवाले पथमें स्वतंत्रता है, अप्रत्या-शितता है और वे भी पूर्ण हैं।

और इसी तरह अनेक लोकोंका समसामयिक अस्तित्व है जिनका आपस-में कोई प्रत्यक्ष संपर्क नहीं, फिर भी ये सहवर्ती हैं। लेकिन इनकी खोज धीरे-धीरे ही होती है और तब लगता है कि यह कोई नवीन सृष्टि है . . . वस्तुओंको इस तरह देखते हुए हम यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि इस भौतिक जगत्के साथ-ही-साथ जैसा कि हम इसे इसकी सारी अपूर्णताओं, सीमाओं और अज्ञानके साथ जानते हैं, अपने-अपने क्षेत्रोंमें स्थित अन्य एक या अनेक लोकोंका अस्तित्व है जिनकी प्रकृति हमारी इस धरतीसे इतनी भिन्न है मानो हमारे लिये उनका कोई अस्तित्व ही नहीं, क्योंकि हमारा उनसे कोई नाता नहीं। लेकिन जिस क्षण सनातन महती यात्रा इस लोकको पार करके उस लोकमें जायगी, उसी क्षण, इस सनातन 'चेतना'-के केवल पार जानेसे ही अनिवार्य रूपमें एक श्रृंखला बन जायगी और धीरे-धीरे दोनों जगतोंमें आपसी संबन्ध हो जायगा।

वस्तुतः आजकल यही कार्य हो रहा है और हम निश्चयपूर्वक यह कह सकते हैं कि अतिमानसिक जगत् पहलेसे ही विद्यमान है, पर अब वह

समय आ गया है जब सर्वोच्च 'चेतना' के अभियानका यही लक्ष्य होगा और तब धीरे-धीरे इस जगत् और उस जगत्के बीच एक चेतन संपर्क स्थापित हो जायगा और यात्राके इस नये दिशामानके कारण दोनोंमें एक नया नाता दिखायी देगा।

अन्य व्याख्याओंकी तरह यह भी एक व्याख्या है और शायद उन लोगोंके लिये अधिक आसानीसे समझमें आनेवाली हो जो तत्त्वमीमांसक नहीं हैं...। कम-से-कम मुझे तो यह पसन्द है!

मां, आपने कहा है कि सब कुछ पूर्णतः पूर्वनिर्धारित है, तब व्यक्तिगत प्रयासका स्थान कहां है?

मैंने अभी-अभी तुम्हें बताया है कि वह 'महान् यात्री' हर क्षण अपनी यात्राकी दिशा चुनता रहता है, अतः यहां चुनावकी पूरी छूट है, और यही छूट वैश्व अभिव्यक्तिको वह अकल्पनीय रूप और परिवर्तनकी संभावना प्रदान करती है, क्योंकि परम प्रभु यदि चाहें तो, अपना मार्ग बदलनेके लिये पूरी तरह स्वतंत्र हैं। बल्कि यही है पूर्ण स्वाधीनता। किंतु सब कुछ वहां विद्यमान है और चूंकि सब कुछ मौजूद है इसलिये सब कुछ पूर्णतया निर्धारित भी है--उसका अस्तित्व सदासे चला आ रहा है, पर इसकी खोज बिलकुल अप्रत्याशित ढंगसे होती है। इस खोजमें ही निहित है स्वाधीनता।

तुम घूमने निकलते हो, और सहसा, एक रास्तेको छोड़ दूसरा रास्ता पकड़नेमें तुमको मजा आता है। तुम्हारा रास्ता बिलकुल नया होता है, पर वे चीजें तो वहां पहलेसे ही विद्यमान थीं जहां तुम जा रहे थे, सदा ही उनका अस्तित्व था, इसीलिये वे पहलेसे निर्धारित थीं--पर तुम्हारी खोज निर्धारित नहीं थी।

निःसंदेह, परम 'चेतना'के साथ एकाकार हुई चेतनाको ही इस पूर्ण स्वाधीनताका बोध हो सकता है। जबतक तुम परम 'चेतना'के साथ एकाकार नहीं हो जाते, तबतक, मजबूरन, तुम्हारा यह ख्याल, यह भाव या विचार होता है कि तुम एक उच्चतर 'संकल्प'द्वारा शासित हो, पर जिस क्षण तुम उस 'संकल्प-शक्ति'के साथ एक हो जाते हो, तुम पूर्णतः स्वाधीन हो।

हम इस बातपर लौट आते हैं जो श्रीअरविन्द सदासे कहते आ रहे हैं: "परम प्रभुके साथ एकाकार होनेमें ही सच्ची स्वाधीनता चरितार्थ होती है।"

१२ फरवरी, १९५८

मधुर मां, जब कि हर नये जन्ममें मन, प्राण और शरीर नये होते हैं तो पिछले जन्मोंके अनुभव उनके लिये कैसे उपयोगी होते हैं? क्या हमें उन सब अनुभवोंमेंसे दुबारा गुजरना होता है?

यह व्यक्ति-व्यक्तिपर निर्भर है!

जन्म-जन्मान्तरोंमें मन और प्राण विकास और प्रगति नहीं करते (कुछ एक विरल अपवादोंको और क्रम-विकासकी बहुत उन्नत अवस्थाको छोड़कर) : चैत्य पुरुष विकसित होता है और प्रगति करता है। अतः, होता यह है : चैत्य पुरुषके क्रिया और विश्रामके काल अदल-बदलकर आते हैं; भौतिक जीवनकी अनुभूतियोंद्वारा, भौतिक देहके होते हुए सक्रिय जीवनद्वारा और मन, प्राण, तनके सब अनुभवोंद्वारा चैत्य पुरुष प्रगति करता है; इसके बाद, साधारणतया, चैत्य पुरुष आत्मसात् करनेके लिये एक प्रकारकी विश्रान्तिमें चला जाता है जहां सारे सक्रिय जीवनकी अर्जित प्रगतिके परिणामका लेखा-जोखा होता है। जब यह आत्मसात्करण पूरा हो जाता है, जब वह पृथ्वीपर निवास करते हुए सक्रिय जीवनमें जो प्रगति की थी उसे अपनेमें समा लेता है तब वह उस सारी प्रगतिके फलको लिये हुए फिरसे नया शरीर धारण करता है, और एक उन्नत अवस्थामें तो अपने रहनेके लिये परिवेश, शरीरका प्रकार और जीवनका प्रकार भी चुन लेता है, ताकि अपने किसी खास अनुभवको पूरा कर सके। कुछ बहुत अधिक विकसित लोगोंमें शरीर छोड़नेसे पहले ही चैत्य पुरुष यह निर्णय ले सकता है कि अगले जन्ममें वह कैसा जीवन अपनायेगा।

जब वह लगभग पूरी तरहसे निर्मित, काफी सचेतन सत्ता बन जाता है तो वह नयी कायाकी रचनाकी अध्यक्षता करता है। आम तौरसे आन्तरिक प्रभावद्वारा वह उन तत्त्वों और पदार्थोंको चुनता है जो इसका शरीर इस तरह बनायेंगे कि शरीर नये अनुभवकी आवश्यकताओंके अनुकूल बन सके। किन्तु यह तो काफी उन्नत अवस्थाकी बातें हैं। बादमें, जब वह पूरी तरह निर्मित हो चुकता है और सेवाकी भावनासे, भागवत 'कार्य'में सामूहिक सहाय और सहयोगके ख्यालसे धरतीपर लौटता है तब वह पिछले जन्मोंके प्राण और मनके अमुक तत्त्वोंको इस निर्मित होती कायामें लानेमें सफल होता है जो पिछले जन्मोंमें चैत्य शक्तियोंद्वारा संगठित और अनुप्राणित

होनेके कारण सुरक्षित रहे और, फलतः, अब आम प्रगतिमें भाग ले सकते हैं। पर हां, यह होता है बहुत, बहुत उन्नत अवस्थामें।

जब चैत्य पुरुष पूर्ण विकसित और सचेतन हो, जब वह भागवत 'संकल्प'-का सचेतन यंत्र बन जाय तो यह मन और प्राणको इस तरह संगठित करता है कि वे भी व्यापक सामंजस्यमें भाग ले सकें और उन्हें भी सुरक्षित रखा जा सके।

विकासकी समुन्नत अवस्था देहके विघटनके बाद भी मन और प्राणके कम-से-कम कुछ अंशोंको सुरक्षित रखनेकी अनुमति देती है। उदाहरणके लिये : यदि, मानवी क्रिया-कलापमें कुछ भाग (मानसिक या प्राणिक) खास तौरसे विकसित कर लिये गये हों तो मन और प्राणके ये तत्त्व उसी "रूप-में" अक्षुण्ण बने रहते हैं — उसी क्रियाके रूपमें जो पूरी तरह श्रृंखलित की गयी है — जैसे, उच्च बौद्धिक स्तरवाले लोगोंमें, जिन्होंने अपने मस्तिष्कका विशेष विकास किया है, उनके व्यक्तित्वका मानसिक अंश इस रचनाको बनाये रखता है और एक व्यवस्थित दिमागके रूपमें सुरक्षित रहता है जिसका अपना जीवन होता है और जिसे अगले जीवनतक रखा जा सकता है, ताकि वह अपनी सारी कमाईके साथ उसमें भाग ले सके।

कलाकारोंमें, उदाहरणार्थ, कुछ संगीतज्ञोंमें, जिन्होंने अपने हाथोंका सचेतन रूपसे प्रयोग किया है, प्राणिक और मानसिक तत्त्व हाथोंके रूपमें बना रहता है और ये हाथ काफी सचेतन रहते हैं और जीवित लोगोंके शरीरको भी माध्यम बना लेते हैं, यदि उनमें विशेष सादृश्य हो — आदि-आदि।

अन्यथा, साधारण लोगोंमें, जिनका कि चैत्य पुरुष पूर्णतया विकसित और सुव्यवस्थित नहीं होता, यदि मृत्यु बहुत शान्त और संकेन्द्रित हुई हो तो चैत्य पुरुषके शरीर छोड़नेपर मानसिक और प्राणिक रूप कुछ समयतक बने रह सकते हैं। लेकिन यदि कोई अचानक आवेशभरी अवस्थामें अन-गिनत आसक्तियां लिये मरा हो तो, सत्ताके अलग-अलग भाग बिखर जाते हैं और अपने-अपने क्षेत्रमें कम या अधिक समय अपना जीवन जीकर बिला जाते हैं।

शरीरमें चैत्य पुरुषकी उपस्थिति ही संघटन और परिवर्तनका केन्द्र है। अतः यह मानना भारी भूल है कि प्रगति जारी रहती है, या, जैसा कुछ लोग मानते हैं कि, दो भौतिक जन्मोंके बीचके संक्रमणकालमें यह अधिक पूर्ण और द्रुत होती है; साधारणतया प्रगति बिलकुल नहीं होती, क्योंकि चैत्य पुरुष विश्राम करने चला जाता है और अन्य भाग अपने-अपने लोकमें क्षणिक जीवन बिताकर विलीन हो जाते हैं।

पार्थिव जीवन प्रगतिका क्षेत्र है। यहां, इस धरापर, पार्थिव अस्तित्व-

की अवधिमें ही प्रगति संभव है। अपने विकास और क्रम-विकासकी स्वयं व्यवस्था करता हुआ चैत्य पुरुष ही एक जन्मसे दूसरे जन्ममें प्रगतिको वहन करता है।

१९ फ़रवरी, १९५८

श्रीमां ३ फरवरीको हुई अपनी अनुभूति
पढ़कर सुनाती हैं।

३ फरवरी, १९५८

अतिमानसिक जगत्की सत्ताओंमें और मनुष्योंमें वही अन्तर है जो मनुष्यों और पशुओंमें है। कुछ दिन पहले मुझे पशुओंके जीवनसे एकाकार हो जानेकी अनुभूति हुई थी, और यह एक तथ्य है कि जानवर हमें नहीं समझते, उनकी चेतना इस तरह बनी है कि हम उनकी पकड़से लगभग पूरी तरह बच निकलते हैं। फिर भी मैं कुछ पालतू जानवरोंको जानती थी — बिल्ली, कुत्ते — विशेषकर बिल्लियां, जो हमतक उठ आनेके लिये अपनी चेतनामें प्रायः यौगिक प्रयत्न करती थीं। पर साधारणतः, जब वे हमें, जीते और कार्य करते देखती हैं तो वे हमें नहीं समझतीं, वे हमें उस तरह नहीं देखतीं जैसे कि हम हैं, और हमारे कारण तकलीफ पाती हैं। हम सदा उनके लिये एक पहेली बने रहते हैं। उनकी चेतनाका एक बहुत छोटा-सा अंश ही हमारे साथ जुड़ा होता है। ठीक यही बात हमारे साथ होती है जब हम अतिमानसिक लोककी ओर देखनेका प्रयास करते हैं। जब चेतनाका नाता स्थापित हो जायगा तभी हम उसे देखेंगे, और तब भी हमारी सत्ताका केवल वही अंश उसे उसके यथार्थ रूपमें देख सकेगा जो इस तरह रूपान्तरणसे गुजर चुका होगा, नहीं तो दोनों जगत्, पशु और मानव जगत्की तरह, अलग-थलग रहेंगे।

मुझे ३ फरवरीको जो अनुभूति हुई वह इसका प्रमाण है। इसके पहले, अतिमानसिक जगत्के साथ मेरा संपर्क व्यक्तिगत था, आत्मपरक था, जब-कि ३ फरवरीको मैं वहां मूर्त रूपमें घूमी, वैसे ही मूर्त रूपमें जैसे पहले कभी पैरिसमें घूमा करती थी, सारी आत्मपरकतासे स्वतंत्र ऐसी एक दुनियामें जिसका अपना अलग अस्तित्व है।

यह दोनों लोकोंके बीच बनाये जानेवाले एक सेतुके समान है। यह रही वह अनुभूति जो मैंने उसके तुरन्त बाद लिखवायी थी।

(मौन)

अतिमानस-लोक चिरस्थायी रूपमें विद्यमान है और मैं वहां अतिमानसिक शरीरमें स्थायी रूपसे वर्तमान हूं। आज ही मुझे उसका प्रमाण मिला जब मेरी पार्थिव चेतना तीसरे पहरको दो से तीन बजेके बीच सचेतन रूपमें वहां गयी और रही। अब मैं जानती हूं कि इन दोनों जगतोंको सतत और सचेतन सम्बन्धमें जोड़नेके लिये जिस चीजकी कमी है वह है वर्तमान स्थितिमें भौतिक जगत् और वर्तमान स्थितिमें अतिमानसिक जगत्-के बीचका प्रदेश। इसी प्रदेशका निर्माण व्यक्तिगत चेतना और व्यक्ति-त्तिरपेक्ष जगत्‌में बाकी है। और वह निर्मित हो रहा है। पहले जब मैं उस नयी सृष्टिकी बात किया करती थी, जो बन रही है, वह इसी मध्यस्थ प्रदेशकी बात थी। इसी तरह जब मैं इस तरफ होती हूं, यानी, भौतिक चेतनाके क्षेत्रमें, और जब मैं अतिमानसिक शक्तिको, अतिमानसिक ज्योति और तत्त्वको जड़-तत्त्वमें निरन्तर पैठते देखती हूं तो वह इसी प्रदेशका निर्माण-कार्य होता है जिसे मैं देखती हूं और जिसमें मैं भाग लेती हूं।

मैंने अपने-आपको एक विशाल जहाजमें पाया, जो उस जगहका प्रतीकात्मक प्रतिरूप था जहां यह कार्य चल रहा है। एक शहर जितना बड़ा यह जहाज पूर्णतया व्यवस्थित था। निश्चय ही वह कुछ समयसे कार्य-रत था, क्योंकि उसकी व्यवस्था पूर्ण थी। यह वह जगह है जहां उन लोगोंको आकार दिया जाता है जो अतिमानसिक जीवनके लिये नियत हैं। ये लोग (या कम-से-कम उनकी सत्ताका एक अंश) पहले ही अति-मानसिक रूपान्तरमेंसे गुजर चुके थे, क्योंकि खुद वह जहाज और जो उसमें सवार थे वे सब न तो भौतिक जगत्‌के थे, न सूक्ष्म-भौतिक जगत्‌के, न प्राणिक जगत्‌के और न मानसिक जगत्‌के — वह एक अतिमानसिक तत्त्व था। स्वयं वह तत्त्व ठोस अतिमानसका था, ऐसा अतिमानसिक तत्त्व जो भौतिक जगत्‌के सबसे निकट है और जिसकी अभिव्यक्ति सबसे पहले होगी। वहांका प्रकाश सुनहली और लाल ज्योतिका मिश्रण था जिससे जगमगाते नारंगी रंगका एक रूप-पदार्थ बना था। सब कुछ ऐसा ही था — ज्योति ऐसी थी, लोग ऐसे थे, सूक्ष्म छटाभेदके साथ सभी इसी रंगमें रंगे थे और इसी भेदके कारण एक चीज दूसरी चीजसे अलग पहचानी जा सकती थी। सामान्य छाया एक छायाविहीन जगत्‌की पड़ती थी, वहां सूक्ष्म अन्तर तो

थे पर छायाएं नहीं थीं। वायुमण्डल आनन्द, शांति और व्यवस्थासे परिपूर्ण था; वहां सब काम नियमित रूपसे चुपचाप चल रहा था। पर साथ ही वहां शिक्षण, और सब क्षेत्रोंमें प्रशिक्षणकी बारीकियां देखी जा सकती थीं जिनके द्वारा नावके लोगोंको तैयार किया जा रहा था।

वह विशाल तरी अभी-अभी अतिमानसके तटसे आ लगी थी, और यहीं उन लोगोंके पहले दलको उतरना था जिन्हें अतिमानसिक जगत्का भावी निवासी बनना था। इस पहली उतराईकी पूरी तैयारी हो चुकी थी। घाटपर कुछ विशालकाय सत्ताएं तैनात थीं। ये लोग मनुष्य नहीं थे और न पहले कभी मानव रहे थे, और न ही वे अतिमानसिक जगत्के स्थायी निवासी थे। उन्हें तो ऊर्ध्व लोकसे वहां भेजा गया था ताकि वे उतराईकी चौकसी कर सकें और उसपर नियंत्रण रख सकें। शुरूसे ही सारे समय उस पूरे समूहका परिचालन मेरे हाथोंमें था। स्वयं मैंने सब दल तैयार किये थे। मैं नावकी सीढ़ीकी ऊपरली पैड़ीपर खड़ी थी और एक-एक करके दलोंको बुलाकर नीचे घाटपर भेज रही थी। वे दीर्घकाय सत्ताएं जो वहां तैनात थीं मानों उतरनेवालोंका निरीक्षण कर रही थीं, जो तैयार थे उन्हें अनुमति दे रही थीं और जो तैयार नहीं थे उन्हें वापस नावमें भेज रही थीं जहां उन्हें प्रशिक्षण जारी रखना था। वहा खड़ी-खड़ी जब मैं उन्हें देख रही थी तो मेरी चेतनाका वह अंश जो यहांसे गया था उनमें बड़ी रुचि लेने लगा। वह सभीको देखना और पहचानना चाहता था। वह देखना चाहता था कि वे किस तरह बदल गये थे और उन्हें परखना चाहता था जो तुरंत ले लिये गये और जिन्हें वहीं रहकर अभी प्रशिक्षण जारी रखना था। कुछ देर बाद, जब मैं वहां खड़ी-खड़ी देख रही थी तो मुझे ऐसा लगा कि मुझे कोई — चेतना या यहांका कोई व्यक्ति — पीछेकी ओर खींच रहा है ताकि मेरा शरीर जाग सके — और अपनी चेतनामें मैंने प्रतिवाद किया : "नहीं, नहीं, अभी नहीं ! अभी नहीं, मैं लोगोंको देखना चाहती हूं।" मैं देख रही थी और बड़े चावसे ध्यानपूर्वक देख रही थी . . .। यह तबतक होता रहा जबतक कि सहसा, यहां इस दीवार-घड़ीने तीन बजाने शुरू कर दिये, वह मुझे जबरदस्ती वापिस धरती-पर ले आयी। मुझे अपने शरीरमें अचानक आ गिरनेका अनुभव हुआ। मैं एक झटकेके साथ नीचे उतरी थी पर मेरी स्मृति सही-सलामत थी, यद्यपि बहुत ही अचानक मुझे वापिस बुला लिया गया था। बिना हिले-डुले मैं तबतक शांत बनी रही जबतक कि मैंने पूरी अनुभूतिको पुनः याद करके सुरक्षित नहीं कर लिया।

उस नावपर चीजोंके स्वभाव और स्वरूप वैसे नहीं थे जैसे हम इस

पृथ्वीपर देखते हैं। उदाहरणार्थ, उनकी पोशाकें कपड़ेसे नहीं बनी थीं और वह चीज जो कपड़े-जैसी लगती थी कपड़ेकी तरह नहीं बुनी गयी थी; वह उनके शरीरका ही एक अंग थी, वे उसी तत्त्वसे बनी थीं जो तरह-तरहके रूप धर लेता था। उसमें एक तरहकी नमनीयता थी। जब किसी परिवर्तनकी आवश्यकता होती तो वह हो जाता था, पर किसी बनावटी या बाह्य तरीकेसे नहीं, बल्कि एक आंतरिक क्रियाद्वारा, वह चेतनाकी क्रियाद्वारा होता था जो उस तत्त्वको रूप या आकृति देती थी। जीवन अपने आकार आप रच लेता था। वहां सब चीजोंमें **एक ही तत्त्व** था: वह आवश्यकता और उपयोगिताके अनुसार अपने स्पंदनके गुणको बदल लेता था।

जिन्हें नये प्रशिक्षणके लिये लौटा दिया गया था उनका रंग एक-सा नहीं था, लगता था कि उनके शरीरपर ऐसे तत्त्वके गहरे धूसर धब्बे थे जो धरतीके तत्त्वसे मिलते-जुलते थे; वे धूमिल लगते थे, मानों ज्योतिद्वारा वे न तो पूरी तरह ओत-प्रोत हुए थे, न रूपांतरित। ऐसा सब जगह नहीं था, बस कहीं-कहीं।

घाटपर जो दीर्घकाय सत्ताएं थीं वे उसी रंगकी नहीं थीं, कम-से-कम उनमें वह नारंगी आभा नहीं थी, वे अधिक पाण्डुर और पारदर्शी थीं। उनके शरीरके एक भागको छोड़कर बाकीका खाका ही दीखता था। वे बहुत लंबी थीं, उनके शरीरमें मानों हड्डियां तो थीं ही नहीं, वे आवश्यकतानुसार कोई भी आकार ले सकती थीं। कमरसे पांवतक ही स्थायी घनत्व था जो शरीरके बाकी भागोंमें महसूस नहीं होता था। उनका रंग अधिक पीला था, बहुत थोड़ी-सी लालिमा लिये, वह अधिक सुनहला था, शायद सफेदके अधिक पास। धवल-से प्रकाशसे आलोकित अंश पारभासी थे; वे नितांत पारदर्शी नहीं थे, फिर भी नारंगी तत्त्वसे कम ठोस और अधिक सूक्ष्म थे।

जब मैं वापस बुलायी गयी और उस घड़ी जब मैं "अभी नहीं" कह रही थी, दोनों बार मैंने अपने-आपको एक उड़ती निगाहसे देखा, अर्थात्, अतिमानसिक जगत्में अपने रूपको देखा। मैं उन दीर्घकाय सत्ताओं और नावपरके लोगोंका एक मिश्रण थी, मेरा ऊपरी भाग, खासकर सिर एक रेखा-चित्र था, जिसकी अंतर्वस्तु श्वेत थी और कोर नारंगी। पांवकी ओर जाते-जाते उसका वर्ण नावके लोगोंकी तरह होता जाता था, यानी, वह नारंगी था; दुबारा सिरकी ओर आते-आते वह अधिकाधिक पारभासक और श्वेत होता जाता था, और लाली घट जाती थी। सिर केवल एक रेखा-चित्र-सा था जिसके अंदर भास्वर सूर्य था, इसमेंसे ज्योतिकी

किरणें निकल रही थीं जो संकल्प-शक्तिकी क्रिया थी।

जिन्हें मैंने जहाजमें देखा था उन सबको मैं पहचानती थी। उनमेंसे कुछ तो यहां, आश्रमके थे, कुछ और जगहोंसे आये थे, पर मैं उन्हें भी जानती थी। वहां मैंने सभीको देखा। लेकिन चूंकि मैं जानती थी कि जब मैं लौटूंगी तो मुझे कुछ भी याद न रहेगा, मैंने कोई भी नाम न देनेका निश्चय किया। और फिर इसकी कोई जरूरत भी नहीं। तीन-चार चेहरे बहुत स्पष्ट दिखायी देते थे, और जब मैंने उन्हें देखा तो मैं अपनी उस भावनाको समझ पायी जो यहां पृथ्वीपर उनकी आंखोंमें देखते समय पैदा हुई थी: कितना अनूठा उल्लास था उनमें ...। वे अधिकतर युवक थे, बच्चे बहुत कम थे और उनकी उम्र चौदह-पंद्रहके बीच थी। निश्चय ही, वे दस-बारह वर्षसे कमके न थे (मैं वहां इतने काफी समयतक नहीं ठहरी कि इन सब बारीकियोंको देख सकती)। कुछ एकको छोड़कर वृद्धोंकी संख्या नहींके बराबर थी। तटपर उतरने-वालोंमें कुछको छोड़कर अधिकतर अधेड़ आयुवाले थे। इस अनुभूतिके पहले ही कुछ व्यक्ति उस जगह कई बार जांचे जा चुके थे, जहां अति-मानसिक बननेकी योग्यतावाले व्यक्तियोंकी परीक्षा होती थी। तब मैंने कई आश्चर्यजनक बातें देखीं और उन्हें अंकित कर लिया; कुछको तो मैंने इसके बारेमें बताया भी था। लेकिन मैंने आज जिन्हें तटपर उतारा है उन्हें मैंने बड़ी अच्छी तरह देखा है; वे बीचकी आयुवाले थे, न छोटे बच्चे थे, न बूढ़े, कुछ विरल अपवाद अवश्य थे। और यह काफी कुछ मेरी आशासे मेल खाता था। मैंने कुछ न कहने और नाम न बतानेका निश्चय किया। चूंकि मैं अंततक वहां नहीं रुकी अतः ठीक-ठीक चित्र पाना मेरे लिये संभव न था। वह चित्र न तो पूरी तरह स्पष्ट था, न पूर्ण। मैं यह भी नहीं चाहती कि कुछको उसके बारेमें बताऊं और कुछको नहीं।

मैं इतना ही कह सकती हूं कि यह दृष्टिकोण या फैसला केवल उस तत्त्वपर आधारित था जिससे लोगोंका निर्माण हुआ था, अर्थात्, क्या वे पूर्णतः अतिमानसिक जगत्के प्राणी थे, क्या वे उसी विशिष्ट तत्त्वके बने थे, जो दृष्टिकोण अपनाया गया था वह न तो नैतिक था, न मनोवैज्ञानिक। यह हो सकता है कि जिस तत्त्वसे उनके शरीर बने थे वह किसी आन्तरिक विधान या आन्तरिक क्रियाका परिणाम हो, पर उस समय तो उसका प्रश्न नहीं था। कम-से-कम इतना तो स्पष्ट है कि वहांके मूल्य कुछ और हैं।

जब मैं लौट आयी तो अनुभूतिकी यादके साथ-ही-साथ मैं यह भी जानती थी कि अतिमानसिक जगत् स्थायी था, वहां मेरी उपस्थिति भी स्थायी थी, सिर्फ कमी थी तो एक कड़ीकी जो चेतना और तत्त्वके बीच

सम्बन्ध जोड़ सके। और वह कड़ी गढ़ी जा रही है। उस समय मुझे एक चरम सापेक्षताकी अनुभूति हुई (वह अनुभूति काफी देरतक, लगभग दिन-भर बनी रही) — नहीं, ठीक ऐसा भी नहीं : वह अनुभूति यह थी कि इस जगत् और उस जगत्के सम्बन्धने उस दृष्टिकोणको नितान्त बदल दिया जिसके अनुसार चीजोंका मूल्यांकन और विवेचन होना चाहिये। इस दृष्टिकोणमें कोई मानसिक तत्त्व न था, बल्कि इसने ऐसी विलक्षण आन्तरिक भावना जगायी कि बहुत-सी चीजें जिन्हें हम अच्छा या बुरा मानते हैं सचमुच वैसी नहीं हैं। यह बिलकुल स्पष्ट है कि सब कुछ निर्भर है चीजोंकी क्षमतापर, अतिमानसिक जगत्को रूपायित करनेकी स्वाभाविक योग्यतापर या फिर उसके साथ नाता जोड़नेपर। यह हमारी साधारण गुण-विवेचनाओंसे बहुत अधिक भिन्न है, कभी-कभी तो विपरीत भी। मुझे एक छोटी-सी चीज याद आ रही है, जिसे अक्सर हम बहुत खराब मानते हैं, कितना अजीब लगा यह देखकर कि वास्तवमें वह बहुत बढ़िया थी! कुछ और चीजें जिन्हें हम बहुत महत्त्वपूर्ण समझते हैं, वास्तवमें कोई महत्त्व नहीं रखतीं : अमुक चीज ऐसी है या अमुक वैसी, इसका कोई महत्त्व नहीं। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि दिव्य और अदिव्यकी हमारी विवेचना ही ठीक नहीं होती। कुछ चीजोंपर तो मैं हंस पड़ी...। भगवद्-विरोधी क्या है इसकी हमारी सामान्य भावना कृत्रिम प्रतीत होती है, वह ऐसी चीजपर आधारित लगती है जो सत्य और सजीव नहीं है (और फिर जिसे हम यहां जीवन कहते हैं वह उस जगत्की तुलनामें जीवन्त नहीं लगा), जो भी हो, यह भाव आधारित होना चाहिये दोनों जगतोंके बीचके हमारे सम्बन्धपर और इस बातपर कि चीजें अपने सम्बन्धको और भी सरल या कठिन कैसे बनाती हैं। तब इस बातकी विवेचनामें बहुत अन्तर पड़ जायगा कि कौन-सी चीज हमें भगवान्के निकट ले जाती है और कौन-सी दूर। मनुष्योंमें भी मैंने देखा कि जो चीज उन्हें अतिमानसिक बननेमें मदद देती है या बाधा डालती है वह उससे बहुत भिन्न है जिसकी कल्पना हमारी नैतिक धारणाएं करती हैं। मुझे लगा कि हम कितने ... हास्यास्पद हैं।

★

(श्रीमां तब बच्चोंसे कहती हैं): इसका अनुक्रम है, एक प्रकारसे ३ फरवरीको हुई अनुभूतिका परिणाम। लेकिन इसे अभी पढ़ना कुछ असामयिक होगा। यह बादमें अप्रैल अंकमें प्रकाशित होगा।

मुझे तुम्हें यह अवश्य बता देना चाहिये कि फिलहाल हमारे जगत् और

अतिमानसिक जगत्‌के बीच जो सबसे प्रधान अन्तर मुझे लगता है वह यह है (और यह अन्तर अपनी सारी अतिशयताके साथ मेरे सामने तभी प्रकट हुआ जब मैं वहां सचेतन होकर गयी, उस चेतनाके साथ गयी जो सामान्यतया यहां काम करती है) : भीतर, बहुत गहराईमें जो कुछ हो रहा है उसे छोड़कर बाकी सब कुछ यहां बिलकुल बनावटी लगा। साधारण भौतिक जीवनका कोई भी मूल्य सत्यपर आधारित नहीं है। जैसे तन ढकनेके लिये हम कुछ कपड़ा लेनेको मजबूर होते हैं और जब उसे पहनना चाहें तो पीठपर डालनेके लिये पोशाकें सीते हैं वैसे ही खानेके लिये हमें बाहरसे चीजें लेनेकी जरूरत पड़ती है और पोषणके लिये उन्हें उदरस्थ करना पड़ता है। हर तरहसे हमारा जीवन बनावटी है।

सच्चा, सरल, सहज जीवन जैसा अतिमानसिक जगत्‌में होता है, वह जिसमें चीजें सचेतन संकल्पद्वारा निर्झरकी तरह फूट निकलती हैं, पदार्थपर ऐसा अधिकार होता है कि वह हमारे निश्चयके अनुरूप बन जाय। और जिसके पास शक्ति और ज्ञान हैं वह जो चाहे प्राप्त कर सकता है, लेकिन जिसके पास नहीं है उसके पास मनचाही चीजें पानेके लिये कोई कृत्रिम साधन नहीं होता।

साधारण जीवनमें **सभी कुछ** कृत्रिम है। जन्म और परिस्थितियोंके संयोगसे तुम कुछ ऊंची या नीची स्थिति, कम या ज्यादा आरामदेह पाते हो, इसलिये नहीं कि यह तुम्हारी आंतरिक आवश्यकता और तुम्हारी सत्ताकी सहज, स्वाभाविक और सरल अभिव्यक्ति है, बल्कि इसलिये कि जीवनमें संयोगसे आयी परिस्थितियां तुम्हें इन चीजोंके संपर्कमें ले आयी हैं। एक बिलकुल निकम्मा आदमी बहुत ऊंची स्थितिमें हो सकता है और निर्माण एवं सृजन और संगठनकी अद्‌भुत योग्यतावाला व्यक्ति अपनेआपको अति दीन-हीन और सीमित परिस्थितियोंमें गुलामी करता पा सकता है, जब कि, यदि दुनिया सच्ची होती तो वह पूर्ण रूपसे उपयोगी आदमी होता।

इस बनावटीपन, कपट और निरी सत्यहीनताने मुझे ऐसा धक्का दिया कि ... आदमी सोचता रह जाता है कि इतने मिथ्या जगत्‌में यथार्थ मूल्यांकन कैसे हो सकते हैं।

लेकिन उदास, दुःखी, विद्रोही, असन्तुष्ट होनेके बजाय, जैसा कि मैं तुम्हें अन्तमें बता रही थी, ऐसी हास्यास्पद, ऊट-पटांग भावना थी कि कुछ दिनोंतक जब भी मैं लोगों और वस्तुओंको देखती थी तो बेतहाशा हंसी फूट पड़ती थी। परिस्थितियोंके बेतुकेपनके कारण ऐसी हंसी जिसका मेरे सिवाय किसीको कोई कारण न दीख सकता था।

जब मैंने तुम्हें अज्ञातकी यात्राके लिये, साहसिक यात्राके लिये आमंत्रित किया था तो मैं नहीं जानती थी कि मेरा कहना इतना सच था, और मैं यह वचन दे सकती हूं कि जो जोखिम उठानेको तैयार हैं वे बड़ी मनोहारी खोजें करेंगे।

★

३ फरवरीके अनुभवके कुछ दिन बाद श्रीमांको अन्य अनुभव हुए जो कुछ-कुछ पिछले अनुभवके अनुक्रममें थे। यह रहा वह अंश (अभिलेख):

हर व्यक्ति अपने साथ, अपने वायुमंडलमें उन्हें लिये फिरता है जिन्हें श्रीअरविन्दने सेंसर या "छिद्रान्वेषी" नाम दिया है। ये एक तरहसे विरोधी शक्तियोंके स्थायी प्रतिनिधि होते हैं। इनका धन्धा है हर काम-की, हर चिन्तनकी, चेतनाकी छोटी-से-छोटी क्रियाकी निर्मम आलोचना करना, तुम्हें अपने आचार-व्यवहारके गुप्त-से-गुप्त स्रोतके सामने ला खड़ा करना, तुम्हारे पवित्र और उदात्त दीखनेवाले विचारोंके सहगामी तुच्छ-से-तुच्छ, हीन स्पन्दनतकको उजागर कर देना।

यहां नैतिकताका कोई सवाल नहीं है। ये महाशय नैतिकताके आढ़तिया नहीं होते, फिर भी नैतिकताका प्रयोग करना खूब अच्छी तरह जानते हैं! और जब उन्हें धर्मभीरु चेतनासे काम पड़ता है तो वे बेदर्दीसे उसकी नाक-में दम कर सकते हैं, वे हर क्षण उसके कानोंमें फुसफुसायेंगे: "तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये था, तुम्हें वैसा नहीं करना चाहिये था, बल्कि तुम्हें ऐसा करना चाहिये था, ऐसा कहना चाहिये था, अब तो तुमने सब कुछ मटियामेट कर दिया, तुमने लाइलाज भूल की है, देखो गलतियोंने सब कुछ इस तरह चौपट कर दिया है कि सुधारकी कोई गुंजाइश ही नहीं।" ये किसी-किसीकी चेतनातकपर भी कब्जा कर लेते हैं: तुम किसी विचारको खदेड़ देते हो, और ठप! दो मिनट बाद वह फिरसे आ घुसता है; तुम उसे फिर खदेड़ते हो, पर वह फिरसे तुमपर हथौड़े बरसानेके लिये आ धमकता है।

जब भी इन महाशयोंसे भेंट होती है, मैं उनका स्वागत करती हूं, क्योंकि वे पूरी तरह निष्कपट होनेके लिये विवश करते हैं, वे सूक्ष्मतम पाखण्डको भी सूंघ लेते हैं और पल-पलपर तुम्हें अपने गुप्त-से-गुप्त स्पन्दनोंके सामने

ला खड़ा करते हैं। ये बहुत बुद्धिमान् हैं! बुद्धिमत्तामें ये हमसे अनन्त-गुना बढ़-चढ़कर हैं: ये सब कुछ जानते हैं, सचमुच आश्चर्यजनक सूक्ष्मता-के साथ छोटे-से-छोटे विचार, क्रिया या तर्कको तुम्हारे विरुद्ध तैनात करने-में बड़े माहिर हैं ये। उनसे कुछ भी नहीं चूकता। किन्तु जो बात इनपर शत्रुताका रंग चढ़ाती है वह यह है कि ये सबसे पहले और सबसे बढ़कर पराजयवादी हैं। ये चित्रको सदा अंधकारमय बनाकर तुम्हारे सामने रखते हैं, और जरूरत पड़े तो तुम्हारे अपने अभिप्रायोंको भी विकृत कर देते हैं, ये सचमुच निष्कपटताके सच्चे यंत्र हैं। पर जान-बूझकर ये एक चीज भूल जाते हैं, किसी चीजको बहुत दूर, पीछे छोड़ आते हैं मानों उसका कोई अस्तित्व ही नहीं: वह है भागवत कृपा। ये प्रार्थनाओंको भी भूल जाते हैं, वह स्वतःस्फूर्त प्रार्थना जो एकाएक हृदयके तलसे एक आकुल पुकार बनकर उठती है और 'कृपा'को उतार लाती है और चीजोंकी धारा-को बदल देती है।

और हर बार जब तुम कुछ प्रगति करते हो, एक नये उच्च स्तरपर पहुंचते हो, वे फिरसे तुम्हारे पिछले जीवनके सारे कार्य-कलाप तुम्हारे सामने रख देते हैं और कुछ महीनों, कुछ घंटों या कुछ मिनटोंमें उस उच्च स्तरपर पुनः तुम्हें उन सब परीक्षाओंमेंसे गुजारते हैं। और विचारको परे हटाना और यह कहना: "ओह,! मैं जानता हूं," और आंखोंपर परदा डाल लेना ताकि कुछ दिखायी न दे, काफी नहीं है। उसका सामना करना होगा, उसे जीतना होगा, अपनी चेतनाको ज्योतिसे परिपूरित, निष्कंप, बिना कुछ बोले शरीरके कोषाणुओंको निःस्पन्द रखना होगा — और तब आक्रमण विलीन हो जाता है।

लेकिन हमारी "शुभ और अशुभ"की धारणाएं कितनी उपहासजनक हैं। हमारी मान्यताएं कि कौन-सी चीज भगवान्‌के नजदीक है और कौन-सी चीज भगवान्‌से दूर, कैसी हास्यास्पद हैं। उस दिन, ३ फरवरीकी अनुभूति मेरे लिये आंख खोलनेवाली घटना थी। मैं उसमेंसे बिलकुल बदली हुई निकली। एकाएक बहुत सारी बीती बातें, कर्म, अपने जीवनके वे पक्ष जो अबतक अबोध्य थे, मेरी समझमें आ गये। — सचमुच, एक बिन्दुसे दूसरे बिन्दुतक जानेकी छोटी-से-छोटी राह सीधी रेखा नहीं है जैसा कि लोग कल्पना करते हैं!

और जितनी देर वह अनुभूति रही, करीब एक घंटा — उस समयका एक घंटा भी बहुत लम्बा होता है —, मैं एक निराली आनन्दपूर्ण अवस्था-में थी, लगभग मदहोशीकी अवस्थामें...। दोनों चेतनाओंमें आपसमें इतना अन्तर है कि जब तुम उनमेंसे एकमें होते हो तो दूसरी झूठी लगती है,

सपने-जैसी, मैं जब लौटी तब सबसे पहले जो चीज मुझे खली वह थी यहांके जीवनकी निस्सारता। यहांकी क्षुद्र धारणाएं कितनी हास्यास्पद और बेतुकी लगती हैं...। हम कुछ लोगोंके बारेमें कहते हैं कि वे पागल हैं, पर अतिमानसिक दृष्टिकोणसे उनका पागलपन शायद महान् प्रज्ञा हो, और शायद उनका आचरण सच्चाईके ज्यादा करीब हो — मैं उन अभागे पागलोंकी बात नहीं कर रही जिनके दिमागको कोई चोट पहुंची है, पर अन्य बहुत सारे अबोध पागलोंकी, आलोकित पागलोंकी बात कर रही हूं: वे बहुत जल्दी सीमा पार कर जाना चाहते थे, पर बाकी सबने साथ नहीं दिया।

जब हम अतिमानसिक चेतनासे इस मानव जगत्को देखते हैं तो उसकी प्रधान विशेषता होती है अजनबीपन और बनावटीपनकी भावना — एक बेतुकी दुनिया, क्योंकि वह बनावटी होती है। यह जगत् इसलिये मिथ्या है क्योंकि उसका भौतिक रूपरंग वस्तुओंकी गहरी सच्चाईको बिलकुल ही प्रकट नहीं करता। जो अन्दर है और जो दिखायी देता है उनमें कुछ अव्यवस्था-सी है। इस तरह, एक आदमी जिसकी गहराइयोंमें दैवी शक्ति है, बाहरी स्तरपर अपने-आपको गुलामकी स्थितिमें पा सकता है। यह बेहूदगी है! दूसरी ओर अतिमानसिक जगत्में इच्छा-शक्ति सीधे-सीधे पदार्थपर कार्य करती है, और पदार्थ उस इच्छा-शक्तिका आज्ञाकारी होता है। तुम अपने-आपको ढकना चाहते हो: वह तत्त्व जिसमें तुम रहते हो तुम्हें ढकनेके लिये तुरत पोशाकका रूप धारण कर लेता है। तुम एक जगहसे दूसरी जगह जाना चाहते हो: बिना किसी वाहन या किसी तरहके कृत्रिम उपकरणके तुम्हें यहांसे वहां पहुंचा देनेके लिये तुम्हारी इच्छा ही काफी होती है। अतः मेरी अनुभूतिके जहाजको चलानेके लिये किसी कल-पुर्जेकी जरूरत नहीं हुई, वह इच्छा ही थी जिसने पदार्थको आवश्यकतानुसार बदल दिया था। जब उतरनेका समय आया तो तट भी अपने-आप बन गया। जब मैंने दलोंको उतारना चाहा तो जिन्हें उतरना था वे मेरे एक शब्द कहे बिना स्वयं जान गये और वे अपने क्रममें आ गये। चुपचाप सब कुछ होता रहा, वहां अपनी बात समझानेके लिये कुछ कहनेकी जरूरत ही नहीं पड़ी; परंतु जहाजकी नीरवतामें कृत्रिमताकी वह छाप नहीं थी जो यहां हुआ करती है। यहां जब तुम मौन रहना चाहते हो तब तुम्हें चुप रहना पड़ता है; यहां नीरवता शब्दके विपरीत है। वहां नीरवता थी गुंजायमान, जीवंत, सक्रिय, व्यापक और बोधगम्य।

यहां विसंगति उन सब बनावटी साधनोंसे आती है जिनका सहारा लेना पड़ता है। किसी भी मूर्खको अधिक शक्ति प्राप्त हो सकती है यदि उसके

पास आवश्यक चतुर साधन प्राप्त करनेके तरीके हों। लेकिन अतिमानसिक लोकमें व्यक्ति जितना अधिक सचेत होगा और चीजोंकी सच्चाईके साथ जितना अधिक एकलय होगा उस पदार्थपर उसकी इच्छा-शक्तिका अधिकार भी उतना ही अधिक होगा। यही अधिकार सच्चा अधिकार है। यदि तुम परिधान चाहते हो तो उसे बनानेके लिये तुममें क्षमता, सच्ची क्षमता होनी चाहिये। यदि तुममें वह क्षमता नहीं है तो फिर तुम नंगे रहो। वहां एक भी ऐसा उपकरण नहीं जो इस क्षमताका स्थान ले सके। यहां लाखों-करोड़ोंमें एक भी ऐसा प्रभुत्व नहीं जो किसी सच्ची चीजकी अभिव्यक्ति हो। सब कुछ घोर मूर्खतापूर्ण है।

जब मैं फिरसे नीचे उतर आयी — "नीचे उतर आयी" यह तो कहनेका ढंग है, क्योंकि यह न तो ऊपर है, न नीचे, न भीतर, न बाहर, वह ...कहीं है, — मुझे स्वयंको फिरसे संभालनेमें कुछ समय लगा। मुझे यह भी याद है कि मैंने किसीसे कुछ कहा था : "अब हम पुनः अपनी अभ्यस्त मूर्खतामें गिरने जा रहे हैं।" किंतु बहुत-सी बातें मेरी समझमें आ गयी हैं और मैं वहांसे निर्णायक शक्ति लेकर लौटी हूं। अब मैं जानती हूं कि यहां इस धरतीपर वस्तुओंके मूल्यांकनके हमारे तरीकेके साथ और हमारी तुच्छ नैतिकताके साथ अतिमानसिक जगत्‌के मूल्यांकनका कोई मेल नहीं।

★

यहांकी ऊपरी चीजें नाटकीय नहीं। ये मुझे अधिकाधिक साबुनके बुलबुले जैसी लगने लगी हैं, खासकर ३ फरवरीसे।

ऐसे लोग हैं जो निराशामें, आंसूभरे उस अवस्थामें आते हैं जिसे वे भीषण नैतिक यातना कहते हैं, जब मैं उन्हें यूं देखती हूं तो अपनी चेतनाकी, जो तुम सबको अपनेमें समाये है, एक सुईको जरा-सा घुमा देती हूं, और जब वे वापस चले जाते हैं तो अपने-आपको बिलकुल स्वस्थ पाते हैं। यह सुई ठीक कम्पासकी सुईकी तरह है : अपनी चेतनामें तुम उसे घुमाभर दो और सब कुछ समाप्त। स्वभावतः वह बादमें अभ्यासवश दुबारा आ जाता है। ये साबुनके बुलबुलोंके सिवा और कुछ नहीं।

मैंने भी यातनाओंको जाना है, लेकिन मेरे अंदर हमेशा एक ऐसी चीज रहती थी जो तटस्थ होकर पीछे रहना जानती थी।

इस दुनियामें केवल एक ही चीज है जो मुझे अभीतक असह्य लगती

है, वह है भौतिक विकृति, शारीरिक दुःख-दर्द, कुरूपता, प्रत्येक सत्तामें निहित सौंदर्यकी संभावनाको अभिव्यक्त करनेकी अक्षमता। पर एक दिन इसपर भी विजय प्राप्त की जायगी। वहां भी, एक दिन वह शक्ति आयेगी जो सुईको जरा-सा घुमा देगी। हमें सिर्फ चेतनामें और ऊपर उठना होगा! जड़-पदार्थमें जितनी ही गहराईमें उतरना चाहो उतना ही चेतनामें ऊपर उठना आवश्यक होगा। इसमें कुछ समय लगेगा। निःसंदेह श्रीअरविंदने ठीक ही कहा है कि इस कार्यमें कुछ शताब्दियां लग जायंगी।

२६ फरवरी, १९५८

मधुर मां, आपने हमें कई बार सूर्यकी शक्तियोंके बारेमें बताया है, लेकिन चन्द्रमा या तारोंके बारेमें कभी कुछ नहीं कहा?

किस दृष्टिकोणसे? प्रतीकात्मक दृष्टिकोणसे?

हां, मां।

यह निर्भर है संप्रदायोंपर, यह निर्भर है कालपर, यह निर्भर है देशोंपर ...। आम तौरसे चन्द्रमा आध्यात्मिक शक्ति, आध्यात्मिक प्रगति, आध्यात्मिक अभीप्सासे संबन्धित होता है।

बढ़ता चन्द्रमा रूपान्तरके लिये आध्यात्मिक अभीप्साका प्रतीक माना जाता था, और आध्यात्मिक परिपूर्णताका प्रतीक था पूनमका चांद। चांदनी सदा ही अन्तर्दर्शनों, काव्यमयी प्रेरणाओं और पार्थिव लोकसे परेके क्रिया-कलापके लिये बड़ी अनुकूल मानी जाती रही है। तरह-तरहके किस्से-कहानियां और किंबदंतियां इन तारोंके बारेमें प्रचलित हैं — वे तारे जो किसी दिव्य पुरुषके जन्मदिनपर उगते हैं... पर यह सब काफी हदतक साहित्यिक प्रतीक है।

यह विश्वास काफी व्यापक है कि मनुष्यके भाग्यपर तारोंका विशेष प्रभाव पड़ता है। यहांतक कि एक पूरा शास्त्र ही इसपर खड़ा हो गया है और आकाशमें तारोंकी विभिन्न स्थितियोंके आधारपर वह लगभग पूरी भविष्यवाणी कर देता है कि किसीके जीवनमें क्या घटनेवाला है।

जब हम चिन्तनकी प्रारंभिक अवस्थामें होते हैं तो हम यह अर्थ लगाते हैं कि तारोंका हमारे जीवनपर प्रभाव होता है... यह सोचना ज्यादा तर्कसंगत और ठीक लगता है कि यह मनुष्यके भाग्यकी एक स्वर-लिपि या अभिलेख है, क्योंकि, विश्व-ऐक्यमें सब कुछ एक साथ चलता है, और यदि तुम्हें व्यक्ति और विश्वके आपसी सम्बन्धोंको पढ़ना आता हो तो तुम्हें वैश्व नक्षत्रोंकी स्थितिमें एक-न-एकके जीवनको प्रतीक-रूपसे दर्शाता हुआ ग्राफ-सा मिलेगा।

अनुभव प्रमाणित करता है कि यह अंकन, जिसे फलित-ज्योतिषमें जन्मकुण्डली कहते हैं, कोई निर्णायक चीज नहीं और न ही यह नियति अनिवार्य है, क्योंकि जब कोई योग करनेका और आध्यात्मिक विकास करनेका निश्चय करता है तो वह जन्मकुण्डलीके अटल विधानसे बच निकलता है। यह भौतिक स्तरपर वैश्व और वैयक्तिक जीवनके बीचके सम्बन्धका एक तरहका अंकन होगा और चेतनाके भौतिक स्तरमें चेतनाके उच्चतर स्तरके समावेशसे ये सम्बन्ध बदल भी सकते हैं।

इन सबको हम अर्ध-ज्ञानकी संज्ञा दे सकते हैं जो वैश्व सत्ता और वैयक्तिक सत्ताकी अन्योन्याश्रित कड़ीको पकड़नेकी एक प्रकारकी अविकसित चेष्टा है। और ये सारी चीजें भाषाएं-भर हैं जो कुछ कच्चे ज्ञानोंको निश्चित रूप देनेमें सहायक होती हैं। ये संपूर्ण नियम या निर्विवाद तथ्य नहीं है। वस्तुओंको यथातथ रूपमें समझनेके लिये ये प्रयास हैं, प्रयत्न हैं, पर हैं काफी अधूरे, कुछ लोगोंके लिये इनमें आकर्षण हो सकता है, पर आखिर ये वस्तुओंके सत्यके लिये स्थूल प्रवेश जैसे ही हैं।

यदि कोई मानसिक मानवीय ज्ञानकी पर्याप्त गहराईमें जाय तो वह अनुभव करेगा कि बाह्य रूपसे प्राप्त मानसिक चेतनाका यह ज्ञान एक काफी जटिल भाषासे बढ़कर शायद ही कुछ हो। यह हमें एक-दूसरेको समझनेके लिये तो समर्थ बनाती है, परन्तु वस्तुओंके सत्यके साथ इसका नाता दूरका ही होता है।

तादात्म्यके द्वारा एक सीधा मार्ग है जो बहुत अधिक प्रभावशाली है, कह सकते हैं कि वह तुम्हारी अंगुलीको, समूचे यंत्रको वस्तुओंकी कुंजीपर रख देता है, एक सीधी, सरल कुंजी जिसे अपने-आपको व्यक्त करनेके लिये किसी दुरूह ज्ञानकी आवश्यकता नहीं, ऐसा कुछ जो चेतना और संकल्पकी गतिविधियोंसे मेल खाता है, जिसे अपने-आपको व्यक्त करनेके लिये सारी मानसिक उलझनोंकी जरूरत नहीं पड़ती। तब अपनी सर्वांग संपूर्णताके साथ वैश्व यथार्थता प्रतीक बन जाती है जिसे उसके सार तत्त्वमें प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

५ मार्च, १९५८

मां, क्या आप "प्रत्यावर्तन" के बारेमें हमें कुछ बतायेंगी जिसकी बात आप पहले भी कई बार कह चुकी हैं? आपने कहा था कि नयी चेतनाको पानेके लिये प्रत्यावर्तन आवश्यक है।

प्रत्यावर्तन ?

अब हमें किस तरहके प्रत्यावर्तनकी जरूरत है? आपने कहा था "चेतनाका प्रत्यावर्तन।"

यह तो कहनेका एक तरीका है। इसका यह मतलब नहीं कि तुम सिर नीचे और पांव ऊपर करके चलने लगो!... यह तो एक रूपक है।

हां, मां, श्रीअरविन्दने भी कहा है,[1] तब...

---

[1] "सामान्य पाशव सत्तासे मानव स्वभावकी सत्तामें परिवर्तनकी आवश्यक शर्त होगी दैहिक गठनका विकास; यह विकास एक तेज प्रगतिकी, चेतनाके प्रत्यावर्तन या पलटावकी, एक नयी उच्चतापर पहुंचने और वहांसे निचली भूमिकाओंपर नजर डालनेकी सामर्थ्य प्रदान करेगा; यह सामर्थ्यको इतना ऊंचा और विशाल बना देगा कि जो प्राणीको यह क्षमता देगा जिससे वह पुरानी पाशविक शक्तियोंपर अधिक विशाल एवं अधिक नमनशील बुद्धि, अर्थात्, मानव बुद्धिके द्वारा अधिकार करके उनपर क्रिया करेगा और इसके साथ-ही-साथ या पीछेसे प्राणीके नये प्ररूपके उपयुक्त अधिक महान् और सूक्ष्मतर शक्तियोंको — जैसे कि तर्क करने, चिन्तन करने, जटिल प्रेक्षण करने, संगठित आविष्कार करने, विचार और खोज करनेकी शक्तिको — विकसित कर सकेगा... ऐसा पलटाव प्रकृतिके प्रत्येक आमूल संक्रमणमें हुआ है; अतः जड़-तत्त्वसे उन्मज्जित होती हुई 'प्राण-शक्ति' 'जड़-तत्त्व'की ओर मुड़ती है, भौतिक ऊर्जाकी क्रियाओंपर प्राणिक अन्तस्तत्त्व आरोपित करती है, इसके साथ-साथ वह अपनी निजी नवीन गति-प्रवृत्तियों एवं क्रियाओंको भी विकसित करती है; फिर 'प्राण-शक्ति' और 'जड़-तत्त्व'में प्राणिक मन उन्मज्जित होता है और अपनी चेतनाके अन्तस्तत्त्वको उनकी क्रियाओंपर आरोपित करता है, और इसके साथ-साथ अपनी क्रिया

यदि रूपक तुम्हें किसी प्रत्यक्ष ज्ञानकी ओर ले जाता है तो अच्छी बात है, पर तुम इसके द्वारा नहीं (श्रीमां सिरकी तरफ इंगित करती हैं) समझ सकते। यदि यह तुमपर ऐसी छाप छोड़ता हो जो उन चीजोंकी व्याख्या करती हो या उन्हें अच्छी तरह समझा सकती हो तो यह बड़ी अच्छी बात है, पर उन्हें न तो शब्दोंकी भरमारसे और न मस्तिष्कसे ज्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता है।

चीजोंको बिलकुल अलग ढंगसे देखनेपर जिस तरहका संवेदन होता है — उसे प्रत्यावर्तन कहते हैं। यह जैसे... हमेशा उसकी तुलना समपार्श्व या प्रिज्मसे की जाती है: जब तुम उसे एक तरफसे देखो तो प्रकाश श्वेत होता है, और यदि तुम उसे उलटा कर देखो तो वह सब तरहके रंगोंमें बिखर जाता है। यह कुछ ऐसी ही चीज है।

शब्दोंका मोल और उनकी उपयोगिता तब है जब, किसी विशेष कृपा-वश, वे उस 'सद्‌वस्तु'के साथ तुम्हारा संपर्क करा दें, अपने-आपमें उनका कोई मूल्य नहीं।

वस्तुतः, आदर्श अवस्था (जिसे अभीतक कुछ व्यक्ति अंशतः उपलब्ध कर चुके हैं) तो है सारभूत विचारको, और उसे भी जो विचारके परे है एक अवस्था — चेतनाकी अवस्था, ज्ञानकी अवस्था, प्रबोधकी अवस्था —उसे सीधा, स्पन्दनद्वारा भेजना। जब तुम सोचते हो तो तुम्हारा मान-सिक तत्त्व, तुम्हारे विचारको तुम्हारी चेतना जो रूप देती है उसके अनुसार, अमुक ढंगसे स्पन्दित होता है; और यदि इनका सुरमेल अच्छी तरह बिठाया गया हो तो यही स्पन्दन दूसरेके मनद्वारा ग्रहण किया जाना चाहिये।

मूलतः शब्द केवल अन्य चेतना या अन्य चेतनाके केन्द्रको आकर्षित करने-के साधन हैं, ताकि वह स्पन्दनके प्रति एकाग्र हो सके और उसे ग्रहण कर सके, पर यदि वह एकाग्र नहीं है और उसमें अपेक्षाकृत नीरवतामें ग्रहण करनेकी क्षमता नहीं है तो तुम चाहे मीलों शब्द उंड़ेलते जाओ, फिर भी अपने-आपको रत्ती भर भी न समझा पाओगे। और एक क्षण ऐसा भी होता है जब अपने कुछ स्पन्दनोंके निस्सरणमें अति सक्रिय मस्तिष्क स्पष्ट और सुनिश्चित स्पन्दन ही पकड़ सकता है, अन्यथा उलझन और अनिश्चितताका धूमिल मिश्रण-सा रहता है, पोली, धुंधली, उलझी हुई राशि-

---

और क्षमताएं भी विकसित करता है, एक नया महत्तर उन्मज्जन और प्रत्या-वर्तन, अर्थात्, मानवताका उन्मज्जन प्रकृतिकी पूर्व घटनाओंके अनुरूप है; यह उसी व्यापक नियमका नवीन प्रयोग होगा।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८३८-३९)

का-सा आभास देता है, कोई विचार नहीं उभारता। तब, कोई बोलता है तो आवाज साफ-साफ सुनायी पड़ती है, लेकिन कुछ पल्ले नहीं पड़ता — यह आवाजकी बात नहीं है, यह तो स्पन्दनोंमें सुनिश्चितताकी बात है।

यदि तुम अपना विचार ठीक-ठीक निकाल सको, यदि यह तुम्हारी चेतनासे निकला सजीव और **सचेतन** विचार हो और दूसरी चेतनासे मिलने जा रहा हो, या यूं कहें, यदि तुम्हें पता हो कि तुम क्या कहना चाहते हो तो यह उस सुनिश्चितताके साथ आता है, उसके अनुकूल स्पन्दन जगाता है और उसके अनुरूप स्पन्दनके साथ आता है विचार या चिन्तन या चेतनाकी अवस्था और तब हम एक-दूसरेको समझ सकते हैं। पर यदि जो कुछ निस्सृत हुआ है वह उलझा हुआ और अयथार्थ है, यदि तुम्हें अच्छी तरह मालूम नहीं कि तुम क्या कहना चाहते हो, यदि तुम आप ही समझनेकी चेष्टा कर रहे हो कि तुम क्या कहना चाहते हो, और दूसरी तरफ यदि श्रोता सुननेके लिये यथेष्ट जागरूक नहीं है या वह कहीं और व्यस्त और क्रियाशील है तो तुम चाहे घंटों बोलते जाओ, वह तुम्हें बिलकुल नहीं समझेगा।

और वस्तुतः अक्सर यही होता है। तुमने दूसरोंतक जो कुछ भेजनेकी चेष्टा की उसके परिणामको यदि तुम उनकी चेतनामें देख सको तो तुम्हें हमेशा यह लगता है... तुम्हें मालूम है विकृत करनेवाले आईने क्या होते हैं? क्या तुमने कभी नहीं देखे विकृत करनेवाले आईने? वे आईने जिनमें तुम अधिक लम्बे दिखायी देते हो या अधिक मोटे, जो एक अंगको बड़ा करके दिखाते हैं, दूसरेको छोटा; सचमुच तुम अपने सामने अपना ही भद्दा कार्टून देखते हो — हां, बिलकुल यही होता है; जो कुछ तुमने कहा है, दूसरेकी चेतनामें उसका काफी विकृत कार्टून देखते हो। और आदमी मान बैठता है कि उसकी बात समझ ली गयी है क्योंकि शब्दोंकी आवाज सुन ली गयी है लेकिन वहां कुछ भी संचरित नहीं हुआ।

अतः यदि तुम मानसिक तत्त्वपर जरा-सा भी प्रभाव डालना चाहो तो पहली बात यह सीखो कि स्पष्ट रूपमें कैसे सोचा जाय, शब्दपर आश्रित मौखिक विचार नहीं, वरन् ऐसा विचार जिसे शब्दोंकी जरूरत न हो, जो शब्दोंसे परे अपने-आपमें समझा जा सके, जो **तथ्य**के साथ मेल खाता हो, चेतनाकी एक अवस्थाके तथ्य, या ज्ञानके तथ्यके साथ। शब्दोंके बिना सोचनेकी जरा कोशिश करो, तब पता लगेगा कि तुम कितने पानीमें हो।

क्या तुमने कभी ऐसी कोशिश नहीं की? अच्छा, कर देखो।

जो बात तुम दूसरोंतक पहुंचाना चाहते हो उसकी तुम्हें बहुत स्पष्ट

और सुनिश्चित समझ होती है — यह एक विशेष तरीकेसे स्पन्दित होती है, उसमें मानसिक तत्त्वको एक रूप देनेकी सामर्थ्य होती है। और फिर, **इसके बाद**, आदमीकी मानवी आदतोंकी सुविधाके लिये चेतनाके स्पन्दनको शाब्दिक रूप देनेकी कोशिशमें तुम इसके इर्द-गिर्द बहुत-से शब्द सजाने लगते हो (वहां, बहुत नीचे)। लेकिन यह शाब्दिक रूप बिलकुल गौण है। यह तो चिन्तन-शक्तिके परिधान जैसा है, और वह भी घटिया परिधान।

वह क्या है जो शब्द जुटाता है?

ओह! नहीं। ठीक ढंगसे सोचो। मैं तुम्हारी बात नहीं समझी। यह कच्ची रूईके रोओंकी तरह आ रही है और मेरे लिये निरर्थक है।

मुझे लगता है कि विचार बननेसे पहले ही शब्द निकल आता है।

बिलकुल ठीक!

इस चिन्तन-शक्तिका उदाहरण है, जैसा कि पुराने जमानेमें कहा जाता था, भाषाओंकी देन। और यह तथ्य है कि यह घटना निश्चित रूपसे घटी है और अब भी घट सकती है। तुम शब्दोंके बिना, — स्पष्ट अन्तर्दृष्टिके साथ और इस अन्तर्दृष्टिको दूसरोंतक भेजनेकी शक्तिके साथ, चेतनाके इस व्यापारके साथ जिसका संचारण हो सकता है — सोचते हो (जिसे मैं सोचना कहती हूं उस तरह सोचते हो); अब, चाहे तुम बहुत-से लोगोंके बीचमें हो या थोड़े-से, लेकिन ऐसे जो अलग-अलग भाषाएं बोलते हैं और किसी विशेष भाषामें ही सोचनेके आदी हैं क्योंकि उनका लालन-पालन उसी तरह हुआ है। लेकिन तुम चीजोंकी अपनी अन्तर्दृष्टिके, अपनी समझ और अपने अनुभवके स्पन्दन फेंकते हो। लोगोंका ध्यान खींचनेके लिये कुछ शब्द बोलते हो — चाहे जिस भाषामें, जिससे तुम सर्वाधिक परिचित हो, इसका कुछ महत्त्व नहीं — लेकिन तुम्हारी अन्तर्दृष्टि और प्रक्षेपण इतने यथार्थ हैं कि सीधे दूसरोंके दिमागमें उनकी अपनी भाषामें अनूदित हो जाते हैं। बाह्य तथ्यके अनुसार तो तुम फ्रेंच या अंग्रेजीमें बोल रहे हो, पर हर एक अपनी भाषामें समझता है। लोग सोचते हैं कि यह दन्तकथा है — यह दन्त-कथा नहीं है। यह बात आसानीसे समझमें आनेवाली चीज है, यह उस क्षेत्रमें प्रवेश करनेपर लगभग प्रारंभिक बात है

जिसे मैं चिन्तनका क्षेत्र कहती हूं। ध्यान रखो, मैं अतिमानसिक चीजोंकी बात नहीं कर रही, यह अतिमानसिक शक्ति नहीं है, यह तो सिर्फ चिन्तनका सच्चा क्षेत्र है। यानी, तुम सोचना आरंभ करते हो।

और यदि तुम जिन लोगोंके साथ हो वे भी सोचते हैं तो यह सारा व्यापार अपने-आप हो जायगा, लेकिन ऐसे लोग बहुत ही कम हैं जो सचमुच सोचते हैं। पर जब वे पर्याप्त शक्तिके साथ सोचते हैं तो इससे निरे उपरितलीय और यथातथ बोधमें होनेवाले अवरोध दूर हो जाते हैं। यह इस प्रकार ऊपर उठती है (अर्ध चन्द्रसे आकारका संकेत), बोधके उच्चतर क्षेत्रमें जाती है, और तब, हर एकमें, उसकी भाषाके प्रान्तमें जा गिरती है। और हर एक अपने-अपने अनुभवकी सच्चाईके बलपर कहता है : "ओह ! यह आदमी इस भाषामें बोल रहा है," दूसरा कहता है : "क्षमा करना, वह तो यह बोल रहा है !" और तीसरा कहता है : "नहीं, नहीं, वह तो कोई और ही भाषा बोल रहा है"...। और वास्तवमें हर एक सच कह रहा है; शायद वह उनमेंसे कोई भी भाषा नहीं बोल रहा, वही भाषा बोल रहा है जो वह हमेशा व्यवहारमें लाता रहा है — एक या दो और ... लेकिन यह ऐसे ही होता है, यह ऐसे ऊपर उठती है (वही मुद्रा) और फिर गिरती है... रेडियो-तरंगोंकी तरह।

तो अब, हम चेष्टा करनेवाले हैं। मैं तुम्हें कुछ बतानेवाली हूं, देखें, तुम कुछ समझते हो कि नहीं।

(ध्यान)

१२ मार्च, १९५८

"चेतनाकी ओरसे नवीन अभिव्यक्तिकी, अर्थात्, मानव अभिव्यक्तिकी यह व्याख्या दी जा सकती है कि यह वैश्व प्रकृतिमें अंतर्लीन हुई छिपी 'चेतना'का उभार है। परंतु ऐसी दशामें उस चेतनाके उन्मज्जनका वाहन होनेके लिये कोई भौतिक आकार पहलेसे ही विद्यमान रहना चाहिये, वह वाहन स्वयं उन्मज्जनकी शक्तिके द्वारा नवीन आंतरिक सृष्टिकी आवश्यकताओंके अनुकूल बना दिया गया होगा। अथवा फिर यह हो सकता है कि

पहलेके भौतिक प्ररूपों या प्रतिमानोंसे तेजीसे दूर हटनेकी क्रिया-ने नवीन प्राणीको जन्म दिया होगा। परंतु चाहे जिस किसी परिकल्पनाको क्यों न स्वीकार किया जाय, इसका अर्थ होता है वैकासिक प्रक्रिया, — भेद है केवल अपसरण या संक्रमणकी विधि एवं यंत्रावलीमें। अथवा, इसके विपरीत, यह हो सकता है कि नीचेसे चेतनाका उभार न होकर, हमसे ऊपरके मनोमय स्तरसे 'मन'का अवतरण, संभवतः अंतरात्मा या मनोमय पुरुषका पार्थिव प्रकृतिमें अवतरण हुआ हो। ऐसी दशामें यह कठिनाई उपस्थित होती है कि मानव शरीर कैसे प्रकट हुआ, क्योंकि यह अत्यधिक जटिल एवं दुःसाध्य अंग सहसा बना या अभिव्यक्त हो गया होगा यह कल्पना करना कठिन है; कारण, प्रक्रियामें ऐसी आश्चर्यजनक द्रुत गति, यद्यपि सत्ताके अतिभौतिक स्तरोंपर सर्वथा संभव हो सकती है, पर भौतिक 'ऊर्जा'की सामान्य संभावनाओं या शक्यताओंमें संभव प्रतीत नहीं होती। यहां वह तभी घट सकती है जब कोई अतिभौतिक शक्ति या प्रकृतिका कोई नियम हस्तक्षेप करे अथवा स्रष्टा 'मन' पूर्ण शक्तिके साथ और साक्षात् 'जड़-तत्त्व'पर क्रिया करे। अतिभौतिक' शक्ति' और स्रष्टाकी क्रियाको 'जड़-तत्त्व'-में होनेवाले प्रत्येक नवीन आविर्भावमें स्वीकार किया जा सकता है; प्रत्येक ऐसा आविर्भाव वस्तुतः ऐसा चमत्कार है जो एक ऐसी गुप्त 'चेतना'के द्वारा घटित किया जाता है जिसे छिपी हुई 'मन ऊर्जा' या 'प्राणिक ऊर्जा'का अवलंब प्राप्त है; परंतु यह क्रिया कहीं भी साक्षात्, स्पष्ट, स्वयं-पर्याप्त दिखायी नहीं देती; यह सर्वदा पहलेसे ही तैयार हुए भौतिक आधार (शरीर) पर अध्यारोपित की जाती है और प्रकृतिकी किसी प्रतिष्ठित पद्धतिके विस्तारके द्वारा कार्य करती है। यह अधिक मनोगम्य है कि किसी पहलेसे विद्यमान शरीरमें अतिभौतिक अन्तःस्रवणके प्रति उन्मीलन था जिससे कि वह नवीन शरीरमें रूपांतरित हो गया; परंतु भौतिक प्रकृतिके अतीत इतिहासमें ऐसी कोई घटना घटी हो इसे सरलतासे नहीं माना जा सकता; ऐसी घटना होनेके लिये यह आवश्यकता प्रतीत होती है कि किसी अदृश्य मनोमय पुरुषने किसी ऐसे शरीरके निर्माणमें हस्तक्षेप किया हो जिसमें वह निवास करना चाहता था; अथवा फिर, यह हो सकता है कि स्वयं 'जड़-तत्त्व'में ही किसी ऐसे मनो-मय पुरुषका पहले ही विकास हो गया था जो अतिभौतिक शक्ति-को ग्रहण करने और उसे अपनी भौतिक सत्ता (शरीर) के कठोर

एवं संकीर्ण नियमोंपर आरोपित करनेमें पहलेसे ही समर्थ था। अन्यथा हमें यह मानना पड़ेगा कि कोई ऐसा शरीर अस्तित्वमें आ चुका था जो पहलेसे ही इतना अधिक विकसित था कि वह एक विशाल मानस अन्तःस्रावको ग्रहण करनेमें उपयुक्त था अथवा अपनेमें मनोमय पुरुषके अवतरणके प्रति नमनशील अनुक्रिया करनेमें समर्थ था। परंतु ऐसा होनेके लिये यह मानना होगा कि शरीरमें मनका पहले ही उस बिंदुतक विकास हो गया था जहांपर कि ऐसी ग्रहणशीलता संभव है। यह सर्वथा बुद्धिगम्य है कि नीचेसे ऐसे विकास और ऊपरसे ऐसे अवतरणने पार्थिव प्रकृतिमें मनुष्यके आविर्भावमें सहयोग दिया हो। संभव है पशुमें पहलेसे ही विद्यमान अंतर्गूढ़ चैत्य-तत्त्वने स्वयं मनोमय पुरुषको सप्राण 'जड़-तत्त्व'के क्षेत्रमें अवतरण करनेके लिये इस उद्देश्यसे आह्वान किया हो कि वह पहलेसे ही क्रिया करनेवाली प्राणिक-मानस ऊर्जाको ग्रहण करके उच्चतर मनमें ऊपर उठा ले। परंतु फिर भी यह विकासकी ही एक प्रक्रिया होगी, ऐसी प्रक्रिया कि जिसके अनुसार उच्चतर स्तर पार्थिव प्रकृतिमें पहलेसे ही विद्यमान अपने निजी तत्त्वके प्रकट होने और विशाल होनेमें सहायता देनेके लिये केवल हस्तक्षेप करता है।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८३९-४०)

समस्याकी कठिनाई यह है कि रूपान्तर और सृजनकी इस प्रक्रियामें केवल मनोमय सत्ता ही रुचि ले सकी, और पशु-जातिमें मनोमय चेतना इतनी पर्याप्त नहीं थी कि वह इस प्रक्रियामें रुचि ले सकती।

पशुओंके पास होनेवाली घटनापर ध्यान देनेका, उससे अवगत होनेका या उसे याद रखनेका कोई साधन नहीं था। और इसीलिये धराके इतिहासका यह भाग लुप्तप्राय हो गया। इस रूपान्तर-क्रमका अनुसरण कर सकनेके लिये और इसकी याद बनाये रखनेके लिये मनुष्यके जैसी मानसिक क्षमताको हमारे लिये हस्तक्षेप करना चाहिये...। वास्तवमें हम कल्पना ज्यादा करते हैं, याद कम। यह तो विदित है कि चैत्य पुरुष इस सबमेंसे गुजर चुका है, लेकिन उसने इसे मनमें संजोकर नहीं रखा। चैत्य पुरुषकी स्मृति चैत्य स्मृति है जो बिलकुल दूसरे ढंगकी होती है; मानसिक स्मृतिकी तरह यह ऐतिहासिक नहीं होती जो घटनाओंका ठीक-ठीक ब्योरा रख सके।

लेकिन अब, जब कि हम नये रूपांतरकी, नये प्रादुर्भावकी, जैसा कि

यह यहां कहलाता है, देहलीपर खड़े हैं और मानवीय मानसिक सत्ता और अतिमानसिक सत्ताके बीच रूपांतरकी प्रक्रियामें भाग लेनेवाले हैं, हम मनकी इस ऐतिहासिक क्षमतासे लाभ उठायेंगे जो घटना-क्रमका अनुसरण करेगी और उसे लिपिबद्ध कर लेगी। अतः उस दृष्टिसे भी इस समय जो कुछ प्रत्यक्ष हो रहा है वह धरतीके इतिहासमें एकदम अनूठा है। शायद — बल्कि निश्चयपूर्वक, जब हम रूपांतरकी प्रक्रियाके बिलकुल छोरतक बढ़ते जायेंगे तो हमें सब पिछले रूपांतरोंकी चाबी मिल जायगी; यानी, जब प्रक्रिया दोहरायी जायगी तो जो कुछ हम अब समझना चाह रहे हैं उसे निश्चयताके साथ जान जायेंगे। इस बार यह प्रक्रिया दोहरायी जायगी मानसिक और अतिमानसिक सत्ताके बीच।

अतः निरीक्षण-शक्तिके एक विशेष विकासके लिये तुम्हें आमंत्रण है कि यह सब अर्ध-स्वप्नावस्थामें ही न हो जाय, तुम एक नये जीवनमें जागो और तुम्हें पता भी न चले कि यह सब कैसे हो गया।

मनुष्यको बहुत चौकस और सजग रहना होगा, और छोटे-छोटे आंतरिक मनोवैज्ञानिक व्यापारोंमें रस लेते रहनेके बजाय, जो कि... बहुत पुराने ढंगके हैं और उस सारे मानव इतिहाससे संबंधित हैं जो बहरहाल अपनी नवीनता खो चुका है, उन चीजोंकी ओर ज्यादा ध्यान देना बेहतर होगा जो अधिक गुरुता लिये हैं, अधिक सूक्ष्म हैं, अधिक निर्वैयक्तिक हैं, और वे खास दिलचस्पीवाली नयी खोजोंतक ले जायेंगी।

बिना पक्षपात या पसन्दके, बिना अहं और आसक्तिके सूक्ष्म बुद्धिकी आंखें खोलो और प्रति दिन होनेवाली घटनाओंको देखो।

१९ मार्च, १९५८

> **"इसके बाद, यह भी माना जा सकता है कि शरीरमें चेतना और सत्ताके प्रत्येक प्ररूप या प्रतिमानको, एक बार स्थापित हो जानेके बाद, उस प्ररूपके धर्मके प्रति, अपनी प्रकृतिके उद्देश्य और नियम (स्वभाव) के प्रति निष्ठावान् रहना होगा। परंतु यह भी भली भांति हो सकता है कि अपने परे जानेके प्रति आवेग मानव प्ररूपके विधानका एक भाग हो और मनुष्यकी आध्यात्मिक शक्तियोंमें सचेतन संक्रमणका साधन भी दिया गया हो;**

मनुष्यमें ऐसी सामर्थ्यका होना उस योजनाका अंग हो सकता है जिसके अनुसार सर्जन करनेवाली 'ऊर्जा'ने उसका निर्माण किया है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि मनुष्यने अभीतक मुख्यतया जो कुछ किया है वह अपनी प्रकृतिके घेरेके भीतर, प्रकृतिकी कभी नीचे उतरती और कभी ऊपर उठती सर्पिल गतिमें किया है; उसने सीधी रेखामें प्रगति नहीं की, अपनी अतीत-कालीन प्रकृतिसे कोई निर्विवाद, मूलभूत या आमूल अति-क्रमण नहीं किया है। उसने केवल अपनी सामर्थ्योंको तीक्ष्ण और सूक्ष्म बनाया है और उनका अधिकाधिक जटिल और लचीला उपयोग किया है। यह कहना भी सत्य नहीं होगा कि जबसे मनुष्य प्रकट हुआ है तबसे अथवा उसके अर्वाचीन और निश्चित हो सकनेवाले इतिहास-कालमें मानव-प्रगति जैसी कोई वस्तु नहीं हुई; कारण, प्राचीन कालके मनुष्य चाहे जितने महान् क्यों न हों, उनकी उपलब्धियां और रचनाएं चाहे जितनी उत्कृष्ट क्यों न हों, उनकी आध्यात्मिकताकी, बुद्धि या चरित्रकी शक्तियां चाहे जितनी प्रभावशाली क्यों न हों, फिर भी, पीछेके विकास-युगोंमें मनुष्यकी उपलब्धियोंमें, उसकी राजनीति, उसके समाज, जीवन, विज्ञान, तत्त्वज्ञान, कला, साहित्य और हर प्रकार-के ज्ञानमें सूक्ष्मता एवं जटिलताकी अधिकाधिक वृद्धि हुई है, उन-में ज्ञान और संभावनाका बहुविध विकास हुआ है; यहांतक कि उसके आध्यात्मिक प्रयासमें भी,—यद्यपि वह आध्यात्मिकताकी शक्तिमें प्राचीनोंकी शक्तिसे कम आश्चर्यजनक रूपसे ऊंचा और कम विशाल रहा है,—यह बढ़ती हुई सूक्ष्मता, नमनशीलता, गहराइयोंकी थाह और खोजका विस्तार रहे हैं। उच्च प्रकार-की संस्कृतिसे पतन हुए हैं, एक विशेष प्रकारके रूढ़िवादमें तीक्ष्ण किन्तु कुछ समयके लिये उतार आया है, आध्यात्मिक प्रेरणा बन्द हुई है, प्रकृतिके बर्बर जड़वादमें डुबकियां लगी हैं; किन्तु यह सब सामयिक घटनाएं हैं, अपने निकृष्टतम रूपमें प्रगतिके सर्पिल चक्रका नीचेकी ओर घुमाव है। निःसन्देह, यह प्रगति मानव जातिको अपनेसे परे, मनोमयी सत्ताके अति-क्रमणमें, रूपान्तरमें नहीं ले गयी है। परन्तु इसकी आशा भी नहीं की जा सकती थी; कारण, सत्ता एवं चेतनाके प्ररूपमें वैकासिकी प्रकृतिकी क्रिया पहले उस प्ररूपको ठीक ऐसे सूक्ष्म और बढ़ती हुई जटिलताके द्वारा उसकी अधिकतम सामर्थ्यतक,

उस समयतक बढ़ाते जाना है जबतक कि वह (प्ररूप) इसके लिये तैयार नहीं हो जाता कि प्रकृति उसके खोलको तोड़कर उसे बाहर निकाल दे, वह परिपक्व निर्णायक आविर्भावके लिये, चेतनाके प्रत्यावर्तन, चेतनाके अपनी ओर अभिमुखी होनेके लिये तैयार न हो जाय; यह विकासमें एक नयी भूमिका है। यदि यह मान लिया जाय कि प्रकृतिका अगला कदम है आध्यात्मिक और अतिमानस प्राणी तो मानव जातिमें जो आध्यात्मिकताके प्रति खिंचाव है उसे इस बातका संकेत माना जा सकता है कि यह प्रकृतिका अभिप्राय है; यह इस बातका भी चिह्न है कि मनुष्यमें यह सामर्थ्य है कि वह अपनेमें उस संक्रमणको ला सके अथवा उसके लानेमें प्रकृतिको सहायता दे सके। यदि मानव विकासकी प्रक्रिया यह थी कि पाशवी सत्तामें एक ऐसे प्ररूपका आविर्भाव हो जो कुछ अंशोंमें वानर जातिके सदृश था किन्तु पहले ही से मानवताके तत्त्वोंसे युक्त था, तो मानव सत्तामें ऐसे आध्यात्मिक प्ररूपका आविर्भाव, जो हो तो मनोमय पशु-भावमय मानवताके जैसा, पर उसपर पहलेसे ही आध्यात्मिक अभीप्साकी छाप लगी हो, आध्यात्मिक और अतिमानस सत्ता (प्राणी)के वैकासिक उत्पादनके लिये प्रकृतिकी स्पष्ट प्रक्रिया होगी।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८४१-४२)

एक चीज बहुत स्पष्ट मालूम होती है, मानवजात इतनी अधिक अतिक्रियाशीलता और व्यापक संत्रासके कारण आम तनाव — प्रयासमें तनाव, कर्ममें तनाव, यहांतक कि दैनिक जीवनमें तनाव — की एक खास अवस्थातक आ पहुंची है कि लगता है मानों पूरा मानव-समूह उस बिन्दुपर आ गया है जहां या तो यह प्रतिरोधसे टूट-फूट जाय और एक नयी चेतनामें उभर आये या फिरसे अंधकार और तमस्‌की खाईमें जा गिरे।

यह तनाव इतना पूर्ण और व्यापक है कि, स्पष्ट ही, कहीं कुछ-न-कुछ तोड़ना ही पड़ेगा। यह इसी तरह चलता नहीं रह सकता। इसे जड़-पदार्थमें बल, चेतना और शक्तिके नये तत्त्व अवमिश्रणका निश्चित संकेत माना जा सकता है जो अपने दबावसे ही यह विकट स्थिति उत्पन्न कर रहा है। उन्हीं पुराने साधनोंकी आशा बाहरी तौरपर की जा सकती है जिनका उपयोग प्रकृति उथल-पुथल मचानेके लिये किया करती है; लेकिन एक नया गुण है जिसे सिर्फ श्रेष्ठ वर्गमें ही देखा जा सकता है, पर यह

श्रेष्ठवर्गमें भी काफी फैला हुआ है — एक ही बिन्दुपर, दुनियामें एक ही जगहपर केंद्रित नहीं है। दुनियामें सब जगह, सब देशोंमें इसकी विद्यमानताके संकेत मिलते हैं: नया, उच्चतर, उत्तरोत्तर प्रगतिशील समाधान पानेकी प्रबल इच्छा, एक विशालतर, अधिक सर्वतोमुखी पूर्णताकी ओर उठनेका प्रयत्न।

अमुक अधिक सामान्य, अधिक व्यापक और शायद अधिक समूहगत विचार भी विकसित हो रहे हैं और जगत्में काम कर रहे हैं। दो चीजें एक हो रही हैं: एक अधिक विशाल और अधिक समूचे विनाशकी संभावना, अनर्थकी संभावनाको बेतहाशा बढ़ाता हुआ एक आविष्कार, ऐसा महा विध्वंस जैसा पहले कभी नहीं हुआ; दूसरी ओर, साथ-ही-साथ ऐसे कहीं अधिक उच्च और व्यापक विचारों और संकल्पके प्रयासोंका जन्म, बल्कि आविर्भाव जिनकी सुनायी होनेपर वे अपने साथ पहलेसे अधिक विस्तृत, अधिक विशाल, अधिक सर्वांग और अधिक पूर्ण उपचार लायेंगे।

अधिकाधिक दिव्य उपलब्धिकी, ऊपर चढ़ते हुए विकासकी, रचनात्मक शक्तियों और अधिकाधिक विनाशकारी, सशक्त रूपसे विध्वंसकारी, एकदमसे बेलगाम, पागल शक्तियोंके बीच संघर्ष और विरोध कहीं अधिक प्रत्यक्ष और स्पष्ट सबमें दिखायी देता है, यह एक तरहकी दौड़ या प्रतियोगिता है कि देखें, लक्ष्यतक पहले कौन पहुंचे। ऐसा लगता है कि विरोधी, भगवद्-विरोधी शक्तियां, प्राण जगत्की शक्तियां धरापर उतर आयी हैं, और इसे अपनी कर्म-भूमि बना रही है, साथ-ही-साथ इसपर एक नया जीवन लानेके लिये एक नयी, उच्चतर, अधिक बलशाली आध्यात्मिक शक्ति भी धरापर उतरी है। इससे संघर्ष विकटतर, उग्रतर और अधिक दृष्टिगोचर हो उठता है, लेकिन साथ ही अधिक निर्णयात्मक भी लगता है। इसीलिये शीघ्र ही समाधान पा जानेकी आशा की जा सकती है।

एक समय था, बहुत पहलेकी बात नहीं, जब मनुष्यकी आध्यात्मिक अभीप्सा दुनियाकी सब चीजोंसे निर्लिप्त जीवनसे पलायन या ठीक-ठीक कहैं तो युद्धसे कतरानेके लिये, संघर्षसे ऊपर उठनेके लिये, सारे प्रयाससे बचनेके लिये नीरव, निष्क्रिय शान्तिकी ओर मुड़ी हुई थी। यह एक आध्यात्मिक शान्ति थी जिसमें सब तनाव, संघर्ष और प्रयासोंकी समाप्तिके साथ-साथ सब तरहके दुःख-कष्ट भी समाप्त हो जाते थे और आध्यात्मिक एवं दिव्य जीवनके लिये इसे ही एकमात्र सच्ची अभिव्यक्ति माना जाता था। इसे ही भागवत कृपा, भागवत सहायता, भागवत हस्तक्षेप समझा जाता था। और अब भी, वेदना, तनाव, अति तनावके इस युगमें भी, सब सहायताओंमें यह परम शान्ति ही सबसे अच्छी तरह ग्रहण की जाती है और स्वागत पाती है। यही वह सुख है जिसकी मांग की जाती

है, जिसकी आशा की जाती है, अभीतक अनेकोंके लिये यही भागवत हस्तक्षेप और भागवत कृपाका सच्चा संकेत है।

वास्तवमें, व्यक्ति चाहे कुछ भी पाना चाहे, उसे आरंभ इस पूर्ण और निर्विकार शान्तिकी स्थापनासे ही करना चाहिये, यही वह आधार है जिस-पर मनुष्यको काम करना है; लेकिन यदि कोई ऐकान्तिक, निजी, अहंजन्य मुक्तिके ही सपने न लेता हो तो वह इसीसे सन्तुष्ट नहीं हो सकता। भाग-वत कृपाका एक दूसरा पहलू भी है — प्रगतिका पहलू, जो सब बाधाओं-पर विजयी होगा, वह पहलू जो मानव जातिको नयी उपलब्धिकी ओर आगे बढ़ायेगा, एक नयी दुनियाके द्वार खोल देगा और केवल इने-गिने लोगोंके लिये ही इस दिव्य उपलब्धिसे लाभ उठाना संभव न बनायेगा, वरन् उनके प्रभाव, दृष्टांत और बलद्वारा शेष मानव जातिके लिये भी एक नयी और अधिक अच्छी अवस्था संभव कर देगा।

यह भविष्यमें उपलब्धिके मार्गको, उन संभावनाओंको, जो पहले देखी जा चुकी हैं, खोल देती है, जब मानव जातिका एक पूरा भाग, वह समूचा भाग जो नयी शक्तियोंकी ओर सचेतन या अचेतन रूपसे खुल गया है, एक उच्चतर, अधिक सामंजस्यमय, पूर्णतर जीवनकी ओर उठाया जायगा...। यदि व्यक्तिगत रूपान्तर सदा अनुज्ञेय या संभव न हो, तो समूहका एक तरहका उन्नयन, सच्चा सामंजस्य होगा जो नयी व्यवस्था और नये सामंजस्यकी स्थापनाको संभव बना देगा, और अव्यवस्थाकी यातनाओं और वर्तमान संघर्षोंको दूर करके उनकी जगह समष्टिके सामंजस्यमय कार्यके लिये व्यवस्था ला देगा।

जीवनमें मनके हस्तक्षेपसे जो विकार, कुरूपता, और विकृतियोंका पुंज आया है, जिन्होंने दुःख-कष्ट, नैतिक दारिद्रय एवं कुत्सित और घृणित दुःखोंके पूरे प्रदेशको बढ़ा दिया है, जिसने मनुष्य जीवनके एक पूरे भागको ऐसा भयावह बना दिया है, उस सारेको अन्य विपरीत साधनोंद्वारा दूर करनेके लिये अन्य परिणाम प्रवृत्त होंगे। सचमुच, उसे दूर होना ही चाहिये। यही वह चीज है जो कई बातोंमें मानव जातिको पशु-जीवनकी सरलता और सब कुछके बावजूद नैसर्गिक सहजता और सामंजस्यकी तुलनामें अनन्तगुना बदतर बनाती है। पशुओंका दुःख-कष्ट कभी भी इतना दयनीय व कुत्सित नहीं होता जितना कि मानव जातिके एक पूरे भागमें जो एकमात्र अहंमूलक आवश्यकताओंके काममें लगी मनोवृत्तिद्वारा विकृत हो गया है।

हमें या तो ऊपर उठना होगा, 'ज्योति' और 'सामंजस्य'में छलांग लगानी होगी, या स्वस्थ और अविकृत पशु-जीवनकी सरलतामें वापिस जा गिरना होगा।

*

१९५८ में, इस वार्तालापके प्रथम प्रकाशनके समय श्रीमांने नयी शक्तियोंके प्रभावसे मानव जातिके एक पूरे भागके "उन्नयन"के बारेमें निम्न अंश जोड़ा :

लेकिन जो ऊपर नहीं उठाये जा सकते, जो प्रगति करनेसे इनकार करते हैं, वे अपने-आप ही मानसिक चेतनाकी क्रिया खो बैठेगें और फिरसे मानवसे निम्नतर स्तरपर उतर आयेंगे।

मैं तुम्हें अपनी एक अनुभूति सुनाती हूं जो तुम्हें इसे ठीक तरह समझनेमें सहायता देगी। यह अनुभूति ३ फरवरीकी अतिमानसिक अनुभूतिके कुछ समय बाद हुई थी और मैं तब भी उस अवस्थामें थी जब पार्थिव जगत्की चीजें बहुत दूर और बेतुकी मालूम होती थीं। एक दर्शनार्थी दलने मुझसे मेरे पास आनेकी अनुमति मांगी थी और एक शाम वे खेलके मैदानमें आये। वे धनी थे, यानी, उनके पास जीवन-निर्वाहके लिये जितना चाहिये उससे ज्यादा धन था। उनमें एक महिला थी जो साड़ी पहने थी, वह बड़ी स्थूलकाय थी, उसने साड़ी इस तरह लपेट रखी थी कि सारा शरीर छिपा रह सके। जब उसने मेरा आशीर्वाद पानेके लिये झुकना चाहा तो साड़ीका एक पल्ला खिसक गया और शरीरका एक अंग खुल गया, एक नंगा पेट — एक दीर्घाकार पेट। मुझे काफी धक्का लगा... । ऐसे स्थूलकाय लोग होते हैं जिनमें कुछ घृणास्पद नहीं होता, पर इसमें मैंने सहसा विकृति, और सड़ांध देखी जिसे वह पेट अपनेमें छिपाये था, वह एक विशाल फोड़े-जैसा था जो लोभ, पाप, कुत्सित रुचि और ओछी चाहको प्रकट करता था, जो घटियापनमें, और सबसे बढ़कर, विकृतिमें ऐसी तृप्ति पाता था जैसी कोई जानवर भी नहीं चाहेगा। मैंने क्षुद्रतम बुभुक्षाकी सेवामें रत पतित, कुत्सित मनकी विकृतिको देखा। तब एकाएक मेरे अन्दरसे एक वैदिक प्रार्थना-सी फूट पड़ी: "हे प्रभु, यही है वह जिसे मिटना चाहिये।"

हम अच्छी तरह समझते हैं कि भौतिक दुःख-दैन्यको, इस दुनियाकी संपत्तियोंके विषम वितरणको बदला जा सकता है, हम आर्थिक और सामाजिक हलकी कल्पना करते हैं जो इसका उपचार कर सकती है, लेकिन वह दूसरी दुर्दशा, मानसिक दुर्दशा, प्राणिक विकृति नहीं बदली जा सकती। वह बदलना नहीं चाहती। और जो लोग मानवताके इस वर्गमें आते हैं वे पहलेसे ही विघटनके लिये दंडित हैं।

आदि-पापका अर्थ यही है : एक विकृति जिसका उद्भव मनके साथ-साथ हुआ।

मानवजातिका वह भाग, मानव चेतनाका वह भाग, जिसमें अतिमानसके साथ एकाकार होनेकी और अपनेको मुक्त करनेकी क्षमता है, वह पूर्णतः रूपान्तरित हो जायगा — वह एक भावी सत्यकी ओर बढ़ रहा है जो अभी बाह्य रूपमें अभिव्यक्त नहीं हुआ है; वह भाग जो प्रकृतिके, पशुकी सरलता-के बिलकुल निकट है, प्रकृतिमें पुनः घुल-मिल जायगा और घनिष्ठ रूपसे आत्मसात् कर लिया जायगा। लेकिन मानव चेतनाका वह कलुषित भाग उन्मूलित हो जायगा जो अपने मनके गलत उपयोगके कारण विकृतिकी ओर ले जाता है।

इस तरहकी मानवता एक ऐसे निष्फल प्रयासका अंग है — जिसका दमन होना चाहिये—जैसे दूसरी आदिम जातियां विश्वके इतिहास-क्रममें लुप्त हो गयीं।

प्राचीन कालके कुछ पैगम्बरोंको ऐसा भविष्य-सूचक अन्तर्दर्शन हुआ था, पर जैसा अक्सर होता आया है, चीजें गड्डमड्ड हो गयीं, और उन्हें भविष्य-सूचक अन्तर्दर्शनके साथ-साथ अतिमानसिक जगत्का अन्तर्दर्शन नहीं हुआ जो मानवताके उस भागको उठाने आयेगा जो स्वीकार करता है और इस भौतिक जगत्को रूपान्तरित कर देगा। अतः, उन लोगोंको जो ऐसी अवस्थामें, मानवीय चेतनाके इस विकृत भागमें जन्मे हैं, आशा बंधानेके लिये उन्होंने श्रद्धाद्वारा मुक्तिकी शिक्षा दी : जिन्हें जड़में भगवान्‌की यज्ञा-हुतिपर श्रद्धा है उनका अपने-आप दूसरे जगत्में केवल श्रद्धाद्वारा उद्धार हो जायगा — बिना समझे, बिना बुद्धिके। उन्होंने अतिमानसिक जगत्-को नहीं देखा, और न ही जड़में अन्तर्लयनकी भगवान्‌की उदात्त 'आहुति'को देखा है जिसकी पराकाष्ठा होगी स्वयं जड़में भगवान्‌की पूर्ण अभिव्यक्ति।

२६ मार्च, १९५८

"संगत रूपसे कहा जाता है कि यदि ऐसा विकासात्मक चरमोत्कर्ष अभिप्रेत है और मनुष्यको उसका माध्यम होना है तो केवल कुछ थोड़े-से विशेष रूपसे विकसित मनुष्य नये प्ररूपका निर्माण करेंगे और नये जीवनकी ओर बढ़ेंगे; एक बार यह हो जाय तो प्रकृतिके प्रयोजनके लिये आध्यात्मिक अभीप्सा आवश्यक न रह जायेगी और मानवजातिका बाकी हिस्सा उस आध्यात्मिक अभीप्सासे नीचे गिर जायगा और

अपनी सामान्य स्थितिमें निष्क्रिय पड़ा रहेगा। इसी तरह यह भी युक्ति दी जा सकती है कि यदि जीव पुनर्जन्मके द्वारा विकासके स्तरोंमेंसे होते हुए आध्यात्मिक शिखरकी ओर चढ़ता है तो मानव स्तरको सुरक्षित रखना होगा; इसके बिना 'जड़-तत्त्व' और अतिमानवके बीचकी सबसे आवश्यक पैड़ीका अभाव रहेगा। साथ ही यह भी तुरंत स्वीकार कर लेना चाहिये कि सारी मानवजातिके एक साथ अतिमानस स्तरतक उठ जानेकी जरा-सी भी संभाव्यता या संभावना नहीं है। परंतु यहां जो कुछ कहा जा रहा है वह इतना अधिक क्रांतिकारी और आश्चर्यजनक नहीं है; यहां केवल यह कहा जा रहा है कि जिस समय मानव मन वैकासिक संवेगके एक विशेष स्तर या खिचाव-बिंदुपर पहुंच जायगा तो उसमें वह सामर्थ्य आ जायगी कि वह चेतनाके उच्चतर स्तरकी ओर उठने और सत्तामें उसे मूर्त्त रूप देनेके लिये आगे बढ़े। इस तरह मूर्त्त रूप देनेके कारण प्राणीकी प्रकृतिके सामान्य संघटनमें अवश्य ही परिवर्तन आ जायगा; यह परिवर्तन होगा उसके मानसिक, आवेगात्मक और संवेदनात्मक संघटनमें तथा काफी दूरतक शारीरिक चेतनामें और हमारे प्राण एवं ऊर्जाओंको अनुकूल करनेवाले शरीरमें; परंतु चेतनाका परिवर्तन प्रधान तत्त्व होगा, प्रारंभिक क्रिया होगी, शारीरिक परिवर्तन गौण होगा, एक परिणाम होगा। जब अंतरात्माकी ज्योति-शिखा, चैत्य दीप्ति हृदय और मनमें बलशाली हो जायगी और प्रकृति तैयार हो जायगी तो चेतनाका यह तत्त्वान्तरण मनुष्यके लिये हमेशा संभव रहेगा। आध्यात्मिक अभीप्सा मनुष्यमें सहज रूपसे मौजूद है; कारण, पशुके विपरीत, उसे अपूर्णता और परिसीमाका ज्ञान रहता है और वह यह अनुभव करता है कि जो कुछ वह अब है उससे परेकी कोई वस्तु उसे प्राप्त करनी है; मानवजातिमें कभी भी अपनेसे परे जानेकी प्रेरणाके लुप्त होनेकी संभावना नहीं है। मनुष्यकी मनोमय भूमिका सर्वदा वहां रहेगी, किंतु पुनर्जन्मकी श्रेणी-परंपरामें केवल एक श्रेणीके रूपमें नहीं, अपितु आध्यात्मिक और अतिमानस अवस्थाकी ओर आरोहणके लिये खुली सीढ़ीके रूपमें।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८४२-४३)

यह तो स्पष्ट ही है कि अपने-आपको और अपने जीवनको देखनेकी यह मानसिक क्षमता ही मनुष्यको असाधारण विशिष्टता प्रदान करती है। पशु सहज भावसे यंत्रवत् जीता है, यदि वह ध्यान देता भी है कि वह कैसे जीता है तो वह काफी नगण्य और महत्त्वहीन-से स्तरपर होगा, अतः वह शान्तिसे रहता है और कोई चिन्ता नहीं करता। यहांतक कि यदि कोई पशु किसी दुर्घटना या बीमारीसे पीड़ित हो तो वह पीड़ा भी कम-से-कम हो जाती है क्योंकि वह इसे नहीं देखता, इसे अपनी चेतनामें और भविष्यमें प्रक्षिप्त नहीं करता, बीमारी या दुर्घटनाके बारेमें विचार नहीं गढ़ता रहता।

मनुष्यके साथ शुरू हो गयी है यह चिरंतन चिन्ता कि क्या होनेवाला है और यही दुश्चिता उसकी यातनाका एकमात्र नहीं तो प्रधान कारण तो है ही। वस्तुपरक चेतनाके साथ शुरू हुई दुश्चिता, दर्दभरी कल्पनाएं, चिन्ता, यंत्रणा, भावी अनिष्टोंकी आशंका जिनके फलस्वरूप अधिकांश मनुष्य —— सबसे कम सचेतन नहीं वरन् सर्वाधिक सचेतन मनुष्य —— निरंतर संतापमें जीते हैं। मनुष्य इतना सचेतन है कि वह उदासीन नहीं रह सकता, पर इतना सचेतन भी नहीं है कि यह जान सके कि क्या होगा। सचमुच, मूल किये बिना यह कहा जा सकता है कि धरतीके सारे प्राणियोंमें मनुष्य ही सर्वाधिक दयनीय है। मनुष्य ऐसे रहनेका आदी हो गया है क्योंकि रोगकी यह अवस्था उसे अपने पूर्वजोंसे विरासतमें मिली है, पर यह है सचमुच दयनीय अवस्था। उच्चतर स्तरतक उठनेकी इस आध्यात्मिक शक्तिद्वारा और पशुकी अचेतनाको आध्यात्मिक परा-चेतनाद्वारा स्थानान्तरित करके ही सत्तामें न सिर्फ जीवनके उद्देश्यको देखनेकी और प्रयासकी पराकाष्ठाको पहलेसे जान लेनेकी क्षमता आती है वरन् उच्चतर आध्यात्मिक शक्तिमें स्पष्टदर्शी विश्वास भी आता है जिसके प्रति व्यक्ति पूर्ण आत्मदान कर सकता है, उसके भरोसे अपने-आपको छोड़ सकता है, अपने जीवन और भविष्यको उसे सौंप सकता है और इस तरह सब चिन्ताओंसे मुक्त हो सकता है।

स्पष्ट ही मनुष्यके लिये यह असंभव है कि वह फिरसे पशु-स्तरपर जा गिरे और अबतक उपलब्ध चेतनाको गंवा दे: अतः उसके लिये एक ही उपाय रह जाता है, जिस अवस्थामें वह है, जिसे मैं दयनीय अवस्था कहती हूं, उससे निकलनेके लिये, और एक उच्चतर अवस्थातक जहां चिन्ताका स्थान ले लेता है निर्भरतापूर्ण आत्म-दान और प्रकाशमयी परिसमाप्तिका विश्वास, उठ आनेके लिये एक ही रास्ता है —— चेतनाका परिवर्तन।

सच पूछो तो इस अवस्थासे अधिक दयनीय अवस्था और कोई नहीं कि तुम्हारे ऊपर उस अस्तित्वका दायित्व हो जिसकी चाबी तुम्हारे पास नहीं है,

यानी, वह सूत्र तुम्हारे हाथमें नहीं है जो राह दिखा सके और समस्याएं सुलझा सके। पशु अपने आगे कोई समस्या नहीं रखता: वह बस जीता है। इसकी सहज-वृत्ति इसे प्रवृत्त करती है, यह उस सामूहिक चेतनापर भरोसा करता है जिसमें जन्मजात ज्ञान है और इससे ऊंची है; परंतु यह यंत्रवत् और स्वाभाविक रूपसे होता है, इसे उसके लिये संकल्प नहीं करना पड़ता, उसे जीवनमें लानेके लिये प्रयास नहीं करना पड़ता, यह बहुत नैसर्गिक ढंगसे वैसा होता है, और चूंकि इसपर अपने जीवनका दायित्व नहीं है, यह अपने लिये चिन्ताएं नहीं खड़ी करता। मनुष्यके साथ जनमती है अपने-आपपर निर्भर रहनेकी भावना और क्योंकि उसके पास आवश्यक ज्ञान नहीं होता, इसलिये साथ ही शुरू हो जाती है शाश्वत यंत्रणा। इस यंत्रणाका अंत तभी हो सकता है जब व्यक्ति अपनेसे उच्चतर, उस शक्तिके प्रति सर्वांग समर्पण कर दे, जिसे वह पूरी तरह अपने-आपको सौंप सके, अपनी चिंताएं उसके हाथमें थमा सके और अपने जीवनको चलाने और सब कुछ व्यवस्थित करनेका भार उसपर छोड़ सके।

जब किसीके पास आवश्यक ज्ञान ही न हो तो भला समस्या कैसे सुलझ सकती है? दुर्भाग्य तो यह है कि मनुष्य मानता है कि उसे अपने जीवनकी सब समस्याएं सुलझानी हैं, पर उसके पास अपेक्षित ज्ञान नहीं है। यही है उसके कष्टोंका स्रोत और मूल। वही चिरंतन प्रश्न: "मुझे क्या करना चाहिये?" ... इसके साथ एक और, इससे भी अधिक तीक्ष्ण प्रश्न जुड़ जाता है: "क्या होनेवाला है?" और साथ ही न्यूनाधिक, उत्तर देनेकी अक्षमता।

इसीलिये अब आध्यात्मिक साधनाएं पूरा भार समर्पित कर देनेकी और उच्चतर तत्त्वपर भरोसा रखनेकी आवश्यकतासे आरंभ होती हैं। अन्यथा शांति असंभव है।

और फिर भी, मनुष्यको चेतना दी गयी है ताकि वह प्रगति करे, जो नहीं जानता उसे खोज निकाले, जो वह अभीतक नहीं है उसमें विकसित हो सके; और इस प्रकार कहा जा सकता है कि निश्चल और स्थिर शांतिकी अवस्थासे ऊंची एक अवस्था है: यह है एक ऐसी सर्वांगपूर्ण आस्था जो प्रगतिके संकल्पको बनाये रखने और सब दुश्चिन्ताओंसे, फल और परिणामकी चिंतासे मुक्तिद्वारा प्रगतिके प्रयासको सुरक्षित रखनेके लिये पर्याप्त हो। यही उन पद्धतियोंसे अगला चरण है जो "नीरवता-वादी" कहलाती हैं, जो सब क्रिया-कलापके त्यागपर तथा एक निश्चलता और आंतरिक शांतिमें डुबकी लगानेपर आधारित हैं, जिन्होंने सारे जीवन-

का परित्याग कर दिया क्योंकि एकदम अचानक उन्हें यह अनुभव हुआ कि शांतिके बिना आंतरिक सिद्धि नहीं मिल सकती, और स्वभावतया मनमें यही आया कि शांति तबतक नहीं मिल सकती जबतक मनुष्य बाह्य परिवेशमें रहता है, उस चिंतातुर अवस्थामें रहता है जिसमें समस्या तो खड़ी कर दी जाती है, पर समाधान नहीं किया जाता क्योंकि वैसा कर सकनेके लिये उसके पास ज्ञान नहीं होता।

इससे अगला चरण है समस्याका सामना करना, लेकिन उस परम शक्तिमें अखंड विश्वासकी स्थिरता और निश्चयताके साथ, जो जानती है और तुमसे काम करा सकती है। और तब काम छोड़ देनेके बजाय उच्चतर शांतिमें रहकर मनुष्य कर्म कर सकता है जो सशक्त और सक्रिय होता है।

यही है वह चीज जिसे जीवनमें भागवत हस्तक्षेपका नया पहलू, जीवन-में दिव्य शक्तियोंके हस्तक्षेपका नया रूप, आध्यात्मिक सिद्धिका नया पक्ष कहा जा सकता है।

२ अप्रैल, १९५८

मां, आपने कहा था कि जब कोई जान-बूझकर भूल करता है तो वह अनजानेमें की गयी भूलसे कहीं अधिक गंभीर होती है।

जब तुम अज्ञानवश कोई गलत काम करते हो, क्योंकि तुम नहीं जानते कि यह गलत है, तो यह स्पष्ट है कि, जब तुम यह जान जाते हो कि यह गलत है, जब अज्ञान दूर हो जाय और तुम्हारे अंदर सदिच्छा हो तो तुम वह भूल फिर नहीं करते, और उस अवस्थासे निकल आते हो जिसमें तुम वह भूल कर सकते थे। पर यदि तुम्हें मालूम है कि यह भूल है और तुम उसे करते हो तो इसका अर्थ यह है कि तुममें कहीं विकृति है जिसने स्वेच्छासे अव्यवस्थाका, या दुर्भावनाका, या यहांतक कि भगवद्विरोधी शक्तियोंका पक्ष चुना है।

और यह तो स्पष्ट है कि जब कोई भगवद्विरोधी शक्तियोंके पक्षको चुनता है या इतना दुर्बल और चंचल है कि उनके साथ रहनेके प्रलोभनका प्रति-

रोध नहीं कर सकता, तो यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे अनन्तगुना संगीन है। इसका अर्थ है कि कहीं कुछ दूषित है ! या कोई आसुरिक शक्ति पहलेसे ही तुमपर हावी है, या कम-से-कम उन शक्तियोंके प्रति तुममें सहज सहानुभूति है। और अज्ञानकी अपेक्षा इसे ठीक राहपर लाना कहीं अधिक कठिन है।

अज्ञानको सुधारना अंधकारपर विजय पानेकी तरह है : तुम एक दीप जला लो और अन्धकार लुप्त हो जायगा। पर यह जानते हुए कि यह भूल है, किसी भूलको दुबारा करना ऐसा ही है जैसा कि प्रकाशके होते हुए उसे स्वेच्छासे बुझा देना: . .। यह तो बिलकुल स्वेच्छासे अंधकारको वापिस लाने जैसी बात हुई। क्योंकि दुर्बलताकी दलील लागू नहीं होती। भागवत कृपा **सदा** उनकी सहायताको प्रस्तुत रहती है जो अपने-आपको सुधारना चाहते हैं, वे यह नहीं कह सकते : "अपने-आपको सुधारनेके लिये मैं अत्यंत दुर्बल हूं।" वे कह सकते हैं कि अभी उन्होंने स्वयंको सुधारनेका संकल्प नहीं लिया है, सत्तामें कहीं ऐसा कुछ है जिसने ऐसा करनेका **निश्चय नहीं किया** है, यही चीज गंभीर है।

दुर्बलताकी दलील तो एक बहाना है। जिसने भी संकल्प किया है उसे चरम शक्ति देनेके लिये भागवत कृपा प्रस्तुत है।

इसका मतलब है कपट, इसका मतलब दुर्बलता नहीं है। और कपट सदा ही शत्रुके लिये खुला द्वार होता है ! अर्थात्, जो विकृत है उसके साथ कुछ गुप्त सहानुभूति है। यही अवस्था गंभीर है।

अज्ञानको तिरोहित करनेके लिये, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, दीप जलाना ही काफी है। भूलोंकी सचेतन पुनरावृत्तिमें आवश्यक है चरका देना।

९ अप्रैल, १९५८

> **मधुर मां, क्या मानव-मनके द्वारा दूसरे व्यक्तिकी आत्माको पहचानना संभव है?**

चीजें इतनी कटी-छंटी, इतनी अलग-थलग नहीं हैं जितनी कि कहनेमें लगती हैं, इसलिये अपने अंदर सत्ताके विभिन्न अंगोंको ठीक-ठीक और साफ-साफ देखना कठिन होता है जबतक कि कोई अध्ययन और अवलोकनके एक सुदीर्घ

प्रशिक्षण और लंबे अनुशासनमेंसे न गुजर ले। आत्मा, मन, प्राण और यहांतक कि शरीरके बीच भी कोई कठोर विभाजन नहीं है। आत्मा मनके अंदर धीरे-धीरे प्रवेश करती है। कुछ लोगोंमें यह काफी अधिक होती है, इसे देखा जा सकता है। तब मनका वह अंश जिसे एक तरहका बोध प्राप्त होता है, जो चैत्य पुरुषके साथ एक तरहका सूक्ष्म संपर्क रखता है, वह दूसरेमें आत्माकी उपस्थिति अनुभव कर सकता है।

जिनमें एक हदतक दूसरोंकी चेतनामें घुसनेकी योग्यता है, जहां वे सीधे उनके विचारको, उनके मानसिक क्रिया-कलापको देख या अनुभव कर सकें, जो अपनी बात समझानेके लिये शब्दोंका उपयोग किये बिना ही दूसरोंके मानसिक वायुमंडलमें घुस सकते हैं, वे आसानीसे यह अंतर जान सकते हैं कि किसकी आत्मा क्रियाशील है और किसकी सोयी पड़ी है। आत्माकी सक्रियता मनकी क्रियाशीलताको एक खास रंगमें रंगती है — वह अधिक हलकी, अधिक सुबोध और अधिक आलोकित होती है —, अतः वह अनुभव की जा सकती है। उदाहरणार्थ, किसीकी आंखोंमें देखकर तुम कुछ निश्चयताके साथ बता सकते हो कि उसकी आत्मा जीवंत है या तुम्हें उसकी आंखोंमें उसकी आत्मा नहीं दिखायी पड़ती। ऐसे लोग बहुत हैं ("बहुत"-से मेरा मतलब विकसित व्यक्तियोंमेंसे), जो यह अनुभव कर सकते हैं, ऐसा कह सकते हैं। पर स्वभावतः, ठीक-ठीक जाननेके लिये कि किसकी आत्मा किस सीमातक जाग्रत् और सक्रिय है, किस सीमातक सत्तापर शासन करती है, उसकी अधिपति है, स्वयं व्यक्तिमें चैत्य चेतना होनी चाहिये, क्योंकि वही निर्णायक ढंगसे विचार कर सकती है। लेकिन उस तरहका आंतरिक स्पंदन होना कोई बिलकुल असंभव बात नहीं है जो तुमसे कहलवाता है: "ओहो! इस व्यक्तिमें आत्मा है।"

अब स्पष्ट है कि लोग (यदि वे दीक्षित नहीं हैं तो) प्रायः जिसे "आत्मा" कहते हैं वह है प्राणिक क्रियाशीलता। जब किसीका प्राण शक्तिशाली, क्रियाशील, कृतसंकल्प होता है जो शरीरके कार्योंको परिचालित करता है, जब उसका लोगों, वस्तुओं और घटनाओंके साथ बहुत ही प्राणवंत या घनिष्ठ संपर्क होता है, जब उसमें कलाके लिये, सौंदर्यकी सभी अभिव्यक्तियोंके लिये विशेष रुचि होती है, तब आम तौरपर हम यह कहने और माननेके लिये ललचा जाते हैं: "ओह! इसकी आत्मा जाग्रत् है," पर वह उसकी आत्मा नहीं होती, वह होती है उसकी प्राणिक सत्ता जो सजीव है और उसकी शारीरिक क्रियाको परिचालित करती है। विकासकी ओर कदम उठानेवालों और अभीतक नितांत भौतिक जीवनकी जड़ता और तमस्‌में पड़े रहनेवालोंमें यही है प्रथम अंतर। वह पहले तो आकृतिको

और फिर क्रियाको भी एक तरहके स्पंदनकी तीव्रता प्रदान करता है जिससे प्रायः यह छाप पड़ती है कि इस व्यक्तिकी आत्मा जाग्रत् है; लेकिन यह वह चीज नहीं है, यह तो उसका प्राण है जो विकसित है, जिसमें विशेष क्षमता है, जो भौतिक जड़तासे कहीं अधिक शक्तिशाली है और जो उन्हें स्पंदनकी, जीवनकी और क्रियाकी वह तीव्रता देता है जो उन लोगोंके पास नहीं होती जिनकी प्राणिक सत्ता विकसित नहीं है। प्राणिक क्रिया और आत्माके बीच यह द्विविधा प्रायः ही होती रहती है ... आत्माके स्पंदनकी अपेक्षा प्राणिक स्पंदन मनुष्यकी चेतनाकी पकड़में ज्यादा आसानीसे आते हैं।

किसीकी आत्माको अनुभव करनेके लिये साधारणतया मनको अचंचल बना देना जरूरी है — एकदम अचंचल, क्योंकि जब वह क्रियाशील होता है तो तुम आत्माके स्पंदनको नहीं, उसके स्पंदनोंको अनुभव करते हो।

और तब, जब तुम किसी ऐसे व्यक्तिको देखते हो जो अपनी आत्माके बारेमें सचेत है और अपनी आत्मामें रहता है, जब तुम ऐसे व्यक्तिको देखते हो तो नीचे उतरनेका आभास होता है, ऐसा लगता है कि तुम गहरे, गहरे, गहरे, सत्ताकी गहराईमें दूर, दूर, दूर, दूरतक अदर पैठ रहे हो जब कि साधारणतया यदि तुम किसीकी आंखोंमें देखते हो तो बहुत जल्दी ही तुम्हारी भेंट एक ऐसी सतहसे होती है जो स्पंदित होती और तुम्हारी दृष्टिको उत्तर देती है, पर तुम्हें ऐसा नहीं लगता कि तुम नीचे, नीचे, नीचे, नीचे मानों विवरमें गहरे — और दूर, बहुत दूर, बहुत दूर कहीं भीतर जा रहे हो, तब तुम्हें ... संक्षिप्त-सा मौन उत्तर मिलता है। नहीं तो, आम तौरपर, तुम पैठते हो — ऐसी आंखें भी हैं जिनमें तुम पैठ नहीं सकते, वे बंद दरवाजेकी तरह होती हैं — पर ऐसी आंखें भी होती हैं जो खुली रहती हैं, तुम घुसते हो और निकट ही पीछे कुछ स्पंदित होती हुई चीज पाते हो, इस तरह, रह-रहकर चमकती हुई, स्पंदित होती हुई। और तब यहींपर, यदि तुम भूल कर बैठो तो कह उठते हो, "ओह ! इसमें जाग्रत् आत्मा है" — यह वह नहीं है, यह तो उसका प्राण है।

अंतरात्माको पानेके लिये इस तरह जाना होगा (भीतर डुबकी लगानेका संकेत), इस तरह, ऊपरी सतहसे पीछे हटना होगा, गहरे पैठना होगा, और घुसना होगा, घुसना होगा, घुसना होगा, घुसना होगा, नीचे उतरना होगा, नीचे, नीचे, नीचे उतरना होगा एक बहुत गहरे, शांत, निश्चल विवरमें, और तब वहां, वहां है एक तरहका ... कुछ जो उष्ण है, शांत, तत्त्वमें समृद्ध और अत्यंत निश्चल, और सर्वथा परिपूर्ण, मिठासकी तरह, — यह है आत्मा।

और यदि तुम आग्रह करो और स्वयं अपने-आप सचेत होओ, तो एक

तरहकी परिपूर्णता पैदा होती है जो किसी वस्तुके पूर्ण होनेका आभास देती है जो अपनेमें अथाह गहराइयोंको समाये है जिनमें यदि कोई पैठे तो अनुभव करेगा कि अनेक रहस्य उद्घाटित हो जायेंगे . . . किसी शाश्वत तत्त्वके प्रशांत जलोंमें पड़ते प्रतिबिंबकी नाईं। और तब आदमी अपनेआपको कालके द्वारा सीमित नहीं पाता।

लगता है कि हम हमेशा रहे हैं और अनंत कालतक रहेंगे।

यह तब होता है जब हम अंतरात्माके मर्मको छू लेते हैं।

और यदि संपर्क पर्याप्त सचेत और सर्वांगीण रहा हो तो वह तुम्हें बाह्य आकृतिकी दासतासे मुक्त कर देता है; अब तुम यह महसूस नहीं करते कि चूंकि शरीर है इसीलिये तुम जी रहे हो। यही है साधारणतया मनुष्यका सामान्य संवेदन, उस बाह्य आकृतिसे इस हदतक बंधे रहना कि जब भी वह "मैं"के बारेमें सोचता है तो वह "शरीर"के बारेमें सोचता है। यह आम बात है। व्यक्तिगत सत्य है शारीरिक सत्य। जब कोई आंतरिक विकासके लिये चेष्टा करता है और सत्तामें कुछ ऐसी चीज खोज निकालनेका प्रयत्न करता है जो अधिक स्थिर हो, तभी वह अनुभव करना शुरू करता है कि वह "कुछ" है जो युग-युगांतर और सब तरहके परिवर्तनोंमेंसे गुजरते हुए भी सर्वदा सचेत है, और इसी कुछको "मैं" होना चाहिये। पर यह पहले ही काफी . . . काफी गहरे अध्ययनकी अपेक्षा रखता है। नहीं तो, यदि तुम सोचो "मैं यह करूंगा," "मुझे उसकी जरूरत है," तो यह हमेशा तुम्हारा शरीर होता है, जरा-सी एक तरहकी इच्छा होती है, जो संवेदनों, प्रायः उलझी हुई भावुक प्रतिक्रियाओं एवं और भी अधिक उलझे हुए ऐसे विचारोंका मिश्रण होती है जो किसी भी आवेग, आकर्षण, इच्छा और चाहसे प्राणवंत हो उठते हैं, और यह सब क्षणिक "मैं" बन जाता है। लेकिन सीधे नहीं, क्योंकि तुम इस "मैं" की सिरसे, धड़से, हाथपैरसे और उस सबसे जो हिलता-डुलता है, अलग कल्पना नहीं कर सकते, यह बड़ी घनिष्ठतासे जुड़ा हुआ है।

तुम बहुत चिंतन, बहुत अनुभव, बहुत अध्ययन, बहुत अवलोकनके बाद यह समझना आरंभ करते हो कि ये एक-दूसरेसे लगभग स्वतंत्र हैं, यह भी कि पीछे रहनेवाली इच्छा-शक्ति उससे काम करा भी सकती है और मना भी कर सकती है और वह गति, कार्य और सिद्धिके साथ पूर्णतया एकाकार न हो — अर्थात्, वहां अनिश्चय है। पर इसे देख पानेके लिये लंबा अनुभव चाहिये।

और फिर, और भी लंबे अनुभवकी आवश्यकता है यह देखनेके लिये कि वह दूसरी चीज जो वहां है, इस तरहकी सचेतन सक्रिय इच्छा-शक्ति,

वह "किसी और" द्वारा परिचालित होती है जो देखती है, परखती है, निर्णय करती है और अपने निर्णयोंको ज्ञानपर आधारित करनेकी चेष्टा करती है — यह, यह तो और भी देरसे आता है। और तब, जब तुम उस "किसी और चीज"को देखना आरंभ करते हो तो तुम देखना आरंभ करते हो कि इसमें उस दूसरी चीजको गति देनेकी सामर्थ्य है जो एक क्रियाशील इच्छा-शक्ति है; सिर्फ यही नहीं, प्रतिक्रियाओं, भावनाओं और संवेदनोंपर इसकी क्रिया बहुत सीधी और बहुत महत्त्वपूर्ण होती है, और अंतमें, वह सत्ताकी सारी गतिविधियोंपर नियंत्रण रख सकती है, वह अंश जो देखता है, जो अवलोकन करता है, जो परखता है, जो निर्णय करता है।

यह है संयमका प्रारंभ।

जब तुम इसके बारेमें सचेत हो जाते हो तो सूत्र तुम्हारे हाथ लग जाता है और जब तुम संयमके बारेमें कहते हो, तुम जान सकते हो : "अरे! हां, उसीके पास है संयमित करनेकी शक्ति।"

इसी तरह व्यक्ति अपने-आपको देखना सीखता है।

१६ अप्रैल, १९५८

"क्रम-विकासके पिछले चरणोंमें प्रकृतिको मुख्य रूपसे भौतिक संगठनकी ओर अपना ध्यान और प्रयास लगाना पड़ा था, क्योंकि केवल इसी तरहसे चेतनाका परिवर्तन हो सकता था। उस समय-तक चेतनाकी जो शक्ति रूप ले रही थी उसके अंदर शरीरमें परिवर्तन लानेकी पर्याप्त क्षमता नहीं थी, इसलिये यह जरूरी था। परंतु मनुष्यमें इस क्रमको उलट देना संभव है, वास्तवमें अनिवार्य है क्योंकि अब विकास एक नये शारीरिक संगठनको लेकर नहीं, बल्कि उसकी चेतनाके द्वारा, उसके रूपांतरके द्वारा साधित हो सकता है और होना चाहिये। वस्तुओंकी आंतरिक वास्तविकतामें चेतनाका परिवर्तन हमेशा मुख्य तत्त्व रहा है, विकास-क्रमकी हमेशा ही एक आध्यात्मिक सार्थकता रही है और भौतिक परिवर्तन केवल सहायक उपकरण रहा है। लेकिन यह संबंध इन दो तत्त्वोंके पहले अस्वाभाविक संतुलनसे छिपा था। बाहरी निश्चेतना महत्त्वकी दृष्टिसे

आध्यात्मिक तत्त्व या सचेतन सत्ताको दबाये और धुंधला-सा बनाये रहती है। लेकिन एक बार संतुलनके ठीक हो जानेपर यह आवश्यक नहीं रह जाता कि चेतनाके परिवर्तनसे पहले शरीरका परिवर्तन हो। शरीरमें जिस किसी परिवर्तनकी आवश्यकता होगी उसे चेतनाका परिवर्तन अनिवार्य बनाकर साधित कर लेगा। यह बात ध्यान देने लायक है कि मानव मन पौधों और पशुओंमें नयी जातियोंका विकास करनेमें प्रकृतिकी सहायता करनेकी क्षमता दिखा चुका है। उसने अपने परिवेशके नये रूपोंकी सृष्टि की है। और अपनी मनोवृत्तिमें अपने ज्ञान और अनुशासनके द्वारा बहुत-से परिवर्तन किये हैं। यह असंभव नहीं है कि मनुष्य अपने आध्यात्मिक और शारीरिक विकास और रूपांतरके लिये भी प्रकृतिकी सचेतन रूपसे सहायता करे। इसके लिये प्रेरणा तो है ही और वह अंशतः प्रभावशाली है यद्यपि अभीतक बाहरी मन उसे अधकचरे रूपमें ही समझता और स्वीकार करता है। लेकिन किसी दिन वह समझ सकता है और अपने अंदर गहराईमें पैठकर साधनको, गोपन ऊर्जा और चिच्छक्तिकी अभीष्ट क्रियाको खोज सकता है, जिसमें उस चीजकी वास्तविकता छिपी है जिसे हम प्रकृति कहते हैं...।

अगर धरतीपर 'जड़तत्त्व'में हमारे जन्मका गुप्त सत्य आध्यात्मिक उन्मीलन है, अगर प्रकृतिमें जो हो रहा है वह मूल रूपसे चेतनाका विकास है तो मनुष्य, जैसा कि वह है, विकासका अंतिम पर्व नहीं हो सकता। वह आत्माकी बहुत ही अपूर्ण अभिव्यक्ति है, मन अपने-आपमें बहुत ही सीमित रूप और साधन है। मन चेतनाका एक मध्यवर्ती स्तर है, मनोमय सत्ता केवल संक्रमणकालीन सत्ता ही हो सकती है। तब यदि मनुष्य मनका अतिक्रमण करनेमें असमर्थ है तो उसे छोड़कर अतिमानवको प्रकट होना और सृष्टिकी बागडोरको अपने हाथमें लेना होगा। लेकिन अगर उसका मन अपनेसे परेकी ओर खुल सकता है तो कोई कारण नहीं कि मनुष्य स्वयं अतिमानव और अतिमानवतातक न पहुंचे या कम-से-कम, प्रकृतिमें अभिव्यक्त होते हुए आत्माके उस उच्चतर पदके विकासमें अपने मन, प्राण और शरीरका योगदान न दे।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८४३)

बहरहाल, अब हम एक निश्चतिपर पहुंच गये हैं, क्योंकि उपलब्धिका प्रारंभ हो चुका है। हमारे पास प्रमाण है कि कुछ स्थितियोंमें, मानव-जातिकी साधारण अवस्था अतिक्रम की जा सकती है और चेतनाकी एक नयी अवस्था संपन्न की जा सकती है: जो कम-से-कम मानव और अतिमानवके बीच एक सचेतन संबंधकी अनुमति दे।

निश्चयपूर्वक यह दावा किया जा सकता है कि मानसिक और अति-मानसिक सत्ताओंके बीच एक मध्यस्थ जाति होगी, एक तरहका अति-मानव जिसमें अभी मनुष्यकी प्रकृतिके कुछ अंश और गुण बाकी होंगे, अर्थात्, जो अपने अति बाह्य रूपमें मनुष्य ही होगा जिसका मूल है पशु, पर जो अपनी चेतनाको इतना रूपांतरित कर लेगा कि वह अपनी उप-लब्धि और अपने कार्यमें एक नयी जाति, अतिमानवजातिका सदस्य हो सके।

इस जातिको सांक्रांतिक जाति माना जा सकता है, क्योंकि पहलेसे ही जाना जा सकता है कि वह पुराने पाशविक तरीकेमेंसे गुजरे बिना नयी सत्ताओंको जन्म देनेके साधन खोज निकालेगी, ये ही वे सत्ताएं होंगी — जिनका जन्म, सचमुच, आध्यात्मिक जन्म कहलायगा — जो नयी जाति-के, अतिमानवजातिके तत्त्वोंका निर्माण करेंगी।

अतः हम उन्हें अतिमानव कह सकते हैं जो जन्मे तो पुरानी प्रजनन-पद्धतिसे हैं पर अपनी उपलब्धिमें अतिमानसिक सिद्धिके नये जगत्के साथ सचेतन और सक्रिय संपर्क बनाये हैं।

लगता है — बल्कि यह निश्चित है — कि मध्यवर्ती जगत्को, जो पहलेसे ही तैयार हो रहा है, बनानेवाला पदार्थ अधिक समृद्ध, अधिक शक्तिशाली, अधिक आलोकमय, अधिक सहिष्णु, कुछ अधिक सूक्ष्म, और अधिक पैने, नये गुणोंसे युक्त है, और इसमें सर्वव्यापकताकी तरह-की जन्मजात क्षमता है, मानों इसकी सूक्ष्मता और परिमार्जनके कारण स्पंदनोंको, यदि बिलकुल पूरी तरह नहीं, तो अधिक विस्तृत रूपमें अनुभव किया जा सकता है और वह विभाजनके उस संवेदनको दूर कर देता है जो प्राचीन पदार्थद्वारा, सामान्य मानसिक पदार्थ-द्वारा अनुभव होता है। स्पंदनकी एक सूक्ष्मता जो बोध-क्षमताको सार्वभौम और विश्वव्यापी बनाती है, सहज और नैसर्गिक है। विभाजन-का, विच्छेदका संवेदन इस पदार्थद्वारा सहज-स्वाभाविक रूपसे लुप्त हो जाता है। और यह पदार्थ इस समय लगभग विश्वव्यापी रूपसे पार्थिव वायुमंडलमें फैला हुआ है।

सिर्फ चेतनाकी थोड़ी-सी एकाग्रता, एक प्रकारकी तन्मयतासे यह

जाग्रत् अवस्थामें इंद्रियगोचर हो सकता है, यदि उसे चेतनाकी सामान्य बहिर्मुखतासे, जो अधिकाधिक कृत्रिम और मिथ्या लगता है, भीतरकी ओर खींचा जाय, अंतर्मुखी हुआ जाय। यह बहिर्मुखीनता, यह बोध जो पहले स्वाभाविक था, अब झूठा, अवास्तविक और नितांत बनावटी लगता है; वह उन वस्तुओंको जैसी कि वे हैं, कोई उत्तर नहीं देता, इसका उस गतिसे संबंध है जिसका किसी भी सच्ची वास्तविक वस्तुसे मेल नहीं।

यह नया बोध अपना प्रभाव अधिकाधिक डाल रहा है, वह अधिकाधिक सहज बनता जा रहा है, और कभी-कभी तो, सत्ताके पुराने तरीकेको फिरसे पकड़ पाना कठिन हो जाता है, मानों वह धुंधले अतीतमें विलीन होता जा रहा है—ऐसी वस्तु जो लुप्त होने-होनेको है।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिस क्षण एक शरीर, जो निश्चय ही पाशविक तरीकेसे जन्मा है, अपने-आपसे बाहर गये बगैर, बिना किसी प्रयासके, सहज और स्वाभाविक रूपसे उस चेतनामें जीने योग्य हो जाय तो यह प्रमाणित हो जायेगा कि यह कोई अनोखा और अपवादिक उदाहरण नहीं है, वरन् सिर्फ एक सिद्धिका अग्रदूत है जो, चाहे नितांत साधारण न भी हो, फिर भी कम-से-कम कुछ व्यक्ति तो उसमें भाग बंटा ही सकते हैं, और इसके अतिरिक्त जैसे ही वे उसमें भाग बंटायेंगे वे अलग-अलग व्यक्ति होनेका बोध खो देंगे और एक प्राणवन्त समूह बन जायंगे।

यह नयी सिद्धि, कहा जा सकता है कि, विद्युत्-गतिसे आगे बढ़ रही है, क्योंकि, यदि हम प्रचलित ढंगसे समयका हिसाब लगायें तो अभी दो ही वर्ष हुए हैं (दो वर्षसे जरा-सा ज्यादा), जब अतिमानसिक तत्त्वने पार्थिव वायुमंडलमें प्रवेश किया और जबसे पार्थिव वायुमंडलके गुणमें यह परिवर्तन हुआ।

यदि चीजें इसी गतिसे प्रगति करती गयीं तो यह संभवसे भी अधिक, करीब-करीब स्पष्ट, हो जायगा, कि श्रीअरविंदने अपने पत्रमें जो लिखा है वह भावी घोषणा है: १९६७ में अतिमानसिक चेतना सिद्धिदायिनी शक्तिकी अवस्थामें पहुंच जायेगी।[1]

---

[1] "४-५-६७ पूर्ण सिद्धिका वर्ष है।" —'श्रीअरविंदके पत्र', प्रथम भाग, श्रीअरविंद साहित्य-संग्रह, १६ वां खंड, पृ० ४४।

२३ अप्रैल, १९५८

मधुर मां, जब हमारे अंदर अधिक अच्छा करनेका प्रयास चलता है, पर हमें कोई प्रगति नहीं दीखती, तो हम बहुत हताश हो जाते हैं। क्या करना सबसे अच्छा होगा?

हताश न होना! ... निराशा कहीं नहीं ले जाती।

शुरूमें, सबसे पहली बात तो तुम्हें अपने-आपसे यह कहनी चाहिये कि तुम यह जाननेमें प्रायः बिलकुल अक्षम हो कि तुम प्रगति कर रहे हो या नहीं, क्योंकि, बहुधा, जो हमें गतिहीनताकी अवस्था लगती है, वह आगे-की ओर छलांग लगानेकी लंबी — कभी-कभी लंबी पर किसी हालतमें अंतहीन नहीं — तैयारी होती है। कभी-कभी हमें लगता है कि हफ्ते और महीने बीतते जाते हैं और तब सहसा वह चीज सामने आ जाती है जिसकी ओर तैयारी हो रही थी, और हम देखते हैं कि काफी कुछ बदल गया है, और एक साथ **कई स्थलोंपर**।

जैसा कि योगमें हर बातके लिये होता है, यह जरूरी है कि प्रगतिके लिये प्रयास इसलिये किया जाये क्योंकि प्रगतिके प्रयाससे प्रेम है। फलसे स्वतंत्र, प्रयासका आनंद, प्रगतिके लिये अभीप्सा ही अपने-आपमें पर्याप्त होनी चाहिये। योगमें व्यक्ति जो कुछ करता है वह करनेके आनंदके लिये करना चाहिये, अपने वांछित फलको ध्यानमें रखकर नहीं...। सच-मुच, जीवनमें, सदा, हर वस्तुमें, फलपर हमारा अधिकार नहीं होता। और यदि हम सच्ची मनोवृत्ति अपनाना चाहते हैं तो हमें सहज तरीकेसे काम करना, अनुभव करना, विचारना और प्रयास करना चाहिये, क्योंकि **वही** है जिसे करना चाहिये, किसी वांछित परिणामको दृष्टिमें रखकर नहीं।

जैसे ही हम फलके बारेमें सोचते हैं हम सौदेबाजीपर उतर आते हैं और यह प्रयासकी सारी सच्चाईको छीन लेता है। तुम प्रगतिके लिये प्रयत्न करते हो क्योंकि तुम अपने अंदर इसकी आवश्यकता महसूस करते हो, प्रयत्न और प्रगति करनेके लिये **अनिवार्य** आवश्यकता। यह प्रयत्न वह भेंट है जो तुम अपने अंदर स्थित 'दिव्य चेतना' को विश्वकी 'दिव्य चेतना' को अर्पित कर रहे हो, यह अपनी कृतज्ञता व्यक्त करनेका, अपने-आपको दे देनेका तुम्हारा ढंग है; और फलस्वरूप यह कोई प्रगति लाता है या नहीं — इसका कुछ भी महत्त्व नहीं है। तुम तभी प्रगति करोगे

जब यह निर्णय हो जायगा कि प्रगतिका समय आ गया है, इसलिये नहीं कि तुम चाहते हो।

यदि तुम प्रगतिकी इच्छा करते हो, उदाहरणार्थ, यदि तुम अपने-आपको वशमें करना चाहते हो, कुछ त्रुटियों, दुर्बलताओं, अपूर्णताओंपर विजय प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हो, और लगभग तुरत ही अपने प्रयत्नका फल पाना चाहते हो तो तुम्हारा प्रयत्न सारी सच्चाई खो देता है। वह सौदे-बाजी हो जाती है। तुम कहते हो: "देखो, मैं प्रयत्न करने जा रहा हूं क्योंकि अपने प्रयत्नके बदलेमें अमुक चीज चाहता हूं।" • तब तुम सहज-स्वाभाविक नहीं रह जाते।

अतः दो चीजें याद रखनी चाहिये। पहले, परिणाम क्या होना चाहिये यह निर्णय करनेकी क्षमता हममें नहीं है। यदि हम भगवान्-पर भरोसा रखते हैं, यदि हम कहते हैं ... यदि हम कहते हैं, "ठीक है, मैं सब कुछ दे दूंगा, सब कुछ, मैं जो कुछ दे सकता हूं, प्रयत्न, एकाग्रता सब कुछ, और **वही** विचार करेगा कि बदलेमें क्या किया जाय ... या बदलेमें कुछ दिया भी जाय या नहीं, और मैं, मैं स्वयं नहीं जानता कि परिणाम क्या होना चाहिये।" अपने अंदर कुछ भी रूपांतरित करनेसे पहले क्या हम निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि इस रूपांतरको कौन-सी दिशा, राह और रूप लेना चाहिये? — बिलकुल नहीं। अतः यह तो हमारी कल्पनामात्र है और साधारणतया हम वांछित परिणामकी संकीर्ण सीमा बांध देते हैं, उसे एकदम ही तुच्छ, क्षुद्र, छिछला, सापेक्ष बना देते हैं। हम नहीं जानते कि ठीक-ठीक परिणाम क्या हो सकता है और क्या होना चाहिये। हमें बादमें पता चलता है। जब वह आता है, जब परिवर्तन हो चुकता है, तब यदि हम पीछे मुड़कर देखें तो कहेंगे: "आह! तो यह है, इसीकी ओर तो मैं बढ़ रहा था!" — पर यह तो बादमें ही पता चलता है। पहले तो, सच्चे रूपांतर, सच्ची प्रगतिकी तुलनामें व्यक्ति सिर्फ धुंधली कल्पनाएं करता है जो बिलकुल ऊपरी और बचकानी होती हैं।

अतः हम कहते हैं, पहली बात है: हममें अभीप्सा है, पर सचमुच हम नहीं जानते कि कौन-सा सच्चा परिणाम है जो हमें मिलना चाहिये। यह तो केवल भगवान् ही जान सकते हैं।

दूसरी बात, यदि हम भगवान्से कहें: "मैं तुझे अपना प्रयत्न अर्पण करता हूं, लेकिन देख, बदलेमें मेरी प्रगति होनी चाहिये नहीं तो मैं तुझे कुछ भी नहीं दूंगा!" तब यह सौदेबाजी हुई। बस!

(मौन)

सहज कार्य, जो इसलिये किया जाता है कि तुम अन्यथा कर ही नहीं सकते, सद्भावनाकी भेंटके रूपमें किया गया काम ही एकमात्र वह काम है जो सचमुच मूल्यवान् है।

३० अप्रैल, १९५८

जैसा कि मैंने अनुमान लगाया था, मेरे पास ऐसे प्रश्नोंकी झड़ी लग गयी है जो मुझे ३ फरवरीको हुई अतिमानसिक अनुभूतिकी मानसिक रूपसे व्याख्या करनेको बाध्य कर रहे हैं।

तुम चाहते हो कि मैं तुम्हें बताऊं और उस सीमातक उसका मानसी-करण करूं जबतक कि एक नयी पद्धति स्थापित न हो जाय और तुम अपनी नयी मानसिक रचनामें आरामसे बैठे रहो . . .। मुझे तुम्हें निराश करनेका खेद है, लेकिन यह बिलकुल असंभव है। और यदि तुम उसे समझना चाहते हो जो मैंने लिखा है तो प्रयास करो और अतिमानसिक चेतना प्राप्त करो।

बस, मुझे इतना ही तुमसे कहना है।

इस सनकसे खूब सावधान रहो जो एक पुराने सिद्धांतके स्थानपर नये-को बिठाकर कहना चाहती है : "ओह! वह झूठा था, पर अब हम नेतृत्व करनेके लिये अच्छा व्यावहारिक मार्ग-दर्शक बनायेंगे जो अंततः सच्चा होगा।"

एक मानसिक रचना कभी सच्ची नहीं हो सकती, और मैं इसे बनाना अस्वीकार करती हूं। मैं उन शब्दोंका प्रयोग करनेको बाध्य थी जिन्हें मनुष्य समझते हैं, पर मैंने यह प्रयोग यथासंभव असंगत ढंगसे किया(!) ताकि वह बहुत ही मानसिक न हो जाये, और मैं मानसिक ढंगके अनुरूप संगत होनेसे इंकार करती हूं। यह बात सिर्फ उन प्रश्नोंके लिये ही नहीं है जो मुझसे यहां पूछे गये हैं या मुझे पत्रद्वारा प्राप्त हुए हैं, वरन् उन सबके लिये भी जो इस विषयपर आनेवाले हैं, अतः अब प्रश्न करना निरर्थक होगा।

मैं हर एकको वही सलाह दूंगी : "प्रयत्न करो, काम करो, अपने-आपको खोलो, अपने-आपको पूरी तरह नयी शक्तिके सुपुर्द कर दो, और एक दिन आयेगा जब तुम्हें अनुभूति होगी।"

अनुभूतिके साथ-साथ, तुम यह भी ठीक-ठीक समझ जाओगे कि कितने निरर्थक थे ये प्रश्न।

७ मई, १९५८

"विकास करती हुई प्रकृतिकी सबसे पहली भूमिकाओंमें हमें उसकी निश्चेतनाके मूक रहस्योंसे ही पाला पड़ता है। उसके कामोंमें कोई सार्थकता या उद्देश्य नहीं प्रकट होता। वह जिस पहले रूपको लेकर ही तल्लीन थी — जो हमेशाके लिये उसका एकमात्र व्यापार मालूम होता है — उसे छोड़कर किसी और तत्त्वका संकेत भी नहीं मिलता। उसके आदिम कार्यमें केवल 'जड़-तत्त्व' ही एकमात्र मूक और नग्न वैश्व सद्वस्तु प्रतीत होता है। यदि सृष्टिका कोई सचेतन 'साक्षी' होता, जिसे कुछ बताया न जाता, तो उसे असल दीखनेवाली बहुत बड़ी खाईमेंसे एक 'ऊर्जा' प्रकट होती हुई दिखायी देती जो 'जड़-तत्त्व', जड़-जगत् और जड़-पदार्थोंकी सृष्टि करनेमें लगी होती, जो निश्चेतनाकी अनंतताको किसी असीम विश्वकी योजनामें या असंख्य विश्वोंके समुदायमें संगठित करनेमें लगी होती, जो किसी निश्चित लक्ष्य या सीमाके बिना उसके चारों ओर देशमें फैले होते। वह साक्षी देखता कि नीहारिकाओं, नक्षत्र-समूहों, सूर्यों और ग्रहोंकी सृष्टि केवल अपने लिये है, उसका कोई अर्थ नहीं, वह कारण या उद्देश्य-विहीन है। उसे लगता कि यह एक बहुत ही बड़ी मशीन है जिसका कोई उपयोग नहीं, एक महान् किंतु निरर्थक गति, एक युगोंतक चलनेवाला दृश्य है जिसे देखनेवाला कोई नहीं, एक वैश्व प्रासाद है जिसमें रहनेवाला कोई नहीं; क्योंकि उसे इसके अंदर निवास करनेवाली 'आत्मा' का कोई चिह्न न दिखायी देता, कोई ऐसी सत्ता न दिखायी देती जिसके आनंदके लिये यह बनाया गया हो। इस प्रकारकी सृष्टि किसी निश्चेतन 'ऊर्जा'का परिणाम या किसी अतिचेतन उदासीन निरपेक्ष पर प्रतिबिंबित रूपोंका माया चल-चित्र, उनका छाया नाटक या कठपुतलीका तमाशा ही हो सकता है। 'जड़-पदार्थ'के इस अपार और अनंत प्रदर्शनमें उसे अंतरात्माका कहीं कोई साक्ष्य न मिलता और न ही 'मन' या 'प्राण'का कोई चिह्न दिखायी देता। उसे यह संभव ही न लगता, बल्कि कल्पनामें भी न आता कि इस हमेशाके लिये निष्प्राण और संवेदनहीन मरु जगत्में कभी प्राणकी बाढ़ आ जायगी, किसी गुह्य और गणनातीत, सजीव

और सचेतन वस्तुका बाहरी तलकी ओर रास्ता खोजता हुआ पहला स्पंदन होगा।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८४८-४९)

मधुर मां, यह वाक्य मेरी समझमें नहीं आया: "विकास करती हुई प्रकृतिकी सबसे पहली भूमिकाओंमें हमें उसकी निश्चेतनाके मूक रहस्योंसे ही पाला पड़ता है।" उसका रहस्य क्या है, मधुर मां?

प्रकृतिका अभिप्राय?... शुरूसे श्रीअरविन्दने कहा है कि गहराईमें जड़-तत्त्वके अंतस्तलमें भागवत उपस्थिति छिपी हुई है। और सारा पार्थिव क्रमविकास सृष्टिको अपने मूलकी ओर लौटनेकी तैयारीके लिये हुआ है, उस भागवत उपस्थितिकी ओर लौटनेके लिये जो हर वस्तुके केंद्रमें है — यही है प्रकृतिका अभिप्राय।

यह विश्व 'परम'का स्थूल रूप है, मानों अपने-आपको देखनेके लिये, जीनेके लिये, अपने-आपको जाननेके लिये उसने अपने बाहर स्थूल रूप धारण किया हो और संभूतिमें उसे अभिव्यक्त करनेके लिये एक जीवन और चेतना हो जो उसे अपने मूलके रूपमें पहचाननेके योग्य हो और सचेतन रूपमें उसके साथ एक हो जाय। विश्वके अस्तित्वका और कोई उद्देश्य नहीं। पृथ्वी वैश्व जीवनका एक तरहका प्रतीकात्मक स्फटिकीकरण है, छोटा संस्करण है, संकेंद्रण है, ताकि क्रमविकासका कार्य और उसका अनु-सरण अपेक्षाकृत आसान हो जाय। और यदि हम पृथ्वीका इतिहास देखें तो समझ सकेंगे कि विश्व क्यों रचा गया है। सनातन 'संभूति'में परम ही अपने प्रति सज्ञान हो रहा है; और लक्ष्य है 'अभिव्यक्त विश्व'-में सृष्टका स्रष्टासे मिलन, एक सचेतन स्वेच्छापूर्ण और स्वतंत्र मिलन।

यही है प्रकृतिका रहस्य। प्रकृति कार्यकारिणी 'शक्ति' है, यही है जो कार्य करती है।

और यह इस सृष्टिको लेती है जो प्रकट रूपमें बिलकुल अचेतन है पर जिसके भीतर 'परम चेतना' और एकमात्र 'सद्वस्तु' है, और काम करती है ताकि यह सब विकसित हो जाय, आत्म-सचेतन हो जाय और अपनेको पूरी तरह चरितार्थ कर ले। पर वह यह शुरूसे नहीं दिखाती। यह धीरे-धीरे विकसित होती है, और इसीलिये प्रारंभमें यह ऐसा रहस्य होती है जो अंतकी तरफ खुलेगा। और क्रमविकासमें मनुष्य अब एक काफी ऊंची अवस्थातक पहुंच गया है और अब यह रहस्य उद्घाटित किया

जा सकता है और जो कुछ बाहरी अचेतनतामें किया जाता था वह अब सचेतनतासे, स्वेच्छासे किया जा सकता है और इसीलिये कहीं अधिक शीघ्रतासे और सिद्धिके आनन्दके साथ किया जा सकता है।

मनुष्यमें अब भी देखा जा सकता है कि आध्यात्मिक सत्य विकसित हो रहा है और पूर्णतया एवं मुक्त भावसे अभिव्यक्त होनेवाला है। पहले, पशु और पौधेमें यह . . .। इसे देखनेके लिये बहुत स्पष्ट दृष्टिकी जरूरत थी, लेकिन मनुष्य तो स्वयं इस आध्यात्मिक सत्यसे अवगत है, कम-से-कम अपने मानव जीवनके उच्चतर भागमें तो है ही। मनुष्य यह जानने लगा है कि 'परम मूल' उससे क्या चाहता है और वह उसकी कार्यान्वितिमें सहयोग दे रहा है।

प्रकृति चाहती है कि सृष्टि स्वयंको स्थूल रूपमें अभिव्यक्त 'स्रष्टा' अनुभव करने लगे, अर्थात्, 'सृष्टि' और 'स्रष्टा'में कोई भेद नहीं है और लक्ष्य है सचेतन और संसिद्ध मिलन। यही है प्रकृतिका रहस्य।

मां, यहां श्रीअरविन्द लिखते हैं: "उसकी निश्चेतनाका मूक रहस्य"। उसकी "निश्चेतना" क्यों?

किसकी निश्चेतना?

प्रकृतिकी।

नहीं, प्रकृति वास्तवमें अचेतन नहीं है, पर उसका **बाह्य रूप** अचेतन है। वह शुरू हुई 'निश्चेतना'से लेकिन निश्चेतनाकी गहराईमें चेतना थी, और यही चेतना धीरे-धीरे विकसित होती है।[1] उदाहरणार्थ, खनिज पदार्थ, पत्थर, मिट्टी, धातुएं, पानी, पवन, सब काफी अचेतन दीखते हैं यद्यपि यदि कोई ध्यानसे देखे . . .। और अब विज्ञानको पता लग रहा है कि यह केवल बाह्य रूप है, यह सब है संकेन्द्रित ऊर्जा, और स्वाभाविक है कि सचेतन शक्तिने यह सब पैदा किया है। लेकिन ऊपरसे, जब हम चट्टानको देखते हैं तो तुरत यह नहीं सोचते कि यह सचेतन है, यह सचेतन होनेका आभास नहीं देती, यह बिलकुल निश्चेतन दीखती है।

---

[1]इस वार्ताके प्रकाशनके समय श्रीमांने निम्न सुधार किया: "चेतना विकसित नहीं होती, चेतनाका आविर्भाव, इसकी अभिव्यक्ति विकसित होती है: यह अपने-आपको अधिकाधिक व्यक्त करती है।"

रूप ही निश्चेतन होता है। वह अधिकाधिक सचेतन होता जाता है। खनिज जगत्‌तकमें कुछ दृश्य मिलते हैं जो प्रच्छन्न चेतनाको प्रकट करते हैं, जैसे कुछ स्फटिक। यदि तुम देखो कि किस सूक्ष्मता, किस यथार्थता और सामञ्जस्यके साथ यह रचा गया है, यदि तुम जरा भी खुले हो तो तुम यह अनुभव करनेको बाध्य होगे कि इसके पीछे एक चेतना काम कर रही है, यह किसी निश्चेतन संयोगका परिणाम नहीं हो सकता।

क्या तुमने शैल-स्फटिक देखे हैं?... क्या तुमने कभी नहीं देखा शैल-स्फटिक?

देखे हैं, मां।

यह सुन्दर होता है, है न? बहुत कलात्मक होता है यह।

समुद्रकी गतियोंको, पवनकी गतियोंको देख मनुष्य यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकता कि उसके पीछे कोई चेतना काम कर रही है, बल्कि कई चेतनाएं काम कर रही हैं। असलमें यह ऐसा ही है। सर्वाधिक उथला रूप ही निश्चेतन होता है।

(मौन)

बस?

वस्तुतः, प्रत्येक सत्तामें क्रम-विकासकी सारी प्रक्रिया दुहरायी जाती है मानों व्यक्ति, जो कुछ अबतक हो चुका है, उस सबमेंसे चकरानेवाले वेग-के साथ गुजर रहा है और अगला कदम लेनेसे पहले निमिष मात्रमें उस सबको फिरसे जी लेना आवश्यक था।

(मौन)

प्रारंभ... निश्चेतनमें, अंधकारमें, विस्मृतिमें, अचेतनतामें महान् यात्रा — जागरण... और प्रकाशमें पुनरागमन।

१४ मई, १९५८

"जैसे वनस्पति-जीवनमें सचेतन पशुकी धुंधली-सी संभावना रहती है, जैसे पशु मानस-संवेदन, इंद्रिय-बोध और धारणाके प्रारंभिक तत्त्वोंसे स्पंदित होता है, जो विचारशील मनुष्यकी प्रथम भूमि है, उसी तरह मनुष्य या मानसिक सत्तामेंसे आध्यात्मिक मनुष्य, संपूर्ण चिन्मय जीवका विकास होता है। विकसनशील ऊर्जा अपने पहले जड़ स्वरूपका अतिक्रमण करनेवाले, अपनी सच्ची आत्मा और उच्चतम प्रकृतिकी खोज करनेवाले मनुष्यको प्रकट करनेके लिये मनुष्यको उदात्त बनाती है।

"लेकिन अगर इसे प्रकृतिके अभिप्रायके रूपमें मान लिया जाय तो तुरंत दो प्रश्न उठते हैं और निश्चयात्मक उत्तरकी मांग करते हैं — पहला, मनोमय सत्तासे आध्यात्मिक सत्ताकी ओर संक्रमण-का ठीक-ठीक स्वरूप क्या होगा और, जब इसका उत्तर मिल जाय, तो दूसरा, मनोमय मनुष्यमेंसे आध्यात्मिक मनुष्यके विकास-की प्रक्रिया और पद्धति क्या होगी? पहली दृष्टिमें यह स्पष्ट मालूम होता है कि जैसे हर श्रेणी अपनेसे पहलेकी श्रेणीमेंसे केवल प्रकट ही नहीं, बल्कि उन्मज्जित होती है, जैसे 'प्राण' 'जड़-तत्त्व'में उन्मज्जित होता है और अपनी अभिव्यक्तिमें बड़ी हदतक उसकी भौतिक परिस्थितियोंमेंसे सीमित और निर्धारित होता है; जैसे मन जड़में स्थित प्राणमें उन्मज्जित होता है और उसी तरह अपनी अभिव्यक्तिमें भौतिक और प्राणिक परिस्थितियोंसे सीमित और निर्धारित होता है, उसी तरह आत्माको भी जड़में स्थित प्राणमें प्रकट होनेवाले मनमें उन्मज्जित होना होगा और वह भी बड़ी हदतक मानसिक स्थितियोंसे — जिनमें उसकी जड़ें हैं — और प्राणकी अवस्थाओं और अपने जीवनकी भौतिक अवस्थाओं-से सीमित और निर्धारित होगी।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८५१-५२)

जैसे-जैसे अतिमानसिक जीवनकी — जो विश्वके उन्मीलनमें अगली संसिद्धि होनी चाहिये — प्रारंभिक अवस्थाएं, शायद बहुत स्पष्ट तो नहीं, फिर भी निश्चित रूपसे, धीरे-धीरे विकसित हो रही हैं, यह अधिकाधिक स्पष्ट होता

जा रहा है कि अतिमानसिक जीवनतक पहुंचनेके लिये सबसे कठिन साधन है बौद्धिक क्रियाशीलता।

यह कहा जा सकता है कि जीवनमें किसी चैत्य भावसे — जो जड़-पदार्थमें भागवत उपस्थितिकी प्रतिच्छायाके समान, एक आलोकित निस्सरण-के समान है —अतिमानसिक चेतनाकी ओर जानेकी अपेक्षा मानसिकसे अति-मानसिक जीवनकी ओर जाना कहीं अधिक कठिन है। उच्चतम बौद्धिक चिंतनसे किसी भी अतिमानसिक स्पंदनतक जानेकी अपेक्षा चैत्य भावसे अतिमानसिक चेतनातक जाना कहीं अधिक आसान है। शायद यह शब्द ही हमें धोखा देता है। शायद, चूंकि हम उसे "अतिमानसिक" कहते हैं, इसलिये उच्चतर मानसिक, बौद्धिक क्रियाद्वारा उसतक पहुंचनेकी आशा करते हैं? लेकिन तथ्य बहुत भिन्न है। इस अति उच्च, अति शुद्ध, अति प्रशस्त, बौद्धिक क्रियाद्वारा मनुष्य एक तरहकी ठंडी, शक्तिहीन भावमयता-की ओर, एक बुझी ज्योतिकी ओर जाता दीखता है जो निश्चित ही जीवन-से बहुत दूर है और अतिमानसिक सत्यके अनुभवसे तो और भी अधिक दूर।

इस नये पदार्थमें, जो संसारमें फैल रहा है और काम कर रहा है, इतनी प्रगाढ़ एक उष्णता है, शक्ति और आनंद है कि इसके सामने सारी बौद्धिक क्रिया ठंडी और शुष्क दीखती है। और इसीलिये इन विषयोंपर जितना कम बोला जाय उतना अच्छा। मात्र एक क्षण, गहरे और सच्चे प्रेमकी मात्र एक उछाल, बोधका वह सिर्फ एक क्षण जो भागवत कृपामें मिलता है, सब संभव व्याख्याओंकी अपेक्षा लक्ष्यके अधिक समीप ले जाता है।

सूक्ष्म, स्पष्ट, आलोकित, पैना और गहराईतक पैठनेवाला एक तरहका सूक्ष्म संवेदन सूक्ष्मतम व्याख्याओंकी अपेक्षा द्वारको ज्यादा खोल देता है।

यदि हम अनुभवको और आगे बढ़ायें तो लगता है कि जब हम शरीरके रूपांतरका काम हाथमें लेते हैं, जब शरीरके कुछ कोषाणु जो औरोंसे अधिक तैयार, अधिक परिष्कृत, अधिक सूक्ष्म और अधिक नमनीय हैं, जो भागवत कृपा, भागवत संकल्प, भागवत शक्तिको और उस ज्ञानकी उपस्थितिको जो बौद्धिक नहीं है अपितु तादात्म्यद्वारा प्राप्त ज्ञान है, मूर्त रूपमें अनुभव करने-में सफल हो जाते हैं, जब हम शरीरके कोषाणुओंमें इसका अनुभव पाते हैं, तब, वह अनुभूति इतनी पूर्ण, इतनी अनिवार्य, इतनी जीवंत, मूर्त, स्पष्ट और यथार्थ होती है कि बाकी सब निरर्थक सपना लगता है।

और इसीलिये हम कह सकते हैं कि जब सचमुच वृत्त पूरा हो जायगा और दोनों छोर आपसमें मिल जायेंगे, जब उच्चतम निपट जड़में आविर्भूत होगा, तभी अनुभूति सचमुच निर्णायक होगी।

ऐसा लगता है कि हम सचमुच कभी नहीं समझ सकते जबतक कि अपने शरीरद्वारा नहीं समझ लेते।

२१ मई, १९५८

मधुर मां, "मानसिक ईमानदारी" का ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

यह ऐसा मन है जो अपने-आपको धोखा देनेकी चेष्टा नहीं करता। वास्तवमें, "चेष्टा"की बात ही नहीं उठती क्योंकि वह ऐसा करनेमें खूब सफल रहता है!

ऐसा लगता है कि मनुष्यके सामान्य मनोवैज्ञानिक गठनमें, मनका निरंतर कार्य होता है कामनामय पुरुषमें, प्राणमें, मनके सर्वाधिक भौतिक भागोंमें एवं शरीरके सूक्ष्मतम भागोंमें जो कुछ होता है उसकी सफाई देना। हमारी गलतियों और अवांछनीय क्रियाओंद्वारा छोड़ी दुःखद छापोंसे यथासंभव बचनेके लिये जो कुछ हम करते हैं उसकी सफाई देनेमें, यहांतक कि उसे सुविधाजनक ढंगसे उचित ठहरानेमें प्रायः सत्ताके सभी भागोंकी साझेदारी-सी होती है। उदाहरणार्थ, यदि किसीने विशेष प्रशिक्षण ही न पाया हो और इसपर खूब श्रम ही न किया हो तो, मनुष्य जो कुछ करता है मन अपने-आपको उसकी काफी अनुकूल सफाई दे लेता है ताकि उससे कोई तकलीफ न हो। यह तो बाहरी प्रतिक्रियाओं या परिस्थितियों या दूसरोंसे आये स्पंदनोंके दबावके कारण वह धीरे-धीरे कम अनुकूल दृष्टिसे देखनेको सहमत होता है कि वह क्या है और क्या करता है और अपनेसे पूछना शुरू करता है कि चीजें जैसी हैं उससे अच्छी नहीं हो सकतीं।

स्वाभाविक रूपसे, पहली प्रतिक्रिया होती है आत्म-रक्षाकी। मनुष्य चौकस रहने लगता है और बहुत स्वाभाविक ढंगसे, . . . छोटी-से-छोटी बातोंके लिये, बिलकुल नगण्य-सी बातोंके लिये औचित्य ढूंढता है — जीवनमें यह साधारण मनोभाव है।

और व्यक्ति अपने-आपको कैफियत देता है; केवल परिस्थितियोंके दबावसे ही दूसरोंको या किसी और व्यक्तिको सफाई देना शुरू करता है। पहले तो वह अपने-आपको तसल्ली देता है; पहली बात: "यह ऐसा हुआ क्योंकि इसे ऐसा ही होना था, यह इसके कारण ऐसा हुआ, और. . .",

बस, दोष हमेशा परिस्थितियोंका या दूसरोंका होता है। सचमुच प्रयासकी जरूरत होती है—जैसा कि मैंने कहा है, जबतक किसीने अनुशासनका पालन न किया हो, मनुष्यको यंत्रवत् ऐसा करनेकी आदत होती है—यह समझना शुरू करनेके लिये कि शायद चीजें वैसी नहीं हैं, एक प्रयासकी जरूरत पड़ती है! और इसके लिये भी कि शायद जो करना चाहिये था ठीक वैसा ही नहीं किया गया, जैसी चाहिये थी वैसी प्रतिक्रिया नहीं हुई। और जब कोई देखना शुरू कर भी देता है तब उसे सार्वजनिक रूपसे माननेके लिये तो और भी बड़े प्रयासकी जरूरत पड़ती है।

जब कोई देखने लगता है कि उसने गलती की है तो मनकी पहली चेष्टा होती है उसे पीछे फेंककर सामने परदा डालनेकी, बहुत सूक्ष्म छोटी-सी सफाईका परदा, और जबतक वह दिखानेको विवश ही न हो जाय वह उसे छिपाता रहता है। यही है वह चीज जिसे मैं "मानसिक ईमान-दारीका अभाव" कहती हूं।

पहले तो मनुष्य अभ्यासवश अपने-आपको धोखा देता है, लेकिन तब भी, जब वह अपनेको धोखा न देना शुरू करता है, सुखसे रहनेके लिये सहजवृत्तिवश उसकी चेष्टा होती है, अपनेको धोखा देनेकी चेष्टा। अतः जब एक बार यह समझमें आ जाय कि मैं अपनेको धोखा दे रहा था तो उसे निश्छल-भावसे यह स्वीकारनेके लिये : "हां, मैं अपनेको धोखा दे रहा था," एक और भी बड़ा कदम उठानेकी जरूरत होती है।

ये सब चीजें इतनी अभ्यासगत होती हैं, इस तरहसे यंत्रवत् की जाती हैं कि मनुष्यको इसका भानतक नहीं होता; लेकिन जब तुम अपनेको अनु-शासित करनेकी इच्छा करने लगते हो तो सचमुच तुम बहुत बड़ी विस्मय-कारी रोचक खोजें करते हो। जब तुम यह खोज लेते हो तो तुम जान जाते हो कि तुम निरंतर एक... स्थितिमें निवास कर रहे हो, सबसे अच्छा शब्द होगा "आत्म-वंचना", एक स्वेच्छाकृत वंचनाकी स्थिति; अर्थात्, नैसर्गिक रूपसे तुम अपने-आपको धोखा देते हो। यह बात नहीं है कि इसके लिये तुम्हें सोचनेकी जरूरत पड़ती है: बड़े सहज ढंगसे तुम अपने कियेपर परदा डाल देते हो ताकि वह यथार्थ रंगोंमें न दीखे... और यह सब उन चीजोंके लिये होता है जो बिलकुल तुच्छ और महत्त्वहीन-सी होती हैं! क्या तुम नहीं देखते, कि यह बात तो समझमें आती है कि यदि अपनी गलती स्वीकार करनेसे किसीके जीवनतकके लिये गंभीर परिणाम उठ खड़े हों तो आत्म-रक्षाकी सहजवृत्ति बचावके लिये उससे यह करा ले, लेकिन यहां वह बात नहीं है, यह तो उन चीजोंके लिये है जो बिलकुल महत्त्वहीन हैं, जिनका कुछ भी परिणाम नहीं निकलता, सिर्फ इतना ही होता है कि

तुम्हें अपने-आपसे कहना पड़े : "मैं अपनेको छल रहा था।"

इसका मतलब यह हुआ कि मानसिक रूपसे सच्चा या निष्कपट बननेके लिये प्रयास आवश्यक है। इसके लिये आवश्यकता है प्रयासकी, अनुशासनकी। स्वभावतः, मैं उन लोगोंकी बात नहीं कर रही जो इसलिये झूठ बोलते हैं कि वे पकड़े न जायं, क्योंकि, यह तो सभी जानते हैं कि ऐसा नहीं करना चाहिये। इसके अतिरिक्त, सर्वाधिक मूर्खतापूर्ण झूठ सर्वाधिक निरर्थक होते हैं क्योंकि वे इतने सुस्पष्ट होते हैं कि उनसे कोई भी धोखा नहीं खा सकता। ऐसे उदाहरण हमें निरंतर मिलते हैं; तुम किसीको गलती करते हुए पकड़ो और उसे कहो : "यह ऐसे है"; वह मूर्खताभरी सफाई देगा जिसे कोई नहीं समझ सकता, कोई नहीं मान सकता, यह बेतुकी होती है लेकिन अपनेको बचानेकी आशासे यह की जाती है। यह अनायास होता है, है न? लेकिन यह जानी हुई बात है कि ऐसा नहीं किया जाता। पर एक दूसरी तरहका धोखा तो और भी अधिक सहज है और इसकी इतनी आदत होती है कि पता भी नहीं चलता। अतः जब हम मानसिक ईमानदारीकी बात कहते हैं तो हम उसके बारेमें कहते हैं जो सतत और अध्यवसायी प्रयाससे प्राप्त की जाती है।

तुम अपने-आपको पकड़ते हो, है न? अचानक पकड़ते हो, अपने सिरमें कहीं या फिर यहां (श्रीमां हृदयकी ओर संकेत करती हैं), जो और भी गंभीर है — अपने-आपको छोटी-सी बड़ी मन-पसंद सफाई देते हुए पकड़ लेते हो। और तभी जब तुम अपनेको पकड़में ले लेते हो, कसकर जकड़े रहते हो और अपने-आपको आमने-सामने साफ-साफ देखते हुए कहते हो : "क्या तुम सोचते हो कि यह ऐसा है?" और, यदि तुम बहुत साहसी हो, और गहरा दबाव डालो तभी तुम अपनेसे यह कहकर पिंड छुड़ाते हो : "हां, मैं अच्छी तरह जानता हूं कि यह वैसा नहीं है!"

कभी-कभी इसमें बरसों लग जाते हैं। स्पष्टतया और पूर्णतया यह देखनेके लिये कि व्यक्ति अपने-आपको कितना धोखा दे रहा था, और वह भी उस समय जब कि उसे विश्वास था कि वह सच्चा है, लंबा समय लगना जरूरी है, उसे अपने भीतर बहुत कुछ बदलना जरूरी है, चीजोंको देखनेका दृष्टिकोण भिन्न होना जरूरी है, परिस्थितियोंके सामने आनेपर एक अलग अवस्था होनी जरूरी है, एक दूसरा संबंध जरूरी है।

(मौन)

यह संभव है कि पूर्ण सत्यनिष्ठा तबतक न आ सके जबतक हम इस

मिथ्यात्वभरे जीवनके, जैसा कि हम इसे धरापर जानते हैं, यहांतक कि उच्चतर मानसिक जीवनके भी, क्षेत्रसे ऊपर न उठ जायं।

जब व्यक्ति उच्चतर क्षेत्रमें, 'सत्य'की दुनियामें उठ आयेगा, तब वह सचमुच वस्तुओंको उनके यथार्थ रूपमें देख सकेगा, और उन्हें यथार्थ रूपमें देखकर उनके वास्तविक सत्यमें जी सकेगा। तब स्वभावतया सभी मिथ्यात्व ढह जायंगे। अपने अनुकूल सफाइयें देनेका कोई प्रयोजन नहीं रह जायगा, वे लुप्त हो जायंगी क्योंकि सफाई देनेको कुछ रह ही नहीं जायगा।

वस्तुएं स्वयं-सिद्ध होंगी, 'सत्य' सब रूपोंमें चमकेगा, भ्रांतिकी संभावना लुप्त हो जायगी।

२८ मई, १९५८

"यह बिलकुल सत्य है कि एक बाहरी दृष्टिको 'प्राण' 'जड़'का ही एक व्यापार लगता है, 'मन' 'प्राण'की क्रिया मालूम होती है और हो सकता ह कि जिसे हम अंतरात्मा या आत्मा कहते हैं वह मानसकी ही एक शक्ति हो, अंतरात्मा 'मन'का ही एक सूक्ष्म रूप हो और आध्यात्मिकता एक सशरीर मानसिक सत्ताकी उच्च क्रिया। लेकिन यह एक बाहरी दृष्टि है क्योंकि इसमें विचार बाहरी रूप और प्रक्रियापर ही केंद्रित रहता है और यह नहीं देखता कि प्रक्रियाके पीछे क्या है। इसी दिशामें चलते हुए यह कहा जा सकता है कि बिजली जड़, बादल और जलकी उपज या उनकी क्रिया है क्योंकि ऐसे क्षेत्रोंमें ही बिजली कौंधती है। लेकिन अधिक गहरी खोजने बताया है कि इसके विपरीत जल और बादल दोनों ही का आधार है बिजलीकी ऊर्जा, वही उनकी संघटक शक्ति या ऊर्जा — पदार्थ है। जो परिणाम दीखता है वहीं — रूपमें भले न हो, पर वास्तवमें — मूल स्रोत है, कार्य अपने सार तत्त्वमें दीखनेवाले कारणसे पहले मौजूद होता है। बाहर प्रकट होनेवाली क्रियाशीलताका तत्त्व अपने वर्तमान कार्यक्षेत्रसे पहले होता है। विकसनशील प्रकृतिमें सब जगह ऐसा ही है। यदि 'जड़-पदार्थ'में 'प्राण' पहलेसे न होता और 'जड़में प्राण'के रूपमें प्रकट न होता तो 'जड़-पदार्थ' कभी जीवन

धारण न कर सकता। यदि प्राण और जड़-तत्त्वके पीछे 'मन-तत्त्व' न होता और विचारशील मन प्राणको अपना क्रियाक्षेत्र न बनाता तो जड़में स्थित प्राण कभी अनुभव, निरीक्षण, विचार, चिंतन न कर पाता। इसी तरह मनसे प्रकट होनेवाली आध्यात्मिकता एक ऐसी शक्तिका चिह्न है जिसने अपने-आप प्राण, मन और शरीरकी स्थापना की है और अब सप्राण, विचारशील शरीरमेंसे आध्यात्मिक सत्ताके रूपमें प्रकट हो रही है। यह उन्मज्जन कहांतक जायगा, वह प्रधान रूप ले सकेगा और अपने उपकरणको रूपांतरित कर सकेगा या नहीं, यह बादका प्रश्न है। पहली आवश्यकता तो यह स्थापित करनेकी है कि 'आत्मा'का अस्तित्व 'मन'से भिन्न है और वह 'मन'से बड़ी है, आध्यात्मिकता मानसिकतासे भिन्न है और इसलिये आध्यात्मिक सत्ता मानसिक सत्तासे स्पष्ट रूपमें भिन्न है: 'आत्मा' क्रमविकासमें अंतिम उन्मज्जन है क्योंकि वही अंतर्लयात्मक मौलिक तत्त्व और अंग है। विकास अंतर्लयनसे उलटी क्रिया है। अंतर्लयनमें जो सबके बाद, अंतमें आता है वह विकासमें सबसे पहले प्रकट होता है। अंतर्लयनमें जो मौलिक और आद्य था वह विकासमें अंतिम और परम उन्मज्जन हो जाता है।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८५२-५३)

आज मुझसे अवतारके बारेमें बोलनेके लिये कहा गया है।

पहली बात तो मुझे यह कहनी है कि श्रीअरविंदने इस विषयपर लिखा है और जिसने मुझसे यह प्रश्न किया है वह श्रीअरविंदका लिखा हुआ पढ़ना शुरू करे तो अच्छा होगा।

उसके बारेमें मुझे कुछ नहीं कहना है क्योंकि उसे पढ़ना ही तुम्हारे लिये अधिक अच्छा होगा।

पर मैं तुम्हें एक बहुत पुरानी परंपरा, आध्यात्मिक और गुह्य परंपराओंकी दोनों ज्ञात धाराओं, अर्थात्, वैदिक और कैल्डियन धाराओंसे भी पुरानी परंपराओंके बारेमें बताऊंगी; ऐसी परंपरा जो लगता है इन दो ज्ञात धाराओंके मूलमें रही होगी। इसमें कहा जाता है कि जब विरोधी शक्तियोंके द्वारा — जिन्हें हिंदू परंपरामें असुर कहते हैं — यह संसार अपने 'ज्योति' और जन्मजात 'चेतना'के विधानके अनुसार प्रगति करनेके बजाय, तम, निश्चेतना और अविद्या, जिनसे हम परिचालित हैं, में डूब गया, तब 'सृजनकारी शक्ति' ने 'परम आदि मूल'से अभ्यर्थना की, इस पथ-

भ्रष्ट विश्वको बचानेके लिये विशेष हस्तक्षेपकी याचना की; -और इस प्रार्थनाके उत्तरमें 'परम मूल-स्रोत'से उद्भूत हुई प्रेम और चेतनासे निर्मित एक विशेष सत्ता जिसने सीधे निबिड़ निश्चेतन जड़में डुबकी लगायी ताकि वहां आदि 'चेतना' और 'प्रेम'के प्रति उसे जगानेका काम शुरू हो सके।

पुरानी कथाओंमें इस 'पुरुष'का वर्णन इस प्रकार आता है कि एक बहुत अंधेरी गुफाके तलमें यह गहरी नींदमें सोया पड़ा है और वहां इसकी नींदमें ही इसमेंसे प्रकाशकी तेज रंगीन किरणें फूटीं जो धीरे-धीरे निश्चेतनमें फैल गयीं और निश्चेतनके सब तत्त्वोंमें जा बसीं, ताकि वहां 'जाग्रति'का काम शुरू कर सकें।

यदि इस निश्चेतनमें कोई सचेतन भावसे प्रवेश करे तो अब भी वहां इस अलौकिक 'सत्ता'को देख सकेगा जो अभीतक गहरी नींदमें सोयी हुई है, निस्सरणका अपना कार्य कर रही है, 'ज्योति' फैला रही है; और वह उस समयतक यह करती रहेगी जब तक 'निश्चेतन' निश्चेतन न रह जायगा, जबतक दुनियासे अंधकार मिट नहीं जाता —और सारी सृष्टि 'अतिमानसिक चेतना'के प्रति सजग नहीं हो जाती।

और दर्शनीय बात यह है कि यह विलक्षण 'सत्ता' उस 'सत्ता'के साथ मिलती-जुलती है जिसे मैंने एक दिन अपने अंतर्दर्शनमें देखा था, वह सत्ता जो दूसरे छोरपर, 'साकार' और 'निराकार'की सीमापर स्थित है। लेकिन वह सुनहली अरुण-प्रभा-मंडित थी जब कि यह अपनी नींदमें हीरे-सी चमकती शुभ्रता लिये थी जिससे दूधिया किरणें निकल रही थीं।

और वास्तवमें, सब अवतारोंका मूल यही है। कहना चाहिये कि यह पहला वैश्व अवतार है जिसने धीरे-धीरे उत्तरोत्तर अधिक सचेतन शरीर धारण किये और अंतमें उन परिचित-सी 'सत्ताओं'की पंक्तिमें आविर्भूत हुआ जो विश्वको तैयार करनेके कामको पूरा करनेके लिये **सीधी** 'परम'के यहांसे अवतरित हुई हैं, ताकि विश्व निरंतर प्रगतिके द्वारा, अतिमानसिक 'ज्योति'को उसकी संपूर्णतामें ग्रहण करने और अभिव्यक्त करनेके लिये तैयार हो सके।

हर देशमें, हर परंपरामें, यह घटना एक खास ढंगसे, विभिन्न सीमाओंके भीतर, विभिन्न विवरणोंके साथ, अमुक विशिष्टताओंके साथ प्रस्तुत की गयी है, लेकिन सच पूछो तो इन कथाओंका मूल एक ही है और कहा जा सकता है कि वह बीचकी सब अवस्थाओंसे गुजरे बिना अंधतम जड़में, 'परम'का सीधा, सचेतन हस्तक्षेप है जिससे कि यह जड़-जगत् भागवत शक्तियोंको धारण करनेके लिये जाग उठे।

इन अवतारोंको अलग करनेवाले अंतराल उत्तरोत्तर छोटे होते दीखते हैं, मानों जैसे जड़ अधिकाधिक तैयार होता गया वैसे ही क्रिया भी जोर पकड़ती और अधिक तेज होती चली गयी, साथ ही अधिकाधिक सचेतन और अधिकाधिक प्रभावशाली और निर्णायक भी।

और यह अपने-आपको बहुगणित करता और तीव्र बनाता रहेगा जब-तक कि सकल ब्रह्माण्ड 'परम'का पूर्ण अवतार नहीं बन जाता।

४ जून, १९५८

"शुरूमें आत्मा और आध्यात्मिकताका यह सत्य मनके लिये स्वयं-सिद्ध नहीं होता। मनुष्यको मनके द्वारा अपनी आत्माका पता लगता है कि वह कोई ऐसी चीज है जो उसके शरीरसे भिन्न है, जो उसके सामान्य मन और प्राणके ऊपर है लेकिन उसे उसका कोई स्पष्ट संवेदन नहीं होता, केवल अपनी प्रकृतिपर पड़नेवाले कुछ प्रभावोंकी प्रतीति होती है। चूंकि ये प्रभाव मनोमय और प्राणमय रूप लेते हैं इसलिये इनमें दृढ़ और तीक्ष्ण भेद नहीं किया जा सकता। अंतरात्माका प्रत्यक्ष बोध स्पष्ट और सुनिश्चित स्वतंत्रता नहीं प्राप्त करता। वास्तवमें बहुधा मानसिक और प्राणिक भागोंपर चैत्यके दबावके आधे प्रभावोंको, मानसिक अभीप्सा और प्राणिक कामनाओंकी मिली-जुली रचनाको भूलसे अंतरात्मा मान लिया जाता है, ठीक उसी तरह जैसे पृथक् करनेवाले अहंकारको आत्मा मान लिया जाता है, हालांकि अपने सच्चे रूपमें आत्मा सार रूपसे विश्वगत और व्यक्तिगत दोनों होती है। इसी तरह किसी प्रकारके दृढ़ या उच्च विश्वास या आत्मोत्सर्ग या परहितकामनाकी उत्तेजनासे प्रेरित मानसिक अभीप्सा और प्राणिक उत्साह और उत्कंठाके मिश्रणको भूलसे आध्यात्मिकता मान लिया जाता है। परंतु यह अस्पष्टता और उलझनें विकासके इस अस्थायी चरणमें अनिवार्य हैं क्योंकि अज्ञान ही इसका आरंभ-बिंदु है और हमारी पहली प्रकृतिका पूरा चिह्न है। इसलिये विकासको एक उपार्जित अनुभव या स्पष्ट ज्ञानके बिना अपूर्ण अंतर्भासिक प्रत्यक्ष दर्शन

और सहज-प्रेरणा या खोजसे शुरू करना पड़ता है। यहांतक कि वे रचनाएं भी जो प्रत्यक्ष दर्शन या प्रेरणाओंके पहले प्रभाव हैं या आध्यात्मिक विकासकी सूचक हैं, वे भी अनिवार्य रूपमें अधूरी और काम-चलाऊ होनी चाहिये। लेकिन इस प्रकार उत्पन्न भूल सच्चे बोधके रास्तेमें बहुत बड़ी बाधाके रूपमें आती है और इसलिये इस बातपर जोर देना आवश्यक है कि आध्यात्मिकता उच्च बौद्धिकता नहीं है, आदर्शवाद नहीं है, मनका नैतिक मोड़ या नैतिक शुद्धता या तपस्या नहीं है। वह धार्मिकता या उग्र और ऊंचा उठाया हुआ धार्मिक भावावेग नहीं है और न इन सब उत्तम वस्तुओंका सम्मिश्रण ही है। एक मानसिक विश्वास, धर्म या मत, भावुकता-भरी अभीप्सा, धार्मिक या नैतिक नियमोंके अनुसार जीवनका नियंत्रण आध्यात्मिक उपलब्धि या अनुभूति नहीं है। मन और प्राणके लिये ये चीजें काफी मूल्यवान् हैं। स्वयं आध्यात्मिक विकासके लिये भी इनका यह मूल्य है कि ये प्रकृतिको तैयार करने, संयत करने या उपयुक्त रूप देनेवाली क्रियाएं हैं, फिर भी ये मानसिक विकासकी चीजें हैं, — इनमें अभीतक आध्यात्मिक उपलब्धि, अनुभूति और परिवर्तनका आरंभ नहीं हुआ है। अपने सार रूपमें आध्यात्मिकता है अपनी सत्ताके आंतरिक सत्यके प्रति, उस आत्मा, अंतरात्माके प्रति जागरण जो हमारे मन, प्राण, शरीरसे भिन्न है, उसे जानने, अनुभव करने, वही बन जानेकी आंतरिक अभीप्सा, उस महत्तर परम सत्ताके साथ नाता जोड़ना और उसके साथ संबंध रखते हुए एक हो जाना जो हमारे अंदर भी निवास करती है, सारे विश्वमें व्याप्त है और इस सबके परे भी, और इस अभीप्सा, संपर्क और ऐक्यके परिणामस्वरूप हमारी सारी सत्ताका घुमाव, परिवर्तन या रूपांतर, एक नयी संभूति, नयी सत्ता, नयी आत्मा और नयी प्रकृतिमें अभिवृद्धि या जागरण।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८५६-५७)

असलमें, जबतक संदेह या हिचकिचाहट रहती है, जबतक तुम यह जाननेके लिये अपने-आपसे प्रश्न करते हो कि शाश्वत आत्मासे तुम्हारा साक्षात्कार हुआ है या नहीं, तबतक यह प्रमाणित होता है कि **सच्चा** संपर्क अभीतक नहीं हो पाया है। क्योंकि, जब यह अद्‌भुत घटना घटती है तो वह अपने

साथ ऐसा "कुछ" ले आती है जो इतना अनिर्वचनीय, इतना नवीन और इतना निर्णायक होता है कि शंका या प्रश्नकी गुंजायश ही नहीं रह जाती। यह सचमुच, इस शब्दके पूरे-पूरे अर्थोंमें, नव-जन्म होता है।

तुम एक नये व्यक्ति बन जाते हो, और चाहे जो मार्ग हो या बादके मार्गकी जो भी कठिनाइयां हों, वह अनुभूति तुम्हें कभी नहीं छोड़ती। यह दूसरी बहुत-सी अनुभूतियोंकी तरह वैसी चीज नहीं है जो पीछे हट जाती है, पृष्ठभूमिमें चली जाती है, जो तुममें बाहरी रूपमें एक धुंधली स्मृति छोड़ जाती है जिसे पकड़े रहना कठिन हो जाता है, जिसकी याद फीकी पड़ जाती है, मलिन हो जाती है, नहीं, यह ऐसी नहीं है। तुम नये व्यक्ति **बन जाते हो**, और निश्चित रूपसे वही रहते हो चाहे कुछ भी क्यों न हो जाय। और मनकी सारी अक्षमताएं, प्राणकी सारी कठिनाइयां, शरीरका सारा तमस् भी इस नयी स्थितिको नहीं बदल सकता, यह नयी स्थिति जो चेतनाके जीवनमें एक **निर्णायक** काट लाती है। पहलेकी सत्ता और बादकी सत्ता एक जैसी नहीं रह जातीं। विश्वमें तुम्हारी स्थिति और उसके साथ संबंध, जीवनमें स्थिति और उसके साथ संबंध, समझनेकी अवस्था और उसके साथ संबंध वही नहीं रह जाते: वास्तविक विपर्यय या उलटाव है जिसे कभी मिटाया नहीं जा सकता। इसलिये जब लोग मुझसे कहते हैं: "मैं जानना चाहता हूं कि मैं अपनी आत्माके संपर्कमें हूं या नहीं," तो मैं उनसे कहती हूं: "यदि तुम यह प्रश्न करते हो तो यही इस बातको प्रमाणित करनेके लिये काफी है कि आत्माके साथ तुम्हारा संबंध नहीं है। तुम्हें इसके उत्तरकी जरूरत नहीं, क्योंकि तुम खुद ही उसका उत्तर दे रहे हो।" जब **वह** होता है तो बस होता है, फिर सब खतम, इसके अलावा और कुछ नहीं रह जाता।

और चूंकि हम उसके बारेमें बात कर रहे हैं तो मैं तुम्हें उस बातकी याद दिलाती चलूं जो श्रीअरविन्दने कही है, दोहरायी है, लिखी है, दावेके साथ कही है और बार-बार कही है, यानी, उनके योगका, पूर्ण योगका प्रारंभ इस अनुभूतिके **बाद ही** हो सकता है, उसके पहले नहीं।

अत:, इस कल्पना और भ्रमको मत पोसो कि यह अनुभूति होनेसे पहले कोई यह जानना शुरू कर सकता है कि अतिमानस क्या है, और इसके बारेमें कोई धारणा बना सकता है, चाहे वह कितनी भी छोटी क्यों न हो।

इसलिये, यदि कोई इस पथपर आगे बढ़ना चाहता है तो पहले बड़ी विनम्रतासे इस नव-जन्मकी राहपर चल पड़ना चाहिये, और अतिमानसिक

अनुभूतियां प्राप्त कर सकनेके भ्रमको पोसनेके पहले आत्माका साक्षात्कार करना चाहिये।

तुम्हें दिलासा देनेके लिये मैं इतना कह सकती हूं कि तुम्हारे इस समय धरतीपर जीनेके तथ्य-भरसे — चाहे तुम इसके बारेमें सचेतन होओ या नहीं, चाहे तुम इसे चाहो या नहीं — तुम हर सांसके साथ इस नये अतिमानसिक तत्त्वको आत्मसात् कर रहे हो, जो इस समय पार्थिव वायुमंडलमें फैल रहा है। और वह तुम्हारे अंदर उन वस्तुओंको तैयार कर रहा है जो तुम्हारे निर्णायक कदम उठाते ही **एकदम एकाएक** अभिव्यक्त होंगी।

(मौन)

यह तुम्हें कदम उठानेमें मदद करेगा या नहीं, यह दूसरी बात है जिसका अध्ययन करना शेष है, क्योंकि जो अनुभूतियां होती हैं, और जो अब बार-बार होंगी वे बिलकुल नये ढंगकी होंगी, क्या होने जा रहा है यह पहलेसे ही नहीं जाना जा सकता; अध्ययन करना होगा, और गहरे अध्ययनके बाद ही निश्चयके साथ कहा जा सकेगा कि यह अतिमानसिक तत्त्व नव-जन्मके कार्यको आसान बनायेगा या नहीं...। मैं तुम्हें इसके बारेमें कुछ समय बाद बताऊंगी। फिलहाल, अधिक अच्छा होगा कि इन वस्तुओंपर निर्भर न रहो और सहज रूपसे आध्यात्मिक जीवनमें जन्म लेनेके मार्गपर चल पड़ो।

जब तुम वहांतक पहुंच जाओगे तब वे सारे प्रश्न जो तुम्हारे अंदर उठते हैं, या तुम मुझसे पूछते हो, हल हो जायेंगे।

जो भी हो, जीवनके प्रति तुम्हारी वृत्ति **इतनी** भिन्न हो जायगी कि तुम यह समझने लगोगे कि आध्यात्मिक रूपसे जीनेका क्या मतलब होता है। और तब, तुम एक **बड़ी** चीज भी समझ जाओगे, बहुत बड़ी चीज, कि बिना अहंके कैसे जिया जा सकता है।

तबतक उसे कोई नहीं समझ सकता। सारा जीवन अहंपर इतना अधिक निर्भर है कि लगता है कि अहंमें या अहंके द्वारा न हो तो जीना या कुछ करना नितांत असंभव है। पर इस नव-जन्मके बाद तुम मुस्कराते हुए अहंको देख सकते हो और उससे कह सकते हो: "मेरे दोस्त, अब मुझे तुम्हारी कोई जरूरत नहीं रही!"

यह भी उन परिणामोंमेंसे एक परिणाम है जो तुम्हें मुक्तिकी काफी निश्चयात्मक अनुभूति प्रदान करता है।

११ जून, १९५८

"जब निश्चयात्मक उन्मज्जन होता है तो उसका एक चिह्न है हमारे अंदर एक ऐसी निहित, आंतरिक, स्वयंभू चेतनाकी स्थिति या क्रिया जो अपने-आपको अपने अस्तित्वके कारण ही जानती है, जो कुछ उसके अंदर है उसे भी उसी तरह तादात्म्यके द्वारा जानती है और जो कुछ हमारे मनको बाहरी लगता है उसे भी उसी ढंगसे, एक ऐसी तादात्म्यकी क्रियाद्वारा या आंतरिक साक्षात् चेतनाके द्वारा देख पाती है जो वस्तुओंको बाहरसे व्याप्त कर लेती है, उसे भेदती है, उसके अंदर प्रवेश करती है, उस वस्तुके अंदर अपने-आपको पाती है और उसमें किसी ऐसी चीजसे अवगत होती है जो मन, प्राण या शरीर नहीं है। तो यह स्पष्ट है कि एक आध्यात्मिक चेतना है जो मनसे भिन्न है और वह हमारे अंदर एक ऐसी आध्यात्मिक सत्ताकी उपस्थितिको प्रमाणित करती है जो हमारे ऊपरी मानसिक व्यक्तित्वसे भिन्न है।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८५५)

मधुर मां, क्या सबमें आध्यात्मिक सत्ता होती है?

यह इसपर निर्भर है कि हम "सत्ता" किसे कहते हैं। यदि हम "पुरुष"के स्थानपर "उपस्थिति" कहें तो, हां, सबके अंदर आध्यात्मिक उपस्थिति होती है। यदि "पुरुष"से हमारा मतलब है एक संगठित, अपने बारेमें पूर्ण सचेतन, स्वतंत्र और निश्चयपूर्वक अपना अधिकार जमानेवाली शक्तिसे युक्त और बाकी सारी प्रकृतिको शासित करनेवाली सत्तासे — तो नहीं! इस स्वतंत्र और सर्वशक्तिमान् सत्ताके होनेकी संभावना तो सबमें है, लेकिन इसकी उपलब्धि लंबे प्रयासका फल होती है जिसमें कभी-कभी तो अनेक जन्म लग जाते हैं।

यह आध्यात्मिक उपस्थिति, यह अंतःप्रकाश हर एकमें होता है, यहां-तक कि बिलकुल शुरूसे होता है...। असलमें, यह सब जगह है। मैंने इसे बहुत बार कुछ पशुओंमें देखा है। अमुक संयम और सुरक्षाकी नींवमें यह एक चमकते बिंदुकी तरह होती है, एक ऐसी चीज जो अर्ध-चेतन अवस्थामें भी बाकी सृष्टिके साथ सामंजस्य बनाये रखना संभव करा देती

है ताकि ऐसे विध्वंस साधारण और स्थायी न बन जायं जिनका कोई इलाज न हो। इस उपस्थितिके बिना प्राणिक हिंसा और आवेशोंसे उपजी अव्यवस्था ऐसी होगी जो किसी भी क्षण व्यापक विध्वंस ला सकती है, एक तरहका पूर्ण विध्वंस जो प्रकृतिकी प्रगतिको रोक देगा। यही वह उपस्थिति है, वह आध्यात्मिक ज्योति है—जिसे लगभग आध्यात्मिक चेतना कहा जा सकता है—जो प्रत्येक जीवमें है, प्रत्येक वस्तुमें है। इसीके कारण सब विषमताओं, आवेगों और उग्रताओंके होते हुए भी कम-से-कम कुछ व्यापक सामंजस्य तो रहता ही है जो प्रकृतिके कार्यको संसिद्ध होने देता है।

मनुष्यमें यह उपस्थिति काफी प्रत्यक्ष हो जाती है, यहांतक कि सर्वाधिक अविकसित मनुष्यमें भी। यहांतक कि अति दानवीय मानवमें भी, ऐसे मानवमें भी जिसे देखकर राक्षस या दानवके अवतारका ही आभास मिलता है, उसमें भी कुछ ऐसी चीज होती है जो दुर्दमनीय रूपसे नियंत्रण करती है—बुरे-से-बुरे मनुष्यके लिये भी कुछ चीजें असंभव होती हैं। और इस उपस्थितिके बिना, यदि जीवन अनन्य भावसे विरोधी शक्तियोंद्वारा, प्राणकी शक्तिद्वारा अधिकृत होता तो यह असंभवता न रहती।

हर बार, जब इन विरोधी या आसुरी शक्तियोंकी लहर धरापर फैलती है तो लगने लगता है कि अब इस अस्तव्यस्तता और संत्रासको फट पड़नेसे कोई न रोक सकेगा, और सदा ही, एक निश्चित घड़ीमें, बिल्कुल आशातीत और अव्याख्येय रूपमें एक नियन्त्रण हस्तक्षेप करता है और वह लहर थाम ली जाती है, और पूर्ण विध्वंस नहीं हो पाता। और यह होता है जड़-पदार्थमें उसी 'उपस्थिति'के कारण—परम प्रभुकी उपस्थितिके कारण।

पर बहुत ही विरले लोगोंमें और लंबी, बहुत लंबी, जन्म-जन्मांतरोंकी लंबी तैयारीके बाद ही यह 'उपस्थिति' एक सचेतन, स्वतंत्र, सुसंगठित सत्तामें बदलती है, जिस घरमें रहती है उसकी सर्व-समर्थ स्वामिनी बनती है, इतने पर्याप्त रूपमें सचेतन और सशक्त होती है कि न केवल इस घरको, बल्कि इसके परिवेशको सदा अधिकाधिक विस्तृत और सदा अधिक प्रभावशाली होते हुए क्रिया और विकिरणके क्षेत्रको भी नियंत्रित कर सकती है!

१८ जून, १९५८

"आंतरिक सत्ताको खोलनेके प्रयासमें प्रकृतिने चार मुख्य दिशाओं-का अनुसरण किया है, —धर्म, गुह्य विद्या, आध्यात्मिक विचार और आंतरिक आध्यात्मिक उपलब्धि और अनुभूति। इनमें पहली तीन उस तरफ जानेवाली गलियां हैं और चौथी दिशा ही वहां प्रवेश पानेका खुला रास्ता है। इन चारों शक्तियोंने एक साथ कभी कम या ज्यादा संबंध रखते हुए, कभी बदलते हुए सहयोग, कभी एक-दूसरेका खंडन करते हुए और कभी एकदम स्वतंत्र रूपमें काम किया है। धर्मने अपने कर्मकांड, अनुष्ठान और संस्कारोंमें गुह्य तत्त्व स्वीकार किया है, उसने आध्यात्मिक चिंतनका सहारा लिया है। उसने कभी उससे मत या धर्मशास्त्रको प्राप्त किया है, कभी उसके सहायक आध्या-त्मिक दर्शनको पाया है। इसमें पहली विधि सामान्यतः पश्चिम-की है और दूसरी पूर्वकी। लेकिन आध्यात्मिक अनुभूति ही धर्मका अंतिम लक्ष्य और उपलब्धि, उसका आकाश और शिखर है। लेकिन कभी-कभी धर्मने गुह्य विद्याका निषेध भी किया और अपने गुह्य तत्त्वको कम-से-कम कर दिया है, उसने दार्शनिक मनको शुद्ध बौद्धिक विदेशी मानकर परे हटा दिया है और अपने पूरे भारके साथ मत, धार्मिक आग्रह, धार्मिक भावावेग, पार्थिव उत्साह और नतिक आचरणका सहारा लिया है; उसने आध्यात्मिक उपलब्धि और अनुभूतिको कम-से-कम कर दिया है या एकदम हटा दिया है। गुह्यवादने कभी-कभी आध्यात्मिक उद्देश्यको अपना लक्ष्य बनाया है और गुह्यज्ञान और अनुभूतिको उसका एक मार्ग बनाया है और एक प्रकारके गुह्य दर्शनकी रचना की है लेकिन अधिकतर उसने आध्यात्मिक दृश्योंके बिना ही अपने-आपको गुह्यज्ञान और अभ्यासोंतक ही सीमित रखा है। वह इंद्रजाल या केवल जादूगरीकी ओर मुड़ गया और पैशाचिक आचरणतक जा पहुंचा है। आध्यात्मिक दर्शन प्रायः ही दर्शनकी सहायता लेता रहा है और उसे अपना सहारा या अनुभूतिका मार्ग मानता रहा है। वह उप-लब्धि और अनुभूतिका परिणाम रहा है या उसने ऐसी रचनाएं की हैं जो वहांतक पहुंचनेका साधन हों। लेकिन उसने धर्मकी

सहायता — या बाधाका पूरा परित्याग किया है और अपने ही बलपर आगे चला है। वह या तो मानसिक ज्ञानसे संतुष्ट रहा है या उसने विश्वासके साथ अनुभव और प्रभावशाली साधनाका रास्ता ढूंढ लिया है। आध्यात्मिक अनुभूतिने इन तीनों साधनोंका आरंभ-बिंदुके रूपमें उपयोग किया है लेकिन उसने उन सबको भी त्यागकर शुद्ध रूपसे अपने ही बलका आश्रय लिया है। उसने गुह्य ज्ञान और शक्तियोंको भयानक प्रलोभन और उलझानेवाली बाधाएं मानकर दूर रखा। उसने केवल आत्माके शुद्ध सत्यकी खोज की और दर्शनको उठाकर रख दिया। उसकी जगह वह हृदयके उत्साह और एक आंतरिक रहस्यमय आध्यात्मीकरणके द्वारा अपने लक्ष्यपर पहुंचती है। वह धार्मिक मतों, पूजा, आचार-व्यवहार आदिको निचली कोटिका या पहली भूमिका मानकर, इन सब सहारोंको छोड़कर, सब जालोंको उतारकर आध्यात्मिक परमार्थ तत्त्वके शुद्ध संपर्कतक जा पहुंची है। ये सब विभिन्नताएं आवश्यक थीं। प्रकृतिके विकासात्मक प्रयासने अपना सच्चा मार्ग पानेके लिये और परम चेतना और पूर्ण ज्ञान पानेके लिये, अपना सच्चा और संपूर्ण मार्ग खोज निकालनेके लिये सभी दिशाओंमें प्रयोग किये हैं।

इनमेंसे हर एक साधन या मार्ग हमारी समग्र सत्ताकी किसी चीजके अनुरूप है और इसलिये उसके विकासके पूर्ण लक्ष्यके लिये आवश्यक है। मनुष्यके आत्म-विस्तारके लिये चार बातें आवश्यक हैं, यदि उसे ऊपरी तलके अज्ञानका ऐसा प्राणी न रहना हो जो वस्तुओंके सत्यको अंधेरेमें टटोलता हुआ और ज्ञानके टुकड़ों और खंडोंको जोड़नेवाला — बाहरी तलपर, अभी जैसा है, वैसा ही — छोटा-सा वैश्व 'शक्ति'का अर्ध-क्षम जीव है। उसे अपने-आपको जानना चाहिये और अपनी सभी क्षमताओंको खोजना और उनका उपयोग करना चाहिये। लेकिन अपने-आपको और जगत्‌को पूरी तरह जाननेके लिये उसे अपने और उसके बाहरी रूपके पीछे जाना होगा, उसे अपनी मानसिक सत्ता और प्रकृतिके भौतिक तत्त्वके नीचे गहरी डुबकी लगानी होगी। यह तभी किया जा सकता है जब वह अपने आंतरिक मन, प्राण, शरीर और चैत्य सत्ता और उसकी शक्तियों और गति-विधियों तथा वैश्व विधानों और गुह्य 'मन' और 'प्राण'की प्रक्रियाओंको जाने जो विश्वके भौतिक उग्र रूपके पीछे मौजूद

हैं : यदि गुह्यवाद शब्दको इसके विस्तृत अर्थोंमें लें तो यही गुह्यवादका क्षेत्र है। उसे उस 'शक्ति' या उन 'शक्तियों'को भी जानना चाहिये जो जगत्पर शासन करती हैं। यदि कोई 'वैश्व आत्मा' या 'स्रष्टा' है तो उसके साथ जैसे भी संभव हो संबंध या सायुज्य स्थापित करके वैश्व सत्ता या विश्वकी शासक 'सत्ताओं'के साथ या परम पुरुष और उनके परम संकल्पके साथ किसी प्रकारकी समस्वरता लाकर उसके दिये हुए विधानका अनुसरण करे और उसके द्वारा दिये हुए या प्रकट किये हुए जीवन और आचरणके लक्ष्यका अनुसरण करे। और अपने-आपको उस (पुरुष) की मांगके अनुसार उच्चतम उच्चतातक उठानेमें समर्थ हो। वह (पुरुष) इस जन्ममें या अगले जन्ममें जिस उच्चतर उच्चताकी मांग करता है, उसतक अपने-आपको उठानेमें समर्थ हो। और अगर इस प्रकारकी कोई वैश्व या परम 'सत्ता' या 'आत्मा' नहीं है तो उसे यह जानना चाहिये कि वह है क्या, और अपनी वर्तमान अपूर्णता और अशक्यतामेंसे वहांतक कैसे उठा जा सकता है। यह धर्मका रास्ता है। उसका उद्देश्य है मानव और भगवान्‌में संबंध स्थापित करना और यह करते हुए विचार, प्राण और शरीरको इतना ऊंचा उठाना कि वे अंतरात्मा और आत्माके शासनको स्वीकार कर सकें। परंतु यह ज्ञान एक मत या रहस्यमय अंतःप्रकाशसे बढ़कर होना चाहिये। मनुष्यके विचारशील मनको इसे स्वीकार कर सकना, वस्तुओंके तत्त्व और विश्वके अवलोकित सत्यके साथ यह संबंध करनेमें समर्थ होना चाहिये। यह दर्शनका क्षेत्र है और आत्माके सत्यके क्षेत्रमें यह काम केवल आध्यात्मिक दर्शन ही कर सकता है। चाहे वह अपनी प्रक्रियामें बौद्धिक हो या अंतर्भासिक। किंतु सारा ज्ञान और सारा प्रयास तभी सफल हो सकता है जब वह अनुभूतिमें बदल जाय और चेतना तथा उसकी प्रतिष्ठित क्रियाओंका अंग बन जाय। आध्यात्मिक क्षेत्रमें सभी धार्मिक, गुह्य या दार्शनिक ज्ञान और प्रयास तभी सफल हो सकते हैं जब वे अंतमें आध्यात्मिक चेतनाको खोल सकें और ऐसे अनुभवोंको लायें जो उस चेतनाकी प्रतिष्ठा करें, उसे हमेशा उन्नत, विस्तृत और समृद्ध बनायें तथा ऐसे जीवन और कर्मकी रचना करें जो आत्माके सत्यके अनुरूप रह सकें।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८६०-६२)

एक बात बड़ी विलक्षण है — अब मुझे याद नहीं कि आगे चलकर श्रीअरविंद इसके बारेमें कुछ कहेंगे या नहीं — लेकिन ये चारों क्रियाएं या उपलब्धियां जिनके बारेमें श्रीअरविन्द कह रहे हैं (धर्म, गुह्यवाद, आध्यात्मिक दर्शन और आध्यात्मिक अनुभूति), और जो मनुष्यके रूपांतर एवं विकासके लिये आवश्यक हैं, समान रूपसे मनुष्यकी पहुंचके भीतर नहीं हैं।

जिसका, अधिक-से-अधिक मनुष्योंद्वारा (जो लगभग पूरी तरह भौतिक चेतनामें रहते हैं), अभ्यास किया जा सकता है, और शायद जिसे अधिक-से-अधिक लोग "समझ" सकते हैं (यद्यपि वह निश्चय ही "समझ" नहीं है!), वह है धार्मिक पद्धति, केवल इसलिये कि वह निर्धारित मतों और प्रथाओंपर आधारित है। सिर्फ श्रद्धावश या सामूहिक सुझाव (मुख्यतः सामूहिक सुझाव) द्वारा अधिकांश मनुष्य जो अभीतक पर्याप्त आंतरिक विकासतक नहीं पहुंचे हैं, धर्मके मार्गपर इकट्ठे हो सकते हैं।

गुह्यवादके लिये तो तुम्हें पहलेसे ही विकासके दूसरे चरणतक पहुंच जाना चाहिये और प्राणिक जगत्‌में और भी अधिक सचेतन होना चाहिये, ताकि शक्तियोंके खेलके साथ संपर्कमें आ सको, यह उनके संचालनके लिये अनिवार्य है।

आध्यात्मिक दर्शनके लिये तो सिर्फ वे थोड़े-से लोग हैं जिनका मानसिक विकास काफी पूर्ण हो चुका है और जो बौद्धिक स्तरपर पूर्णतः सचेतन हैं, जो इस साधनको उपयुक्त ढंगसे अपना सकते हैं; नहीं तो उन सबके लिये यह अंध-पत्र है जिनमें मानसिक कसरत करनेकी क्षमता नहीं है, और जो मनकी कलाबाजियोंका अनुसरण नहीं कर सकते।

और अंतमें, 'दिव्य जीवन'में कहींपर श्रीअरविंदने कहा है कि आध्यात्मिक अनुभूतिके मार्गका अनुसरण करनेके लिये अपने अंतरमें "आध्यात्मिक सत्ता" होनी चाहिये, तुम्हें "द्विज" होना चाहिये, क्योंकि यदि अपने अंदर आध्यात्मिक सत्ता नहीं है जो कम-से-कम आत्म-ज्ञान पानेके छोरपर तो हो, तो भले व्यक्ति उन अनुभूतियोंकी नकल करनेकी चेष्टा कर लें, पर वह घटिया अनुकरण होगा या पाखंड, वह वास्तविकता नहीं होगी।

फलतः, एक साथ ही इन चारों मार्गोंका अनुसरण कर सकने और उनके अभ्याससे सत्ताके लिये पूरा लाभ उठानेके लिये पहलेसे ही पूर्ण व्यक्तित्व होना चाहिये, जो मानवी और आध्यात्मिक प्रकृतिके चारों मुख्य-तत्त्वोंमें सचेतन जीवनके योग्य हो।

स्वभावतः, यह आंतरिक विकास सदा प्रत्यक्ष नहीं होता, और हमारी

भेंट किसी ऐसे व्यक्तिसे हो सकती है जिसके अंदर एक सचेतन आध्यात्मिक सत्ता हो, जो सुन्दरतम अनुभूतियां पानेके लिये तैयार हो, जब कि, बाहर-से वह बिलकुल अनगढ़ और अधूरा दीखता हो।

यह भी जरूरी नहीं कि इस प्रगतिका उल्लिखित क्रमसे ही अनुसरण किया जाय, पर यदि हम चाहें कि हमारी उपलब्धि पूर्ण हो और सत्ताका पूर्ण रूपांतरण हो तो इन साधनोंमेंसे हर एक जो कुछ लाये उसके सारका हमें उपयोग कर सकना चाहिये।

चैत्य या आध्यात्मिक चेतना तुम्हें गहरी आंतरिक सिद्धि, भगवान्‌के साथ संपर्क, बाह्य बाधाओंसे मुक्ति देती है; पर यदि इस मुक्तिका असर होना है, बाकी सत्तापर इसकी प्रतिक्रिया होनी है तो मनको काफी उन्मुक्त होना होगा, ताकि 'ज्ञान'की आध्यात्मिक ज्योतिको धारण कर सके; प्राणको यथेष्ट शक्तिशाली होना होगा, ताकि प्रत्यक्ष रूपोंके पीछेकी शक्तियोंका संचालन कर सके, उनपर प्रभुत्व पा सके, शरीरको काफी अनुशासित और व्यवस्थित होना होगा ताकि नित्यके, हर पलके आचरण और चेष्टामें गहरी अनुभूतिको **व्यक्त** कर सके और संपूर्ण जीवन जी सके।

यदि इन चीजोंमेंसे एककी भी कमी हो तो परिणाम पूर्ण नहीं होगा। कोई यह बहाना बनाकर कि यही सबसे महत्त्वपूर्ण, 'केंद्रीय वस्तु' नहीं है — इस या उस चीजको अति तुच्छ समझ सकता है — और बाहरी चीजोंकी अवहेलना तुम्हें 'परम'के साथ आध्यात्मिक संबंध बनानेमें रोक नहीं सकती, पर यह बात जीवनसे पलायन करनेवालोंके लिये ही अच्छी है।

यदि हमें संपूर्ण समग्र सत्ता बनना है, सर्वांगीण सिद्धि पानी है, तो हमें अपनी आध्यात्मिक अनुभूतिको मन-प्राण-शरीरमें रूपायित कर सकना चाहिये। जितना ही यह रूपायन पूर्ण होगा, अखंड और संपूर्ण सत्ताद्वारा संपादित होगा, उतनी ही हमारी सिद्धि सर्वांगीण और अविकल होगी।

पूर्ण योगका अनुसरण करनेवालोंके लिये कुछ भी निरर्थक नहीं है और कुछ भी उपेक्षा योग्य नहीं है . . .। सारी बात है हर चीजको उसके उचित स्थानपर रखना जानना, और उसीको शासनका भार देना जो सचमुच शासनका अधिकारी हो।

२५ जून, १९५८

"वस्तुओंका स्वभाव ही ऐसा है कि सारे विकासको शुरूमें एक धीमे उन्मीलनके रूपमें बढ़ना होता है। हर नये तत्त्वको, जो अपनी शक्तियां विकसित करता है, 'निश्चेतना' और 'अज्ञान'की अंतर्लीनतामेंसे अपना रास्ता बनाना पड़ता है। उसे 'निश्चेतना'-की ओरसे आनेवाले खिंचाव और दबाव, उसके सहज विरोध और अवरोध तथा 'अज्ञान'के अड़ंगा लगानेवाले मिश्रण और अंधे दुराग्राही विलंबनोंका सामना करते हुए अपने-आपको अंतर्लयन और आदिम माध्यमके अंधकारकी पकड़मेंसे निकालने-का कठिन काम करना पड़ता है। प्रकृति शुरूमें एक अस्पष्ट प्रेरणा और प्रकृतिको स्वीकार करती है और यह इस बातका चिह्न है कि गुह्य, अंतस्तलीय निमज्जित तत्त्व ऊपर आनेके लिये जोर लगा रहा है। तब जो चीज होनेवाली है उसके छोटे-छोटे आधे दबे हुए संकेत, अपूर्ण आरंभ, अनगढ़ तत्त्व, प्रारंभिक रूपरंग, छोटे, नगण्य, मुश्किलसे पहचानी जा सकने वाली प्रमात्राओंके रूपमें ("क्वांटा") होते हैं। उसके बाद छोटे-बड़े रूप आते हैं, अधिक विशिष्ट और पहचाने जा सकने-वाले गुण दिखायी देने लगते हैं, पहले यहां-वहां, अपूर्ण रूपमें या बहुत हल्के, फिर ज्यादा स्पष्ट; ज्यादा रचनात्मक और अंतमें निर्णायक उन्मज्जन, चेतनाका उलटाव (विपर्यय), उसके आमूल परिवर्तनकी संभावनाका आरंभ। फिर भी हर दिशामें बहुत कुछ करना बाकी है। विकासके प्रयत्नके सामने पूर्णताकी ओर लंबा और कठिन मार्ग है। जो किया जा चुका है उसे दृढ़ करना है, फिरसे गिरने और नीचेकी ओर आकर्षित होनेसे असफलता और विनाशसे सुरक्षित रखना है। इतना ही नहीं, उसे उसकी संभावनाओंके सभी क्षेत्रोंमें उसकी संपूर्ण आत्मोपलब्धिकी समग्रतामें, उसकी अधिक-से-अधिक उच्चता, सूक्ष्मता, समृद्धि और व्यापकतामें खोलना है। उसे प्रभुत्वपूर्ण सर्वग्राही और व्यापक होना है। हर जगह प्रकृतिकी यही प्रक्रिया होती है और इसकी उपेक्षा करना, प्रकृति जिस आशयसे कार्य करती है उसे खो देना और उसकी कार्य-प्रणालीकी भूल-भुलैयामें खो जाना है।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८६२-६३)

यह व्यक्तिगत विकासका बिलकुल ठीक वर्णन लगता है। यह ठीक ऐसा ही है। और इसीलिये व्यक्ति धैर्य खो बैठता है या हिम्मत हार जाता है क्योंकि उसे महसूस होता है कि वह आगे नहीं बढ़ रहा। लेकिन जब तुम शरीरका विकास — स्थूल (जड़) भौतिकका विकास — करनेमें जुट जाते हो, जब तुम चाहते हो कि भौतिक देह साधना करे तो बिलकुल ऐसा ही होता है। बिना किसी सुनिश्चितता और यथार्थताके, बिना यह जाने कि कहांसे शुरू करें, तुम सब तरहकी चीजें करनेकी चेष्टा करते हो और तब तुम्हें महसूस होता है कि तुम टटोल रहे हो, ढूंढ रहे हो, चक्कर काट रहे हो पर कहीं पहुंच नहीं रहे। इसके बाद धीरे-धीरे, एक चीज दिखायी देती है, फिर दूसरी और **बहुत** देर बाद लगता है कि अब कुछ कार्यक्रम बन रहा है। और इसका वर्णन श्रीअरविन्द अंतकी तरफ करते हैं, जब क्रम-विकासका उद्देश्य प्रकट हो जाय और दिखायी देने लगे तो इस बातके लिये कितनी सावधानी बरतनी चाहिये कि पुनः उसे आदिम 'निश्चेतना' फिरसे लील न जाय !

और इसीलिये काम. . . . अंतहीन लगता है। फिर भी, इसे करनेका रास्ता केवल यही है। जिस पथपर चलना है वह शरीरकी अभ्यस्त अवस्था-तक पहुंचता है और वह है प्रायः पूर्ण निश्चेतना जिसके हम अभ्यस्त हैं, क्योंकि हम हैं ही "वैसे"। और इसके बाद चेतनाका पूर्ण जागरण, सब कोषाणुओं, सब अंगों, सब क्रियाओंका प्रत्युत्तर . . . दोनोंके बीच श्रमकी शताब्दियां दीखती हैं। जो भी हो, यदि किसीने खुलना, अभीप्सा करना, अपनेको देना सीख लिया है, और इन्हीं सब गतियोंको शरीरमें प्रयुक्त कर सकता है, कोषाणुओंको भी वही करना सिखा सकता है तो काम अधिक तेजीसे बढ़ता है। लेकिन अधिक तेजीसे मेरा मतलब तेज नहीं; यह अब भी लंबा और धीमा काम है। और हर बार, जब-जब कोई तत्त्व रूपांतरकी गतिमें पहले शामिल नहीं हुआ, पर अब शामिल होनेके लिये जाग पड़ा है तो हमें लगता है कि सब कुछ दुबारा नये सिरेसे करना होगा — हम जिसे मान बैठे थे कि हो चुका है उसे भी दुबारा करना होगा। पर यह सच नहीं है, तुम वही चीज दुबारा नहीं करते, यह नये तत्त्वमें उसी तरहकी चीज करनी होती है जिसे या तो तुम पहले भूल गये थे या उसे एक तरफ रख दिया था, क्योंकि वह तैयार नहीं थी और जो अब तैयार होकर जाग उठी है और अपना स्थान लेना चाहती है। इस तरहके बहुत-से तत्त्व होते हैं . . . ।

तुम शरीरको बहुत सरल समझते हो, है न? यह एक शरीर है, यह "मेरा" शरीर है, आखिर है तो एक ही रूप — परंतु यह ऐसा नहीं है !

इसमें सैकड़ों सत्ताएं गुंथी हुई हैं। हर एक दूसरीसे बेखबर है, लेकिन सब किसी गहनतर चीजसे समन्वित हैं जिसे वे नहीं जानतीं, उन्हें ऐक्यका बोध केवल इसलिये है कि वे तत्त्वोंकी अनेकता और भिन्नताके प्रति सचेतन नहीं।

तत्त्वतः यह अनेकता और भिन्नता ही, बीमारियां न सही, पर अधिकतर विकारोंको पैदा करती हैं। कुछ ठीक-ठाक चल रहा है, मार्ग-दर्शक सूत्र भी हाथ लग गया है, तुम अपने पथपर बढ़ रहे हो, तुम्हें लगता है कि फल मिलने ही वाला है और फिर सहसा ठप्प! कुछ हो जाता है, बिलकुल अप्रत्याशित, तुम्हें पता भी नहीं था कि यह वहां था : यह जग जाता है और अभियानमें भाग लेनेके लिये आग्रह करता है। पर यह भयंकर उथल-पुथल मचा देता है और तुम्हें सब कुछ नये सिरेसे करना पड़ता है।

अंतरकी सब सत्ताओंकी, सब प्रदेशोंकी साधना बहुत लोगोंने की है, उसे सविस्तार समझाया है, कुछने उसे क्रमबद्ध किया है, अवस्थाएं और रास्ते चिह्नित कर दिये हैं। तुम एक अवस्थासे दूसरी अवस्थातक चले जाते हो क्योंकि तुम्हें पता है कि यह ऐसे ही होना चाहिये; लेकिन जैसे ही तुम शरीरमें प्रविष्ट होते हो तो यह अछूते जंगलके समान है . . .। यहां सब कुछ करना है, सब कुछ संपन्न करना है, सब कुछ बनाना है। अतः तुम्हें **बहुत-से** धैर्य, **अत्यधिक** धैर्यसे लैस होना होगा, यह मत सोचो कि तुम किसी कामके नहीं, क्योंकि इसमें बहुत समय लगता है। कभी हताश नहीं होना चाहिये, कभी अपनेसे यह मत कहो : "ओह! यह मेरे लिये नहीं है।" उसे हर एक कर सकता है यदि समय, साहस, सहनशीलता और आवश्यक अध्यवसायके साथ काममें जुट जाय। लेकिन ये सब अपेक्षित हैं। पर इन सबसे बढ़कर, सबसे बढ़कर जरूरत है कभी हिम्मत न हारनेकी, एक ही कामको दुबारा करनेके लिये, दस बार, बीस बार, सौ बार करनेके लिये तैयार रहनेकी — जबतक कि सचमुच वह पूरा न हो जाय।

और यह प्रायः ही होता है कि जबतक **सब कुछ** नहीं हो जाता, काम समाप्त नहीं हो जाता, तबतक लगता रहता है कि हमने कुछ भी नहीं किया।

९ जुलाई, १९५८

"धर्मने यह दावा किया कि वह सत्यका निर्णय दैवी प्रमाण, अंत:-प्रेरणा, ऊपरसे आये हुए परम पवित्र और अचूक प्रभुत्वके आधारपर करता है। इस दावेके कारण उसने अपने-आपको निषेधके प्रति खोल दिया है। उसने अपने-आपको मानव विचार, भावना, आचार-व्यवहारपर बिना किसी ननुनचके, बिना किसी वाद-विवाद या प्रश्नके लादना चाहा है। यह दावा अतिशय और अपक्व है यद्यपि एक तरहसे उन अंत:-प्रेरणाओं और प्रदीप्तियोंके आदेशात्मक और निर्बोध स्वभावके द्वारा धार्मिक भावनाओंपर आरोपित किया गया है जो उसे प्रमाणित करती हैं और उसे उचित ठहराती हैं और मनके अज्ञान, संदेह, दुर्बलता, अनिश्चितताके बीच अंतरात्मासे आती हुई गुह्य ज्योति और शक्तिके रूपमें श्रद्धाकी आवश्यकताके द्वारा आरोपित की गयी हैं। मनुष्यके लिये श्रद्धा अनिवार्य है, उसके बिना वह अपनी 'अज्ञात'की ओर यात्रा न कर सकेगा। लेकिन उसे आरोपित नहीं करना चाहिये। उसे आंतरिक आत्मासे मुक्त प्रत्यक्ष दर्शन या अलंघ्य आदेशके रूपमें आना चाहिये। निर्विवाद स्वीकृतिके लिये उसका दावा तभी उचित माना जा सकता है जब मनुष्यकी प्रगति आध्यात्मिक प्रयास-के परिणामस्वरूप उस उच्चतम ऋत-चित्तक पहुंच जाय जो पूर्ण और समग्र है, सब प्रकारके मानसिक और प्राणिक मिश्रणोंसे मुक्त है। हमारे सामने यही चरम उद्देश्य है लेकिन अभीतक यह उपलब्ध नहीं हुआ है। और समयसे पहलेके दावेने मनुष्यकी धार्मिक सहज-वृत्तिके सच्चे कार्यको धुंधला कर दिया है। इस सहज-वृत्तिका सच्चा काम है आदमीको 'दिव्य सद्वस्तु'की ओर ले जाना। अभीतक उसने इस दिशामें जो कुछ पाया है उसे संगठित करना और हर आदमीको आध्यात्मिक साधनाका एक ऐसा ढांचा देना, 'दिव्य सत्य'को खोजने, स्पर्श करने और उसके नजदीक जानेका एक ऐसा मार्ग बतलाना जो उसकी प्रकृतिकी शक्यताओंके लिये उपयुक्त हो।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८६३-६४)

मधुर मां, क्या व्यक्तिगत प्रयाससे श्रद्धा बढ़ायी जा सकती है?

श्रद्धा निश्चित रूपसे हमें भागवत कृपाद्वारा दिया गया उपहार है। यह सनातन सत्यकी ओर सहसा खुलते हुए द्वारकी तरह है जिसमेंसे हम उसे देख सकते हैं, लगभग छू सकते हैं।

मानवीय आरोहणमें अन्य सब चीजोंकी तरह इसमें भी व्यक्तिगत प्रयासकी जरूरत पड़ती है (विशेषकर प्रारंभमें)। यह संभव है कि किन्हीं अपवाद-रूप परिस्थितियोंमें, किन्हीं ऐसे कारणोंसे जो हमारी बुद्धिकी पकड़से बच निकलते हैं, श्रद्धा संयोगकी तरह, अप्रत्याशित रूपसे आये, चाहे इसके लिये अभ्यर्थना भी न की गयी हो, परंतु अक्सर यह किसी कामनाका, आवश्यकता-का, अभीप्साका, सत्तामें किसी ऐसी चीजका प्रत्युत्तर होती है जो ढूंढती है और चाहती है, चाहे वह अनवरत और क्रमबद्ध रूपमें भले न हो। लेकिन, चाहे जैसे भी आयी हो, जब श्रद्धाका उपहार मिल चुका हो, जब यह आकस्मिक, आंतरिक प्रकाश हो चुका हो तब इसे सक्रिय चेतनामें निरंतर बनाये रखनेके लिये व्यक्तिगत प्रयास नितांत अपरिहार्य है। व्यक्तिको अपनी श्रद्धाको **पकड़े रहना** चाहिये, इसके लिये **संकल्प करना** चाहिये, इसके पीछे लगा रहना चाहिये, इसे बढ़ाना चाहिये, इसे सुरक्षित रखना चाहिये।

मानव मनको संदेह, तर्क और संशय करनेकी एक बड़ी विकृत और शोचनीय आदत है। बस इसी जगह जरूरत पड़ती है मानव प्रयासकी: इन्हें माननेसे इन्कार करना, इनकी बात सुननेसे इन्कार करना और इससे बढ़कर इनका अनुसरण करनेसे इन्कार करना। संदेह और अविश्वासके साथ मानसिक रूपसे खेलनेसे बढ़कर खतरनाक कोई और खेल नहीं है। वे केवल शत्रु ही नहीं, भयंकर जाल हैं, एक बार कोई इनमें फंस जाय तो उसके लिये अपने-आपको बाहर निकालना अत्यंत दुष्कर हो जाता है।

कुछ ऐसे लोग हैं जो विचारोंके साथ खेलनेको, उनपर बहस करनेको, अपनी श्रद्धाका प्रतिवाद करनेको एक बड़ी मानसिक सुरुचि समझते हैं; वे सोचते हैं कि यह तुम्हें बहुत ऊंची मनोवृत्ति देती है, और इस तरह तुम "अंधविश्वासों" ओर "अज्ञान"से ऊपर उठ जाते हो; लेकिन संदेह और अविश्वासके इन सुझावोंको सुननेसे ही तुम घोरतम अज्ञानमें जा गिरते हो और सीधे रास्तेसे भटक जाते हो। तुम उलझन, भूल और प्रतिवादोंकी भूल-भुलैयामें जा घुसते हो...। यह सदा निश्चित नहीं होता कि तुम इसमेंसे बाहर निकल भी सकोगे। तुम आंतरिक सत्यसे इतनी दूर चले जाते हो कि वह तुम्हारी दृष्टिसे ओझल हो जाता है और कभी-कभी तो अपनी आत्माके साथ सभी संभव संपर्क गंवा बैठते हो।

निश्चय ही अपनी श्रद्धाको बनाये रखनेके लिये, इसे अपने अंदर बढ़ने देनेके लिये व्यक्तिगत प्रयास आवश्यक है। बादमें — बहुत बादमें — एक दिन, जब हम अतीतकी ओर नजर डालेंगे तो देखेंगे कि जो कुछ हुआ है, यहांतक कि जो हमें सबसे ज्यादा खराब लगा था वह भी, हमें पथपर बढ़ानेके लिये 'भागवत कृपा' थी; और तब हमें भान होता है कि व्यक्तिगत प्रयास भी कृपा ही थी। परंतु वहां पहुंचनेसे पहले बहुत दूरतक चलना पड़ता है, बहुत संघर्ष करना पड़ता है, और कभी-कभी तो बहुत सहना भी पड़ता है।

तामसिक निष्क्रियतामें बैठे रहना और कहते रहना: "यदि मुझे श्रद्धा मिलनी है तो मिलेगी ही, भगवान् मुझे देंगे," यह आलस्य और अचेतनाकी वृत्ति है, लगभग दुर्भावना है।

आंतरिक ज्वालाको प्रज्वलित रखनेके लिये उसमें ईंधन देना होगा; आग-पर नजर रखनी होगी, उसमें अपनी सब गलतियोंका, जिनसे तुम छुटकारा पाना चाहते हो, जो कुछ तुम्हारी प्रगतिको धीमा करता है, जो कुछ तुम्हारे पथको अंधियारा बनाता है, उस सबको समिधा बनाकर आहुति देनी होगी। यदि तुम आगमें ईंधन नहीं डालते तो यह तुम्हारी अचेतनता और तमस्की राखमें दबी हुई सुलगती है, और तब तुम्हें अपने लक्ष्यतक पहुंचनेके लिये कुछ साल ही नहीं, अनेक जन्म और शताब्दियां लग जायेंगी।

तुम्हें अपनी श्रद्धाकी उसी तरह निगरानी करनी चाहिये जैसे कोई किसी अत्यधिक मूल्यवान् वस्तुके जन्मके समय करता है और इसका उन सब चीजोंसे सावधानीके साथ बचाव करना चाहिये जो इसे हानि पहुंचा सकती हैं।

प्रारंभके अज्ञान और अंधकारमें श्रद्धा ही 'भागवत शक्ति'का सबसे सीधा आविर्भाव है जो युद्ध करने और विजय प्राप्त करनेके लिये आती है।

१६ जुलाई, १९५८

> **"...धर्मका यथार्थ व्यापार यही है कि वह मनुष्यके मन, प्राण और शरीरको इस तरह तैयार करे कि आध्यात्मिक चेतना उन्हें अपने हाथमें ले सके। उसे मनुष्यको उस बिन्दुतक ले जाना है जहांसे आध्यात्मिक ज्योति पूरी तरह उन्मज्जित**

होने लगती है। इस बिंदुपर आकर धर्मको झुकना सीखना चाहिये। तब उसे अपने बाहरी रूपोंपर आग्रह न करके, भीतरी आत्माको अपने सत्य और अपनी यथार्थताको पूरी तरह विकसित होनेका पूरा अवकाश देना चाहिये। इस बीच, जहांतक बन पड़े, मनुष्यके मन, प्राण और शरीरको अपने हाथमें लेकर उनकी सभी क्रियाओंको आध्यात्मिक दिशा देनी चाहिये। और उसे चाहिये कि उनके आध्यात्मिक अर्थको प्रकाशित करे, आध्यात्मिक शुद्धिकी छाप और आध्यात्मिक स्व-भावके आरंभकी ओर प्रवृत्त करे। धर्मके इसी प्रयासमें भूलें होती हैं क्योंकि वह जिस पदार्थसे व्यवहार कर रहा है उसका स्वभाव ही है भूल करना। वह घटिया तत्त्व ठीक उन्हीं रूपोंपर आक्रमण करता है जिनका उद्देश्य है आध्यात्मिक और मानसिक, प्राणिक या भौतिक चेतनाओंके बीच मध्यवर्ती होना। वह उन्हें घटा देता, भ्रष्ट या कलुषित कर देता है। परंतु आत्मा और प्रकृतिके बीच मध्यवर्ती होनेके नाते धर्मके इस प्रयासमें ही उसकी सबसे बड़ी उपयोगिता है। मानव विकासमें सत्य और भूल-भ्रम सदा साथ-साथ रहते हैं। इनके साथ-साथ रहनेके कारण सत्यका त्याग नहीं किया जा सकता। उनके घुले-मिले रूपोंमेंसे भूल-भ्रमको निकाल बाहर करना चाहिये। यह प्रायः बहुत कठिन काम होता है और अगर इसे बेढंगे तरीकेसे किया जाय तो इसका परिणाम होगा धर्मके शरीरपर घाव करना। क्योंकि बहुत बार जिसे हम भूल-भ्रांति समझते हैं वह किसी सत्यका चिह्न या छद्मवेश या भ्रष्ट या विकृत रूप होता है जो भूल-भ्रमपर शल्य-क्रिया करनेके दौरान भूल-भ्रमके साथ-साथ काट दिया जाता है। स्वयं प्रकृति बहुत बार अच्छे अन्नके साथ-साथ जंगली घास और झाड़-झंकाड़को बहुत समय-तक साथ-साथ बढ़ने देती है क्योंकि तभी तो उसकी अपनी वृद्धि, उसका स्वतंत्र विकास संभव हो सकता है।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८६४-६५)

मधुर मां, क्या साधारण आदमीके जीवनमें धर्म एक आवश्यकता है ?

समाजोंके जीवनमें यह एक आवश्यकता है क्योंकि सामूहिक अहंके लिये यह

दोष-निवारकका काम करता है, जिसके नियंत्रणके अभावमें यह कहीं अधिक फूल उठता।

सामूहिक चेतनाका स्तर व्यक्तिगत चेतनाके स्तरसे हमेशा नीचा रहता है। यह बात देखने लायक है। उदाहरणार्थ, जब लोग एक दलमें या बहुत बड़ी संख्यामें इकट्ठे होते हैं तो चेतनाका स्तर बहुत नीचे गिर जाता है। भीड़की चेतना व्यक्तिगत चेतनासे काफी नीची होती है, और निश्चय ही समाजकी सामूहिक चेतना उसके सदस्योंकी चेतनासे नीची होती है।

वहां, यह (धर्म) एक आवश्यकता है। सामान्य जीवनमें, हर व्यक्तिका, चाहे वह जाने या न जाने, हमेशा एक धर्म होता है, लेकिन कभी-कभी उसके धर्मका उद्देश्य काफी निचले प्रकारका होता है...। जिस देवताकी वह उपासना करता है वह सफलताका देवता भी हो सकता है, या धनका या शक्तिका देवता हो सकता है या सिर्फ कुल-देवता : बच्चोंका देवता, कुटुंबका देवता, पूर्वजोंका देवता। धर्म हमेशा रहता है। हर व्यक्तिके अनुसार उसके धर्मका स्वरूप अलग-अलग होता है, पर किसी आदर्शके मूल तत्त्वको जीवनका **केंद्र-बिंदु** बनाये बिना मनुष्यके लिये जीना, जीते रहना, जीवनमें चलते जाना कठिन है। अक्सर तो उसे इसका पता ही नहीं होता, अगर उससे पूछा जाय कि तुम्हारा आदर्श क्या है तो वह उसे शब्दोंका रूप नहीं दे पायेगा...। किंतु उसका कोई-न-कोई आदर्श होता है — धुंधला-सा, कुछ ऐसा जो उसे अपने जीवनमें सबसे ज्यादा अनमोल लगता है।

उदाहरणके लिये : अधिकतर मनुष्योंके लिये यह सुरक्षा ही आदर्श है; सुरक्षामें रहना, उन अवस्थाओंमें रहना जहां उसे जिंदा रहते चलनेका भरोसा हो। यदि हम ऐसा कह सकें तो, यह महान् "लक्ष्यों"मेंसे एक है, मानव उद्देश्योंके महान् प्रेरक हेतुओंमेंसे एक है। कुछ लोग ऐसे हैं जिनके लिये आराम ही महत्त्वपूर्ण है, कुछके लिये सुख और मन-बहलाव। यह सब बहुत निम्न कोटिका है और हम इसे आदर्श कहनेके लिये लालायित न होंगे। परंतु यह सचमुच धर्मका एक प्रकार है, देखनेमें लगता है कि यह इस योग्य है कि मनुष्य इसके लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर दे...। कई तरहके प्रभाव हैं जो इसे अपना आधार बनाकर लोगोंपर हावी होनेका मौका ढूंढते हैं। असुरक्षा, अनिश्चयकी भावना एक तरहका हथियार है, एक माध्यम है जिसे राजनीतिक और धार्मिक दल लोगोंको प्रभावित करनेके लिये व्यवहारमें लाते हैं। वे इन विचारोंके साथ खिलवाड़ करते हैं।

हर मानवीय, राजनीतिक या सामाजिक विचार किसी ऐसे आदर्शकी निम्नतर अभिव्यंजना होता है जो प्रारंभिक या अविकसित धर्म है। जैसे

ही चिंतनकी क्षमता आती है वैसे ही आवश्यक रूपसे हर पलके पाशविक दैनिक जीवनसे किसी ज्यादा ऊंची चीजके लिये अभीप्सा उठती है और यही वह चीज है जो जीनेकी शक्ति और संभावना प्रदान करती है।

स्वभावतया, यह कहा जा सकता है कि व्यक्तियों और समष्टियोंकी कीमत उनके आदर्श, उनके धर्मके गुणके अनुपातमें होती है, अर्थात्, उस चीजके अनुपातमें जिसे वे जीवनमें सबसे ऊंचा स्थान देते हैं।

निस्संदेह, यदि धर्मकी बात करते समय किसीका मतलब मान्यता-प्राप्त धर्मोंसे हो तो यह सच है कि हर एकका अपना धर्म होता है, चाहे वह उसे जाने या न जाने, चाहे वह उन महान् धर्मोंका ही अनुयायी हो जिनका नाम और इतिहास है। यह निश्चित है कि यदि कोई सिद्धांतोंको कंठस्थ कर ले और बताये हुए विधि-विधानोंके आगे सिर झुका दे तब भी हर एक अपने ही ढंगसे समझता है और कार्य करता है, केवल धर्मका नाम एक रहता है, लेकिन वही धर्म उन सब लोगोंके लिये एक नहीं होता जो सोचते हैं कि वे इसका पालन कर रहे हैं।

कहा जा सकता है कि 'अज्ञात' और सर्वोत्तमके लिये इस अभीप्साकी कुछ अभिव्यंजनाके बिना जीवन बहुत दूभर हो जायगा। यदि प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें किसी अधिक अच्छी चीजकी (चाहे वह किसी भी तरहकी हो) आशा न होती तो उसे जिंदा रहनेके लिये आवश्यक शक्ति मुश्किलसे ही मिल पाती।

(मौन)

लेकिन बहुत कम लोग ऐसे हैं जो स्वतंत्र रूपसे सोच सकते हैं; धर्मके इर्द-गिर्द जमा हो जाना, उसे अंगीकार कर लेना, अपना लेना और उस धार्मिक समूहका एक अंग बन जाना अपने लिये अपना धर्ममत बनानेकी अपेक्षा कहीं आसान है। अतः बाहरसे देखनेमें तो व्यक्ति यह या वह होता है, परंतु तत्त्वतः वह केवल एक दिखावा है।

२३ जुलाई, १९५८

मां, अंतर्भासकी क्षमताको कैसे विकसित किया जा सकता है?

अंतर्भासके कई प्रकार होते हैं, और ये क्षमताएं हमारे अंदर होती हैं। वे हमेशा ही थोड़ी क्रियाशील रहती हैं लेकिन हम उन्हें पहचानते नहीं, क्योंकि हमारे अंदर क्या हो रहा है उसकी ओर हम बहुत ध्यान नहीं देते।

भावनाओंके पीछे, सत्ताकी गहराईमें, हृत्केंद्रके पास आसीन चेतनामें एक तरहका पूर्वज्ञान रहता है, पूर्वदृष्टिकी क्षमताके जैसा, पर विचारोंके रूपमें नहीं, बल्कि भावनाओंके रूपमें, करीब-करीब संवेदनोंका बोध। उदाहरणके लिये, जब कोई कुछ करनेका निर्णय करने लगता है तो कभी-कभी एक प्रकारकी बेचैनी-सी होती है, या अंदरसे इंकार होता है और साधारणतया, यदि कोई इस गहनतर संकेतको सुन ले तो वह देखेगा कि वह उचित थी।

कुछ अन्य लोगोंमें कोई चीज धकेलती है, संकेत देती है, आग्रह करती है (मैं आवेशोंकी बात नहीं कह रही, समझे, उन स्पंदनोंकी बात नहीं कह रही जो प्राणसे या उससे भी निम्न स्तरसे आते हैं), ऐसे संकेत जो भावनाओंके पीछे काम करते हैं, जो सत्ताके भावात्मक पक्षसे आते हैं; वहां भी, तुम्हें इसका काफी स्पष्ट संकेत मिल सकता है कि क्या करना चाहिये। ये अंतर्भास या उच्चतर सहज-बोधके प्रकार हैं जिन्हें निरीक्षण और परिणामोंके अध्ययनसे बढ़ाया जा सकता है। स्वभावतया, इसे पूरी तरह सच्चाईसे, वस्तुपरक दृष्टिसे, निष्पक्ष रूपसे करना चाहिये। यदि कोई चीजोंको किसी खास ढंगसे ही देखना चाहे और साथ ही इस निरीक्षणका अभ्यास करना चाहे तो सब बेकार होगा। इसे तो ऐसे करना चाहिये मानों कोई अपने बाहरसे किसी चीजको घटते देख रहा हो, किसी दूसरेके दृष्टिकोणसे देख रहा हो।

यह अंतर्भासका एक प्रकार है और शायद पहला जो साधारणतः प्रकट होता है।

एक दूसरा प्रकार भी है, पर उसका निरीक्षण करना कहीं अधिक कठिन है क्योंकि जो सोचनेके, तर्क-बुद्धिसे काम करनेके — भावावेशसे नहीं, तर्क-बुद्धिसे —, कोई काम करनेसे पहले उसपर विचार करनेके आदी हैं उनके अर्ध-चेतन विचारमें कारणसे लेकर परिणामतक बहुत तेज प्रक्रिया होती है जिसके कारण व्यक्ति शृंखलाको, तर्ककी पूरी शृंखलाको नहीं देखता और

फलतः यह नहीं समझ पाता कि यह तर्ककी श्रृंखला है और बस, वह धोखा खा जाता है। तुम्हें लगता है कि यह अंतर्भास है, पर यह अंतर्भास नहीं है: यह अत्यधिक द्रुत गतिसे होनेवाली तर्कणा है जो अवचेतन है और किसी समस्याको लेकर सीधी निष्कर्षोंतक पहुंचती है। इसे अंतर्भास मान लेनेकी गलती कभी नहीं करनी चाहिये।

अंतर्भास, साधारण मस्तिष्कके काममें, वह चीज है जो ज्योतिकी एक बूंदकी तरह सहसा टपकती है। यदि किसीमें क्षमता है, मानसिक अंतर्दर्शनकी क्षमताका प्रारंभ है तो यह ऐसी छाप छोड़ता है मानों कोई चीज बाहरसे या ऊपरसे आ रही है, — मानों ज्योतिकी एक बूंदका दिमाग-पर जरा-सा आघात है जो सब तर्क-वितर्कसे बिलकुल अलग है।

जब तुम मनको नीरव करनेमें, इसे चुप और एकाग्र करनेमें, इसकी नित्यकी क्रियाको रोकनेमें सफल हो जाते हो, मानों यह एक तरहके दर्पण-में बदल गया हो और अविरत एवं नीरव मनोयोगमें उच्चतर क्षमताकी ओर मुड़ गया हो, तब यह आसानीसे देखा जा सकता है। व्यक्ति ऐसा करना भी सीख सकता है। इसे सीखना **ही** चाहिये, यह एक आवश्यक अनुशासन है।

जब तुम्हें कोई प्रश्न हल करना हो, वह चाहे कुछ भी हो, तो आम तौर-पर तुम अपना ध्यान यहां (भौंहोंके बीच दिखाते हुए) एकाग्र करते हो, आंखोंसे ऊपर, मध्यमें, जो सचेतन संकल्पका केंद्र है। परंतु, जब तुम यह करते हो तब अंतर्भासके संपर्कमें नहीं आ सकते। तुम संकल्प, प्रयास और यहांतक कि अमुक प्रकारके ज्ञानके स्रोतके संपर्कमें आ सकते हो, पर बाह्य, लगभग भौतिक क्षेत्रमें; जब कि यदि तुम अंतर्भासके साथ संपर्क चाहते हो तो तुम्हें इसे (श्रीमां माथा दिखाती हैं) बिलकुल निश्चल रखना चाहिये। क्रियारत विचारको यथासंभव रोक देना चाहिये और सिरके ऊपर स्थित और यदि संभव हो तो इससे भी जरा ऊपर स्थित सारी मानसिक क्षमता-को . . . एक दर्पणके समान बना देना चाहिये जो बहुत शांत हो, बहुत स्तब्ध हो, नीरव और एकाग्र अवधानताके साथ ऊपरकी ओर मुड़ा हुआ हो। यदि तुम ऐसा करनेमें सफल हो जाते हो तो तुम्हें — शायद तुरत तो नहीं — लेकिन तो भी, तुम्हें उन ज्योतिकी बूंदोंका बोध हो सकता है जो अभीतक अज्ञात क्षेत्रसे दर्पणपर पड़ रही हैं और एक सचेतन विचारके रूपमें अनू-दित हो रही हैं जिसका तुम्हारे बाकीके विचारोंसे कोई संबंध नहीं क्योंकि तुम उन्हें नीरव कर सके हो। बौद्धिक अंतर्भासका यह वास्तविक प्रारंभ है।

यह एक अनुसरण करने योग्य साधन है। हो सकता है कि तुम लंबे समयतक प्रयत्न करो पर सफलता हाथ न लगे, लेकिन "दर्पणको स्तब्ध

और सावधान बनाने"में जैसे ही तुम सफल हो जाओगे वैसे ही तुम्हें उसका फल मिलेगा, यह आवश्यक नहीं कि वह ठीक-ठीक विचारका रूप हो, पर ऊपरसे उतरती हुई ज्योतिका संवेदन हमेशा होगा। और उस समय यदि तुम इस ऊपरसे आती हुई ज्योतिको ग्रहण कर सको, तुरत ही किसी बवंडर-जैसे काममें न जुट जाओ, इसे नीरवता और स्थिरतामें ग्रहण करो और इसे सत्ताकी गहराईतक भेदने दो, तब कुछ समय बाद या तो यह आलोकित विचारमें या फिर यहां (श्रीमां हृदयकी ओर संकेत करती हैं), इस दूसरे चक्रमें यथार्थ निदर्शनके रूपमें अनूदित हो जाती है।

स्वभावतया, पहले इन दो क्षमताओंका विकास करना चाहिये; उसके बाद, जैसे ही कुछ परिणाम नजर आये, तो, जैसा कि मैंने पहले कहा है, उस परिणामका निरीक्षण करना चाहिये और जो कुछ हो रहा है उसको और उसके परिणामोंके साथके संबंधको देखना चाहिये; देखो, बहुत ध्यानसे देखो कि क्या भीतर आया है, किसने क्या विकृति पैदा की है, कम या ज्यादा तर्कद्वारा, निम्न इच्छा-शक्तिके हस्तक्षेपद्वारा, जो कुछ-कुछ सचेतन भी है, तुमने क्या जोड़ा है; और बहुत गहन अध्ययनके बाद (वास्तवमें तो लगभग हर पलके, कम-से-कम दैनिक और बार-बारके अध्ययनके बाद) मनुष्य अपने अंतर्भासको विकसित करनेमें सफल होता है। बहुत लंबा समय लगता है इसमें। समय लगता है और फिर घातके स्थल भी हैं: तुम अपनेको छल सकते हो, अवचेतन इच्छाओंको, जो अपनेको प्रकट करनेकी कोशिश करती है, और आवेगोंद्वारा मिले निदर्शनको, जिन्हें तुमने खुले रूपमें ग्रहण करनेसे इंकार कर दिया था, अंतर्भास मानकर बैठ सकते हो; सचमुच, सब तरहकी कठिनाइयां हैं। तुम्हें इसके लिये तैयार रहना होगा। लेकिन यदि तुम लगे रहो तो सफलता जरूर मिलेगी।

एक ऐसा भी क्षण होता है जब तुम्हें आंतरिक पथ-प्रदर्शनका अनुभव होता है, जो कुछ भी करते हो उस सबमें बड़े प्रत्यक्ष ढंगसे कोई तुम्हें चलाता है। पर हां, उस पथ-प्रदर्शनकी अधिक-से-अधिक शक्ति पानेके लिये तुम्हें स्वभावतया उसके साथ सचेतन समर्पण जोड़ देना होगा। उस उच्चतर शक्तिद्वारा किये गये निदर्शनका अनुसरण करनेके लिये तुम्हारे अंदर सच्चा निश्चय होना चाहिये। यदि तुम ऐसे करते हो तो... तुम बरसोंके अध्ययनको लांघ सकते हो, अत्यधिक तेजीसे परिणामको पकड़ सकते हो। यदि तुम उसे जोड़ दो तो फल बहुत जल्दी मिल जायगा। पर, इसे करना चाहिये सच्चाईके साथ... एक तरहकी आंतरिक सहजताके साथ। यदि तुम इस समर्पणके बिना प्रयत्न करना चाहो तो तुम्हें सफलता मिल सकती है — जैसे तुम अपने व्यक्तिगत संकल्पके विकासके लिये भी करते

हो और उसे काफी शक्तिशाली बना लेते हो — लेकिन इसमें बड़ी देर लगती है, बहुत बाधाओंसे टक्कर लेनी पड़ती है और फल भी बहुत संदिग्ध होता है; व्यक्तिको बहुत प्रयत्नशील, आग्रही, अध्यवसायी होना चाहिये, तब सफलता अवश्यंभावी है, पर काफी परिश्रमके बाद।

सच्चे, पूर्ण आत्मदानके साथ अपनेको समर्पित कर दो और तुम बिना रोक-टोकके वेगसे आगे बढ़ोगे, तुम कहीं अधिक तेज चलोगे — लेकिन इसे हिसाब लगाकर मत करना, क्योंकि यह सब कुछ बिगाड़ देता है!

(मौन)

इसके अतिरिक्त, जीवनमें तुम कुछ भी करना चाहो, एक चीज नितांत अपरिहार्य है और **सब**के मूलमें है, वह है ध्यान एकाग्र करनेकी क्षमता। यदि तुम एक बिन्दुपर ध्यान और चेतनाकी किरणोंको केंद्रित करनेमें सफल हो जाते हो और इस एकाग्रताको दृढ़ संकल्पद्वारा बनाये रख सकते हो तो **ऐसी कोई चीज नहीं** जो इसका प्रतिरोध कर सके — चाहे कुछ भी क्यों न हो, वह नितांत जड़-भौतिक विकाससे लेकर उच्चतम आध्यात्मिक विकासतक, पर इस अनुशासनका पालन करना चाहिये निरंतर, या यूं कहें, निर्विकार रहते हुए; यह नहीं कि हमेशा एक ही चीजपर एकाग्र रहना होगा — मेरा मतलब यह नहीं है, मेरा मतलब है एकाग्रता सीखनेसे।

भौतिक रूपमें, अध्ययन, खेल-कूद, सब तरहके शारीरिक और मानसिक विकासके लिये यह नितांत अपरिहार्य है। और मनुष्यकी कीमत उसके अवधानके गुणके अनुपातमें होती है।

और आध्यात्मिक दृष्टिसे तो इसका और भी अधिक महत्त्व है। **कोई** भी आध्यात्मिक बाधा ऐसी नहीं जो एकाग्रताकी मर्मभेदी शक्तिका प्रतिरोध कर सके। उदाहरणके लिये, चैत्य पुरुषका संधान, अंतरस्थित भगवान्‌के साथ मिलन, उच्चतर प्रदेशोंकी ओर उन्मीलन, **सब** प्रगाढ़ और आग्रही एकाग्रताकी शक्तिद्वारा उपलब्ध किये जा सकते हैं — लेकिन इसे करना सीखना होगा।

मानवी क्षेत्रमें, और अतिमानवीतकमें ऐसी कोई चीज नहीं है जिसकी कुंजी एकाग्रताकी शक्ति न हो।

इस क्षमताके साथ तुम श्रेष्ठ खिलाड़ी हो सकते हो, श्रेष्ठ विद्यार्थी हो सकते हो, कलाकार, साहित्यिक और वैज्ञानिक बन सकते हो, सबसे बड़े संत बन सकते हो। और प्रत्येक व्यक्तिमें यह प्रारंभ-बिन्दुके रूपमें रहता है — यह सबको मिला हुआ है, पर वे इसे बढ़ाते नहीं।

३० जुलाई, १९५८

मधुर मां, प्लेंचेट या प्लेंशेटके प्रयोगसे किस तरहकी शक्तियों-को पुकारा जा सकता है और इसे कैसे किया जाता है?

ओह! ओह!... क्या तुम्हारा मतलब स्वत:लेखनसे है?

हां, मां!

यह उनपर निर्भर है जो इसे करते हैं। कभी-कभी तो कोई भी शक्ति नहीं होती! होते हैं सिर्फ उन लोगोंके मानसिक और प्राणिक स्पंदन जो प्लेंशेटपर काम करते हैं, अट्ठानवे[1] प्रतिशत तो उनके अपने अवचेतन विचार उभर आते हैं। यदि उन लोगोंका किन्हीं अदृश्य सत्ताओंके साथ संपर्क हो तो हर प्रकारकी चीज हो सकती है लेकिन उसमें कुछ भी बहुत प्रशंसनीय नहीं होता।

लगभग निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि यह वह चीज नहीं है जो लोग समझते हैं, इस अर्थमें कि अक्सर वे उसका आह्वान करनेकी कोशिश करते हैं जिसे वे किसी मृत व्यक्तिकी, परिवारके सदस्य, मित्र या प्रियजन-की और जिसके साथ वे संपर्क बनाये रखना चाहते हैं उसकी "आत्मा" समझते हैं। इसके अतिरिक्त उनसे निरे मूर्खताभरे प्रश्न करते हैं। सौभाग्यवश ... वे उन्हें परेशान करनेमें सफल नहीं होते!

इस दृष्टिकोणसे यह कहा जा सकता है कि यदि तुम्हारा किसी मृत व्यक्तिके साथ, जो शरीर छोड़ चुका है, प्रगाढ़ और सच्चे प्यारका संबंध था और यदि तुम स्वयं काफी स्थिर और दृढ़ हो तो वह व्यक्ति कम-या-ज्यादा लंबे समयके लिये, अपने प्राणके लिये तुम्हारे वायुमंडलमें (अपने प्रियजनके वायुमंडलमें) आश्रय चुन सकता है। इस हालतमें इसका अर्थ होगा कि संबंध बहुत निकटका था, बहुत अंतरंग था और यदि तुम इतने जड़वादी नहीं हो कि कोई सीधा मानसिक बोध ही न हो तो तुम इस व्यक्तिके साथ मानसिक रूपमें संबंध बनाये रख सकते हो; उससे आदान-

---

[1]बादमें माताजीने निम्न टिप्पणी जोड़ी: "मुझे नब्बे प्रतिशत कहना चाहिए, क्योंकि अपवाद भी होते हैं — मैं उन्हें जानती हूं — लेकिन वे इतने विरल हैं कि उनके विषयमें न बोलना ही अच्छा है।"

प्रदान कर सकते हो। ऐसा बहुत विरल होता है, क्योंकि आम तौरपर यदि तुम्हारा वायुमण्डल काफी स्थिर और दृढ़ है और सचमुच सुरक्षा प्रदान कर सकता है तो वह व्यक्ति जो शरीर छोड़ चुका है, वहां गहन विश्रांति-में चला जाता है और उसे परेशान करना बिलकुल अनुचित है; सबसे अच्छा तो यह होगा कि तुम उस व्यक्तिको अपने प्यारमें लपेट लो और शांतिसे रहने दो।

अतः यदि इस तरीकेसे, जिसे मैं अनगढ़ तरीका कह सकती हूं, उसके साथ संबंध स्थापित करना संभव भी हो तो भी ऐसा करना शोभा नहीं देता। किंतु आम तौरपर, जो लोग चले गये हैं उन्हें मध्यवर्ती अवस्थामें कुछ समयके लिये आश्रय देनेकी जिनमें योग्यता है, आवश्यक क्षमता है उनमें यह बेतुका, ऊट-पटांग विचार नहीं आता कि प्लेंशेटका उपयोग करके अपने प्रियजनोंके आराममें खलल डालें . . . सौभाग्यसे !

पर जो इस प्रयोगमें, अस्वास्थ्यकर उत्सुकताके प्रयोगमें रस लेते हैं उन्हें वही मिलता है जिसके वे योग्य हैं; क्योंकि, जिस वातावरणमें हम निवास करते हैं वह छोटी-छोटी अनेक सत्ताओंसे, जो असंतुष्ट कामनाओं और बहुत निम्न प्रकारकी प्राणिक गतियोंसे जन्मी हैं, और प्राण-जगत्की अधिक महत्त्वपूर्ण सत्ताओंकी सड़ांधसे भरा रहता है — सचमुच, यह इनसे भरपूर है, अधिकतर लोग नहीं देखते कि इस प्राणिक वायुमंडलमें क्या हो रहा है और निश्चित रूपसे यह उनके लिये सुरक्षा है क्योंकि यह बहुत अधिक सुहावना नहीं है — लेकिन यदि अस्वास्थ्यकर उत्सुकतावश वे इसके संपर्कमें आनेकी धृष्टता करना चाहें और स्वतःलेखन या मेज घुमाने या . . . ऐसी ही कोई और चीज करनेकी चेष्टा शुरू कर दें तो होता यह है कि इन छोटी सत्ताओंमेंसे एक या अनेक उन्हें उल्लू बनाकर खिलवाड़ करती हैं, उनके अवचेतन मनसे सब आवश्यक सूचनाएं इकट्ठी करके इस बातके प्रत्यक्ष प्रमाणके रूपमें उन्हींके पास भेजती हैं कि जिन व्यक्तियोंको बुलाया गया था वे व्यक्ति वे स्वयं हैं !

इन सबके बारेमें अपने जाने हुए दृष्टांतोंको लेकर मैं तुम्हारे लिये पूरी पुस्तक लिख सकती हूं, क्योंकि ऐसी चीजें करनेमें लोग बहुत गर्व अनुभव करते हैं, अपने अनुभवकी सत्यताके "प्रमाण" देते हुए उन्हें तुरत लिख डालते हैं, ऐसे हास्यास्पद प्रमाण जो उन्हें यह दिखानेके लिये काफी होने चाहिये कि कोई उनपर हंस रहा है ! अभी हालमें ही मुझे किसी ऐसे व्यक्तिका एक और दृष्टांत मिला है जो कल्पना कर रहा था कि उसका श्रीअरविन्दके साथ संपर्क है और वे उसके सामने सनसनीदार रहस्योद्घाटन कर रहे हैं — यह बिलकुल हास्यास्पद था।

बहरहाल, आम तौरपर ये (ओह! बहुधा) ये तुम्हारी अपनी शक्तियां होती हैं, तुम्हारी अवचेतन मानसिक शक्तियां, प्राणिक शक्तियां जिन्हें तुम प्लेंशेटमें रख देते हो और फिर अपने लिये सनसनीदार रहस्योद्‌घाटन तैयार कर लेते हो! तुम इस तरहकी अनेक चीजें कर सकते हो...। एक बार मैं लोगोंके सामने यह प्रमाणित करना चाहती थी कि जिसका वे आह्वान कर रहे थे वह और कोई नहीं, वे खुद ही थे; अतः केवल संकल्पकी एकाग्रताके बलपर फर्नीचरको थपथपाकर, मेजोंको स्वतः चलाकर मैंने एक छोटा-सा मजाक किया, और!... स्वतःलेखनके लिये तुम्हें केवल अपने सचेतन संकल्पको अपने अंदर समेट लेना और हाथको ढीला छोड़ देना होता है, बिलकुल इस तरह (मुद्रा), और इसे बेटोक छोड़ दो और तब हाथ गति करना आरंभ कर देगा; पर तुम्हारे भीतर बैठा कोई छोटा-सा बिंदु है जो इसमें रस लेता है और वह चाहता है इस गतिविधिका कोई अर्थ हो। वह अवचेतन मनका द्वार खटखटाता है जो सनसनीखेज रहस्योद्‌घाटन करने लगता है। असलमें, यह सारा एक चोर फंदा है। जबतक कोई इसे वैज्ञानिक ढंगसे न करे; लेकिन तब, वैज्ञानिक ढंगसे करनेपर उसकी समझमें आ जाता है कि इसमें कुछ नहीं रखा है — बिलकुल कुछ नहीं, सिवाय इसके कि तुम अपना समय बिता रहे हो जिसे तुम समझते हो कि मजेदार ढंगसे बीत रहा है।

कुछ लोगोंके साथ ऐसा होता है कि प्राणिक शक्तियां सचमुच उनपर अधिकार जमा लेती हैं, उस हालतमें यह खतरनाक हो जाता है। लेकिन सौभाग्यवश यह बहुधा नहीं होता। क्योंकि तब यह बहुत खतरनाक हो उठता है।

बहुत समय पहले, जब मैं फ़्रांस में थी, मैं एक आदमीको जानती थी जिसने इस तरहके अभ्यास कर-करके एक प्राणिक सत्ताके साथ अपना संबंध जोड़ लिया था। वह जुआरी था और अपना समय सट्टा और रुलेट खेल खेलनेमें बिताता था। वर्षका कुछ समय वह 'मौंत कार्लो'में रुलेट खेलनेमें बिताता था और बाकी समय दक्षिण फ़्रांसमें रहकर शेयर बाजारमें फाटका खेलता था। और सचमुच कोई सत्ता उसे माध्यम बनाये हुए थी, (स्वतः-लेखनद्वारा)। बरसोंसे उसका प्रयोग कर रही थी, उसे बिलकुल ठीक-ठीक, यथायथ संकेत देती थी। जब वह रुलेट खेलता तो वह कहती: "इस संख्या या इस जगहकी बोली बोलो," और वह जीत जाता था। स्वभावतया, वह इस "प्रेतात्मा"की पूजा करता था जो उसे इतने सनसनीदार रहस्य बताती थी। शेयर बाजारमें भी वह उससे कहती: "इसपर दांव लगाओ या उसपर बाजी लगाओ," और उसे सब निर्देश देती

थी । यह आदमी बहुत अधिक धनी बन बैठा। अपने सब मित्रोंके सामने वह अपने उस तरीकेके बारेमें शेखी बघारा करता था जिससे वह इतना अमीर बन गया।

किसीने उसे सावधान किया; और कहा: "ध्यान रखो, यह कोई ईमानदारीका सौदा नहीं दीखता, इस "प्रेतात्मा"पर भरोसा मत करो।" वह उस आदमीसे बिगड़ बैठा। कुछ दिन बाद वह 'मौंत कार्लो'में था और...। वह हमेशा ऊंची बाजी लगाता था, क्योंकि तुम्हें पता ही है, वह सदा जीतता था, सबका दिवाला निकाल देता था, सभी उससे भय खाते थे। तब "प्रेतात्मा"ने उससे कहा: "सब कुछकी बाजी लगा दो, जो कुछ तुम्हारे पास है वह सब इसपर लगा दो"...। उसने वैसा ही किया और एक ही दांवमें सब कुछ गंवा बैठा! फिर भी शेयर बाजारके फाटकेका बचा हुआ कुछ पैसा उसके पास था। उसने मनमें सोचा: "यह दुर्भाग्य है।" उसे हमेशाकी तरह दुबारा बड़ा स्पष्ट निर्देश मिला: "ऐसा करो।" और उसने किया — सब चौपट हो गया! और अंतमें "प्रेतात्मा"ने कहा (पूरा मजा लेना चाहिये): "अब तुम आत्म-हत्या करोगे। एक गोली दाग दो अपने सिरमें।" और वह इतना वशीभूत था कि उसने वैसा ही किया...। कहानी यहां समाप्त हो जाती है। यह एक प्रामाणिक कहानी है। अतः कम-से-कम हम यह तो कह ही सकते हैं कि यह खतरनाक है, इस तरहके धंधोंमें दिलचस्पी न लेना ही अच्छा है।

नहीं! ये या तो निरर्थक-से मनोरंजनके साधन हैं या फिर हानिकर धंधे।

मां, श्रीअरविन्दने "यौगिक साधन" पुस्तक इसी ढंगसे लिखी...

नहीं, नहीं। वह यह चीज बिलकुल नहीं है। इस तरहकी गड़बड़ी मत करो। वह अलग ही चीज थी। श्रीअरविंद **जानते** थे कि वे किसके संपर्कमें हैं, उन्होंने यह जान-बूझकर किया था और जिसके साथ संपर्कमें थे उस व्यक्तिको चुना था, उनका इन छोटी-छोटी सत्ताओंसे कोई सरोकार नहीं था जिनकी मैं अभी-अभी चर्चा कर रही थी, बिलकुल भी नहीं, एकदम नहीं। यह तो ऐसी चीज थी जो सीधे मानसिक जगत्में घटी थी, तुम्हें चीजोंको इस तरह मिला न देना चाहिये। इनका आपसमें कोई संबंध नहीं, बिलकुल नहीं।

(मौन)

यदि तुममें ज्ञान, नियंत्रण, शक्ति और एक विशेष निष्क्रिय अवस्थामें जानेकी क्षमता हो तो तुम इच्छापूर्वक यह जानते हुए कि वह कौन है और उच्चतर स्तरपर क्रिया करते हुए आसानीसे किसीकी ओर सहायताका हाथ बढ़ा सकते हो, लेकिन उसके लिये पहलेसे ही ऊंची चेतना, आत्म-स्वामित्व अपेक्षित है जो सबकी पहुंचके भीतर नहीं है। यह देख सकनेके लिये कि अमुक स्तरपर तुम्हारा किससे सरोकार है और अपना नियंत्रण खोये बिना, कारणके पूरे ज्ञानके साथ उस प्रयोगके लिये स्वेच्छापूर्वक सहमति दे सकनेके लिये काफी आंतरिक विकासकी आवश्यकता है। हर ऐरा-गैरा उससे नहीं खेल सकता। पर प्लेंशेटको चलानेके लिये अपने-आपको काफी धोखा देना ही पर्याप्त है और वह चलना शुरू कर देगा।

मां, जो कुछ आप हमें बता रही हैं क्या वह गुह्यविद्याओंका एक भाग है?

यह केवल परीक्षण करनेके लिये था, बस।

(मौन)

सामान्यतया, पहुंचनेका यह मार्ग अच्छा नहीं है, क्योंकि आंतरिक क्षेत्रमें, आंतरिक विकासमें, यह लोगोंके उपन्यास पढ़नेकी आवश्यकताके अनुरूप है। जिसका मन अभीतक तामसिक अवस्थामें पड़ा है और आधा जड़ है उन्हें जागनेके लिये उपन्यास पढ़नेकी जरूरत पड़ती है। यह किसी प्रशंसनीय अवस्थाका लक्षण नहीं, कम-से-कम ऊंची अवस्थाका तो नहीं। हां, तो आंतरिक क्षेत्रमें यह इसीके समान है। जब कोई बिलकुल आदिम अवस्थामें हो, आंतरिक तीव्र जीवन न हो तो उसे उपन्यास पढ़नेकी जरूरत पड़ती है या फिर वह अपनी कल्पनामें उपन्यास रचता है, और तब वह ऐसे प्रयोगोंमें रस लेता है और मान बैठता है कि वह बड़ी रोचक चीज कर रहा है...। इसमें वैसा ही मजा आता है जैसा उपन्यासोंमें — साहित्यिक उपन्यास भी नहीं, बल्कि सस्ते रोमांटिक उपन्यास जो पत्रिकाओंके अंतमें छपते हैं।

श्रीअरविंदने मुझे बताया था कि कुछ लोगोंको इसकी जरूरत होती है क्योंकि उनका मन इतना जड़ है कि यह उन्हें झकझोरकर जरा-सा जगा देता है। हां, तो यह वही बात है। ऐसे कुछ लोग हैं जिन्हें

अपने प्राणको थोड़ा-सा जगानेके लिये इस तरहकी कसरतोंकी जरूरत पड़ सकती है क्योंकि वह सोया पड़ा है, जड़ है और ... इससे उनके जीवनमें थोड़ी रुचि पैदा होती है। फिर भी, हम यह नहीं कह सकते कि ये बहुमूल्य धंधे हैं। ये तो समय काटनेके, मन-बहलानेके साधन हैं।

और यह कभी किसीके लिये कुछ प्रमाणित नहीं कर सका। तुम कह सकते हो: "ओह! यह तुम्हें समझा देता है कि एक आंतरिक जीवन है, एक अदृश्य जीवन है और तुम्हारा उन चीजोंसे संपर्क करा देता है जिन्हें तुम नहीं देखते और प्रमाणित कर देता है कि उनका अस्तित्व है" — यह सच नहीं है।

जबतक तुम्हारे भीतर आध्यात्मिक **पुरुष** न हो जो जागने और अपना जीवन जीनेमें समर्थ हो तबतक ये चीजें तुम्हें बिलकुल कुछ नहीं सिखातीं। मैं ऐसे लोगोंको जानती थी — खासकर एकको जो वैज्ञानिक था, बुद्धिमान् था, योग्य था; उसने उच्च विज्ञानका अध्ययन किया था, इंजीनियर था और एक महत्त्वपूर्ण पदपर था; यह आदमी एक संस्थाका सदस्य था जो "प्रेतात्मवादिक" कहलाती थी, उसे एक माध्यम मिल गया था जो सचमुच बहुत असाधारण योग्यताओंवाला था। वह हर बैठकमें उपस्थित रहता था ताकि कुछ सीख सके, अपनेको विश्वास दिला सके और अदृश्य जगत्के अस्तित्व, अदृश्य जगत्के ठोस और वास्तविक अस्तित्वके प्रत्यक्ष प्रमाण पा सके। कड़े-से-कड़े निरीक्षणमें, यथासंभव वैज्ञानिक ढंगसे उसने वह सब देखा जो देखा जा सकता था — अंतिम ब्योरेतक पूरी जांच-पड़ताल पहले ही कर ली थी। उसने जो कुछ विलक्षण देखा था वह सब मुझे सुनाया, उसने मेरे हाथमें एक चीजका टुकड़ा रखा जो आजकलके प्लास्टिकके कपड़ेसे मिलता-जुलता था, जो बुना हुआ नहीं होता, प्लास्टिकका टुकड़ा (लेकिन उन दिनों प्लास्टिक नहीं था, तबतक उसका आविष्कार नहीं हुआ था, बहुत पहलेकी बात है यह) मेरे हाथमें था, फाड़ा हुआ जरा-सा टुकड़ा जिसपर बड़ा सुंदर छोटा-सा डिजाइन बना था। उसने मुझे बताया कि यह सब कैसे हुआ। जब माध्यमको समाधिस्थ कर दिया गया तो एक व्यक्ति इस पदार्थसे बना चोगा पहने प्रकट हुआ (यहां सूक्ष्म वस्तुओंको मूर्त रूप दिया गया था); यह व्यक्ति उसके सामनेसे गुजरा और उसने एक छोटे-से पशुकी तरह, जो कि वह था, एक छोटा-सा टुकड़ा प्रमाणके लिये फाड़ लिया और अपने पास रख लिया। माध्यम गुर्राया — और सब कुछ, सब कुछ तुरत गायब हो गया...। लेकिन वह टुकड़ा उसके हाथमें रह गया और उसने वह मुझे दिया। मैंने वह उसे वापिस कर दिया। उसने मुझे सिर्फ दिखाया था, मेरे हाथमें रखा था।

तो, तुम देखते हो कि वह काफी ठोस चीज थी, क्योंकि वह टुकड़ा अब भी उसके पास था; वह अपने-आपसे यह नहीं कह सका कि यह मतिविभ्रम है। लेकिन इस बातके होते हुए, इन सब अद्‌भुततम कहानियोंके बावजूद, जिनसे कि एक पूरी किताब तैयार की जा सकती है, वह **किसी भी चीजपर** विश्वास नहीं करता था। वह **किसी**की व्याख्या नहीं कर सका। और वह अपने-आपसे पूछता था कि पागल कौन है, वह स्वयं या दूसरे या ...। इस सबने उसके ज्ञानको आधा कदम भी आगे नहीं बढ़ाया।

कोई इन चीजोंपर विश्वास नहीं कर सकता जबतक कि वह इन्हें अपने अंदर वहन न करे।

तुम्हारे सारे बाह्य प्रमाण तुम्हें कभी कोई ज्ञान नहीं दे सकते। जब तुम **स्वयं** भीतर विकसित होते हो, इन चीजोंके साथ सीधा और आंतरिक संबंध स्थापित करने योग्य होते हो तभी यह जान सकते हो कि ये क्या हैं, लेकिन यदि तुम्हारे अंदर वह **सत्ता** नहीं है जो यह ज्ञान पानेके योग्य हो तो कोई स्थूल प्रमाण — स्थूल और इस तरहका — तुम्हें ज्ञान नहीं दे सकता।

अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि इस तरहका प्रयोग एकदम बेकार है। जिनमें आंतरिक सत्ता है — एक-न-एक दिन जीवन ही उन्हें जगाने-का भार लेगा और उस वस्तुके संपर्कमें ला देगा जिसे जानना उनके लिये आवश्यक है।

मैं इन चीजोंको अस्वास्थ्यकर उत्सुकता समझती हूं, बस।

६ अगस्त, १९५८

मधुर मां, सामूहिक प्रार्थनाका क्या प्रभाव और महत्त्व होता है?

इसके बारेमें, सामूहिक प्रार्थना और उसके उपयोगके बारेमें, हम पहले ही बातचीत कर चुके हैं। मेरे ख्यालसे यह 'बुलेटिन' में भी छप चुकी है।

इसके अलावा, जैसे तरह-तरहकी समष्टियां होती हैं वैसे ही तरह-तरहकी सामूहिक प्रार्थनाएं भी होती हैं। एक बेनाम जमघट, भीड़ होती

है जो परिस्थितिके संयोगसे, आंतरिक सामंजस्यके बिना, परिस्थितिकी शक्तिके धक्केसे बनती है, जैसे, जब कोई राजा या कोई ऐसा व्यक्ति जो जन-समूहका ध्यान आकर्षित करता हो, एक संकटमय अवस्थामें हो, चाहे वह बीमार हो या दुर्घटनाग्रस्त, और जनता समाचार जानने और अपनी भावना प्रकट करनेके लिये उमड़ी पड़ रही हो : तो परिस्थितियों-के संयोगसे ही लोग इकट्ठे होते हैं, अर्थात्, समान रुचि और भावनाके सिवाय कोई आंतरिक संबंध नहीं होता। ऐसा भी उदाहरण मिलता है कि सारी भीड़ उस व्यक्तिके आरोग्यके लिये अनायास प्रार्थना करने बैठ गयी जिसमें उसकी खास रुचि थी। स्वभावतः, वही भीड़ें बिलकुल भिन्न उद्देश्यसे, घृणाके उद्देश्यसे इकट्ठी हो सकती हैं और उनकी चीख-चिल्लाहट भी एक तरहकी प्रार्थना होती है, विरोधी और विनाशकारी शक्तियोंके प्रति प्रार्थना।

यह सहज गतिविधि होती है, न व्यवस्थित, न प्रत्याशित।

ऐसे व्यक्तियोंकी समष्टि भी होती है जो एक आदर्श या एक शिक्षा या कार्यकी चरितार्थताके लिये जमा होते हैं, इनका आपसमें व्यवस्थित संबंध, एक ही लक्ष्यका संबंध, एक ही श्रद्धा और संकल्पका संबंध होता है। ये सामूहिक प्रार्थना और ध्यानके अनुष्ठानके लिये विधिवत् जमा हो सकते हैं, यदि उनका लक्ष्य उदात्त है, संगठन सुचारु ढंगसे हुआ है, उनका आदर्श प्रबल है, तो यह समष्टि अपनी प्रार्थनाओं या अपने ध्यानद्वारा दुनियाकी घटनाओंपर, अपने आंतरिक विकासपर और अपनी सामूहिक प्रगतिपर यथेष्ट प्रभाव डाल सकती है। निश्चय ही ऐसे समूह औरोंसे बहुत अधिक श्रेष्ठ होते हैं, पर उनमें भीड़की अंध शक्ति, भीड़की सामूहिक क्रिया नहीं होती। ये इन आवेगों-प्रवेगोंको अभिप्रेत और सचेतन व्य-वस्थाकी शक्तिद्वारा बदल देते हैं।

सदा ही, धरतीपर ऐसे समूह रहे हैं जो अपने-आपको इस तरह संगठित करते थे। इनमेंसे कइयोंका ऐतिहासिक जीवन रहा है, दुनिया-में ऐतिहासिक कार्य रहा है, लेकिन आम तौरपर जनसाधारणमें इन्हें विशिष्ट व्यक्तियोंकी अपेक्षा ज्यादा सफलता नहीं मिली। इनपर हमेशा संदेह किया गया, ये आक्रमणों और अत्याचारोंके शिकार रहे और प्रायः ही बड़ी क्रूरतासे, बहुत अज्ञानमय, अन्धकारमय तरीकोंसे भंग कर दिये गये ...। एक निश्चित लक्ष्यके लिये, किसी मान्यता, बल्कि सिद्धांत या मतको घेरकर, खड़े होनेवाले ऐसे अर्ध-धार्मिक, अर्ध-वीरोचित दल भी हुए हैं जिनका इतिहास बड़ा ही दिलचस्प रहा है। और निश्चय ही उन्होंने अपने व्यक्तिगत प्रयाससे सामूहिक प्रगतिके लिये बहुत कुछ किया है।

एक आदर्श संगठन है जिसे यदि ठीक-ठीक कार्यान्वित किया जाय तो

वह एक बहुत सबल ऐक्यका सृजन कर सकता है, यह ऐसे अवयवोंसे बना होगा जिनका एक ही लक्ष्य और एक ही संकल्प होगा और उनका आंतरिक विकास इतना हो चुका होगा कि लक्ष्यकी, उद्देश्यकी, अभीप्साकी और कार्यकी आंतरिक एकताको एक सुसंगत ठोस शरीर दे सकें।

सभी युगोंने दीक्षा-केंद्रोंमें कम-या-अधिक प्रसन्नता देनेवाले तरीकेसे इसके लिये प्रयास किया है और गुह्य परंपराओंमें सदा ही इसे कर्मका अत्यधिक शक्तिशाली साधन बताया गया है।

यदि सामूहिक एकता व्यक्तिगत एकताकी संलग्नताको पा सकती तो वह व्यक्तिके कार्य और बलको और भी अधिक बढ़ा सकती।

साधारणतः, यदि बहुत-से व्यक्तियोंको इकट्ठा कर दिया जाय तो हर अलग-अलग व्यक्तिके गुणकी अपेक्षा दलका सामूहिक गुण कहीं कम होगा लेकिन, इसके विपरीत, एक पर्याप्त सचेतन और समन्वित संगठनद्वारा व्यक्तिगत कार्यकी क्षमताको **बहुगुणित** किया जा सकता है।

१३ अगस्त, १९५८

मधुर मां, जुलाई १९५३ में आपने हमसे कहा था कि पांच साल बाद मैं तुम्हें "आध्यात्मिक जीवन"के बारेमें पढ़ाऊंगी[1]। जो कुछ आपने कहा था, मां, मैं वह ले आया हूं।

अच्छा! यह तो मजेदार बात है।

(श्रीमां बच्चेद्वारा दिया गया मूल पढ़ती हैं)

क्या यह छप गया है?

नहीं, मां।

ओह, अंतिम वाक्य कितना सुन्दर है!

(थोड़ी देर चुप रहनेके बाद) तो, तुम मुझसे क्या आशा करते हो?... शुरू करनेकी?

---

[1]प्रश्न और उत्तर, १९५३, १५ जुलाई।

हां, मां।

लेकिन मैंने तो पहले ही शुरू कर दिया है, है न? पांच साल बीतनेके पहले ही।

लगता है उस दिन, मैंने . . . ओह! मैंने यहां लिखा—मैंने जो लिखा. . .।

यह 'मातृवाणी'में लिखा हुआ है, मधुर मां।[1]

उसमें मैंने संन्यास और आध्यात्मिक जीवनके बीच जो उलझन पैदा होती है उसके विषयमें लिखा है, और मैंने वचन दिया था कि एक दिन मैं तुम्हें बताऊंगी कि लोग जिसे भगवान् कहते हैं और जिसे मैं भगवान् कहती हूं, उनके बीच वे क्या उलझन पैदा कर लेते हैं।

लेकिन इस विषयमें तो मैं तुम्हें कई बार बता चुकी हूं, है न?

मुझे अपना वचन याद नहीं था लेकिन याद रखे बिना ही मैंने उसे निभाया है, और वह भी वह दिन आनेसे पहले ही!

अब यदि तुम इस विषयपर ठीक-ठीक प्रश्न पूछो तो मैं देखूंगी कि मैं क्या बता सकती हूं। आध्यात्मिक जीवनके बारेमें तुम क्या जानना चाहते हो? . . . क्या तुम्हारे पास कोई खास प्रश्न है?

आपका मतलब है कि आप ध्यान शुरू करा चुकी हैं, मां?

हां! . . .और जो पढ़ती हूं उसकी व्याख्याएं देना भी शुरू कर चुकी हूं। छोटी कक्षामें तो हमने आध्यात्मिक जीवन बितानेके लिये आवश्यक अनुशासनपर ध्यान करना शुरू भी कर दिया है। और जब मैंने 'धम्मपद' पढ़ना शुरू किया तो हमने बहुत-सी ऐसी चीजें पढ़ीं जो आध्यात्मिक जीवन-के ज्ञानकी ओर ले जाती हैं। किंतु यदि तुम्हें किसी खास विषयपर कोई सुनिश्चित प्रश्न पूछना हो तो पूछ सकते हो, मैं उत्तर दूंगी।

मधुर मां, यहां आश्रममें रहते हुए हमें जितना लाभ उठा सकना चाहिये हम उतना लाभ क्यों नहीं उठाते?

आह! यह तो बहुत सीधी-सी बात है, इसलिये क्योंकि यह बहुत आसान

---

[1] 'मातृवाणी' १९२९।

है।......जब गुरुको ढूंढनेके लिये तुम्हें सारी दुनियाका चक्कर लगाना पड़े, जब तुम्हें शिक्षाके पहले शब्दोंको पानेके लिये सब कुछ त्यागना पड़े, तब, वह शिक्षा, वह आध्यात्मिक सहायता उस चीजकी तरह बहुत अनमोल बन जाती है जो बड़ी कठिनाईसे मिलती है और तुम उसके अधिकारी बननेके लिये बहुत प्रयास करते हो।

तुममेंसे अधिकतर यहां तब आये जब वे बहुत छोटे थे, ऐसी उम्र थी जब आध्यात्मिक जीवनका या आध्यात्मिक शिक्षाका कोई प्रश्न ही नहीं उठता ... वह बिलकुल असामयिक होता। तुम यहांके वातावरणमें रहे पर उसे जाने बिना; तुम मुझे देखनेके, मेरी बात सुननेके अभ्यस्त हो, मैं तुम्हारे साथ ऐसे बात करती हूं जैसे सभी बच्चोंके साथ की जाती है, मैं तुम्हारे साथ खेलीतक हूं, जैसे कोई बच्चोंके साथ खेलता है; तुम्हें बस यहां आना और बैठना होता है और तुम मुझे बोलते हुए सुनते हो, तुम्हें सिर्फ प्रश्न करना होता है और मैं उत्तर दे देती हूं। मैंने कभी किसी-को कोई बात बतानेसे इन्कार नहीं किया। यह इतना सरल है। बस इतना काफी है . . . जीना — सोना, खाना, व्यायाम करना और विद्या-लयमें अध्ययन करना। तुम यहां वैसे ही रहते हो जैसे कहीं बाहर रहते। और इसीलिये, तुम इसके आदी हो गये हो।

यदि मैंने कड़े नियम बनाये होते, यदि मैंने कहा होता : "मैं तुम्हें तबतक कुछ नहीं बताऊंगी जबतक तुम उसे जाननेके लिये प्रयास नहीं करते," तो शायद तुम कुछ प्रयास करते, पर नहीं, यह मेरे विचारोंसे मेल नहीं खाता। कठोर शिक्षाकी अपेक्षा मैं वातावरणकी शक्ति और उदाहरणपर ज्यादा विश्वास करती हूं। मैं विधिवत्, अनुशासित प्रयत्नकी अपेक्षा मूक संचार-द्वारा सत्तामें कुछ जगा देनेपर ज्यादा भरोसा करती हूं।

शायद, अंततः, कोई चीज तैयार हो रही है और एक दिन वह फूट निकलेगी।

मैं इसीकी आशा करती हूं।

एक दिन तुम अपने-आप कहोगे : "अरे! मैं इतने समयसे यहां हूं मुझे कितना कुछ सीख लेना चाहिये था, उपलब्ध कर लेना चाहिये था, और मैंने कभी इसके बारेमें सोचातक नहीं। बस, ऐसे ही कभी-कभार!" और तब, उस दिन ... हां, उस दिन, जरा कल्पना करो, तुम सहसा एक ऐसी चीजके प्रति जाग्रत् हो उठोगे जिसकी ओर कभी तुम्हारा ध्यान ही नहीं गया; लेकिन जो तुम्हारे भीतर गहराईमें है, जिसमें सत्यके लिये **प्यास** है, रूपांतरके लिये प्यास है और जो इसे पानेके लिये अपेक्षित प्रयत्न करनेको तैयार है। उस दिन तुम बहुत तेज चलोगे, लंबे डगोंसे आगे बढ़ोगे ...।

शायद जैसा कि मैंने कहा था, आज पांच साल बाद, वह दिन आ पहुंचा है? मैंने कहा था: "मैं तुम्हें पांच साल देती हूं"...। अब वे पांच साल बीत गये हैं, अतः शायद वह दिन आ गया है। शायद, तुम अचानक एक **अदमनीय** आवश्यकता अनुभव करो कि अब निश्चेतन और अज्ञानमें नहीं जीना है, उस अवस्थामें नहीं रहना है जिसमें कारण जाने बिना तुम काम करते हो, कारण समझे बिना अनुभव करते हो, विरोधी इच्छाएं रखते हो, किसी चीजके बारेमें कुछ नहीं समझते, केवल आदत, दिनचर्या और प्रतिक्रियावश जीते हो, बस जीवनको सहज रूपमें लेते हो। और एक दिन आता है जब तुम उससे संतुष्ट नहीं रहते।

तुम देखोगे कि यह हर एकके लिये अलग-अलग है। ज्यादातर यह जानने, समझनेकी आवश्यकता होती है; कुछ लोगोंके लिये यह जो कुछ करना चाहिये और जैसे करना चाहिये उसे वैसा करनेकी आवश्यकता होती है; कुछ दूसरोंके लिये यह एक धुंधली-सी अनुभूति होती है कि इस इतने अचेतन, व्यर्थ और निरर्थक जीवनके पीछे कुछ ऐसी चीज है जो जीनेके **लायक** है, जिसे पाना है—एक सद्वस्तु है, इन मिथ्यात्वों और माया-जालोंके परे एक सत्य है।

सहसा तुम महसूस करते हो कि जो कुछ तुम कर रहे हो, जो कुछ देख रहे हो उसका कोई अर्थ नहीं, उसके अस्तित्वका कोई हेतु नहीं, लेकिन कहीं **कुछ ऐसा** है जिसका अर्थ है कि मूलतः हम यहां इस धरतीपर किसी कामके लिये हैं, इस सबका, इन सब गतिविधियोंका, सब उद्वेगोंका, शक्ति और ऊर्जाके इस सारे अपव्ययका जरूर कोई प्रयोजन होना चाहिये, उद्देश्य होना चाहिये, और यह बेचैनी जो हम अपने अंदर अनुभव कर रहे हैं, यह असंतोष, यह आवश्यकता, किसी चीजके लिये **प्यास** जरूर हमें कहीं ले जायेंगी।

और एक दिन तुम अपनेसे पूछते हो: "पर हमारा जन्म क्यों हुआ?.. हम मर क्यों जाते हैं?... हम दुख क्यों भोगते हैं? ... हम काम क्यों करते हैं?......"

अब तुम एक छोटी-सी मशीनकी तरह नहीं रह जाते, मुश्किलसे अर्धचेतन। तुम सचमुच अनुभव करना, सचमुच काम करना, सचमुच जानना चाहते हो। तब, साधारण जीवनमें व्यक्ति पुस्तकें खोजता है, ऐसे लोगोंको ढूंढता है जो उससे थोड़ा ज्यादा जानते हों, किसीकी खोज शुरू करता है जो इन प्रश्नोंका समाधान कर सके, 'अज्ञान'का परदा उठा सके। यहां, यह सब बहुत आसान है। तुम्हें केवल ... वही करना होता है जो प्रतिदिन करते हो, लेकिन करना होता है किसी उद्देश्यसे।

तुम समाधिपर जाते हो, श्रीअरविन्दका चित्र देखते हो, मुझसे फूल लेने आते हो, पढ़ने बैठते हो, तुम वह सब करते हो जो प्रायः किया करते हो लेकिन ... अपने अंदर एक प्रश्न लिये : क्यों ?

और तब, यदि तुम प्रश्न करो तो तुम्हें उत्तर मिल जाता है।

क्यों ?

क्योंकि अब हम वैसा जीवन नहीं चाहते जैसा वह है, क्योंकि हम अब मिथ्या और अज्ञानको नहीं चाहते, क्योंकि हम पीड़ा और अचेतनताको और नहीं चाहते, क्योंकि हम अव्यवस्था एवं दुर्भावनाको और नहीं चाहते, क्योंकि श्रीअरविन्द हमें यह बतानेके लिये आये हैं : 'सत्य'को पानेके लिये धरतीको छोड़नेकी जरूरत नहीं, अपनी 'अंतरात्मा'को पानेके लिये जीवनका त्याग आवश्यक नहीं, भगवान्‌के साथ संबंध जोड़नेके लिये संसारका त्याग या सीमित मत रखना जरूरी नहीं है। भगवान् सब जगह हैं, हर वस्तुमें हैं और यदि वे छिपे हुए हैं तो इसलिये कि हम उन्हें ढूंढनेका कष्ट नहीं उठाते।"

मात्र एक सच्ची अभीप्साद्वारा हम अपने अंदरका मुहरबंद द्वार खोल सकते हैं और पा सकते हैं ... वह 'कोई' चीज जो जीवनकी सारी सार्थकताको बदल देगी, हमारे सारे प्रश्नोंका उत्तर दे देगी, सारी समस्याओंको हल कर देगी और हमें उस पूर्णता और 'सद्वस्तु'तक ले जायेगी जिसके लिये हम अनजाने अभीप्सा करते हैं, **केवल** वही हमें संतुष्ट कर सकती है और स्थायी उत्फुल्लता, संतुलन, बल और जीवन दे सकती है।

यह सब तो तुम बहुत बार सुन चुके हो।

तुम सुन चुके हो — ओह ! यहां कुछ ऐसे भी हैं जो इसके इतने आदी हो चुके हैं कि यह उन्हें वैसा ही लगता है जैसे एक गिलास पानी पीना या धूपके लिये अपनी खिड़की खोलना।

पर चूंकि मैंने तुम्हें वचन दिया था कि पांच सालमें तुम इन चीजोंको **जी** सकोगे, इनका ठोस, सच्चा विश्वास दिलानेवाला अनुभव पाओगे तो, इसका मतलब है कि तुम्हें तैयार हो जाना चाहिये और यह कि हम शुरू करनेवाले हैं।

हमने थोड़ा-सा प्रयत्न किया है लेकिन अब गंभीरतासे करने जा रहे हैं !

आरंभिक बिंदु : इच्छा करना, सचमुच चाहना, इसकी जरूरत महसूस करना। अगला चरण : **केवल** उसीके बारेमें सोचना। एक दिन आयेगा, बहुत जल्दी आयेगा, जब तुम किसी और चीजके बारेमें सोच ही न सकोगे।

यही एक चीज है जिसका कुछ मूल्य है। और इसके बाद ... ।

तुम अपनी अभीप्साको शब्दबद्ध करते हो, अपने हृदयसे सच्ची प्रार्थनाका

निर्झर फूटने देते हो जो तुम्हारी आवश्यकताकी सच्चाईको व्यक्त करती है। और तब ... हां, तब, तुम देखोगे कि क्या होता है।

कुछ होगा। निश्चय ही कुछ होगा। हर एकके लिये इसका रूप भिन्न होगा।

बस। मुझे खुशी हुई कि तुमने मुझे यह दिया।

१५ अगस्त, १९५८

यह छोटी-सी वार्ता एक शुक्रवारको दी गयी थी। साधारणतया यह दिन 'धम्मपद' पढ़नेके लिये नियत था।

चूंकि आज श्रीअरविंदका जन्मदिन है, मैंने सोचा कि 'धम्मपद' पढ़नेकी जगह कुछ और पढ़ूं जिसमें तुम्हें रस आये और जो तुम्हें यह दिखाये कि श्रीअरविंदने देवताओंके साथ हमारे संबंधका निरूपण कैसे किया है।

तुम जानते ही हो, जानते हो न, कि भारतमें विशेषकर, देवताओंकी अनगिनत श्रेणियां हैं, सब विभिन्न स्तरोंपर हैं, कुछ मनुष्यके बहुत पास, दूसरी 'परम'के बहुत समीप, और बहुत-सी मध्यवर्ती।

जो मैं तुम्हें बताना चाहती हूं उसे तुम अधिक अच्छी तरह समझ सकोगे यदि मैं पौराणिक देवताओंका उल्लेख करूं (वैसे देवता जैसे हमने उस दिन चित्रपटपर देखे थे), और जो, मैं कहूंगी कि कई बातोंमें मनुष्यसे बदतर हैं (!) यद्यपि शक्तिके हिसाबसे वे अनंतगुना महान् हैं।

अधिमानसके देवता हैं जो पृथ्वीके महान् स्रष्टा हैं—अभीतक। वेदोंके देवता हैं जिनका उल्लेख ऋषियोंने हमतक आनेवाली हर चीजमें किया है। और हैं अतिमानसके देवता जो पृथ्वीपर अभिव्यक्त होनेवाले हैं, यद्यपि अपने स्तरपर वे शाश्वत कालसे विद्यमान हैं।

यहां श्रीअरविंद विशेषकर वैदिक देवताओंके बारेमें कह रहे हैं, पर अनन्य भावसे नहीं, न ही बिलकुल निश्चित रूपसे। कुछ भी हो, ये देवता पौराणिक देवताओंकी अपेक्षा महान् हैं।

श्रीअरविंदने जो कहा है वह यों है: संक्षेपमें यह एक प्रार्थना है:

विस्तृत होओ मेरे अंदर, हे वरुण;

शक्तिशाली बनो मेरे अंदर, हे इंद्र;
हे सूर्य, प्रदीप्त हो और भास्वर बनो;
हे चन्द्र, शोभा-सुषमा और मधुरिमासे भर उठो।
उग्र और भयंकर बनो, हे रुद्र;
प्रचंड और वेगवान् बनो, हे मरुत्;
बलवान् और साहसी होओ, हे अर्यमा;
विलासी और सुखदायी बनो, हे भग;
कोमल, कृपालु, प्रेमिल और अनुरागी बनो, हे मित्र;
उज्ज्वल और उद्भासक होओ, हे उषा;
हे निशे, भव्य और उर्वर बनो;
हे जीवन, परिपूर्ण, प्रस्तुत और प्रफुल्ल होओ;
हे मृत्यु, एक सौधसे दूसरे सौधतक मुझे ले चलो।
इन सबको एक लय-तालमें बांध दो, हे ब्रह्मणस्पति।
मैं इन देवताओंका दास न बनूं, हे काली![1]

तो, श्रीअरविंद कालीको बड़ी मुक्तिदायिनी शक्ति मानते हैं जो तुम्हें लगनके साथ प्रगति करनेकी ओर प्रवृत्त करती है और तुम्हारे अंदर कोई बंधन नहीं छोड़ती जो तुम्हें प्रगति करनेसे रोके।

मेरा ख्याल है कि ध्यानके लिये यह अच्छा विषय होगा।

(ध्यान)

२७ अगस्त, १९५८

मधुर मां, जब आप हमें किसी विषयपर ध्यान करनेके लिये कहती हैं, उदाहरणके लिये जब हम ध्यानके लिये यह विषय चुनते हैं कि हम प्रकाशकी ओर खुल रहे हैं तो हम अजीब-अजीब चीजोंकी कल्पना करने लगते हैं, एक दरवाजा खुलनेकी कल्पना करते हैं आदि-आदि, लेकिन यह सब हमेशा मानसिक रूप ले लेता है।

---

[1] 'विचार और सूत्र', पृ० ८६।

यह व्यक्ति-व्यक्तिपर निर्भर है। हर एकका अपना विशेष तरीका होता है। यह पूरी तरह हर व्यक्तिपर निर्भर है। कुछ लोगोंके लिये ऐसे बिंब हो सकते हैं जो उनकी सहायता करते हैं; दूसरी ओर, कइयोंका मन ज्यादा भावात्मक होता है और वे केवल भावों या विचारोंको देखते हैं, दूसरे, जो ज्यादा संवेदनों और भावनाओंमें रहते हैं, मनोवैज्ञानिक गतियां, आंतरिक भावनाएं और संवेदन पाते हैं—यह हर एकपर निर्भर है। जिनका भौतिक मन सक्रिय, खासकर रचनात्मक होता है वे चित्र देखते हैं, पर हर एक एक ही चीजको अनुभव नहीं करता। उदाहरणार्थ, यदि तुम अपने साथवालेसे पूछो ... (साथवालेको संबोधित करते हुए) जब मैं तुम्हें कोई विषय देती हूं तो क्या तुम भी इसी तरहके बिंब देखते हो ?

कभी-कभी।

कभी-कभी ?

अधिकतर मैं कुछ महसूस करता हूं।

वह अधिकतर क्या होता है ?

एक संवेदन।

एक संवेदन, हां। बहुधा यह संवेदन होता है (मेरा मतलब सामान्यतया), बिंबसे ज्यादा एक संवेदन या अनुभव होता है। बिंब हमेशा उनको दीखते हैं जिनमें रचनात्मक मानसिक शक्ति होती है, जिनका स्थूल मन सक्रिय होता है। यह इस बातका लक्षण है कि वह अपनी मानसिक चेतनामें सक्रिय है।

(वह बच्चा जिसने पहला प्रश्न पूछा था) लेकिन क्या इस तरह यह ठीक है ?

हर चीज ठीक है, यदि उससे कुछ परिणाम आये। उपाय कुछ भी हो, वह अच्छा है। वह ठीक क्यों न हो ? ... यह जरूरी नहीं है कि इस तरहके बिंब हास्यास्पद ही हों। वे बिलकुल हास्यास्पद नहीं होते, वे मान-

मिक बिंब हैं। यदि उनसे कुछ परिणाम हाथ लगता है तो वे बिलकुल ठीक हैं। यदि उससे तुम्हें कोई अनुभव होता है तो वह ठीक है।

दृष्टांतके रूपमें, जब मैं तुमसे अपने भीतर गहरे पैठनेको कहूं तो तुममें-से कुछ संवेदनपर एकाग्र होंगे। इसी तरह कुछ दूसरोंको एक गहरे कुंएंमें उतरनेका अनुभव होगा, वे एक अंधेरे और गहरे कुंएंकी ओर जाती हुई सीढ़ियोंका चित्र स्पष्टतया देखेंगे और वे नीचे, और नीचे, गहरे, और गहरे उतरते जाते हैं और कभी-कभी ठीक एक द्वारपर जा पहुंचते हैं; वे उसमें घुसनेकी इच्छा लिये वहीं बैठ जाते हैं और कभी-कभी द्वार खुल जाता है, वे अंदर जाते हैं और एक तरहका हॉल या कमरा या गुफा देखते हैं, कुछ इसी तरहका और वहांसे, यदि वे आगे बढ़ना जारी रखें तो एक और दरवाजेपर पहुंचते हैं और पुनः रुक जाते हैं, प्रयाससे दरवाजा खुल जाता है और वे और आगे बढ़ते हैं, और यदि यह अध्यवसायके साथ किया जाय और वे अनुभवको जारी रख सकें, तो वे अपने-आपको एक दरवाजेके सम्मुख खड़ा पाते हैं जो ... एक खास तरहकी दृढ़ता और गांभीर्य लिये होता है। एकाग्रताके महाप्रयाससे दरवाजा खुल जाता है और वे सहसा निर्मलता और ज्योतिके एक हॉलमें प्रवेश करते हैं; और तब — जानते हो — वे अपनी आत्माके साथ संपर्कका अनुभव प्राप्त करते हैं ...। मुझे तो बिंबोंमें कोई बुराई नहीं दीखती।

नहीं, मां, लेकिन यह तो कोरी कल्पना है, नहीं है क्या, मां ?

कल्पना ? पर कल्पना क्या है ? ... तुम ऐसी किसी चीजकी कल्पना नहीं कर सकते जिसका विश्वमें अस्तित्व न हो। जो चीज कहीं न हो उसकी कल्पना करना असंभव है। केवल एक ही चीज संभव है, वह यह कि तुम अपना बिंब यथास्थान न रखो : या तो तुम उसे वे गुण और विशिष्टताएं दे दो जो उसमें नहीं हैं या फिर उसकी उचित व्याख्या न देकर और तरहसे व्याख्या कर दो। लेकिन तुम जो कुछ कल्पना करते हो उसका कहीं-न-कहीं अस्तित्व है; सारी बात है उचित स्थानको जानना और उसे वहां बिठा देना।

स्वभावतः, यदि यह कल्पना करनेके बाद कि तुम एक दरवाजेके सामने खड़े हो जो खुल रहा है, तुम यह सोचो कि सचमुच तुम्हारे शरीरके भीतर एक भौतिक दरवाजा है तो वह भूल होगी। लेकिन यदि तुम यह समझो कि तुम्हारी एकाग्रताके प्रयासने यह मानसिक रूप लिया है तो यह बिलकुल ठीक है। यदि तुम मानसिक जगत्की सैर करने निकलो तो तुम्हें इस

तरहके अनेक रूप दिखायी देंगे, सब तरहके रूप जिनका भौतिक अस्तित्व नहीं है पर जो मानसिक जगत्में भली-भांति विद्यमान हैं।

तुम्हारे विचारके रूप लिये बिना तुम किसी चीजके बारेमें सशक्त रूपसे नहीं सोच सकते। लेकिन अगर तुम मान बैठो कि यह रूप भौतिक था तो, स्पष्ट ही, यह भूल होगी। फिर भी मानसिक जगत्में यह पूरी तरह विद्यमान है।

कल्पना निर्माणकी शक्ति है। असलमें, जिनमें कल्पना नहीं होती वे मानसिक दृष्टिकोणसे निर्माता नहीं होते, वे अपने विचारको ठोस शक्ति नहीं दे सकते। कल्पना कर्मका एक बहुत शक्तिशाली साधन है। उदाहरणार्थ, यदि तुम्हारे कहीं दर्द हो रहा हो और तुम यह कल्पना कर सको कि तुम उसका लोप किये दे रहे हो या दूर हटा रहे हो या नष्ट कर रहे हो — ऐसी सब तरहकी कल्पनाएं — तो बहुत अच्छी तरह सफल होते हो।

एक आदमीकी कहानी है कि उसके बाल बड़ी तेजीसे झड़ रहे थे, इतने कि कुछ ही हफ्तोंमें वह गंजा हो जाता। तब किसीने उससे कहा : "जब तुम कंघी करो तो यह कल्पना करो कि ये बढ़ रहे हैं, और बड़ी तेजीसे बढ़ रहे हैं।" और हर बार कंघी करते समय वह कहता : "ओह ! मेरे बाल बढ़ रहे हैं, ये बड़ी तेजीसे बढ़ रहे हैं . . .।" और ऐसा ही हुआ। जब कि, सामान्यतया, लोग करते यह हैं कि वे अपने-आपसे कहते हैं : "आह ! फिरसे मेरे बाल झड़ने शुरू हो गये, अब मैं गंजा हो जाऊंगा, यह निश्चित है, वह जरूर होगा।"

स्पष्ट है कि ऐसा ही होता है !

मां, शुक्रवारकी कक्षाओंमें आप प्रायः हमें कोई एक वाक्य[1] पढ़कर सुनाती हैं और उसपर ध्यान करनेके लिये कहती हैं। लेकिन एक वाक्यपर ध्यान कैसे किया जाय ? क्या हमें सोचना चाहिये, उसके भावपर ध्यान करना चाहिये या . . . ? क्या करना चाहिये ?

वाक्यपर ध्यान करना ?

जी।

---

[1] उन दिनों यह 'धम्मपद'मेंसे होता था।

स्पष्ट ही है, उसके अर्थपर।

अर्थात्, हमें सोचना चाहिये . . . ।

हां। तो फिर ?

क्योंकि मां, वह मानसिक क्रिया हो जाती है, नहीं होती क्या ?

वाक्य तो पहलेसे ही मानसिक रचना है; मानसिक रचना की जा चुकी है। वाक्य उस मानसिक रचनाकी अभिव्यक्ति है। अतः जब तुम किसी वाक्य-पर ध्यान करो तो उसके दो तरीके हैं। एक सक्रिय, साधारण बाह्य तरीका है शब्दोंके अर्थपर विचार करने और उन्हें समझनेकी कोशिश करनेका, वाक्यके ठीक-ठीक अर्थको बौद्धिक रूपसे समझनेका — यह है सक्रिय ध्यान। तुम उन चंद शब्दोंपर एकाग्र होते हो और उनसे जो विचार व्यक्त हुआ है उसे लेकर तर्क, निगमन, विश्लेषणद्वारा उसके अर्थको समझनेकी कोशिश करते हो।

एक दूसरा तरीका है जो अधिक सीधा और गहरा है; इस मानसिक रचनाको, शब्दोंके इस समवायको और जिस विचारका ये प्रतिनिधित्व करते हैं उसको लेना और अपने ध्यानकी सारी शक्तिको उसपर केंद्रित करना, अपनी सारी शक्तिको उस रचनापर एकाग्र होनेके लिये अपने-आपको बाध्य करना। उदाहरणके लिये, स्थूल रूपसे देखी हुई किसी चीजपर अपनी सारी शक्तिको एकाग्र करनेके स्थानपर तुम उस विचारको लेते हो और उसपर अपनी सारी शक्ति एकाग्र करते हो — स्वभावतः, मनमें।

और उसके बाद यदि तुम विचारको एकाग्र करनेमें और उसकी चंचलता-को रोकनेमें सफल हो जाते हो तो बहुत सहज ढंगसे शब्दोंद्वारा व्यक्त विचारको लांघकर उनके पीछेके **भाव**तक पहुंच जाते हो जो दूसरे शब्दों-द्वारा, दूसरे रूपोंद्वारा व्यक्त हो सकता है। भावकी विशिष्टता है अपनेको अलग-अलग विचारोंसे भूषित करनेकी शक्ति। और जब तुम इतनी दूरतक चले जाते हो तो तुम शब्दोंके सरल बोधकी अपेक्षा कहीं अधिक गहरे जा पहुंचते हो। स्वाभाविक है कि यदि तुम एकाग्रताका अभ्यास करते रहो और तुम्हें यह पता हो कि इसे ऐसे किया जाता है तो तुम भावको पारकर इसके पीछे छिपी आलोकमयी शक्तितक जा सकते हो। तब वहां तुम बृहत्तर और गहनतर प्रदेशमें प्रवेश करते हो। पर उसके लिये कुछ प्रशिक्षण अपेक्षित है। फिर भी, अंततः ध्यानकी रीति यही है।

यदि तुम काफी गहराईमें जानेमें सफल हो जाते हो तो तुम्हें भावके पीछे 'मूलतत्त्व' और 'शक्ति' मिलती है और ये ही तुम्हें सिद्धिकी शक्ति प्रदान करती हैं। जो लोग ध्यानको आध्यात्मिक विकासके साधनके रूपमें अपनाते हैं वे इसी तरहसे चीजोंके पीछे स्थित 'मूलतत्त्व'के साथ एक हो जानेमें और इन चीजोंपर ऊपरसे क्रिया करनेमें सफल होनेकी शक्ति पाते हैं।

पर इतनी दूर गये बिना भी (इसका मतलब है काफी कड़ा अनुशासन, कठोर अभ्यास, है न!) तुम विचारसे भावतक काफी आसानीसे जा सकते हो, तब वह तुम्हें मनमें प्रकाश और बोध प्रदान करता है जिसके कारण तुम्हें भावको अपने मनचाहे रूपमें व्यक्त करनेकी छूट होती है। एक भाव बहुत-से विभिन्न रूपोंमें, बहुत-से विभिन्न विचारोंमें उसी तरह व्यक्त हो सकता है, जैसे, जब तुम अधिक भौतिक स्तरपर उतर आते हो तो एक विचार बहुत-से विभिन्न शब्दोंद्वारा व्यक्त किया जा सकता है। नीचेकी ओर, अभिव्यक्तिकी ओर जाते हुए, यानी, भाषण या लेखनद्वारा व्यक्त करनेके लिये बहुत-से विभिन्न सूत्र होते हैं जो विचारको व्यक्त करनेके काममें आते हैं, लेकिन यह विचार, विचारके उन अनेक रूपोंमेंसे सिर्फ **एक** रूप है जो भावको, पीछे स्थित 'मूलतत्त्व'को व्यक्त करते हैं और यदि और गहराईतक जाया जाय तो स्वयं इस भावके पीछे आध्यात्मिक ज्ञान और शक्तिका एक सारतत्त्व विद्यमान है जो, फिर, सब जगह फैल सकता है और अभिव्यक्त जगत्पर कार्य कर सकता है।

जब तुम्हारे पास कोई विचार होता है तो तुम शब्द ढूंढते हो, है न? और फिर अपने विचारको अभिव्यक्त करनेके लिये तुम शब्दोंको व्यवस्थित करनेकी कोशिश करते हो; तुम एक विचारको व्यक्त करनेके लिये अनेक शब्दोंका प्रयोग कर सकते हो, तुम अपने-आपसे कहते हो: "नहीं, जरा ठहरो, यदि मैं उस शब्दके बदले इस शब्दका उपयोग करूं तो मैं जो सोच रहा हूं उसे यह कहीं अधिक अच्छी तरह व्यक्त करेगा।" जब तुम्हें लिखनेका और लेखन-शैलीका प्रशिक्षण दिया जाता है तो यही सिखाया जाता है।

परंतु जब मैं तुम्हें एक लिखित वाक्य देती हूं जिसमें विचारको व्यक्त करनेकी शक्ति होती है और तुम्हें उसपर एकाग्र होनेके लिये कहती हूं तब, विचारके इस रूपसे तुम इसके पीछे स्थित भावतक जा सकते हो जो अनेक विभिन्न विचारोंमें अभिव्यक्त हो सकता है। यह एक बड़ी क्रम-परंपराके समान है: 'मूलतत्त्व' एकदम शिखरपर है पर वह अपने-आपमें अंतिम नहीं है क्योंकि तुम उससे और भी ऊपर उठ सकते हो; पर इस 'मूलतत्त्वको' भावोंमें व्यक्त किया जा सकता है, और ये भाव

अनेक विचारोंमें व्यक्त किये जा सकते हैं, और ये अनेक विचार बहुत-सी भाषाओंका, और उससे भी अधिक, शब्दोंका प्रयोग कर सकते हैं।

जब मैं तुम्हें कोई विचार देती हूं, तो वह केवल एकाग्र होनेमें सहायता देनेके लिये होता है . . .। कुछ संप्रदाय तुम्हारे सामने कोई चीज रख देते हैं — एक फूल या पत्थर, कुछ इसी तरहकी चीज, और फिर तुम सब उसके इर्द-गिर्द बैठकर उसपर एकाग्र होते हो और तुम्हारी आंखें इस तरह स्थिर हो जाती हैं (माताजी दिखाती हैं कि कैसे) जबतक कि तुम वह विषय-वस्तु ही न बन जाओ । एकाग्रताका यह भी एक तरीका है। उस तरह लगातार, बिना हिले-डुले देखनेसे, अंतमें, जिस वस्तुको तुम देखते हो उसमें प्रवेश पा जाते हो। लेकिन तुम्हें सब तरहकी चीजोंको देखना शुरू नहीं कर देना चाहिये : स्थिरतासे उसी-को देखो। वह तुम्हें एक ऐसा रूप देती है जो . . . तुम्हें भेंगा कर देती है।

यह सब एकाग्रता सिखानेके लिये है। बस, इतना ही ।

कभी-कभी इनमेंसे कोई वाक्य बहुत गहन सत्यको व्यक्त करता है। यह उन सौभाग्यशाली वाक्योंमेंसे होता है जो बड़े भावपूर्ण होते हैं। अतः यह पीछे स्थित सत्यको पानेमें तुम्हारी सहायता करता है।

जब हम 'धम्मपद' समाप्त कर लेंगे तो मैं यही करनेकी सोच रही हूं। आजकल मैं श्रीअरविंदकी नवीनतम पुस्तक 'विचार और सूत्र'का अनुवाद कर रही हूं जो हाल ही में प्रकाशित हुई है, और मेरी इच्छा है कि हर शुक्रवारको एक वाक्य, एक सूत्र (टिप्पणीके साथ या उसके बिना, जब जैसी आवश्यकता हो) दूं लेकिन ध्यानके लिये एक विषयके रूपमें। इसके तरीके और साधन अभी खोजने हैं . . .। हम दो भिन्न तरीकोंसे आरंभ कर सकते हैं। मैं उन्हें क्रमसे लूंगी, अतः तुम्हें हमेशा पता रहेगा कि अगले सप्ताहके लिये कौन-सा आयेगा और तुम पहलेसे ही प्रश्न तैयार कर लोगे; या फिर तुम यदि पहलेसे प्रश्न तैयार नहीं कर लेते तो शायद यह ज्यादा मजेदार होगा कि एक वाक्य लेकर उसपर ध्यान करनेके बाद अगली बार पिछले सप्ताहके दिये गये वाक्यके बारेमें मुझसे पूछो। तब, उन पूछे गये प्रश्नोंमेंसे मैं उन प्रश्नोंको चुन लूंगी जो मुझे सबसे अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण लगेंगे और उनका उत्तर दूंगी। और बादमें हम एक नया वाक्य लेंगे जिसपर उस दिन ध्यान करेंगे और अगले सप्ताह वह प्रश्नोंका विषय होगा । और यह चीज मैं बहुत यथार्थ और सुनिश्चित उद्देश्यसे करनेवाली हूं : यह है तुम्हें अपनी मान-सिक तंद्रासे बाहर निकालना और जो कुछ मैं तुम्हें बताती हूं उसे सोचने

और समझनेके लिये बाध्य करना . . . । क्योंकि वह केवल कानोंमें जरा-सा शोर करता है, सिरमें और भी कम, और फिर दूसरी तरफसे निकल जाता है और बस, सब खतम ! कभी-कभी, बिरले ही, विशेष कृपा हो जाय तो, यहां जरा-सा असर होता है, इस तरह, कांपती हुई लौ की तरह टिकता है -- जो थोड़ी देर जलती है और फिर, फुश ! . . . कोई चीज फूंक मार देती है, वह बुझ जाती है और बस, सारा खेल खतम ।

हमें कुछ पाठ चाहिये, मधुर मां ।

उस दिन जब तुमने मुझे बताया था कि मैंने तुम्हें "पाठ" पढ़ानेका वचन दिया था तो मैंने उसे बहुत गंभीरतासे लिया । मैं अपना वचन निभानेवाली हूं । तो बस !

३ सितम्बर, १९५८

मधुर मां, उस दिन आपने मुझे बताया था कि कल्पनाको नियंत्रित करना सीखना जरूरी है ।

हां ।

यह कैसे किया जाता है ?

जो अस्पष्ट रूपसे "कल्पना" कहलाती है, वह कल्पना बड़ी जटिल और बहुविध वस्तु है ।

यह मानसिक या किसी और क्षेत्रमें पाये जानेवाले रूपोंको देखने, अंकित करने और ध्यान देनेकी क्षमता है । कलाके क्षेत्र, साहित्यके क्षेत्र, काव्यके क्षेत्र, कार्यके क्षेत्र, विज्ञानके क्षेत्र, सभी मनके क्षेत्र हैं — बहुत ऊंचे और सूक्ष्म मनके नहीं — उस मनके जो भौतिक मनके ऊपर है और जो, हमारे जाने बिना, अपने-आपको कार्यमें व्यक्त करनेके लिये व्यक्तिगत मन और सामूहिक मनमें स्वयंको सतत उंडेलता रहता है ।

कुछ लोगोंका, एक विशेष क्षमताद्वारा, उन स्तरोंसे संपर्क होता है, वे वहां मिली किसी-न-किसी रचनाको बटोर लेते हैं, उसे अपनी ओर खींचते हैं और व्यक्त करते हैं। भिन्न-भिन्न लोगोंमें व्यक्त करनेकी भिन्न-भिन्न क्षमता होती है, पर जिनमें उन स्तरोंकी ओर खुलनेकी, वहां **देखने**की, अपनी ओर उन आकारोंको आर्कषित करनेकी और उन्हें अभिव्यक्त करनेकी क्षमता होती है — चाहे वह साहित्यमें हो या चित्रकारीमें, संगीतमें हो या कर्ममें या विज्ञानमें — वे व्यक्त कर सकनेकी अपनी क्षमताके अनुसार चाहे तो असाधारण प्रतिभावान् होते हैं या फिर सचमुच मेधावी।

उच्चतर प्रतिभावाले लोग भी हैं। ये वे लोग हैं जो महत्तर लोकके प्रति, एक महत्तर शक्तिके प्रति अपनेको खोल सकते हैं, जो मानसिक परतोंसे गुजरती हुई, मानव मनमें आकार लेती है और दुनियामें नवीन सत्यों, दार्शनिक प्रणालियों, नूतन आध्यात्मिक शिक्षाओंके रूपमें प्रकाशित होती है, ये उन महान् सत्ताओंके, जो इस धरातलपर जन्म लेती हैं, कर्म और साथ-ही-साथ क्रियाएं हैं। वह एक कल्पना है जिसे "सत्यकी कल्पना" कहा जा सकता है।

ये महत्तर शक्तियां जब पृथ्वीके वायुमंडलमें उतरती हैं तो सजीव, सक्रिय और सबल रूप लेती हैं, धरतीपर फैल जाती हैं और नये युगकी तैयारी करती हैं।

इन दो तरहकी कल्पनाओंको महत्तर कल्पनाएं कह सकते हैं।

और अब हम आते हैं अधिक सामान्य स्तरपर, हर एकके अंदर, कम या अधिक परिमाणमें, अपनी मानसिक क्रियाको रूप देनेकी क्षमता होती है और वह इस रूपका उपयोग चाहे तो अपने साधारण कार्योंमें या किसी चीजकी रचना करने या उपलब्धि करनेमें करता है। हम हर घड़ी, **हमेशा**, बिंबोंकी, आकृतियोंकी सृष्टि करते रहते हैं। हम सदा उन्हें वायुमंडलमें भेजते रहते हैं, जानतेतक नहीं कि हम ऐसा कर रहे हैं — वे घूमने निकल जाती हैं, एक व्यक्तिसे दूसरेके पास जाती हैं, साथियोंसे मिलती हैं, कभी-कभी हिल-मिल जाती हैं, और खुशी-खुशी निभा लेती हैं; कभी-कभी कलह छिड़ जाता है और लड़ाई शुरू हो जाती है; क्योंकि प्रायः, बहुत बार, इन मानसिक कल्पनाओंमें इच्छा-शक्तिका छोटा-सा तत्त्व होता है जो अपने-आपको संसिद्ध करनेकी चेष्टा करता है, और तब हर एक अपनी रचनाको भेजनेकी कोशिश करता है ताकि वह काम करे और चीजें वैसा रूप लें जैसा वह चाहता है, और, चूंकि हर एक ऐसा करता है... यह एक व्यापक उलझन पैदा कर देती है। वातावरणमें इन रचनाओंको देख सकनेके लिये यदि हमारी आंखें खुली हों तो हम आश्चर्यजनक

चीजें देखेंगे : मानसिक जगत्की छोटी-छोटी सत्ताओंकी भीड़ — जो निरंतर वायुमंडलमें उछाली जा रही हैं और जो सदा अपनेको संसिद्ध करनेके लिये सचेष्ट रहती हैं — युद्धभूमियां, तरंगें, रेले और पलायन, इन रचनाओंकी एक ही प्रवृत्ति रहती है — अपने-आपको मूर्त्त रूप देनेकी, भौतिक रूपसे चरितार्थ करनेकी, और चूंकि वे अनगिनत हैं (धरतीपर इतनी जगह ही नहीं कि उनकी भारी संख्या अभिव्यक्त हो सके), अतः वे धक्कम-धक्का करती हैं, एक-दूसरेको कुहनी मारती हैं, जिनका उनसे मेल नहीं बैठता उन्हें धक्के दे देती हैं, यहांतक कि एक कदम मिलाकर चलती हुई सेना खड़ी कर लेती हैं ताकि वे देश और कालमें मिल सकनेवाली जगह ले सकें (अनगिनत रचनाओंकी तुलनामें यह बिलकुल छोटी-सी जगह है)।

अतः, व्यक्तिगत रूपसे जो होता है वह यही है। ऐसे लोग हैं — सभी — जो बिना जाने यह सब करते हैं और एक चीजसे दूसरी चीजपर उछाले जाते हैं और वे आशा करते हैं, चाहते हैं, इच्छा करते हैं, निराश होते हैं, कभी-कभी खुश होते हैं, कभी-कभी हताश, क्योंकि उन चीजोंपर न तो उनका नियंत्रण होता है, न प्रभुत्व। लेकिन बुद्धिमानीका आरंभ है अपने-आपको विचार करते हुए देखना और इस दृश्यको देखना, वातावरणमें इन छोटी-छोटी जीवंत सत्ताओंके, जो व्यक्त होनेकी चेष्टामें हैं, सतत प्रक्षेपणके प्रति सजग होना। यह सब उस मानसिक वायुमंडलसे निकलता है जिसे हम अपने अंदर ढोये फिरते हैं। एक बार यदि हम देख लें और अवलोकन करें तो हम छांटना शुरू कर सकते हैं, यानी, उसे पीछे धकेल दें जो हमारी उच्चतम इच्छा या अभीप्सासे मेल न खाता हो और उन रचनाओंको ही व्यक्त होने दें जो हमारी प्रगति और प्रकृत विकासमें मदद दे सकें।

यह है सक्रिय विचारपर नियंत्रण, और उस दिन मेरे कहनेका यही अभिप्राय था।

कितनी ही बार हम बैठते हैं और हमें भान होता है कि विचार आकार बनाना शुरू कर रहा है, अपने-आपको कहानी सुना रहा है; और तब, जब हम जरा भी पटु हो जाते हैं, तो न केवल हम कहानीका उस रूपमें खिलना देखते हैं जैसे हम जीवनमें, अपने जीवनमें उसे देखना चाहेंगे, वरन् हम एक चीजको काट सकते हैं, कुछ विस्तार जोड़ सकते हैं, अपनी कृतिमें पूर्णता ला सकते हैं, एक सुंदर-सी कहानी रच सकते हैं जहां सब कुछ हमारी उच्चतम अभीप्सासे मेल खाता हुआ होगा। और एक बार जब हम सामंजस्यपूर्ण, पूरा-पूरा निर्माण कर लें, उतना परिपूर्ण जितना हमसे बन पड़े, तो हम अपना हाथ खोल देते हैं और पंछीको उड़ जाने देते हैं।

यदि यह अच्छी तरह बनाया गया हो तो हमेशा चरितार्थ होकर रहता है। यही हम नहीं जानते।

लेकिन इसकी परिपूर्ति धीरे-धीरे होती है, कभी-कभी बहुत देर बाद, जब व्यक्ति अपनी कहानी भूल चुकता है, उसे याद नहीं आता कि उसने यह कहानी अपने-आपको सुनायी थी — वह बहुत बदल गया है, अन्य चीजोंके बारेमें सोचता है, दूसरी कहानियां रचता है, और अब पहलेकी कहानीमें रस नहीं रहता; और यदि वह काफी जागरूक नहीं है तो जब उस पहली कहानी-का परिणाम आता है तो वह पहले ही उससे बहुत दूर होता है और उसे अब बिलकुल याद नहीं होता कि यह उसकी अपनी कहानीका परिणाम है...। इसीलिये आत्म-संयम इतना महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यदि तुम्हारे भीतर बहु-विध और विरोधी इच्छाएं हों — केवल इच्छाएं हीं नहीं, झुकाव, दिशा दिखानेवाले और जीवनके स्तर हों — तो ये सब तुम्हारे जीवनमें युद्ध खड़ा कर देते हैं। उदाहरणके लिये, अपने उच्चतम स्तरपर रहते हुए तुमने एक सुन्दर कहानी गढ़ी जिसे तुम दुनियामें भेज देते हो, लेकिन इसके बाद, शायद अगले दिन, शायद उसी दिन, शायद थोड़ी देर बाद ही तुम काफी नीचे भौतिक स्तरपर उतर आये और ऊपरकी ये चीजें तुम्हें कुछ-कुछ... परी-कथा जैसी, अवास्तविक लगती हैं; और तुम बहुत ठोस, बहुत उपयोगितावादी रचनाएं बनाने लगते हो जो हमेशा बहुत सुन्दर नहीं होतीं...। और वे भी चली जाती है।

मैं ऐसे लोगोंको जानती हूं जिनके स्वभावमें इतने विपरीत, विरोधी पक्ष होते हैं कि एक दिन तो वे शानदार, उज्ज्वल, बलवान्, स्वयंको चरि-तार्थ कर सकनेवाली रचना बना सकते हैं और अगले दिन, पराजयवादी, अंधकारमय, काली रचना — निराशाकी रचना और फिर दोनों-की-दोनों आगे बढ़ जाती हैं। और मैं परिस्थितियोंके दौरान सुन्दर संरचनाको चरितार्थ होते देख रही थी और जब वह चरितार्थ हो रही थी तभी अंधेरी रचना उस सबको ढा रही थी जो पहलीने बनाया था। और यह जैसे जीवनके छोटे ब्योरोंमें होता है वैसे ही महान् क्षेत्रोंमें भी होता है। और यह सब इसलिये कि व्यक्ति सोचते हुए अपनेपर निगरानी नहीं रखता, क्योंकि वह अपने-आपको इन विरोधी गतियोंका गुलाम मान लेता है, क्योंकि वह कहता है : "ओह! आज तो मेरी तबियत ठीक नहीं है; ओह! आज तो सब कुछ उदास-उदास लग रहा है," और वह यह बात इस तरह कहता है मानों यह अवश्यंभावी विपदा हो जिसके विरुद्ध कोई कुछ नहीं कर सकता। पर कोई यदि एक कदम पीछे हट-कर खड़ा हो या जरा ऊपर चढ़ जाय तो वह इन सब चीजोंपर नजर

डाल सकता है, उन्हें यथास्थान रख सकता है, कुछको रख सकता है, अवांछनीय चीजोंको नष्ट कर सकता है या उनसे पिंड छुड़ा सकता है और अपनी सारी कल्पना-शक्तिको (जो कल्पनाशील कहलाती है) केवल उसके लिये लगा सकता है जो उसे चाहिये, जो उसकी उच्चतम अभीप्सा-के साथ मेल खाती हो। मैं इसे ही कल्पनाका संयम कहती हूं।

यह बड़ा रोचक है। जब कोई इसे करना सीख लेता है और नियमित रूपसे करता है तो उसके पास ऊबनेके लिये समय नहीं रह जाता।

और व्यक्ति समुद्रकी लहरोंपर तैरते, निरुपाय भावसे हर लहरके थपेड़े खाते, इधर-उधर नाचते कॉर्कके समान न रहकर एक पंछी बन जाता है जो अपने पंख खोलता है, लहरोंके ऊपर उड़ान भरता है और जहां चाहे चला जाता है। बस।

१० सितम्बर, १९५८

"आधुनिक कालमें जैसे भौतिक विज्ञानने अपने शोधकार्यको बढ़ाया और प्रकृतिकी गुप्त भौतिक शक्तियोंको मानव उपयोगके लिये मानव ज्ञानके द्वारा संचालित कर्मके लिये उन्मुक्त किया, वैसे ही गुह्यविद्या पीछे हट गयी और अंतमें इस आधारपर एक ओर रख दी गयी कि 'जड़-तत्त्व' ही सच्चा पदार्थ है और 'मन' तथा 'प्राण' उसीकी विभागीय क्रियाएं हैं। इसी आधारपर, भौतिक 'ऊर्जा'को ही सब चीजोंकी चाबी मानकर भौतिक विज्ञान-ने हमारे मन और प्राणके सामान्य और असामान्य व्यापारों और क्रियाओंके भौतिक उपकरण और भौतिक प्रक्रियाके ज्ञान-द्वारा मन और प्राणकी प्रक्रियाओंपर नियंत्रण करनेकी कोशिश की है। आध्यात्मिकताको मानसिकताका ही एक रूप मानकर उसकी अवहेलना की गयी है। चलते-चलते यह कहा जा सकता है कि अगर यह प्रयास सफल हो गया तो यह मानव जातिके अस्तित्वके लिये खतरेसे खाली न होगा। आज भी तो मानव जाति कई वैज्ञानिक खोजोंका दुरुपयोग और भद्दा उपयोग कर रही है क्योंकि वह अभीतक इतनी बड़ी और खतरनाक शक्तियोंको संभाल सकनेके लिये मानसिक और नैतिक तौरपर

तैयार नहीं है। विज्ञानके द्वारा किया गया मन और प्राणका यह नियंत्रण हमारी सत्ताके मूलमें रहनेवाली और उसे धारण करनेवाली गुप्त शक्तियोंके ज्ञानके बिना किया गया कृत्रिम नियंत्रण होगा। पश्चिममें गुह्यविद्याको बड़ी आसानीसे हटाकर एक तरफ रखा जा सका क्योंकि वहांपर वह कभी प्रौढ़ न हो पायी थी, कभी पककर दार्शनिक या दृढ़ व्यवस्थित आधारको न पा सकी थी। उसने खुलकर अतिप्राकृतिकके रोमांचमें रस लिया या अपने मुख्य प्रयासको अतिसामान्य शक्तियों-का उपयोग करनेके लिये गुर और प्रभावशाली विधियां खोज निकालनेपर केन्द्रित करनेकी भूल की। वह भटककर काले या सफेद जादू-टोनेमें बदल गयी या गुह्य रहस्यवादकी ऐंद्र-जालिक साज-सज्जा बन गयी और अंतमें एक सीमित और अल्पज्ञानकी अतिरंजना बनी। इन प्रवृत्तियों और मानस-आधारकी इस अस्थिरताने गुह्यविद्याकी रक्षा करना कठिन और निंदा करना सरल बना दिया। वह एक ऐसा लक्ष्य बन गयी जिसपर आसानीसे प्रहार हो सकता है। मिस्रमें और पूर्वमें ज्ञानकी यह धारा ज्यादा बड़े और व्यापक प्रयासतक जा पहुंची। अब भी यह प्रौढ़ता तंत्रोंकी विलक्षण प्रणालीमें सुरक्षित देखी जा सकती है। यह केवल असाधारण — अतिसामान्य — का बहुमुखी विज्ञान न थी। इसने धर्मके सभी गुह्य तत्त्वोंको आधार दिया और आध्यात्मिक साधना और आत्मोपलब्धिकी एक महान् और शक्तिशाली पद्धतिका विकास किया। क्योंकि उच्चतम गुह्यविद्या वह है जो 'मन', 'प्राण' और 'आत्मा'की गुप्त गतिविधियों और क्रियात्मक अति-सामान्य संभावनाओंको खोज निकालती है और हमारी मान-सिक, प्राणिक और आध्यात्मिक सत्ताकी अधिक प्रभावशालिता-के लिये उनका उपयोग उनकी अपनी शक्तिके साथ या किसी क्रियात्मक पद्धतिके द्वारा करती है।

प्रचलित विचारोंमें गुह्यविद्या जादू-टोना या तथाकथित अति-प्राकृतिककी क्रियापद्धतिके साथ संबंध रखती है। लेकिन यह उसका एक पक्ष ही है, यह कोरा अंधविश्वास नहीं है जैसा वे लोग यूं ही मान लेते हैं जिन्होंने गुप्त प्राकृतिक शक्तिके इस पक्षको गहराईसे नहीं देखा, बिलकुल नहीं देखा या इसकी संभावनाओंपर प्रयोग नहीं किया। सूत्र और उनका

प्रयोग, सुप्त शक्तियोंका यंत्रीकरण जिस तरह भौतिक विज्ञानमें उपयोगी है उसी तरह मनःशक्ति और प्राण-शक्तिके गुह्य उपयोगमें आश्चर्यजनक रूपसे प्रभावकारी हो सकता है, लेकिन यह एक गौण विधि है और इसकी दिशा भी सीमित है। क्योंकि मन और प्राणकी शक्तियां अपनी क्रियामें नमनीय, सूक्ष्म और परिवर्तनशील होती हैं, उनमें 'जड़-तत्त्व'की कठोरता नहीं होती। उन्हें जाननेके लिये, उनकी कार्य-पद्धतिको समझने और उनका उपयोग करनेके लिये, एक सूक्ष्म और नमनीय संबोधि या अंतर्भासकी जरूरत होती है, यहांतक कि उनके स्थापित सूत्रोंको समझने और उनका उपयोग करनेके लिये भी सूक्ष्म और नमनशील अंतर्भासकी जरूरत पड़ती है। यंत्रीकरण और कठोर सूत्रीकरणपर बहुत बल देनेसे हो सकता है कि ज्ञान बंजर हो जाय या एक दिये हुए आकारमें ही बंधकर रह जाय और व्यावहारिक रूपमें भूल और भ्रांतियां बहुत बढ़ जायं, अज्ञान-भरी रूढ़ियां, दुरुपयोग और असफलता ही हाथ लगें। अब हम इस अंधविश्वाससे बाहर निकल रहे हैं कि 'जड़-पदार्थ' ही एकमात्र तत्त्व है, इसलिये प्राचीन गुह्य-विद्या और नवीन सूत्रोंकी ओर तथा 'मन'के छिपे हुए सत्यों और शक्तियोंके वैज्ञानिक अनुसंधान और चैत्य, असामान्य और अतिसामान्य मनोवैज्ञानिक व्यापारोंके अध्ययनकी ओर लौटना संभव है, बल्कि कुछ अंशोंमें दिखायी पड़ रहा है। लेकिन अगर इसे पूर्ण होना है तो अनुसंधानकी इस दिशाके सच्चे आधार, सच्चे लक्ष्य और निर्देशन, आवश्यक प्रतिबंधों, खोजकी इस दिशाकी आवश्यक सावधानियोंको फिरसे खोजना होगा। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होना चाहिये मनकी शक्ति, प्राण-शक्ति और छिपी हुई शक्तियों और आत्माकी ज्यादा बड़ी शक्तियोंकी खोज। गुह्यविज्ञान तत्त्वतः अंतस्तलीयका, हमारे और विश्वप्रकृतिके अंतस्तलीयका विज्ञान है, साथ ही उस सबका जिसका अंतस्तलीयके साथ संबंध है, इसमें अवचेतन और अतिचेतन भी आ जाते हैं। यह आत्म-ज्ञान और विश्व-ज्ञानके लिये और उस ज्ञानकी सच्ची क्रियाशीलताके लिये इसके उपयोगका विज्ञान है।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८७५-७७)

मधुर मां, सफेद जादू क्या होता है?

हम "सफेद जादू" उस जादूको कहते हैं जो लाभदायक होता है और "अभिचार" या "काला जादू" उसे जो हानिकर होता है। पर ये तो केवल शब्द हैं, इनका कोई अर्थ नहीं होता।

जादू? ..... यह एक ज्ञान है जिसे केवल भौतिक सूत्रोंतक ही सीमित कर दिया गया है। यह उन शब्दों या संख्याओं या फिर संख्याओं और शब्दोंके संयोजन जैसा है जिन्हें कोई ऐसा व्यक्ति जिसके पास कोई आंतरिक शक्ति न भी हो, केवल उच्चारित भर कर दे या लिख दे तो अपना काम जरूर करते हैं। गुह्यविद्यामें इनका वही स्थान है जो विज्ञानमें रसायन-सूत्रोंका। तुम्हें पता ही है, विज्ञानमें, कुछ तत्त्वोंको मिलाने और उनसे नये तत्त्वोंको उत्पन्न करनेके लिये कुछ रासायनिक सूत्र होते हैं; यदि तुम्हारे पास कोई मानसिक शक्ति या प्राणिक शक्ति, यहांतक कि शारीरिक शक्ति भी न हो, यदि तुम केवल अपने उस सूत्रका अक्षरशः अनुसरण करो तो तुम्हें वांछित परिणाम मिल जाता है — याद रखना ही काफी होता है। हां तो, ध्वनियों, अक्षरों, संख्याओं और शब्दोंके संयोजनसे जिनमें अपने उचित गुणोंके कारण अमुक परिणाम प्राप्त करनेकी क्षमता होती है, गुह्यविद्यामें इसी तरहका प्रयास किया गया है। इस तरह, पहला जड़मति जो इस मार्गपर आता है वह यदि इसे सीख ले और जैसा बताया गया हो ठीक वैसे ही करे तो वह मनचाहा फल पा लेता है (या विश्वास करता है कि पा लेगा)। जब कि ... उदाहरणके लिये, हम मंत्रको लें जिसका गुह्यविद्यामें प्रयोग किया जाता है; जबतक कि मंत्र गुरुद्वारा न दिया गया हो और गुरु उस मंत्रके साथ अपनी गुह्य या आध्यात्मिक शक्ति प्रदान न करे तबतक तुम चाहे हजारों बार उस मंत्रका जाप करो, कोई असर नहीं होगा।

कहनेका मतलब यह है कि **सच्ची** गुह्यविद्यामें इसका उपयोग करनेके लिये व्यक्तिमें गुण, योग्यता, आंतरिक देन होनी चाहिये और वही सुरक्षा-कवच है। ऐरा-गैरा नौसिखिया सच्ची गुह्यविद्याका उपयोग नहीं कर सकता। और यह कोई जादू भी नहीं है, न सफेद जादू, न काला जादू और न ही सुनहला जादू, यह जादू है ही नहीं, यह आध्यात्मिक शक्ति है जो लंबी साधनाद्वारा ही प्राप्त की जा सकती है; और अंतमें, केवल भागवत कृपासे ही तुम्हें मिलती है।

इसका मतलब है कि ज्यों ही मनुष्य 'सत्य' के निकट पहुंचता है वह नीमहकीमीसे, सारे पाखंडों और मिथ्यात्वसे त्राण पा जाता है। मेरे पास

इसके बहुत-से और बहुत ही निर्णायक प्रमाण हैं। अतः जिसके पास सच्ची गुह्यविद्याकी शक्ति है उसके पास, साथ-ही-साथ, हम यूं कह सकते हैं, इस आंतरिक सत्यके बलपर, उस सत्यके बिंदु-भर प्रयोगद्वारा जादुओंको मिटा देनेकी शक्ति भी होती है, चाहे वे सफेद हों या काले हों या किसी और रंगके। कोई चीज ऐसी नहीं जो इस शक्तिका प्रतिरोध कर सके। जादू करनेवालोंको यह बात अच्छी तरह मालूम होती है, क्योंकि सभी देशोंमें, खासकर भारतमें, वे सदा इस बातमें बहुत सावधानी बरतते हैं कि अपने मंत्रोंका प्रयोग योगियों और संतोंके विरुद्ध न करें क्योंकि वे जानते हैं कि थोड़ी-सी यांत्रिक और बहुत छिछली शक्तिके साथ भेजे गये उनके ये मंत्र आध्यात्मिक जीवन बितानेवालेकी संरक्षिका सच्ची शक्तिके साथ वैसे ही टकरायेंगे जैसे दीवारके साथ गेंद टकराती है और स्वभावतः वहांसे उचटकर उनका मंत्र वापस उन्हींपर आकर गिरेगा।

योगी या संतको कुछ करनेकी जरूरत नहीं पड़ती, उसे अपने-आपको बचानेकी इच्छातक नहीं करनी पड़ती : सब कुछ अपने-आप हो जाता है। वह चेतना और आंतरिक शक्तिकी एक ऐसी अवस्थामें होता है जो हर निम्नतर चीजसे स्वतः उसकी रक्षा करती है। स्वभावतया, दूसरोंको बचानेके लिये भी वह अपनी शक्तिका स्वेच्छासे उपयोग कर सकता है। उसके वातावरणसे बुरी रचनाका इस तरह उचटना, अपने-आप उसकी रक्षा करता है, लेकिन यदि यह बुरी रचना किसी ऐसेके विरुद्ध भेजी गयी है जो उसके संरक्षणमें है या जिसने उसकी सहायता मांगी है तब वह अपने वायुमंडलकी गतिसे, अपने प्रभामंडलसे उस व्यक्तिको घेर सकता है जो जादूभरे दुष्ट टोनोंके प्रति खुला हुआ है और उचटनेकी प्रक्रिया उसी तरह होती है और काम करती है जिससे वह बुरी रचना बहुत स्वाभाविक ढंगसे भेजनेवालेके ऊपर जा गिरे। लेकिन ऐसी दशामें योगी या संत-महात्माके सचेतन संकल्पकी आवश्यकता होती है। जो कुछ हुआ हो उसकी सूचना उसे अवश्य दी जानी चाहिये और उसे हस्तक्षेप करनेका निर्णय करना चाहिये।

सच्चे ज्ञान और जादूमें यही अंतर है।

और कुछ ? .... बस, इतना ही ?

मां, क्या भौतिक विज्ञान उन्नति करते-करते अपने-आपको गुह्यविद्याकी ओर खोल सकता है ?

यह (विज्ञान) इसे "गुह्यविद्या" नहीं कहता, बस इतनी बात है। यह केवल शब्दोंका खेल है....। वे आजकल सनसनीखेज खोजें कर रहे हैं जो

गुह्यविद्या जाननेवालोंको हजारों साल पहले मालूम थीं। ये लंबा चक्कर लगाकर अब उसी चीजपर आ पहुंचे हैं।

उदाहरणार्थ, चिकित्सा-शास्त्रमें, व्यावहारिक विज्ञानमें वे नयी-से-नयी खोजोंके साथ, उन्हीं चीजोंतक, जिन्हें कुछ ऋषि बहुत, बहुत पहले जानते थे, भौंचक्के होकर, बहुत रसके साथ पहुंच रहे हैं। और तब वे उन्हें तुम्हारे सामने नये चमत्कारोंकी तरह प्रस्तुत करते हैं — पर वास्तवमें, वे, उनके वे चमत्कार, होते कुछ पुराने हैं!

अंततः वे बिना जाने गुह्य विद्याका अभ्यास कर रहे होंगे। क्योंकि, मौलिक रूपसे, ज्योंही कोई वस्तुओंके सत्यके पास पहुंचता है, चाहे वह कितना ही कम क्यों न हो, और जब कोई अपनी खोजमें सच्चा होता है, बाह्य रूपोंसे ही संतुष्ट नहीं हो जाता, सचमुच कुछ पाना चाहता है, गहरा पैठता है, बाह्य रूपोंको भेदकर उनके पीछे जाता है, तभी वह वस्तुओंके सत्यकी ओर बढ़ना शुरू करता है। और जैसे-जैसे वह इसके समीप पहुंचता जाता है वह उसी ज्ञानको पुनः प्राप्त करता है जिसे वे लोग अपने अंतर-अन्वेषणोंद्वारा बाहर लाये थे जिन्होंने भीतर पैठनेसे आरंभ किया था।

केवल पद्धति और पंथ अलग-अलग होते हैं, पर खोजी हुई वस्तु एक ही होगी, क्योंकि खोजने योग्य वस्तुएं दो नहीं हैं, वह तो एक ही है। आवश्यक रूपसे यह वही होगी। सब कुछ इसपर निर्भर है कि तुम कौन-से पथका अनुसरण करते हो। कुछ लोग तेजीसे बढ़ते हैं, कुछ धीरे-धीरे, कुछ सीधे जाते हैं; दूसरे (जैसा कि मैंने पहले कहा है) लंबा चक्कर काट-कर पहुंचते हैं; और कितना अधिक श्रम ! कितना परिश्रम किया है उन्होंने ! ... फिर भी यह है अति आदरणीय।

(मौन)

अब वे पता लगा रहे हैं कि संज्ञाहर औषधियोंकी जगह वे सम्मोहन-विद्यासे काम ले सकते हैं और उससे अनंतगुना अच्छे परिणाम होंगे। और सम्मोहनविद्या — कहनेके ढंगने इसे आधुनिक रूप दे दिया है — गुह्यविद्याका ही एक रूप है; यह उस शक्तिका बहुत सीमित, बहुत छोटा-सा रूप है जो गुह्य शक्तिकी तुलनामें रत्ती-भर है, लेकिन, फिर भी, यह है गुह्यविद्याका ही एक रूप जिसे आधुनिक शब्दोंका बाना पहना दिया गया है ताकि वह आधुनिक बन जाये। और, मुझे पता नहीं कि तुम इन चीजोंसे अवगत हो या नहीं, किंतु एक खास दृष्टिकोणसे यह

बहुत रोचक है : जैसे, सम्मोहनकी इस प्रक्रियाका प्रयोग एक ऐसे व्यक्तिपर किया गया था जिसके घावपर चमड़ी लगानी थी। पूरा विवरण तो मुझे अब याद नहीं, लेकिन उसकी बांहको टांगके साथ पंद्रह दिनतक जोड़े रखना था . . .। यदि उस व्यक्तिको पलस्तर, पट्टी आदि कई तरहकी चीजें लगाकर चलने-फिरनेसे रोक दिया जाता तो पंद्रह दिनके बाद वह अचल हो जाता — सब कुछ सख्त हो जाता और अपनी बांहको स्वतंत्र रूपसे हिलाने-डुलानेके लिये उसे हफ्तों इलाज कराना पड़ता। इस व्यक्तिका कुछ भी नहीं बांधा गया, स्थूल रूपसे कुछ भी निष्क्रिय नहीं बनाया गया — न पलस्तर, न पट्टियां — कुछ भी नहीं — व्यक्तिको केवल सम्मोहित किया गया और उससे अपनी बांहको अमुक ढंगसे रखनेके लिये कहा गया। उसने किसी प्रयास, कठिनाई और अपने संकल्पके हस्तक्षेपकी जरूरतके बिना उसे पंद्रह दिन वैसे ही रखा : यह तो सम्मोहन करनेवालेका संकल्प हस्तक्षेप करता था। यह पूर्णतया सफल हुआ; बांह इच्छित मुद्रामें रही, और जब पंद्रह दिन पूरे हो गये और सम्मोहनके प्रभावको दूर कर दिया गया और व्यक्तिसे कहा गया : "अब तुम हिल सकते हो," तो वह हिलने लगा। तो, यह प्रगति है।

वे (दोनों) जल्दी ही मिल जायेंगे, यह शब्दोंका खेल रहेगा और कुछ नहीं — और यदि कोई बहुत हठीला न हो तो वह शब्दोंके मूल्यके बारेमें सहमत हो सकता है।

मधुर मां, कहते हैं कि सम्मोहनसे सम्मोहित व्यक्तिपर, बादमें, बुरा असर पड़ता है।

नहीं, नहीं। यदि कोई दूसरेपर अपनी इच्छा लादनेके लिये सम्मोहनका प्रयोग करता है तो स्पष्ट ही वह दूसरे व्यक्तिको बहुत क्षति पहुंचा सकता है, पर हम उस सम्मोहनकी बात कर रहे हैं जिसका उद्देश्य "लोकोपकारी" कहा जा सकता है और जो निश्चित हेतुओंके लिये किया जाता है।

यदि करनेवालेकी नीयत बुरी न हो तो सब बुरे प्रभावोंसे बचा जा सकता है।

यदि तुम रसायन-सूत्रोंका बिना जाने प्रयोग करो तो तुम एक विस्फोट पैदा कर सकते हो (हंसी) और वह बहुत भयंकर होता है। उसी तरह, यदि तुम गुह्य मंत्रोंको अज्ञानपूर्वक प्रयोगमें लाओ — या अहंपूर्वक जो कि अज्ञानसे भी बदतर है — तो तुम्हें भी हानिकर परिणाम मिल सकते हैं। परंतु इसका यह मतलब नहीं कि गुह्यविद्या बुरी है या सम्मोहनविद्या बुरी

है या रसायन-विज्ञान बुरा है। तुम रसायन-विज्ञानपर इसलिये प्रतिबंध नहीं लगा देते क्योंकि कुछ लोग विस्फोट कर देते हैं! (हंसी)

गुह्यविद्या सीखनेके लिये मनुष्यमें कुछ विशेष गुण होने चाहिये जब कि विज्ञान सीखनेके लिये . . .।

लेकिन हर चीजके लिये विशेष गुण होने जरूरी हैं।

विज्ञानका ज्ञान साधारण आदमीकी पहुंचके भीतर है।

सुनो, यदि तुम कलाकार नहीं हो तो तुम तूलिका, रंग, कैन्वस लेकर वर्षों काम करते रहो, बेहिसाब पैसा बहाओ, श्रम करते रहो — तब भी वीभत्स चीजें ही चित्रित करोगे। यदि तुम संगीतज्ञ नहीं हो तो पियानो बजानेमें घंटों जुते रहो पर कभी कामकी चीज नहीं बजा सकोगे। विशिष्ट गुण तो सदैव आवश्यक होते हैं. . .। कसरतीके लिये भी; यदि तुम जन्म-जात कसरती नहीं हो तो तुम चाहे जितनी कोशिश कर लो केवल साधारण और औसत दर्जेका कुछ करनेमें ही सफल हो सकोगे। यह उससे अच्छा होगा जो बिलकुल ही चेष्टा नहीं करता, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि तुम अपने-आप ही सफल हो जाओगे। इसके अतिरिक्त, यदि हम एक कदम और आगे बढ़ें, हर एकमें असंख्य संभावनाएं होती हैं जिनका उसे भान नहीं होता और जो तभी विकसित होती है, जब, जो आवश्यक है वह किया जाय और वैसे ही किया जाय जैसे किया जाना चाहिये . . .। पर उन्नति दो प्रकारकी होती है, सिर्फ एक ही नहीं। एक प्रगति है अपनी संभावनाओंको, क्षमताओंको, दक्षताओं और गुणोंको अधिकाधिक पूर्ण बनाते जाना — आम तौरसे शिक्षाद्वारा यही प्राप्त होता है, लेकिन यदि तुम महत्तर सत्यतक जाकर कुछ और जरा अधिक गहरे विकासके लिये चेष्टा करो तो तुम अपने पहलेके गुणोंमें कुछ और नये गुण जोड़ सकोगे जो मानों तुम्हारी सत्तामें सोये पड़े थे।

तुम अपनी संभावनाओंको बहुगुणित कर सकते हो, उन्हें फैला और बढ़ा सकते हो; तुम सहसा कोई चीज ऊपर ले आ सकते हो जिसके बारेमें तुमने सोचा भी नहीं था कि तुम्हारे पास है। मैं पहले कई बार इसकी व्याख्या कर चुकी हूं। जब तुम अपने भीतर अपना चैत्य पुरुष पा लेते हो तो उसी समय काफी अप्रत्याशित रूपसे वे चीजें विकसित होती हैं जो तुम पहले बिलकुल नहीं कर सकते थे, ऐसी चीजें प्रकाशमें आती

हैं जिनके बारेमें तुम सोचतेतक न थे कि वे तुम्हारे स्वभावमें हैं। इसके भी मेरे पास अनगिनत उदाहरण हैं। इसका एक उदाहरण मैंने तुम्हें दिया था, पर एक बार फिर दोहरा रही हूं ताकि अच्छी तरह समझा सकूं।

मैं एक युवा लड़कीको जानती थी जो बहुत साधारण वातावरणमें पैदा हुई थी, उसे बहुत शिक्षा भी नहीं मिली थी, और जो टूटी-फूटी-सी फ्रेंच लिख लेती थी, उसने अपनी कल्पनाको भी नहीं साधा था और साहित्यक रुचि तो थी ही नहीं : मानों उसमें वह संभावना तो थी ही नहीं। हां तो, तब उसे अपने चैत्य पुरुषके साथ संपर्ककी आंतरिक अनुभूति प्राप्त हुई और जबतक वह संपर्क जीवंत और प्रत्यक्ष रहा, उसने अपूर्व चीजें लिखीं। जब वह उस अवस्थासे पुनः साधारण अवस्थामें आ गिरी तो उसे दो वाक्य भी ठीक तरहसे जोड़ने नहीं आते थे ! और मैंने उन दोनों अवस्थाओंको स्वयं देखा है।

प्रतिभा हर एकमें होती है — लेकिन व्यक्तिको पता नहीं होता।

हमें इसे सामने ले आनेका तरीका ढूंढना होगा . . .। पर यह वहां पड़ा सो रहा है — यह अपने-आपको प्रकाशित करनेसे बढ़कर और कुछ नहीं मांगता। हमें इसके लिये द्वार खोल देने होंगे।

१७ सितम्बर, १९५८

"उच्चतम ज्ञानकी ओर बुद्धिके द्वारा पहुंचना और मनका उसपर अधिकार करना, मनुष्यके अंदर प्रकृतिकी इस क्रियाके लिये अनिवार्य सहायता है। साधारणतः हमारे ऊपरी तलपर तर्क-बुद्धि ही मनुष्यके चिंतन, निरीक्षण और कर्मका मुख्य उपकरण है। यह निरीक्षण करती, समझती और चीजोंको व्यवस्थित करती है। 'आत्मा'की किसी भी समग्र प्रगतिमें केवल अंतर्भास, अंतर्दृष्टि, अंतःसंवेद, हृदयकी भक्ति, 'आत्मा'की चीजोंके गंभीर और प्रत्यक्ष जीवन-अनुभवका विकास काफी नहीं है, बुद्धिको भी आलोकित और संतुष्ट करना होगा, हमारे सोच-विचार करने वाले मनको भी हमारी प्रकृतिके इस ऊंचे-से-ऊंचे विकास और क्रियाके लक्ष्य, प्रक्रिया और सिद्धांतों और इसके

पीछे विद्यमान उसके सत्यको समझने और उसके बारेमें युक्ति-युक्त और व्यवस्थित विचार बनानेमें सहायता करनी होगी। आध्यात्मिक उपलब्धि और अनुभव, आंतर्भासिक और साक्षात् ज्ञान, आंतरिक चेतनाकी वृद्धि और आंतरात्मिक संवेद इस विकासके निश्चित रूपसे उचित साधन हैं किंतु मननशील और आलोचक बुद्धिकी सहायता भी बहुत महत्त्व रखती है। बहुत-से लोग इस बुद्धिके बिना काम चला सकते हैं क्योंकि उनका आंतरिक यथार्थताओंके साथ सीधा और साक्षात् संपर्क होता है और वे अनुभव और अंतर्दृष्टिसे संतुष्ट रहते हैं, फिर भी इस विकासकी समग्र गतिमें बुद्धिका भाग लेना अनिवार्य है। यदि परम सत्य आध्यात्मिक 'परमार्थ तत्त्व' है तो मनुष्यकी बुद्धिको यह जाननेकी जरूरत है कि उस मूल 'सत्य'का स्वरूप क्या है और बाकी सत्ताके साथ, हमारे साथ, विश्वके साथ उसके संबंधका सिद्धांत तत्त्व क्या है। स्वयं बुद्धि यथार्थ आध्यात्म तत्त्वके साथ हमारा नाता नहीं जोड़ सकती, लेकिन वह 'आत्मा'के सत्यको मानसिक रूप देकर इस काममें मदद कर सकती है। यह मानसिक रूप मनके सामने उस सत्यकी व्याख्या करता है और उस सत्यकी अधिक साक्षात् खोजमें भी काम आ सकता है। बुद्धिकी इस सहायताका बहुत बड़ा महत्त्व है।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८७७-७८)

मधुर मां, यहां श्रीअरविन्द लिखते हैं: "उच्चतम ज्ञानकी ओर बुद्धिके द्वारा पहुंचना, और मनका उसपर अधिकार करना..." यह कैसे संभव है?

जो कुछ हमारे साथ आध्यात्मिक जगत्में होता है उसे मानसिक रूप देने-की प्रवृत्ति हमारे अंदर हमेशा रहती है; हम उसे अपने-आपको समझाना चाहते हैं, उससे निष्कर्ष निकालते हैं, अनुभूतिको कर्मके नियममें बदल देते हैं, जो कुछ हुआ है उससे मानसिक रूपमें लाभ उठाना चाहते हैं ताकि अनुभूतिको व्यावहारिक उपयोगितामें बदला जा सके। इसीको श्रीअरविंद कहते हैं "अनुभूतिपर मनका अधिकार"। कहा जा सकता है कि यह यंत्रवत् होता है। दुर्भाग्यसे, अनुभूतिका सर्वोत्तम भाग हमेशा छूट जाता है; और यदि कोई उसे ज्यों-का-त्यों बनाये रखना भी चाहे

तो उसके लिये उस अवस्थामें रहना आवश्यक होगा जहां अनुभूतिको मानसिक रूप नहीं दिया जाता, यदि कोई बाह्य जगत्में रहे तो यह व्यावहारिक रूपमें असंभव होगा। इसीलिये जो मनके हस्तक्षेपके बिना अपनी आध्यात्मिक अनुभूतिका आनंद लेना चाहते थे वे समाधिकी अवस्थामें ही रहा करते थे और बड़ी सावधानीके साथ कर्मके धरातल-पर उतरनेसे बचते थे। लेकिन यदि कोई जीवनका रूपांतर करना चाहता है, यदि कोई चाहता है कि मन, प्राण, शरीर और दैनिक कार्यों-पर आध्यात्मिक अनुभूतिका प्रभाव पड़े तो इसे मानसिक रूप देने और अनिवार्य ह्रासको स्वीकारनेसे तबतक नहीं बचा जा सकता जबतक कि स्वयं मन ही रूपांतरित न हो जाय और अनुभूतिको विकृत किये बिना उसमें भाग लेनेके योग्य न बन जाय।

हम जो करना चाहते हैं वह और भी कठिन है, क्योंकि हम चाहते हैं कि प्राण भी रूपांतरित हो और अनुभूतिको विकृत किये बिना उसमें भाग ले सके और अंतमें, स्वयं भौतिक शरीरतक आध्यात्मिक क्रियासे रूपांतरित हो जाय और अनुभूतिमें बाधक न बना रहे।

साधारण विचारके लिये रूपांतरकी बातको स्वीकार करना सबसे अधिक कठिन है, क्योंकि इसका मतलब है लगभग उसी क्षमताको बदल डालना। इस रूपांतरको संभव बनानेके लिये सब क्रियाओंको बदलना होगा, पर हम इस क्षमता और इसकी क्रियाको अभिन्न रूपमें देखनेके इतने अभ्यस्त हैं कि हम अपने-आपसे पूछते हैं कि हम जिस तरह सामान्यतया सोचते हैं उससे अलग ढंगसे भी सोचना संभव है क्या?

यह तभी संभव है जब किसीको मानसिक स्तरपर पूर्ण नीरवताकी अनु-भूति हो चुकी हो और आध्यात्मिक शक्ति अपनी ज्योति और बलके साथ मनमेंसे होकर नीचे उतर आये और इससे विश्लेषण, निगमन और तर्कणा-के साधारण तरीकेका अनुसरण किये बिना, सीधा काम करा सके। इन सब क्षमताओंको, जो आम तौरसे मनकी प्राकृतिक क्षमताएं समझी जाती हैं, रोक देना चाहिये, और अपनी अभिव्यक्तिके लिये इन उपायोंसे गुजरे बिना ही आध्यात्मिक 'ज्योति', 'ज्ञान' और 'शक्ति' को इन्हें सीधी अभिव्यक्तिकी धारामें रूपांतरित कर सकना चाहिये।

मन अपने बाह्यतम रूपमें कर्मका साधन है, व्यवस्थित और कार्यान्वित करनेका यंत्र। यह विचारोंको क्रमसे सजाता है, उनका आपसमें संबंध जोड़ता है, उनसे कामके लिये निष्कर्ष निकालता है और इस कामको प्रेरणा और आवेग देता है। इस व्यवस्था-शक्ति और कामकी प्रेरणा और आवेगको ही सीधा आध्यात्मिक शक्तिद्वारा उत्पन्न किया जा सकता

है जो मानसिक चेतनापर अधिकार कर लेती है और विश्लेषण, निगमन और तर्कणाकी वे प्रक्रियाएं आवश्यक नहीं रह जातीं। अंतर्भासमें ये चीजें पहलेसे ही कुछ-कुछ इसी ढंगसे होती हैं; लेकिन आध्यात्मिक हस्तक्षेप मानों अति अंतर्भास बन जाता है, अनुभवके अंतर्दर्शनकी, तादात्म्यद्वारा प्राप्त ज्ञानकी सीधी अभिव्यक्ति हो जाता है।

(मौन)

इस रूपांतरकी कई अवस्थाएं होती हैं, इनमें पहली अवस्थाएं इस क्रियाकी एक तरहकी मानसिक नकलें होती हैं। मानसिक पृष्ठभूमिपर विश्लेषण, तर्कणा, निगमन और निष्कर्षोंको सूत्रबद्ध करनेकी सारी प्रक्रिया लगभग अनायास ही हो जाती है और ऐसा परिणाम हमारे सम्मुख ला देती है कि लगता है कि यह अंतर्भास है, लेकिन अब भी यह होता है उस सारे कार्यका परिणाम ही जो बड़ी तेजीसे हुआ है और, जैसा कि मैंने कहा था, हुआ एक ऐसी पृष्ठभूमिपर जिसका हमें बहुत भान नहीं होता, यहांतक कि हम आरंभिक बिंदु और परिणाम देखते हैं, बीचकी सारी प्रक्रियाका, मानसिक गतिविधिके पूरे विकासका विस्तारसे अनुसरण नहीं करते। जिन लोगोंका मन बहुत तेज होता है, जो चीजोंको बड़ी तेजीसे पकड़ सकते हैं, जिनकी मानसिक क्रिया बहुत तेजीसे और तुरत-फुरत चलती है वे ऐसी छाप छोड़ सकते हैं कि उन्हें अंतर्भास प्राप्त है, पर यह केवल बाहरी रूप और सच्चे अंतर्भासका प्रायः अनुकरण होता है। अंतर्भास शुरूसे ही सीधा अंतर्दर्शन होता है, ऐसी चीज, जिसे तर्कणा और निगमनकी जरूरत नहीं पड़ती। अंतर्भासके द्वारा पहलेसे ही प्रत्यक्ष ज्ञानकी अभिव्यक्ति हो जाती है।

परंतु वहांतक आनेसे पहले, जो भी अनुभूतियां होती हैं उन्हें बाह्य चेतनातक पहुंचनेके लिये निरीक्षण, विश्लेषण और निगमनके सामान्य मानसिक तरीकेसे गुजरना पड़ता है और तब . . . अनुभूतिका सार-तत्त्वतक तिरोहित हो जाता है, रह जाता है केवल बड़ा शुष्क भूसे-जैसा कुछ जो उपलब्ध करनेकी अपनी पूरी शक्ति प्रायः गंवा चुका होता है — प्रायः, प्रायः गंवा चुका होता है।

किंतु जिन लोगोंकी बौद्धिक क्रिया बहुत प्रबल होती है वे हर चीजको, सब आंतरिक अनुभूतियोंको पकड़ने और उन्हें सूत्रबद्ध करना शुरू करनेकी लगभग अनिवार्य आवश्यकतासे बंधे होते हैं। इसके साथ यदि उनमें व्यक्त करनेकी भी क्षमता हो तो वे उन्हें शब्दों और वाक्योंका जामा पहनानेकी कोशिश करते हैं; और जब कोई इन अनुभूतियोंको जीवनमें उतार

लेता है और उतरती रेखाको जान जाता है तो वह देखता है कि हर स्तर-पर अनुभूतिकी गहन सत्यता सामने रहने और समूची सत्ताका परिचालन करनेके बजाय पीछे हट रही है, पृष्ठभूमिमें विलीन हो रही है — यह इस तरह पीछे जाती है (संकेत) और बाहर रह जाता है केवल कुछ . . . जो एक तरहका शुष्क और बेजान अनुकरण होता है। यह चाहे जोशीले शब्दोंमें व्यक्त किया गया हो, फिर भी उस 'वस्तु' की तुलनामें जो वह, अपने-आपमें, अपने गहन सत्यमें थी, यह इतना सिकुड़ा-सिमटा, कटा हुआ होता है . . . । अनुभूतिका सच्चा आनंद, सच्चा सौंदर्य, आंतरिक उत्साह, अनुभूतिकी वह अद्‌भुत उष्णता, सब बहुत दूर, पीछे चले जाते हैं। तुम इसे पकड़े रहना चाहते हो लेकिन यह तुमसे बच निकलता है। और सूत्रबद्ध करनेकी यह क्षमता बड़ी मंहगी पड़ती है।

मां, यहांके जीवनमें "मनके विकास" से हमें क्या समझना चाहिये ? और इसकी उपयोगिता क्या है ?

मुझे लगता है कि मैं एक बार पहले भी तुम्हें यह समझा चुकी हूं। मेरा ख्याल है कि "शिक्षा" पर लिखे लेखोंमें मैंने इसकी विस्तृत व्याख्या की है। यह शरीरके लिये शारीरिक शिक्षाके परिणामोंसे बिलकुल मिलता-जुलता है।

हमारे पास अंग हैं, पेशियां हैं, नसें हैं, वस्तुतः वह सब है जिनसे मिलकर शरीर बनता है; यदि हम उन्हें विशिष्ट विकास और विशिष्ट प्रशिक्षण न दें तो ये सब शरीरकी 'शक्ति' को यथाशक्य व्यक्त तो करेंगे, परंतु वह अभिव्यंजना होगी निपट भद्दी और अधूरी। निस्संदेह, एक शरीर जो शारीरिक शिक्षाके अत्यंत पूर्ण और यथोचित तरीकोंसे प्रशिक्षित किया गया है, वह ऐसी चीजें करनेमें समर्थ होगा जो इसके बिना कभी न कर पाता। मेरा ख्याल है कि कोई इस बातसे इंकार नहीं कर सकता। हां, तो मनके लिये भी यही बात लागू होती है। तुम्हारे पास एक मानसिक यंत्र है जिसमें अनेक संभावनाएं हैं, अनेक क्षमताएं हैं, लेकिन ये संभावनाएं और क्षमताएं छिपी हुई हैं, इन्हें विशिष्ट शिक्षणकी, विशिष्ट रूपसे सधानेकी आवश्यकता है ताकि ये 'ज्योति'को व्यक्त कर सकें। यह निश्चित है कि साधारण जीवनमें दिमाग मानसिक चेतनाकी बाह्य अभिव्यंजनाका आसन है, तो, यदि दिमाग विकसित न हो, यदि यह अनगढ़ रहे तो ऐसी असंख्य चीजें हैं जो व्यक्त नहीं की जा सकेंगी, क्योंकि अपने-आपको व्यक्त करनेके लिये उनके पास आवश्यक यंत्र नहीं होगा। यह एक वाद्ययंत्रकी तरह

होगा जिसमें अधिकतर स्वर नहीं हैं, वह कुछ मोटा सादृश्य तो उत्पन्न कर देगा, पर यथार्थ कुछ भी नहीं।

मानसिक शिक्षण, बौद्धिक शिक्षा तुम्हारे मस्तिष्ककी बनावटको बदल देती है, काफी हदतक बढ़ा देती है और परिणामस्वरूप अभिव्यंजना अधिक समृद्ध और यथार्थ हो उठती है।

यदि तुम जीवनसे भागना चाहो और अनिर्वचनीय शिखरोंपर चढ़ना चाहो तो यह जरूरी नहीं है, पर यदि तुम अपनी अनुभूतिको बाह्य जीवनमें मूर्त रूप देना चाहो तो यह अपरिहार्य है।

मां, आपने कहा था कि यदि कोई विश्लेषण, निगमन आदिकी क्षमताओंको बहुत अधिक विकसित कर ले तो वे आध्यात्मिक अनुभूतियोंके लिये बाधक बन जाते हैं, है न?

यदि उनपर नियंत्रण न हो, प्रभुत्व न हो तो, हां। लेकिन यह जरूरी नहीं है। जरूरी नहीं। शायद यह नियंत्रणको थोड़ा दुःसाध्य बना देता है, क्योंकि स्वभावतः, अनगढ़ सत्ताकी अपेक्षा व्यक्तिभावापन्न सत्तापर प्रभुत्व पाना अधिक कठिन है — अधिक आत्म-भावापन्न हो जानेसे अहं अधिक घनीभूत और आत्म-संतुष्ट भी हो जाता है, होता है न ? . . . पर यदि यह मान लें कि इस कठिनाईपर विजय पा ली गयी है, तो अनगढ़ और अशिक्षित स्वभावमें प्राप्त फलकी अपेक्षा अतिविकसित व्यक्तिमें प्राप्त फल अनंतगुना श्रेष्ठ होगा। मैं यह नहीं कह रही कि रूपांतरकी प्रक्रिया, बल्कि उत्सर्गकी प्रक्रिया कठिनतर नहीं होगी, लेकिन एक बार यह हस्तगत हो जाय तो परिणाम कहीं अधिक उदात्त होगा।

वाद्य-यंत्रोंके साथ इसकी तुलना आसानीसे की जा सकती है, एक वह हो जिसमें गिने-गिनाये परदे हों और दूसरेमें उससे दस गुने। हां, तो उस वाद्यको बजाना शायद ज्यादा आसान होगा जिसमें केवल चार या पांच स्वर हों, लेकिन स्पष्ट ही, उस वाद्यसे निकलनेवाला संगीत श्रेष्ठतर होगा जिसमें पूरे परदे हों।

एकाकी वाद्यके बजाय आरकेस्ट्राके साथ तुलना करके इसे और अच्छी तरह समझा जा सकता है। एक मानव प्राणी, एक पूर्ण विकसित व्यक्ति उन महान् वृन्दवाद्योंमेंसे एक वृन्दवाद्यसे बहुत मिलता-जुलता है जिसमें सैंकड़ों वादक होते हैं। स्पष्ट ही, उन सबको नियंत्रित और संचालित करना बड़ा कठिन है पर परिणाम शानदार हो सकता है।

२४ सितम्बर, १९५८

"हमारा सामान्य विचारशील मन सामान्य आध्यात्मिक सत्य, उसके निरपेक्ष स्वरूपके तर्क और उसकी सापेक्षताओंके तर्क, उनके आपसी संबंध और उनके एकके दूसरेमें बदल जानेके मामलेमें ही लगा रहता है और यह देखता है कि सत्ताके आध्यात्मिक सिद्धांतके मानसिक परिणाम क्या हैं...। (बौद्धिक रूपसे समझनेकी) यह आवश्यकता जिस साधनसे पूरी हो सकती है, हमारे मनकी प्रकृतिने हमें जो दिया है, वह है दर्शन, और इस क्षेत्रमें वह आध्यात्मिक दर्शन होना चाहिये। पूर्वमें ऐसे बहुतेरे शास्त्र प्रकट हुए हैं, प्रायः हमेशा जहां कहीं पर्याप्त आध्यात्मिक विकास हुआ है वहीं, उसे बुद्धिसंगत सिद्ध करनेके लिये एक दर्शन उठ खड़ा हुआ है। शुरूमें अंतर्भासिक दर्शन और अंतर्भासिक अभिव्यक्ति ही इसकी प्रक्रिया थी जैसी उपनिषदोंके अगाध विचार और गंभीर भाषामें है। लेकिन बादमें समालोचनात्मक पद्धति और दृढ़ तर्क-प्रणाली और तार्किक संगठनका विकास हुआ। पीछे आनेवाले दर्शन आंतरिक उपलब्धियोंके बौद्धिक प्रतिपादन[1] या तार्किक रूपमें उसको उचित सिद्ध करनेके लिये थे या उन्होंने अपने-आपको उपलब्धि और अनुभूतिके लिये मानसिक आधार और क्रमबद्ध पद्धति प्रदान की।[2] पश्चिममें जहां चेतनाकी समन्वयात्मक प्रवृत्तिका स्थान विश्लेषण करने और अलग करनेकी वृत्तिने ले लिया वहां लगभग शुरूसे ही आध्यात्मिक प्रेरणा और बौद्धिक तर्क एक-दूसरेसे अलग हो गये। दर्शन-शास्त्र शुरूसे ही चीजोंकी शुद्ध बौद्धिक और युक्तिसंगत व्याख्याकी ओर मुड़ गया। फिर भी "पाइथागोरियन," "स्टोइक" और "एपीक्यूरियन" जैसे दर्शन आये जो केवल विचारके लिये नहीं, बल्कि जीवन-संचालनके लिये भी क्रियात्मक थे। उन्होंने सत्ताकी आंतरिक पूर्णताके लिये एक अनुशासन और एक प्रयासका विकास किया जो बादके ईसाई या नवीन "पेगन" धर्मकी विचार-रचनाओंमें उस ऊंचे आध्यात्मिक स्तरतक जा पहुंचे जहां पूरब और पच्छिम एक साथ मिल गये। लेकिन इसके बाद सारी

---

[1] जैसे, भगवद्गीता। [2] जैसे, पातंजल योग-दर्शन।

चीजको बौद्धिक रूप देनेका काम पूरा हो गया और आत्माका और उसकी सक्रियता तथा जीवन और उसकी ऊर्जाओंके साथ दर्शनका संबंध या तो कट गया या इतना कम हो गया जितना तात्त्विक विचार अमूर्त और गौण प्रभावके द्वारा जीवन और कर्मको प्रभावित कर सकता है। पश्चिममें धर्मने दर्शनको नहीं, पंथोंके धर्मशास्त्रको अपना सहारा बनाया। कभी-कभी व्यक्ति-विशेषकी प्रतिभाके बलपर आध्यात्म दर्शन प्रकट हुआ है, लेकिन पश्चिममें वह पूर्वकी तरह आध्यात्मिक अनुभव और साधनाके हर महत्त्वपूर्ण मार्गका आवश्यक साथी नहीं रहा है। यह सत्य है कि आध्यात्मिक विचारका दार्शनिक विकास पूरी तरह अनिवार्य नहीं है, क्योंकि आत्माके सत्योंतक अंतर्भास और ठोस आंतरिक संपर्कके द्वारा सीधा और पूरी तरह पहुंचा जा सकता है। यह कहना भी आवश्यक है कि आध्यात्मिक अनुभूतिपर बुद्धिका आलोचनात्मक नियंत्रण बाधक और अविश्वसनीय हो सकता है क्योंकि यह उच्चतर आलोकके क्षेत्रपर डाला गया निम्नतर प्रकाश है। सच्ची नियंत्रण-शक्ति आंतरिक विवेक, चैत्य संवेद और कौशल, ऊपरसे पथ-प्रदर्शनके उत्कृष्ट हस्तक्षेप या नैसर्गिक और ज्योतिर्मय आंतरिक पथ-प्रदर्शनमें होती है। लेकिन यह विकास-धारा भी जरूरी है क्योंकि आत्मा और बौद्धिक तर्कके बीच एक पुल होना चाहिये। हमारे समग्र आंतरिक विकासके लिये आध्यात्मिक या कम-से-कम आध्यात्मीकृत बुद्धिकी जरूरत है। उसके बिना यदि दूसरा ज्यादा गहरा पथ-प्रदर्शन न मिले तो आंतरिक क्रिया अव्यवस्थित, असंयत, अस्त-व्यस्त और अनाध्यात्मिक तत्त्वोंसे मिश्रित या एकदेशीय या अपनी उदारतामें अपूर्ण हो सकती है। 'अज्ञान'को समग्र 'ज्ञान'में रूपांतरित करनेके लिये हमारे अंदर एक ऐसी आध्यात्मिक बुद्धिका विकास आवश्यक है जो उच्चतर प्रकाशको लेकर हमारी प्रकृतिके सभी भागोंमें प्रवाहित कर सके। यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण मध्यवर्ती आवश्यकता है।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८७८-८०)

इसमें काफी सामग्री है, इसपर कम-से-कम एक दर्जन प्रश्न पूछे जा सकते हैं!

(एक बच्चेसे) तो, बारहमेंसे पहला?

(मौन)

मेरे पास एक प्रश्न आया है, परंतु शाब्दिक है, अतः बहुत रोचक नहीं है। यह प्रारंभका वाक्यांश है: "सत्ताके आध्यात्मिक सिद्धांतके मानसिक परिणाम" का क्या अर्थ है ?

यह प्रश्न शायद उस व्यक्तिने पूछा है जिसे "सिद्धांत" का अर्थ मालूम नहीं।

सिद्धांतका अर्थ है उस सत्यका प्रतिपादन जो तर्कद्वारा प्राप्त हुआ हो। गणितमें और अन्य सभी बाहरी विज्ञानोंमें इस शब्दका प्रयोग काफी ठोस रूपमें किया जाता है। दार्शनिक दृष्टिकोणसे भी यह वही चीज है। प्रस्तुत दृष्टांतमें, जीवनके आध्यतिमक सिद्धांतका प्रतिपादन यों किया जा सकता है: सापेक्षताओंमें 'निरपेक्ष' या अनेकतामें 'एकता'। लेकिन "मानसिक परिणाम" की व्याख्याके लिये हमें दर्शन-शास्त्रकी शरण लेनी होगी और मेरा ख्याल है कि तुम उसके लिये काफी कच्चे हो। और वास्तवमें उसका अर्थ समझनेके लिये, व्यक्तिको ऐसा लगता है कि दर्शन-शास्त्र उस स्पर्श-रेखाकी तरह सदा सत्यके छोरपर ही रहता है जो पास आती है, और पास आती है पर कभी छूती नहीं, कुछ है जो बच निकलता है। और सत्यमें यह कुछ ही सब कुछ है।

इन चीजोंको समझनेके लिये ... केवल अनुभूति — इस सत्यको **जीना** आवश्यक है। साधारण इंद्रियोंके तरीकेसे इसे अनुभव करना नहीं, बल्कि अपने भीतर सत्यका अनुभव करना, एक ही समयमें दो अवस्थाओंके ठोस अस्तित्वका अनुभव करना जो विरोधी होते हुए भी साथ रहती हैं। सभी शब्द केवल उलझनें पैदा करते हैं। बस, अनुभूति ही उस 'वस्तु' को ठोस वास्तविकता प्रदान करती है: 'निरपेक्ष' और सापेक्षका, 'एक' और 'अनेक' का युगपत् अस्तित्व, ऐसी दो अवस्थाएं नहीं जो एक-के-बाद-एक आती हों और एक-दूसरीसे उत्पन्न होती हों, बल्कि एक ऐसी अवस्था है जो दो विरोधी तरीकोंसे ... उस स्थितिके अनुसार देखी जाती है, जो तुम 'सद्वस्तु' के विषयमें अपनाते हो।

कोरे शब्द अनुभूतिको झुठला देते हैं। शब्दोंमें बोलनेके लिये व्यक्तिको एक पग पीछे नहीं, बल्कि एक पग नीचे जाना पड़ता है और सारभूत सत्य छूट जाता है। सिर्फ पथके रूपमें उनका उपयोग करना चाहिये जो उस 'वस्तु' तक पहुंचनेके लिये प्रायः सुलभ हैं जिसे सूत्रबद्ध नहीं किया जा सकता। और इस दृष्टिकोणसे कोई एक सूत्रबद्धता दूसरीसे अच्छी नहीं; सर्वोत्तम वह है जो सबको स्मरण रखनेमें सहायता करती है, अर्थात्, विचारमें कृपाका हस्तक्षेप किस तरहसे घनीभूत हुआ।

शायद कोई भी दो रास्ते बिलकुल एक जैसे नहीं होते, शायद हर एक-

को अपना रास्ता स्वयं ढूंढना चाहिये। पर यहां गलती नहीं करनी चाहिये, यह तर्क-बुद्धिद्वारा "ढूंढ़ना" नहीं है, यह अभीप्साद्वारा "ढूंढना" है: यह अध्ययन और विश्लेषणद्वारा नहीं, बल्कि अभीप्साकी तीव्रता और अंदरसे खुलनेकी सच्चाईद्वारा ढूंढना है।

जब कोई सच्चाई और आध्यात्मिक 'सत्य'की ओर अनन्य भावसे मुड़ा हुआ हो, इसे भले ही कोई नाम दे लो, जब बाकी सब कुछ गौण हो जाता है, जब केवल वही अत्यावश्यक और अपरिहार्य हो तब, उत्तर पानेके लिये उत्कट, निरपेक्ष, पूर्ण एकाग्रताका **एक पल** मात्र काफी होता है।

ऐसी अवस्थामें अनुभूति पहले आती है, सही रूपमें निरूपित सूत्रबद्धता तो बादमें, फलस्वरूप और स्मृतिस्वरूप की जाती है। इस तरीकेमें गलतीकी गुंजाइश नहीं रहती। सूत्रबद्धता कम या अधिक यथातथ हो सकती है, उसका कोई महत्त्व नहीं जबतक कि तुम उसे रूढ़ सिद्धांत ही न बना लो।

यह तुम्हारे लिये अच्छा है, बस इतनेकी ही जरूरत है। यदि तुम इसे दूसरोंपर थोपना चाहो, चाहे वह कुछ भी हो और अपने-आपमें पूर्ण ही क्यों न हो, तो वह अनुचित चीज हो जाती है।

इसीलिये धर्म सदा भूल करते आये हैं — सदा — क्योंकि वे अनुभूतिकी अभिव्यंजनाको मानक रूप दे देना चाहते हैं और उसे अकाटय सत्यके रूपमें सबपर लादना चाहते हैं। जिसे अनुभूति हुई उसके लिये वह सच्ची, अपने-आपमें पूर्ण और विश्वासोत्पादक थी। उसके लिये अपने बनाये हुए सूत्र भी अत्युत्तम थे। लेकिन उन्हें दूसरोंपर लादनेकी इच्छा रखना एक मौलिक भूल है जिसके परिणाम बिलकुल अनर्थकारी होते हैं, जो सदा, सदा सत्यसे दूर, बहुत दूर ले जाती है।

अतः सब धर्म, चाहे वे कितने ही सुन्दर क्यों न हों, मनुष्यको सदा बुरी-से-बुरी अतियोंकी ओर ले गये। धर्मके नामपर किये गये सारे अपराध, सारे आतंक-भरे नृशंस कार्य मानव इतिहासके सबसे ज्यादा काले धब्बोंमेंसे हैं और यह है केवल इसी छोटी-सी मौलिक भूलके कारण: जो एक व्यक्तिके लिये ठीक हो उसे समष्टि या समूहके लिये ठीक माननेकी इच्छा रखना।

(मौन)

रास्ता दिखा देना चाहिये और द्वार खोल देना चाहिये, पर हर एकको राहपर **चलना** होगा, द्वारोंसे गुजरना होगा और अपनी व्यक्तिगत सिद्धिके लिये खुद ही रास्ता बनाना होगा।

एकमात्र सहायता जो कोई ले सकता है और लेनी चाहिये वह है 'कृपा'-की सहायता जो हर एकमें उसकी सच्ची आवश्यकताके अनुसार, अपने-आपको व्यक्त करती है।

१ अक्तूबर, १९५८

मधुर मां, नैतिक पूर्णताका आदर्श क्या है ?

नैतिक पूर्णताएं हजारों हैं। हर एकका नैतिक पूर्णताका अपना-अपना आदर्श होता है।

सामान्यतया, जिसे नैतिक पूर्णता कहा जाता है वह है उन सब गुणोंका होना जो नैतिक समझे जाते हैं: किसी दोषका न होना, कभी अनुचित न करना, कभी भूल न करना, सदा अपनी ऊंची-से-ऊंची स्थितिमें रहना, सब सद्गुणोंका होना... यानी, उच्चतम मानसिक कल्पना और भावनाको चरितार्थ करना: सब गुणोंको (अनेक गुण हैं, हैं न ?), सब सुकृतोंको, उस सबको जो मनुष्यकी परिकल्पनामें सुन्दरतम है, कुलीनतम है, सबसे सच्चा है, और फिर उन्हें सर्वांग रूपसे जीवनमें उतारना, अपने सभी काम उसीसे परिचालित होने देना, सब गतिविधियां, सब प्रक्रियाएं, सब भावनाएं, सब कुछ...। यह है पूर्णताके नैतिक आदर्शको जीना। मनुष्यके मानसिक विकास-क्रमका यह शिखर है।

इसे करनेवाले लोग बहुत नहीं हैं...। लेकिन फिर भी ! कुछ हुए हैं और कुछ अब भी हैं। आम तौरसे लोग इसे ही आध्यात्मिक जीवन मानते हैं। जब वे इस तरहके किसी आदमीको देखते हैं तो कह उठते हैं: "ओह ! यह महान् आध्यात्मिक पुरुष है।" वह एक बड़ा संत हो सकता है, एक बड़ा साधु हो सकता है, लेकिन आध्यात्मिक पुरुष **नहीं** हो सकता।

फिर भी, यह आदर्श है बहुत अच्छा और इसे प्राप्त करना बहुत कठिन है ! और आंतरिक विकास-क्रममें ऐसा समय आता है जब इसके लिये प्रयत्न करना और इसे उपलब्ध करना बहुत आवश्यक होता है। यह तो स्पष्ट ही है कि अपने आवेगों और अज्ञानमयी बाह्य प्रतिक्रियाओंसे परिचालित होनेकी अपेक्षा यह अनंतगुना उदात्त है। कुछ अर्थोंमें यह अपने स्वभावपर प्रभुत्व पाना है। बल्कि यह एक अवस्था है जिसमेंसे मनुष्यको गुजरना

ही पड़ता है, क्योंकि यह वह अवस्था है जब मनुष्य अपने अहंका स्वामी बनना शुरू करता है, जब वह इसे झाड़ फेंकनेको तैयार होता है — तब भी यह होता तो है पर इतना दुर्बल हो जाता है कि अंत समीप ही दीखता है। दूसरी तरफ जानेके लिये यह अंतिम पड़ाव होता है और निश्चय ही, यदि कोई इस पड़ावसे गुजरे बिना दूसरी तरफ जानेकी कल्पना करता है तो वह भारी भूल कर बैठनेका गुरुतर जोखिम उठाता है . . . अपनी निचली प्रकृतिके सम्बन्धमें पूर्ण दुर्बलताको पूर्ण स्वतंत्रता समझ बैठता है।

नैतिक पूर्णताके इस आदर्शको कुछ समयके लिये, चाहे वह कितना ही थोड़ा क्यों न हो, उपलब्ध किये बिना मनोमय पुरुषसे (चाहे वह पूर्णतम और सर्वाधिक असाधारण ही क्यों न हो) सच्चे आध्यात्मिक जीवनकी ओर जाना लगभग असंभव है। ऐसे बहुत लोग हैं जो पथको छोटा बनानेकी चेष्टा करते हैं और बाह्य प्रकृतिकी सब कमजोरियोंपर विजय पानेसे पहले अपनी आंतरिक स्वतंत्रताका दावा करना चाहते हैं — वे अपनेको छलनेका भारी खतरा मोल लेते हैं। सच्चा आध्यात्मिक जीवन और पूर्ण स्वतंत्रता उच्चतम नैतिक उपलब्धियोंसे कहीं अधिक उच्चतर चीजें हैं, लेकिन तुम्हें उस स्वतंत्रता नामकी चीजसे अवश्य बचना चाहिये जो केवल आत्म-रंजन और सब नियमोंकी अवज्ञा है।

मनुष्यको ऊपर उठना चाहिये, हमेशा ऊपर, और ऊपर; उन्नततम मानवजातिने जो कुछ प्राप्त किया है उससे कम उन्नत नहीं।

सच्ची आध्यात्मिकतामें, उस आध्यात्मिकतामें, जो सीमाओंसे बंधी नहीं है, जो 'अनंतता' और 'शाश्वतता'में सर्वांगीण रूपसे वास करती है, प्रवेश पानेके लिये अपने आध्यात्मिक पंख खोलनेसे पहले और उन सब चीजोंको ऊपरसे इस प्रकार देखनेसे पहले कि वे अभीतक व्यक्तिगत रूपसे संबंधित हैं, मनुष्यमें अनायास ही वह सब बन जानेकी क्षमता होनी चाहिये जिसे मनुष्यजातिने उच्चतम, सुन्दरतम, पूर्णतम, अधिक-से-अधिक अनासक्त, अधिक-से-अधिक विस्तृत और अधिक-से-अधिक श्रेष्ठ माना है।

८ अक्तूबर, १९५८

मधुमयी मां, क्या मानव और अतिमानवके बीच कोई मध्यवर्ती अवस्थाएं नहीं होंगी?

शायद अनेक होंगी।

मानव और अतिमानव? तुम नयी अतिमानसिक जातिकी बात तो नहीं कर रहे, कर रहे हो क्या? क्या सचमुच तुम उसीकी बात कर रहे हो जिसे हम अतिमानव कहते हैं, अर्थात्, मनुष्य, जो मानवी ढंगसे जन्मा है और अपनी भौतिक सत्ताका, जो उसे साधारण मानव जन्मके द्वारा मिली है, रूपांतर करनेकी कोशिश कर रहा है? सोपान? अवश्य, असंख्य आंशिक उपलब्धियां होंगी। हर एककी क्षमताके अनुसार रूपांतरका स्तर अलग-अलग होगा, और यह निश्चित है कि अतिमानवसे मिलती-जुलती चीजतक पहुंचनेसे पहले न्यूनाधिक सफल या असफल प्रयास काफी संख्यामें होंगे, और ये ही लगभग सफल प्रयोगात्मक प्रयास होंगे।

वे सब जो अपनी साधारण प्रकृतिपर विजय पानेकी कोशिश करते हैं, जो उन गहनतर अनुभूतियोंको भौतिक रूपमें संसिद्ध करनेकी कोशिश करते हैं जो उन्हें दिव्य 'सत्य' के संपर्कमें ले आयी हैं, जो अपनी दृष्टि 'परात्पर' और 'परम' की ओर मोड़नेके बजाय अपने अंदर उपलब्ध चेतनाके परिवर्तनको भौतिक रूपमें, बाह्य रूपमें संसिद्ध करनेकी कोशिश करते हैं वे सब नौसिखिये अतिमानव हैं...। और उनके प्रयासकी सफलतामें अनगिनत अंतर हैं। हर बार जब हम कोशिश करते हैं कि साधारण आदमी न रहें, साधारण जीवन न बितायें, अपनी हरकतोंमें, कार्य-कलापों और प्रतिक्रियाओंमें दिव्य 'सत्य' को अभिव्यक्त करें; जब हम व्यापक अज्ञानद्वारा शासित न होकर उस 'सत्य'द्वारा शासित होते हैं, तब हम शिक्षार्थी अतिमानव होते हैं और अपने प्रयासोंकी सफलताके अनुपातमें, कम या अधिक, अच्छे शिक्षार्थी होते हैं, पथपर कम या अधिक आगे बढ़े हुए।

ये सब पड़ाव हैं, अतः ...। मुख्यतः, जाननेकी बात तो यह है कि 'रूपांतर' की इस दौड़में दोनोंमेंसे कौन पहले पहुंचता है, वह जो दिव्य 'सत्य' के प्रतिरूपमें अपनी कायाको रूपांतरित करना चाहता है या इस शरीरकी विकृत होते जानेकी पुरानी आदत, इतना विकृत कि अपनी बाह्य संपूर्णतामें जीवित न रह सके। यह होड़ है 'रूपांतर' और 'क्षय' के बीच। केवल दो ही चीजें हैं जो रुकनेके स्थल बन सकती हैं और बता सकती हैं कि व्यक्ति कहांतक सफल हुआ है: या तो सफलता, यानी, अतिमानव बन जाना (तब, स्वभावतया, वह कह सकता है: "अब मैं मंजिलपर पहुंच गया हूं।") ... या फिर मृत्यु। तबतक, सामान्यतः व्यक्ति "मार्ग" में होता है।

लक्ष्य-प्राप्ति या जीवनका अकस्मात् विच्छेद, इन दोनोंमेंसे एक चीज होती है जो आगेकी गतिका अस्थायी अंत ला देती है। और पथपर चलते हुए

दोनों ही प्रायः कम या अधिक दूर होते हैं, लेकिन मंजिलतक पहुंचे बिना कोई यह नहीं कह सकता कि वह किस सोपानपर है। अंतिम चरणकी ही गिनती होती है। अतः, जो अबसे सैंकड़ों या हजारों साल बाद आयेगा और पीछेकी ओर देखेगा वही कह सकेगा: "अमुक-अमुक सोपान था, अमुक-अमुक सिद्धि हुई थी।"... वह है इतिहास, यह घटनाका ऐतिहासिक अवबोध होगा। तबतक हम सब गति और काममें लगे हैं।

कहां हैं, कहांतक पहुंचे हैं और कहांतक जाना है?... अच्छा होगा कि इस सबके बारेमें बहुत ज्यादा न सोचा जाय क्योंकि यह तुम्हें पंगु बना देता है और तुम अच्छी तरह दौड़ नहीं सकते। केवल दौड़नेके बारेमें सोचना ही अच्छा है, और किसी चीजके बारेमें नहीं। अच्छी तरह दौड़नेका यही एक तरीका है। अपनी दृष्टि वहीं डालो जहां तुम्हें जाना है और सारा प्रयास आगे बढ़नेकी क्रियामें लगा दो। तुम कहां हो, कहांतक पहुंचे हो, इसकी चिंता करना तुम्हारा काम नहीं है। मैं कहती हूं: "यह इतिहास है," यह बादमें आयेगा। हमारे प्रयासके इतिहासकार हमें बतायेंगे (क्योंकि शायद हम तब भी होंगे), वे हमें बतायेंगे कि हमने क्या किया, कैसे किया...। फिलहाल आवश्यक है करना — केवल यही एक महत्त्वपूर्ण चीज है।

२२ अक्तूबर, १९५८

"यह वह दृष्टिकोण नहीं है जिससे मनुष्यमें आध्यात्मिक विकासकी सार्थकताका निर्णय किया जा सकता है या उसका मूल्य आंका जा सकता है। उसका उद्देश्य पुरानी या आजकलकी मानसिक अवस्थाके आधारपर मानव समस्याओंका हल करना नहीं है। उसका उद्देश्य है हमारी सत्ता, हमारे जीवन और हमारे ज्ञानको एक नया आधार देना। रहस्यवेत्ताकी संन्यास या परलोककी ओर वृत्ति इस बातका बहुत अधिक पुष्ट प्रमाण है कि वह भौतिक प्रकृतिद्वारा आरोपित सीमाओंको स्वीकार नहीं करता। उसकी सत्ताका मुख्य हेतु ही है प्रकृतिके परे जाना। अगर वह उसे बदल नहीं सकता तो वह उसे छोड़ जायेगा। साथ ही आध्यात्मिक पुरुष सदा ही मानव जातिके

जीवनसे दूर-दूर नहीं रहे हैं। आत्माके केंद्रीय रूपमें खिलनेके मुख्य भाव हैं: सभी प्राणियोंके साथ एकताका भाव, विश्व प्रेम और करुणापर जोर, सबके भलेके लिये अपनी शक्तियों-को खर्च करनेकी इच्छा। इसीलिये आध्यात्मिक व्यक्ति सहायता करनेके लिये प्रवृत्त हुआ, उसने प्राचीन ऋषियों और देव-दूतोंकी तरह मार्ग-दर्शन किया और जब कभी वह रचना करने-के लिये झुका और जब उसने आत्माकी किसी साक्षात् शक्ति-को साथ लिया तब आश्चर्यजनक परिणाम हुए। लेकिन आध्यात्मिकता समस्याका जो हल दिखाती है वह कोई बाहरी हल नहीं है, यद्यपि बाहरी साधनोंका भी उपयोग तो करना ही है, उसके अनुसार आंतरिक परिवर्तन और चेतना तथा प्रकृतिका रूपांतर करना होगा।

अगर आध्यात्मिकताका अभीतक कोई निर्णायक परिणाम नहीं आया, केवल आंशिक परिणाम ही दिखायी दिया है, चेतनाके परिमाणमें कुछ नये और अधिक अच्छे तत्त्व ही इकट्ठे किये जा सके हैं तो इसका कारण यह है कि साधारण मानवने हमेशा आध्यात्मिक प्रवृत्तिको पथभ्रष्ट किया है, वह आध्यात्मिक आदर्शसे पीछे हटा है या उसने केवल बाहरी रूपको स्वीकार किया है और आंतरिक परिवर्तनको अस्वीकार कर दिया है। आध्यात्मिकता-से यह मांग नहीं की जा सकती कि वह जीवनके साथ अनाध्यात्मिक तरीकोंसे व्यवहार करे या उसके रोगोंकी चिकित्सा रामबाण दवाइयोंसे, यानी, उन राजनीतिक, सामाजिक या अन्य यांत्रिक उपायोंसे करनेकी कोशिश करे जिनका उपयोग मन हमेशा करता रहा है और जिनमें हमेशा असफलता ही हाथ लगी है और जो कभी किसी समस्याको हल करनेमें सफल न होंगे। इन उपायोंसे किये गये अधिक-से-अधिक उग्र परिवर्तन भी कुछ नहीं बदल पाते। पुराने रोग नये रूपमें बने रहते हैं। बाहरी परिवेशका रूप बदल जाता है, परंतु मनुष्य जो था वही बना रहता है। वह अब भी एक नादान मानसिक प्राणी है जो अपने ज्ञानका या तो गलत उपयोग करता है या प्रभावशाली रूपमें उपयोग नहीं करता। अहंकार ही उसे चलाता है, प्राणिक इच्छाएं और आवेग तथा शारीरिक आवश्यकताएं उसपर शासन करती हैं। वह अपनी दृष्टिमें अनाध्यात्मिक और छिछला है, अपने बारेमें और अपना परि-

चालन करनेवाली शक्तियोंके बारेमें अनभिज्ञ है...। केवल एक आध्यात्मिक परिवर्तनसे, बाहरी मानसिक चेतनासे अधिक गहरी आध्यात्मिक चेतनामें विकसित होनेसे ही वास्तविक और प्रभावशाली फर्क पड़ सकता है। आध्यात्मिक मनुष्यका मुख्य काम है अपने अंदर आध्यात्मिक सत्ताको खोजना। और दूसरोंको इस प्रकारके विकासमें सहायता देना ही उसकी वास्तविक जातीय सेवा है। जबतक यह न हो जाय तबतक बाहरी सहायता कुछ हल्का कर सकती है, सांत्वना दे सकती है, पर इससे ज्यादा कुछ नहीं या बहुत ही कम।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८८३-८५)

मधुमयी मां, जिसमें अधिक आध्यात्मिक क्षमता न हो वह इस काममें अधिक-से-अधिक सहयोग कैसे दे सकता है?

मैं नहीं जानती कि यह कहा जा सकता है कि किसीमें कम या अधिक आध्यात्मिक क्षमता है। बात ऐसी नहीं है।

आध्यात्मिक जीवन जीनेके लिये जो चीज आवश्यक है वह है चेतनाका उलटना। व्यक्तिके मानसिक क्षेत्रकी विभिन्न क्षमताओं और संभावनाओंसे इसकी तुलना किसी भी तरह नहीं की जा सकती। किसीके लिये यह तो कहा जा सकता है कि उसमें मानसिक, प्राणिक या शारीरिक योग्यताएं बहुत नहीं हैं, कि उसकी संभावनाएं बड़ी सीमित हैं, उस हालतमें यह भी पूछा जा सकता है कि किन तरीकोंसे इन योग्यताओंको विकसित किया जा सकता है, अर्थात्, नयी योग्यताएं कैसे प्राप्त की जायं जो कि निस्संदेह काफी कठिन हैं। पर आध्यात्मिक जीवन जीनेका अर्थ है अपने भीतर दूसरे जगत्के प्रति खुलना। यह मानों अपनी चेतनाको उलटना है। साधारण मानव चेतना, यहांतक कि अतिविकसित मनुष्योंकी, यहांतक कि मेधावी और महती सिद्धि-प्राप्त मनुष्योंकी चेतना भी एक बहिर्मुखी गति होती है — सारी शक्तियां बाहरकी ओर प्रेरित होती हैं, सारी चेतना बाहर फैली होती है; और यदि कोई चीज अंतर्मुखी होती भी है तो वह बहुत कम होती है, बहुत विरल, बहुत आंशिक होती है, यह किन्हीं विशेष परिस्थितियों एवं उग्र आघातोंके दबावसे होता है। ये आघात जीवन सिर्फ इसी आशयसे देता है कि चेतनाकी बहिर्मुखीनताकी गतिको थोड़ा उलट सके।

लेकिन जिन्होंने आध्यात्मिक जीवन बिताया है उन सबको एक ही

अनुभव हुआ है: कहा जा सकता है कि सहसा उनकी सत्तामें कोई चीज उलट गयी, एकदम अचानक पलट गयी, कभी-कभी पूरी अंदरकी ओर मुड़ गयी, और अंदर मुड़नेके साथ-साथ ऊपरकी ओर भी मुड़ गयी, भीतरसे ऊपरकी ओर (लेकिन यह बाहरी "ऊपर" नहीं है, यह है भीतर गहराईमें, भौतिक ऊंचाइयोंकी कल्पनासे भिन्न कोई चीज)। शब्दशः कोई चीज उलट गयी है। एक निर्णायक अनुभूति हुई, और जीवनका दृष्टिकोण, जीवनको देखनेकी भंगिमा और जीवनके प्रति अपनाया गया **आधार** — सब कुछ सहसा बदल गया है, कुछ लोगोंमें तो काफी निश्चित रूपसे, अटल ढंगसे बदल गया है।

और जैसे ही व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन और सद्वस्तुकी ओर मुड़ता है वह 'अनंत' और 'शाश्वत'का स्पर्श करता है और तब कम या ज्यादा योग्यताओं या संभावनाओंका प्रश्न ही नहीं रह जाता। आध्यात्मिक जीवनके बारेमें मनकी परिकल्पना ही यह कह सकती है कि आध्यात्मिक रूपसे जीनेके लिये उसमें बहुत-सी या कुछ योग्यताएं हैं, पर यह कहना बिलकुल समीचीन नहीं। इतना ही कहा जा सकता है कि अंतिम और पूर्ण प्रत्यावर्तनके लिये कोई कम तैयार है और कोई ज्यादा...। सारतः, यह साधारण क्रिया-कलापसे पीछे हटने और आध्यात्मिक जीवनकी खोज-में जानेकी मानसिक क्षमता ही है जिसे नापा जा सकता है।

किंतु जबतक तुम मानसिक क्षेत्रमें रहते हो, इस अवस्थामें होते हो, चेतनाके इस स्तरपर रहते हो तबतक तुम दूसरोंके लिये ज्यादा कुछ नहीं कर सकते, न तो व्यापक जीवनके लिये और न ही खास व्यक्तियोंके लिये, क्योंकि स्वयं तुम्हें निश्चिति नहीं होती, निश्चित अनुभव नहीं होता, तुम्हारी चेतना अध्यात्म-जगत्में प्रतिष्ठित नहीं होती; केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मानसिक क्रियाएं अच्छा और बुरा पक्ष लिये होती हैं, पर उनमें ज्यादा शक्ति नहीं होती, कम-से-कम आध्यात्मिक संसर्गकी वह शक्ति तो होती ही नहीं जो एकमात्र सच्ची प्रभावकारी शक्ति है।

चेतनाकी जिस अवस्थामें मनुष्य स्वयं वास करता है, उस अवस्थाको दूसरों-को हस्तांतरित कर सकनेकी शक्यता ही वह एकमात्र चीज है जो सचमुच प्रभावकारी होती है। लेकिन इस शक्तिका आविष्कार नहीं किया जाता, इसकी नकल नहीं की जा सकती, इसके होनेका दिखावा नहीं किया जा सकता; जब कोई अपने-आप उस अवस्थामें प्रतिष्ठित हो जाता है, जब वह भीतर **रहता** है, उस तरह रहनेका प्रयास नहीं करता — जब वह उसमें होता है तो यह अनायास ही आ जाता है। और इसी

कारण, जिन लोगोंका जीवन सचमुच आध्यात्मिक होता है वे छले नहीं जा सकते।

आध्यात्मिक जीवनका अनुकरण उन लोगोंको तो भ्रममें डाल सकता है जो अभीतक मनमें वास करते हैं, पर वे लोग धोखा नहीं खा सकते और गलती नहीं कर सकते जिन्होंने चेतनाके इस प्रत्यावर्तनको पा लिया है, जिनका बाह्य सत्ताके साथ संबंध सर्वथा अलग है।

मनोमय पुरुष इन लोगोंको नहीं समझता। जबतक कोई मानसिक चेतनामें वास करता है, चाहे वह उच्चतम ही क्यों न हो, और आध्यात्मिक जीवनको बाहरसे देखता है, तबतक वह मानसिक क्षमताओंद्वारा, खोजने, गलती करने, सुधारने, प्रगति करने और दुबारा खोजनेके अभ्यास-द्वारा निर्णय करता है; और वह कल्पना कर बैठता है कि आध्यात्मिक जीवनवाले भी उसी अशक्यतासे पीड़ित हैं, लेकिन यह बहुत भारी भूल है!

जब सत्ता उलट जाती है तो यह सब समाप्त हो जाता है। तब मनुष्य खोजता नहीं, देखता है। अनुमान नहीं करता, जानता है। टटोलता नहीं, लक्ष्यकी ओर सीधा चलता है। और जब वह आगे — थोड़ा ही आगे — बढ़ चुकता है तब वह इस परम सत्यको जान जाता है, अनुभव करता है और इसे जीता है कि **केवल** 'परम सत्य' ही काम करता है, **केवल** 'परम देव' ही कामना करता है, जानता है और मनुष्यों-द्वारा काम **करता** है। वहां किसी गलतीकी गुंजाइश ही कैसे रह सकती है? वह जो कुछ करता है वह इसलिये करता है कि 'वह' उसे करना चाहता है।

हमारी भ्रांत दृष्टिके लिये ये शायद अबोध्य क्रियाएं होती हैं, पर उनका कोई अर्थ होता है, उद्देश्य होता है और वे वहां ले जाती हैं जहां ले जाना चाहिये।

(मौन)

यदि कोई सच्चाईके साथ दूसरोंकी और संसारकी मदद करना चाहता है तो सबसे अच्छी बात जो वह कर सकता है यह है कि वह अपने-आप वही बने जो दूसरोंको बनाना चाहता है — केवल एक दृष्टांतकी तरह नहीं, बल्कि विकिरण करती हुई शक्तिके केंद्रके रूपमें जो अपने अस्तित्व-के बलपर बाकी दुनियाको बदलनेके लिये विवश कर दे।

२९ अक्तूबर, १९५८

"यह सत्य है कि आध्यात्मिक प्रवृत्ति जीवनकी ओर नहीं, जीवनके परे देखनेकी रही है। यह भी सत्य है कि आध्यात्मिक परिवर्तन सामूहिक नहीं, व्यक्तिगत ही रहा है, उसके परिणाम मानव व्यक्तिमें तो सफल रहे हैं, पर मानव समूहमें या तो असफल रहे हैं या परोक्ष रूपसे ही काम कर पाये हैं। प्रकृतिका आध्यात्मिक विकास अभी अपनी प्रक्रियामें ही है, अपूर्ण है, बल्कि यह कहा जा सकता है कि अभी उसका आरंभ ही हुआ है। उसका मुख्य काम रहा है आध्यात्मिक चेतना और ज्ञानके आधारको स्थापित करना और बढ़ाना और आत्माके सत्यमें जो शाश्वत है उसके अंतर्दर्शनके लिये आधार या रूपको अधिकाधिक तैयार करना। जब प्रकृति व्यक्तिके द्वारा इस गहन विकास और रचनाको पूरी तरह पुष्ट कर दे तभी विस्तार या क्रियात्मक रूपसे प्रसार करनेके स्वभाववाली किसी भौतिक चीजकी आशा की जा सकती है या सामूहिक आध्यात्मिक जीवनके लिये कोई प्रयत्न स्थायी सफलता पा सकता है। पहले भी स्थायी आध्यात्मिक जीवनके लिये प्रयत्न किये गये हैं लेकिन अधिकतर व्यक्तिगत आध्यात्मिकताके रक्षाक्षेत्रके रूपमें। जबतक प्रकृति अपने इस कामको पूरा नहीं कर लेती तबतक व्यक्तिको अपने मन और प्राणको आत्माके उस सत्यके अनुरूप पूरी तरह बदलनेकी समस्यामें ही उलझे रहना पड़ेगा जिसे वह अपनी आंतरिक सत्ता और ज्ञानमें प्राप्त कर रहा है या प्राप्त कर चुका है। समयसे पहले बड़े पैमानेपर सामूहिक आध्यात्मिक जीवनके लिये किये गये प्रयासके दूषित होनेकी संभावना रहती है और इस तरह दूषित होनेके कारण हो सकते हैं क्रियात्मक पक्षमें आध्यात्मिक ज्ञानकी कमी, साधकोंकी व्यक्तिगत कमी, साधारण मन, प्राण और शरीरकी चेतनाओंका सत्यको हथियाकर उसे यांत्रिक, अंधकारपूर्ण और भ्रष्ट बनानेके लिये आक्रमण। मानसिक बुद्धि और उसकी तर्क करनेकी प्रधान शक्ति मानव जीवनके तत्त्व और उसके स्थायी स्वभावको नहीं बदल सकतीं: वे केवल तरह-तरहके यंत्रीकरण, कुशल प्रयोग, परिवर्धन और सूत्रोंको ही पैदा कर सकती हैं। लेकिन

पूरा मन भी, भले वह पूरी तरह आध्यात्मिकभावापन्न हो जाय, परिवर्तन नहीं ला सकता। आध्यात्मिकता मनको अपनेसे ऊंचे स्तरोंके साथ संपर्क रखनेमें सहायता करती है, अपने-आपसे छुटकारा पानेमें भी मदद करती है। वह व्यक्तिगत मानव सत्ताओंकी बाह्य प्रकृतिको आंतरिक प्रभावके द्वारा ऊपर उठा सकती है। लेकिन जबतक उसे मानव समूहमें मनको यंत्र बनाकर काम करना है, वह धरतीके जीवनपर प्रभाव डाल सकती है लेकिन जीवनका रूपांतर नहीं कर सकती। इसी कारण आध्यात्मिक मनमें यह प्रवृत्ति रही है कि वह ऐसे प्रभावोंसे संतुष्ट हो जाय और पूर्णताको किसी और ही लोकमें खोजे या हर तरहके बाहरी प्रयासको एकदम छोड़कर अपने-आपको एकमात्र व्यक्तिगत सिद्धि या मुक्तिपर एकाग्र करे। अज्ञानसे बनी प्रकृतिके पूरे-पूरे रूपांतरके लिये मनसे ज्यादा ऊंचे क्रियाशील उपकरणकी जरूरत है।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८८५-८६)

मधुमयी मां, इसका क्या अर्थ है: "आध्यात्मिकता मनकी . . . अपने-आपसे छुटकारा पानेमें मदद करती है"?

जबतक मनको यह विश्वास है कि वह मानव चेतनाका शिखर है, कि उससे परे और ऊपर और कुछ नहीं है तबतक वह अपनी क्रियाको पूर्ण समझता है और इस क्रियाकी सीमाओंके भीतर की गयी उन्नतिसे तथा अपने क्रिया-कलापमें बढ़ती हुई स्पष्टता, यथार्थता, जटिलता, लोच और नमनीयतासे पूरी तरह संतुष्ट होता है।

अपने-आपसे और अपने किये कामसे सदा संतुष्ट रहनेकी इसकी सहजवृत्ति रहती है, और यदि इसकी अपनी शक्तिसे अधिक बड़ी और ऊंची कोई शक्ति न होती जो इसे अकाटच रूपसे इसकी सीमाएं और इसकी दीनता दिखाती रहती है तो यह उचित दरवाजेसे बाहर निकलनेका प्रयास कभी न करता। वह दरवाजा है सत्ताकी एक उच्चतर और सत्यतर विधामें मुक्ति।

जब आध्यात्मिक शक्ति काम कर सकती है, जब यह अपना प्रभाव डालना आरंभ करती है तब यह मनकी इस आत्म-संतुष्टिको झकझोरती है और लगातार दबाव डालकर इसे यह अनुभव करा देती है कि इसके परे उच्चतर और सत्यतर कोई चीज है; तब दंभका एक छोटा-सा अंश,

जो खास इसीका हो सकता है, इस प्रभावके अधीन हार मान लेता है और जैसे ही उसे यह बोध हो जाता है कि वह सीमित और अज्ञानी है, सच्चे सत्यतक पहुंचनेमें असमर्थ है, वैसे ही मुक्ति और किसी परात्पर चीजके प्रति उन्मुक्त होनेकी संभावना शुरू हो जाती है। पर इसे उस परात्पर-की शक्ति, सौंदर्य और बलका **अनुभव** अवश्य होना चाहिये ताकि उसे समर्पण कर सके। अपनेसे उच्चतर वस्तुकी उपस्थितिमें इसे अपनी असमर्थता और सीमाओंका बोध अवश्य पा सकना चाहिये, अन्यथा यह अपनी अशक्तताका अनुभव कैसे करेगा ?

कभी-कभी तो एक ही संपर्क काफी होता है, ऐसी चीज जो उस आत्म-तृप्तिमें जरा-सी दरार कर दे, उसके बाद उसके परे जानेकी इच्छा, एक विमलतर ज्योति पानेकी आवश्यकता जगती है, और इस जागरणके साथ आती है उन्हें प्राप्त कर लेनेकी अभीप्सा और अभीप्साके साथ आरंभ होती है मुक्ति और एक दिन सब सीमाओंको तोड़कर व्यक्ति अनंत 'प्रकाश'-की ओर खुल जाता है।

अगर यह अनवरत दबाव साथ-ही-साथ अंदर और बाहरसे, ऊपर और गभीरतम गहराइयोंसे न पड़ता तो कोई भी चीज कभी न बदलती।

इसके होते हुए भी कितना समय लगता है चीजोंके बदलनेमें! कितना दुराग्रही प्रतिरोध है इस निचली प्रकृतिमें, कैसी अंध और मूर्खतापूर्ण आसक्ति है जीवनके पाशविक तरीकोंके साथ, अपनेको मुक्त करनेसे कितना इनकार!

(मौन)

सारे अभिव्यक्त जगत्‌में दुःख, अंधकार और मूढ़तामें पड़े विश्वको उसमेंसे बाहर निकालनेके लिये एक अनंत 'कृपा' हमेशा काम करती रहती है। अनादि कालसे यह 'कृपा' अपने निरंतर प्रयासद्वारा कार्य करती आ रही है और इस विश्वको किसी महत्तर, सत्यतर और सुन्दरतर वस्तुकी आवश्यकता-के प्रति जगानेमें कितने युग लग गये....।

अपनी ही सत्तामें मिलनेवाले प्रतिरोधसे प्रत्येक व्यक्ति अनुमान लगा सकता है कि कितने दृढ़ प्रतिरोधके साथ यह विश्व 'कृपा'के कार्यका विरोध करता है।

मनुष्य निर्णायक प्रगतिके लिये तभी तैयार होता है जब वह समझ लेता है कि **सब** बाह्य चीजें, मानसिक धारणाएं और भौतिक प्रयास यदि ऊपरसे आयी 'ज्योति' और 'शक्ति'को, अपने-आपको अभिव्यक्त करनेकी चेष्टा करते हुए 'सत्य'को पूरी तरह अर्पित नहीं हैं तो बेकार हैं, व्यर्थ हैं। अतः

एकमात्र सच्चा प्रभावकारी मनोभाव है 'उसको' संपूर्ण, सर्वांग, उत्साह और भक्तिभरा आत्मदान जो हमारे ऊपर अवस्थित है, एकमात्र उसीमें सब कुछ बदल डालनेकी शक्ति है।

जब कोई अंतरस्थित 'आत्मा' के प्रति खुल जाता है तो उसे उस उच्चतर जीवनका पहला पूर्वास्वाद मिल जाता है जो जीने योग्य है; फिर आती है उसतक उठनेकी चाह, वहांतक पहुंचनेकी आशा; फिर यह विश्वास कि यह संभव है और अंतमें आवश्यक प्रयास करनेकी शक्ति और अंततक जानेका दृढ़ निश्चय।

पहले अपने-आपको जगाना होगा, तभी विजय मिल सकती है।

५ नवम्बर, १९५८

"आध्यात्मिक सत्य आत्माका सत्य है, बुद्धिका सत्य या गणितका प्रमेय या तर्कका सिद्धांत-सूत्र नहीं। वह अनंतका एक सत्य है, अनंत विभिन्नतामेंसे एक। वह अनंत विभिन्नतावाले पक्षों और गठनोंको धारण कर सकता है। आध्यात्मिक विकासके लिये यह जरूरी है कि एक ही 'सत्य'की ओर जानेवाले विभिन्न मार्ग हों, विभिन्न प्रयत्न हों और उसके ग्रहण किये हुए रूप भी विभिन्न हों। यह विभिन्नता इस बातका चिह्न है कि अंतरात्मा एक सजीव यथार्थताको प्राप्त कर रही है। पदार्थोंके ऐसे काल्पनिक रूप या वस्तुओंकी ऐसी रचना नहीं जो मृत पथरीले सूत्रोंमें पथरायी जा सकती है। सत्यके बारेमें यह कठोर तार्किक और बौद्धिक धारणा कि यह कोई ऐसा अकेला विचार होना चाहिये जिसे सबको स्वीकार करना पड़ेगा, एक ऐसा विचार या विचार-पद्धति जो और सब विचारों या पद्धतियोंको हटा दे, एक एकाकी सीमित तथ्य या अकेला तथ्योंका सूत्र जिसे सभीको मान्यता देनी चाहिये — यह एक ऐसी धारणा है जो भौतिक क्षेत्रके सीमित सत्यको प्राण, मन और आत्माके बहुत अधिक जटिल और नमनशील क्षेत्रमें अनुचित रूपसे स्थानांतरित करता है...

आध्यात्मिक मनुष्यके विकासमें आवश्यक रूपसे बहुत-सी

भूमिकाएं हैं और हर भूमिकामें सत्ता, चेतना, जीवन, प्रकृति, विचार और चरित्रमें व्यक्तिगत रचनाओंकी बहुत अधिक विभिन्नता होती है। यंत्र-रूप मनकी प्रकृति और जीवनके साथ उसके व्यवहार करनेकी आवश्यकता ही साधकके विकासकी भूमिका और उसके व्यक्तित्वके अनुसार अनंत विभिन्नता पैदा कर देती है। इसके अतिरिक्त यह जरूरी नहीं है कि शुद्ध आध्यात्मिक आत्मोपलब्धि और आत्माभिव्यक्तिका क्षेत्र ही एक जैसा, एक-रस बना रहे। यहां भी मौलिक एकताके साथ-ही-साथ बहुत बड़ी विविधता हो सकती है। परमात्मा एक है पर उसकी आत्माएं बहु हैं। जीवात्माने प्रकृतिकी जैसी रचना की है, उसीके अनुसार उसकी आध्यात्मिक स्वाभिव्यक्ति होगी। एकतामें विविधता अभिव्यक्तिका नियम है। अतिमानसिक एकीकरण और संघटन इन विविधताओंमें सामंजस्य लायेगा, परंतु इनका नाश प्रकृतिमें निवास करनेवाली 'आत्मा'का अभिप्राय नहीं है।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८८६-८८)

व्यक्तिगत विकासकी दृष्टिसे और उन लोगोंके लिये जो अभी पथके शुरूमें ही हैं, उस बातके बारेमें चुप रहना जिसे वे नहीं समझते, उन चीजोंमेंसे एक है जो प्रगतिमें सबसे अधिक सहायक होती हैं। चुप कैसे रहा जाय यह जानना, केवल बाहरी तौरपर शब्द न बोलना ही नहीं, बल्कि यह जानना कि भीतर कैसे नीरव रहा जाय, यह जानना कि मन, जैसा कि वह हमेशा करता है, अपनी स्वभावगत ढिठाईके साथ अपने अज्ञानके दावेके साथ घोषणा न करे, समझनेमें असमर्थ यंत्रद्वारा समझनेकी कोशिश न करे, अपनी दुर्बलताओंको पहचानने और बस सहज-भावसे चुपचाप स्वयंको खोले, प्रकाशको ग्रहण करनेके लिये मुहूर्त्तकी प्रतीक्षा करे क्योंकि केवल 'प्रकाश', सच्चा प्रकाश ही उसे समझ प्रदान कर सकता है। जो कुछ इसने सीखा है वही सब कुछ नहीं है, जो कुछ निरीक्षण किया है वही सब कुछ नहीं है, जो कुछ जीवनका तथाकथित अनुभव लिया है वही सब कुछ नहीं है, वह तो कुछ और है जो इस सबको पूरी तरह अतिक्रम कर जाता है। इससे पहले कि यह कुछ और — जो 'कृपा' की अभिव्यंजना है — उसमें अभिव्यक्त हो, यदि मन बड़ी शांतिसे, बड़ी विनम्रतासे अचंचल बना रहे, समझनेकी, और सबसे बढ़कर मूल्यांकन करनेकी कोशिश न करे, तो चीजें **अधिक** तेजीसे आगे बढ़ेंगी।

ये सारे शब्द, सारे विचार सिरमें जो शोर मचाते हैं वह बहरा बना देनेवाला होता है, वह तुम्हें सत्यको, यदि वह अभिव्यक्त होना चाहे तो, सुननेसे रोक देता है।

अचंचल और नीरव रहना सीखना...। जब तुम्हारे सामने सुलझानेके लिये कोई समस्या हो तो सब संभावनाओं, सब परिणामों, करणीय या अकरणीय सब संभव चीजोंपर दिमाग लड़ानेकी जगह यदि तुम सद्भावनाकी अभीप्सा लिये अचंचल बने रह सको, यदि संभव हो तो सद्भावनाकी आवश्यकता लिये, तो बहुत जल्दी समाधान निकल आता है। और क्योंकि तुम नीरव होते हो, इसलिये तुम उसे सुन पाते हो।

जब तुम किसी कठिनाईमें फंस जाओ तो इस तरीकेको आजमाओ: विक्षुब्ध होने, सब विचारोंको उलटने-पलटने, जोर-शोरसे समाधान ढूंढने, चिंता करने, चिढ़ने, अपने सिरके अंदर इधर-उधर भागते रहनेके बजाय— मेरा मतलब बाह्य रूपसे नहीं है, इतनी सामान्य बुद्धि तो तुममें होगी ही कि बाह्य रूपमें दौड़-भाग न करो! वरन्, भीतर, अपने सिरमें — **अचंचल बने रहो**। और अपने स्वभावके अनुसार, उत्कटताके साथ या शांतिके साथ, तीव्रताके साथ या विस्तारके साथ या इन सबको मिलाकर, प्रकाशकी अभ्यर्थना करो और उसके आगमनकी प्रतीक्षा करो।

इस तरह पथ काफी छोटा हो जायगा।

१२ नवम्बर, १९५८

"यदि आध्यात्मिक मनुष्यके विकासमें प्रकृतिका एकमात्र उद्देश्य यही हो कि उसे परम सद्वस्तु (परमार्थ) की ओर जाग्रत कर दे और उसे अपने-आपसे, अर्थात्, उसने 'शाश्वत'की 'शक्ति' होते हुए 'अविद्या'का जो मुखौटा पहन रखा है उससे, यहांसे किसी उच्चतर भूमिकामें ले जाकर मुक्त कराये, यदि विकासमें यह कदम ही अंतिम और बाहर जानेका मार्ग है, तो सार रूपमें उसका काम पूरा हो चुका है और अब कुछ भी करनेके लिये बाकी नहीं है। रास्ते बन चुके हैं, उनपर चलनेकी क्षमता विकसित हो चुकी है, सृष्टिका लक्ष्य या अंतिम शिखर स्पष्ट है। अब हर अंतरात्माके लिये यही काम बचा है कि वह

व्यक्तिगत रूपसे ठीक भूमिका और ठीक घुमावपर पहुंचे, आध्यात्मिक रास्तोंमें प्रवेश करे और अपने ही चुने हुए रास्तेसे इस घटिया अस्तित्वमेंसे बाहर निकल जाय। लेकिन हमने यह माना है कि इसके आगे कुछ और भी आशय है, — केवल 'आत्मा'का प्रकट होना ही नहीं, प्रकृतिका आमूल और सर्वांगीण रूपांतर। प्रकृतिमें आत्माके सशरीर जीवनकी सच्ची अभिव्यक्तिको चरितार्थ करनेका संकल्प है, उसने जिसे शुरू किया है उसे 'अज्ञान'से 'ज्ञान'की ओर ले जाकर पूरा करनेका, अपने मुखौटेको हटानेका, अपने-आपको ज्योतिर्मय 'चिच्छक्ति'के रूपमें प्रकट करनेका एक संकल्प है जो अपने अंदर शाश्वत 'सत्ता' और उस सत्ताके सार्वभौम 'आनंद'को धारण किये हुए है। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि अभीतक कुछ बाकी है जिसे पूरा नहीं किया गया है, अब भी जो बहुत कुछ करना बाकी है — भूरि अस्पष्ट कर्त्वम् — वह आंखोंके सामने स्पष्ट हो जाता है। एक ऐसा शिखर बाकी है जहांतक पहुंचना बाकी है, एक ऐसा विस्तार है जिसमें अंतर्दर्शन करनेवाली आंखोंको फैलाना है, जिसपर संकल्पके पंखोंको पहुंचाना है, भौतिक विश्वमें 'आत्मा'-का आत्म-पुष्टिकरण बाकी है। क्रमविकासकी 'शक्ति'ने अभीतक जो किया है वह यही है कि कुछ व्यक्तियोंको अपनी अंतरात्मा-के बारेमें ज्ञान दे दिया है, उन्हें अपनी आत्माकी चेतना दी है, यह ज्ञान दिया है कि वे शाश्वत सत् हैं, प्रकृतिके बाहरी रूपोंमें छिपे 'परम देव' या 'परम सद्वस्तु'के साथ उनका संपर्क करवा दिया है। प्रकृतिका एक विशेष परिवर्तन इस प्रकाश-को तैयार करता है। उसके साथ या उसके पीछे-पीछे चलता है, परंतु यह वह पूर्ण और मौलिक परिवर्तन नहीं है जो पार्थिव प्रकृतिके क्षेत्रमें निश्चित और दृढ़ नूतन तत्त्वको, नवीन सृष्टि-को स्थापित करे और सत्ताकी एक चिरस्थायी नयी व्यवस्था लाये। आध्यात्मिक प्राणी तो विकसित हुआ है, परंतु वह अति-मानसिक सत्ता विकसित नहीं हुई जो आगे चलकर प्रकृतिका नेता होगी।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८८९-९०)

मां, अपने विकासकी ठीक अवस्था और मोड़का कैसे पता लग सकता है?

कैसे पता लग सकता है! ...तुम्हें इसकी खोज करनी होगी। आग्रह-पूर्वक इसे चाहना होगा। **यही** तुम्हारे लिये एकमात्र महत्त्वपूर्ण बात होनी चाहिये।

(मौन)

जब कोई अपनी आत्माको खोजने, उसके साथ युक्त हो जाने और उसे अपने जीवनको शासित करनेकी अनुमति देनेका आवश्यक आंतरिक प्रयास करता है तो इस खोजका एक तरहका अनोखा सम्मोहन होता है जिसके कारण सबसे पहली वृत्ति यह होती है कि वह अपने-आपसे कहे: "जो मैं चाहता हूं वह अब मेरे पास है, मुझे अनंत आनंद मिल गया है!" और बस, वह किसी अन्य चीजकी ओर ध्यान नहीं देता।

वस्तुतः, ऐसा लगभग उन सब लोगोंके साथ हुआ है जिन्होंने यह खोज की है, उनमेंसे कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने इस अनुभूतिको सिद्धिका सिद्धांत बना डाला और कहा: "जब तुम इतना कर चुके, अब और कुछ करना बाकी नहीं रहा; तुम लक्ष्यतक और पथके अंततक पहुंच गये हो।"

निश्चय ही, और आगे जानेके लिये बड़े साहसकी जरूरत है, यह आत्मा जो खोजी जाय वह निर्भीक शूरात्मा होनी चाहिये जो दूसरोंका दुःख देखकर अपनेको इस विचारसे तसल्ली देती हुई अपने आंतरिक हर्षसे जरा भी संतुष्ट नहीं होती कि देर-सवेर सब उसी अवस्थातक पहुंचेंगे, और जो प्रयत्न मैंने किया है उसे दूसरे भी करें तो उनके लिये अच्छा है या, ज्यादा-से-ज्यादा, इस विचारसे कि आंतरिक प्रज्ञाकी इस अवस्थामें रहते हुए "महान् सद्भावना" और "गहरी अनुकम्पा" द्वारा वह लोगोंको वहांतक पहुंचनेमें मदद कर सकती है, और जब सब उसे प्राप्त कर लेंगे तो वह दुनियाका अंत होगा और यह उन लोगोंके लिये अच्छा होगा जो दुःख भोगना नहीं चाहते!

लेकिन ... एक "लेकिन" है। क्या तुम्हें विश्वास है कि परम प्रभुका स्वयंको अभिव्यक्त करते समय यही उद्देश्य और यही आशय था?

(मौन)

अगर यही परिणाम हो तो सारी सृष्टि, यह सारी वैश्व अभिव्यक्ति अधिक-से-अधिक एक भद्दा मजाक मालूम होती है। यदि इससे बाहर ही निकलना है तो फिर इसे शुरू ही क्यों किया जाय! यदि यह केवल तुम्हें

यह सिखानेके लिये है कि इसमेंसे कैसे बाहर निकला जा सकता है तो इतना संघर्ष करनेसे, इतना दुःख भोगनेसे क्या लाभ, ऐसी सृष्टि बनानेका क्या लाभ जो कम-से-कम अपने बाह्य रूपमें इतनी दुःखांत और नाटकीय हो — तब तो आरंभ न करना ही कहीं अधिक अच्छा होता।

लेकिन यदि तुम चीजोंकी एकदम गहराईतक जाओ, केवल अहंभावसे ही विमुक्त नहीं, बल्कि अहंसे भी विमुक्त होकर अपने-आपको पूरी तरह, बिना कुछ बचाये, इतनी संपूर्णता और अनासक्तिके साथ समर्पित कर दो कि तुम परम प्रभुकी योजनाको समझनेके योग्य बन जाओ तो तुम जान जाओगे कि यह एक भद्दा मजाक **नहीं** है, आरंभिक बिंदुतक वापिस आनेके लिये टेढ़ा-मेढ़ा, थोड़ा घिसा-पिटा रास्ता **नहीं** है। इसके विपरीत, यह तो सारी सृष्टिको जीनेका आनंद, जीनेका सौंदर्य, जीनेकी महिमा, एक उदात्त जीवनकी भव्यता और उस आनंद, सौंदर्य और महिमाकी सतत प्रगतिशील वृद्धि सिखानेके लिये है। अतः हर चीजका अर्थ है, और तब संघर्ष करके, दुःख भोगकर तुम्हें पछतावा नहीं होता। तुममें केवल दिव्य लक्ष्यको प्राप्त करनेका उत्साह होता है और उस प्राप्तिके लिये लक्ष्य और विजयकी **निश्चिति**के साथ तुम सिरके बल कूद पड़ते हो।

लेकिन यह जान सकनेके लिये अहंवादी होना छोड़ना पड़ेगा, परम उत्स-से कटकर, अपनेमें सिमट-सिकुड़कर एक अलग व्यक्ति होना छोड़ना होगा। सबसे बढ़कर जरूरी है अपने अहंको उतार फेंकना। और तब तुम अपने सच्चे लक्ष्यको पहचान सकोगे — और बस, यही एक तरीका है !

अपने अहंको उतार फेंकना, एक अनुपयोगी परिधानकी तरह गिर जाने देना।

फलको देखते हुए इसके लिये प्रयत्न करना सार्थक है। और फिर पथपर तुम अकेले नहीं हो। यदि तुममें भरोसा हो तो तुम्हें सहायता मिलती है।

यदि एक निमिषके लिये भी 'कृपा' के साथ तुम्हारा संपर्क हुआ है, उस अलौकिक 'कृपा' के साथ जो तुम्हें बहाये लिये जाती है, पथपर दौड़ाये लिये जाती है, तुम्हें यह भी भुला देती है कि तुम्हें जल्दी करनी है, यदि उस 'कृपा' के साथ तुम्हारा निमिष मात्रके लिये भी संपर्क हुआ है तो तुम्हें भूल न जानेका प्रयास करना चाहिये। और, जिसके जीवनमें गुत्थियां नहीं हैं, ऐसे शिशुकी निष्कपटता और सरलताके साथ, अपने-आपको 'कृपा'के हाथमें सौंप दो और उसे कार्य करने दो।

आवश्यकता है इस बातकी कि जो कुछ प्रतिरोध करे उसकी मत सुनो; जो खंडन करे उसका विश्वास न करो — एक भरोसा रखो, सच्चा भरोसा,

एक विश्वास जिसके द्वारा तुम अपने-आपको पूरी तरह बिना हिसाब-किताबके, बिना सौदेबाजीके दे दो। भरोसा रखो! अंततक भरोसा रखो, कहो : "यह करो, मेरे लिये यह कर दो, मैं तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूं।"

यही है सर्वश्रेष्ठ तरीका।

२६ नवम्बर, १९५८

"... जैसे यहां 'ज्ञान'को खोजते हुए 'अज्ञान'के आधारपर, जो अपने-आप 'ज्ञान'में विकसित होता जाता है, 'मन' प्रतिष्ठित है, उसी तरह अब 'अतिमानस'को अपने महत्तर 'प्रकाश'में बढ़नेवाले 'ज्ञान'-के आधारपर प्रतिष्ठित होना चाहिये। परंतु यह तबतक संभव नहीं है जबतक आध्यात्मिक मनोमय प्राणी पूरी तरहसे 'अति-मानस'तक उठकर उसकी शक्तियोंको धरतीके जीवनमें नहीं उतार लाता। 'मन' और 'अतिमन'के बीचकी खाईपर पुल बनाना होगा, बंद रास्तोंको खोलना होगा और जहां अभीतक शून्यता और शांत निश्चलता है वहां आरोहण, अवरोहणके रास्ते बनाने होंगे। यह केवल उस त्रिविध रूपांतरके द्वारा किया जा सकता है जिसके संबंधमें हम सरसरी तौरपर उल्लेख कर आये हैं। इनमेंसे पहला है चैत्य परिवर्तन, यानी, हमारी वर्तमान प्रकृति पूरी तरह बदलकर अंतरात्माका उपकरण बन जाय। इसके बाद या इसके साथ-साथ आध्यात्मिक परिवर्तन आना चाहिये, यानी, उच्चतर 'ज्योति', 'ज्ञान', 'बल', 'शक्ति', 'आनंद', 'पवित्रता'का पूरी सत्तामें, प्राण और शरीरके निचले-से-निचले गुप्त स्थानोंमें, यहांतक कि अवचेतनाके अंधकारमें भी अवतरण होना चाहिये। और अंतमें आयेगा अतिमानसिक रूपांतर। आरोहणकी क्रियाके शिखर-रूप 'अतिमानस'में आरोहण होना चाहिये और हमारी पूरी सत्ता और प्रकृतिमें अतिमानस 'चेतना'-का रूपांतरकारी अवतरण होना चाहिये।"

('लाइफ डिवाइन', पृ० ८९०-९१)

आत्माकी क्या भूमिका है?

कहा जा सकता है कि यह परम प्रभु और अभिव्यक्त विश्वके बीच सचेतन मध्यस्थ है और साथ-ही-साथ परम प्रभुके साथ अभिव्यक्त विश्वका मिलन-स्थल।

आत्मा उच्चतम देवत्वको समझने और उसके साथ संपर्क स्थापित करनेमें सक्षम है और साथ-ही-साथ उच्चतम परम देव और बाह्यतम अभिव्यक्त विश्वका सबसे कम विकृत, सबसे अधिक पवित्र मध्यस्थ है। यह आत्मा ही है जो अंतरात्माकी सहायतासे चेतनाको 'उच्चतम' की ओर, भगवान्‌की ओर मोड़ती है और आत्मामें ही चेतना भगवान्‌को समझना आरंभ कर सकती है।

यह कहा जा सकता है कि जिसे "आत्मा" कहा जाता है वह है जड़-भौतिक जगत्‌में 'कृपा' द्वारा लाया गया वातावरण, ताकि यह अपने मूलकी चेतनाके प्रति जाग सके और उसतक लौटनेकी अभीप्सा कर सके। सचमुच यह एक तरहका वातावरण है जो मुक्त करता है, द्वार खोल देता है और चेतनाको स्वतंत्रता प्रदान करता है। यही है वह जो सत्यकी उपलब्धिकी तैयारी करता है और अभीप्साको उसकी पूरी शक्ति और संसिद्धि प्रदान करता है।

और भी ऊपरसे देखते हुए इसे यूं भी कहा जा सकता है : इस क्रिया, इस दीप्त और मुक्तिप्रद प्रभावको ही "आत्मा" नाम दिया गया है, उस सबको जो हमारे लिये परम तथ्योंतक जानेके पथ खोल देता है, जो हमें 'अज्ञान'की दलदलमेंसे, जहां हम फंसे हुए हैं, बाहर खींच लाता है, हमारे लिये द्वार खोल देता है, हमें राह दिखाता है, हमें कहां जाना चाहिये इसका निर्देशन करता है। मनुष्यने इसीका नामकरण किया है "आत्मा"। यह भागवत कृपाद्वारा विश्वमें बनाया गया वह वातावरण है जो उसे उस अंधकारमेंसे उबार सके जिसमें वह जा गिरा है।

मानव प्राणीमें जीवात्मा मानों उसका व्यक्तिगत संकेंद्रण, व्यक्तिगत प्रतिनिधित्व है। जीवात्मा मानवजातिकी विशेष चीज है, केवल मनुष्यमें ही इसका अस्तित्व है। यह मनुष्यमें आत्माकी एक विशेष अभिव्यक्तिकी तरह है। अन्य जगतोंकी सत्ताओंमें जीवात्मा नहीं होती, लेकिन वे आत्मामें वास कर सकते हैं। कहा जा सकता है कि जीवात्मा मानवमें आत्माका प्रतिनिधि है, उसे अधिक तेजीसे ले चलनेके लिये विशिष्ट सहायता है। जीवात्माके द्वारा ही व्यक्तिगत उन्नति संभव होती है। अपने मूल रूपमें आत्माकी क्रिया अधिक व्यापक, अधिक सामूहिक होती है।

फिलहाल आत्मा सहायक और पथ-प्रदर्शककी भूमिका निभाती है, पर यह जड़ जगत्‌की सर्वशक्तिमान् प्रभु नहीं है; जब नये जगत्‌में 'अतिमानस'

संघटित हो जायगा तब आत्मा प्रभु बनकर बिल्कुल स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूपसे प्रकृतिपर शासन करेगी।

जिसे "नव जन्म" कहा जाता है वह आध्यात्मिक जीवनमें, आध्यात्मिक चेतनामें जन्म है, वह अपने अंदर आत्माकी किसी ऐसी चीजको वहन करना है जो जीवात्माके द्वारा, व्यक्तिगत रूपसे, जीवनको शासित करना और अस्तित्वकी स्वामिनी बनना शुरू कर सकती है। लेकिन अतिमानसिक जगत्‌में आत्मा ही सचेतन रूपसे, सहज-स्वाभाविक रूपसे समग्र जगत्‌की और इसकी सब अभिव्यक्तियों और अभिव्यंजनाओंकी स्वामिनी होगी।

व्यक्तिगत जीवनमें इसीसे सारा अंतर पड़ जाता है, जबतक तुम आत्माके बारेमें बोलते-भर हो, इसके बारेमें कुछ पढ़ा है, इसके अस्तित्वका धुंधला-सा परिचय है, यह चेतनाके लिये कोई बहुत मूर्त वास्तविकता नहीं है, तो इसका मतलब है कि तुम आत्मामें नहीं जन्मे हो। और जब तुम आत्मामें जन्म ले लेते हो तो यह सारे स्थूल जगत्‌से अधिक मूर्त, कहीं अधिक जीवंत, कहीं अधिक सत्य और कहीं अधिक प्रत्यक्ष हो जाती है। और इसीके कारण मनुष्योंमें सारभूत भेद होता है। जब **यह** अनायास रूपसे सत्य बन जाती है — सच्चा, ठोस अस्तित्व, ऐसा वातावरण जिसमें तुम स्वच्छंदतासे सांस ले सको — तब तुम जान जाते हो कि तुम उस पार चले गये हो। पर जबतक यह अस्पष्ट और धुंधली-सी रहती है — तुमने इसके बारेमें कही गयी बातें सुनी-भर हैं, तुम जानते हो कि इसका अस्तित्व है लेकिन...। यह ठोस वास्तविकता नहीं बनी — तो इसका अर्थ है कि अभीतक तुम्हारा नव जन्म नहीं हुआ है। जबतक तुम अपने-आपसे यह कहते हो: "हां, इसे मैं देखता हूं, इसे छूता हूं, मैं जो पीड़ा भोगता हूं, जो भूख मुझे सताती है, जो नींद मुझपर हावी होती है, वही सत्य है, सचमुच यही ठोस है...।" (माताजी हंसती हैं) तो इसका अर्थ है कि तुम अभी उस पार नहीं गये हो, आत्मामें नहीं जन्मे हो।

(मौन)

असलमें अधिकतर मनुष्य कैदीके समान हैं जिनके लिये सब दरवाजे और खिड़कियां बंद हैं, अतः उनका दम घुटता है (यह बिल्कुल स्वाभाविक है), लेकिन उनके पास वह कुंजी है जो दरवाजों और खिड़कियोंको खोल सकती है, पर वे उसका उपयोग नहीं करते...। निश्चय ही, ऐसा भी समय होता है जब उन्हें यह मालूम नहीं होता कि उनके पास कुंजी है, परंतु इसे जान लेनेके बहुत बादमें भी, यह बताये जानेके बहुत बाद भी

वे इसका उपयोग करनेसे झिझकते हैं और उन्हें संदेह होता है कि इसमें दरवाजे और खिड़कियां खोलनेकी क्षमता है भी। और क्या दरवाजे और खिड़कियां खोलना अच्छा होगा! यह महसूस कर लेनेपर भी कि "आखिर, शायद यह अच्छा ही हो", थोड़ा डर बना रहता है: "जब ये दरवाजे और खिड़कियां खुल जायंगे तो क्या होगा? . . ." और वे डरे रहते हैं। उन्हें उस प्रकाश और स्वतंत्रतामें खो जानेका डर होता है। वे उसीमें बने रहना चाहते हैं जिसे वे "अपना आपा" कहते हैं। उन्हें अपना मिथ्यात्व और बंधन पसंद है। उनमें कुछ चीज इसे पसंद करती है और इससे चिपटी रहती है। वे इस ख्यालमें रहते हैं कि अपनी सीमाओंके बिना उनका अस्तित्व ही नहीं रहेगा।

इसीलिये यात्रा इतनी लंबी है, इसीलिये यह इतनी दुरूह है। क्योंकि यदि सचमुच कोई अपनी अस्तित्वहीनताके लिये सहमत हो तो सब कुछ कितना आसान, द्रुत, आलोकमय और आनंदमय हो जायगा — पर शायद उस तरह नहीं जैसे लोग हर्ष और आसानीको समझते हैं। तथ्य तो यह है कि ऐसे लोग बहुत कम हैं जिन्हें संघर्ष पसंद नहीं है। बहुत कम लोग इस बातसे सहमत होंगे कि रातका न होना संभव है, वे प्रकाशकी कल्पना अंधकारके उलटे रूपके सिवाय कर ही नहीं सकते "छायाओंके बिना चित्र न होगा, संघर्षके बिना विजय न होगी और कष्ट-सहन बिना आनंद न होगा।" बस, यही उनकी धारणा है और जबतक कोई इस तरह सोचता है तबतक, आत्मामें उसका जन्म नहीं हुआ है।

(खेलके मैदान दी गयी वार्ताओंमें यह अंतिम वार्ता है।)

अनुक्रमणिका

अंत,
इस सारी लीलाका, १-३, २०अ
महान्, आरंभ महान्, ६९-७०
अंतरात्मा [चैत्यपुरुष, जीवात्मा],
-का सतत यत्न, १७
-से सचेतन संपर्कका फल, १९, २८९, ३८७
-का निज स्वरूप, ४०, २८८
किसे कहते हैं, २०३अ
इतना छुपा हुआ क्यों है, २१७
-का विकास : उसके क्रिया और विश्रामके काल, २५३-५५
उन्नत, का नया शरीर, २५३-५४
-को पानेके लिये. . , २८८
-की सामर्थ्य, २९०
मूलसे जिसे मान लिया जाता है, ३०९
-में ही जीवनकी सार्थकता, ३४५
-के साथ संपर्कसे सुप्त संभावनाएं सहसा प्रकाशमें, ३६५-६६
-के लिये काम, ३८९-९०
आत्माका व्यक्तिगत संकेंद्रण, ३९४

सूचना :

ऐसे पढ़ें :

अति	**बच्चा**	**पशु**	**चीज**
-योंमें	-ेंको	-ओंमें	ˇ, सब,
अतियोंमें	बच्चोंको	पशुओंमें	सब चीजें

(२) जिन वाक्योंमें केवल शुरूमें (') है वह अपने-आपमें पूरा वाक्य है। उन्हें मूल शब्दके साथ मिलाकर न पढ़ें।

(३) जहां (") का प्रारंभ नहीं दिखाया गया, वहां मूल शब्दसे पहले (") कल्पना कर लें।

(४) कहीं-कहीं अधिक स्पष्टताके लिये लिखा है :

(दे० 'जगत्'-के रूपों भी), इसका मतलब है **जगत्**के नीचेका वह वाक्य देखो जो -के रूपोंसे शुरू होता है।

(५) पृष्ठ संख्याके बाद अ का मतलब है कि वह प्रसंग उस पृष्ठके अंतसे शुरू होकर, बस, अगले पृष्ठके आरंभतक ही गया है।

(६) जहां वाक्य-रचना मूल शब्दके साथ संगत न जान पड़े, वहां मूल शब्दके आगे कोष्ठमें जो शब्द दिया गया है उसके साथ मिलाकर पढ़नेसे वह संगत बन जायगी।

मानव जातिकी विशेष चीज, ३९४
-के द्वारा ही व्यक्तिगत उन्नति संभव, ३९४
(दे० 'अभीप्सा', 'आत्मा' भी)
अंतर्भास, ३६०
-की क्षमताका विकास, ३२९-३२
हृदय व बुद्धिके, ३२९-३०
-की मानसिक नकलें, ३६९
अंतर्राष्ट्रीय जीवन, ७७
अंतर्लयन, ३०७
-के बारेमें, १९४-९७
अचेतना, २, ९१, १९८, २४९
अच्छा-बुरा [दिव्य-अदिव्य, शुभ-अशुभ],
-की हमारी धारणा, १२९, २६०, २६३
अज्ञान, २०, १२९, ३०९, ३२०
दु:खका मूल, ७-८, १०, ११
यथार्थ, ८
-का राज्य, ८
व अचेतनताका फल, ४९
जीवनके प्रति, ९५
ज्ञान ही है, १९०अ
-के अंदर सत्यचेतना .., २११, २१८अ
ज्ञानको सीख दे !, २२५
(दे० 'भूल', 'विभेद' भी)
अति,
-योंमें स्वास्थ्य चौपट, ९५
अतिमानव [अतिमानस सत्ता],
अतिमानसिक तरीकेसे निर्मित और इस भौतिक शरीरसे रूपांतरित, १२५, १८२
-के उत्पादनकी प्रक्रिया, २७७
शिक्षार्थी, ३७८
(दे० 'प्रयत्न' भी)
अतिमानस,
-का अवतरण ही निर्वातित अतिमानसको मुक्त .., १४९-५१
निर्वातित : क्या है, १४९-५०; यदि यहां न होता, १५०, १९१, १९२
-के अवतरणका परिणाम, १५७, १५८ टि०
-का मूल स्वरूप : सत्यचेतना, १८३
-को पाना कठिन क्यों, यदि वह वस्तुओंके पीछे छुपा. ., १९१-९२
-की धारणा बना सकना, ३११
-का विविधताके साथ व्यवहार, ३८८
-की प्रतिष्ठाके लिये .., ३९३
अतिमानसिक अभिव्यक्ति (पुस्तक), ८४, १७३अ
अतिमानसिक अभिव्यक्ति,
-का प्रमाण, २२७अ
-का पहला पहलू : शक्ति, २२८
एक बार जब हो जायगी, २८१-८२
अतिमानसिक जगत् [नया जगत्],
और पुराना जगत्, १३८-४१, १४२, १५०-५१
जन्मा है, १४१, १४२
-में धर्म नहीं रहेंगे, १४३
-की संभावनामें मूल हेतु, १५०-५१
-में सहयोग : की आधारभूत चीज, १५१; करनेके तरीके, १५१
-की सत्ताओं और मनुष्योंमें अंतर, २५५
और भौतिक जगत्का मध्यवर्ती प्रदेश, २५६, २५९अ, २९२
और हमारे जगत्के बीच प्रधान अंतर, २६१, २६४-६५

अतिमानसिक जीवन,
-में गुह्यविद्याका क्या स्थान होगा ? १७५-७८
-में भेद होंगे, १७६-७७, १७८-७९
और साधारण जीवनमें फर्क, १७७, १७९, १८०
-में विकास बना रहेगा, १८०
-में सब संभव चीजें होंगी, १८१
-को बौद्धिक क्रियाशीलताद्वारा पाना कठिन, चैत्यभावसे आसान, ३०२
(दे० 'दिव्य जीवन' भी)
अतिमानसिक ज्ञान,
-में वास और उसकी अभिव्यक्ति, १८४-८६
अतिमानसिक तत्त्व [नया तत्त्व या पदार्थ], २५६
-के जड़पदार्थमें अवमिश्रणके संकेत, २७७-७८
-के गुण, २९२, ३०२
-की इंद्रियगोचरता संभव, २९२अ
-का बढ़ता प्रभाव; निष्कर्ष, २९३
-को तुम हर सांसके साथ. ., ३१२
और नवजन्मका कार्य, ३१२
अतिमानसिक दृष्टि, १८४
(दे० 'मूल्यांकन' भी)
अतिमानसिक नाव, दे० 'श्रीमाताजी'
अतिमानसिक शक्ति [नयी शक्ति], ८४
-का सामर्थ्य, ५, ३५
-का कार्य और व्यक्तिगत प्रयत्न, ५-७
-का प्रथम आविर्भाव, ३९, १५०
आश्रममें ही नहीं, सर्वत्र क्रियाशील, ३९, १०५
-का कार्य, १४२, १५१
-को भौतिक जगत् निगल गया, १५१
-का आधार : पूर्ण संतुलन, २२८
(दे० 'विरोधी शक्ति', 'संतुलन' भी)
अतिमानसिक समाज, १६४
(दे० 'समाज' भी)
अधिकार,
पारस्परिक, ८
सच्चा, पदार्थपर, २६१, २६५
अधिमानसिक सृष्टि, १४१, १४३
अधीरता, ६५
अध्यवसाय, ३२, ६९
अनुभव [अनुभूति], १४०, ३१२
पहला, आंतरिक सत्ताका, और करने लायक चीज, १५५
जगत्के पीछेके सत्यका, २२६
-की यथार्थताका प्रमाण, २२७
-का एक क्षण सब व्याख्याओंकी अपेक्षा. . , ३०२
पूर्ण तभी, जब शरीरके कोषाणु भी . ., ३०२अ
(दे० 'आध्यात्मिक अनुभूति' भी)
अनुशासन, ७९, २३९, २८७, ३३०, ३३२
अभियान, दे० 'आह्वान'
अभीप्सा [ज्वाला, लौ, आवश्यकता], ३२८, ३५४, ३७५, ३८६
न करनेवाली अंतरात्माएं, ६२
आंतरिक, में तल्लीन, ११३
व प्रयत्नकी ऐसी घनता कि व्यक्ति विस्फोटक . ., १३०
सत्य जीवनकी, १५३-५४, १५५
जिसे 'मां' हममें संचारित . ., १८३

-को प्रज्वलित रखनेके लिये., ३२५
'सहसा एक **अदमनीय** आवश्यकता-का अनुभव, ३४३-४५
'सचमुच चाहना होगा, ३४५, ३९१
(दे० 'नियम', 'शरीर', 'सत्य' भी)

अमरता, ६९

अमृत, २८

अवतार, ८८
एक भागवत शक्तिके ही रूप, १८८; नये रूपोंका प्रयोजन, १८८
-के बारेमें, ३०७-९; एक बहुत पुरानी परंपरा, ३०७-८

अशुभ,
-की शक्तिसे महान् शक्ति ही विजय प्राप्त . ., ३ टि०, ५
(दे० 'आनंद' भी)

अहं, ६, २४, ३०९, ३८०
-से मुक्ति : जरूरी, ४२, ३९२; आत्म-प्राप्तिके बाद, ३१२
-पर वशित्व : खेलोंसे, ७९, ९२; नैतिकताद्वारा, ३७७
है 'शक्ति' को खींचनेकी इच्छा, २२९
' 'मैं' से शरीरका बोध, २८९
सामूहिक, ३२६
व्यक्तिभावापन्न सत्ताका, ३७१
'अपनी अस्तित्वहीनताके लिये यदि कोई सचमुच सहमत हो, ३९६

आ

आंतरिक संकेत, ३२-३, ३२९

आकर्षण,
मानवका, विरोधोंमें, २७-९, ३९६
अग्निपरीक्षाओं व कष्टोंका, ४०, ६२
-विकर्षण, पहली दृष्टिमें, १७०-७२

आकार,
-की स्थिरता, व्यक्तित्व-निर्माणका साधन, ४३-८
(दे० 'रूप', 'चेतना' भी)

आत्म-जिज्ञासा, १६-७, ३४, ३४४

आत्मदान, दे० 'समर्पण'

आत्म-निरीक्षण [अवलोकन], १६, ४५, २४८, २८९-९०, ३३१, ३५६, ३५७

आत्म-प्रभुत्व [आत्म-संयम], ६८, ७८
जरूरी, ६९, ३५७
-की पहली चीज, २४७-४८, २९०
(दे० 'कल्पना', 'वाणी', विचार', 'शरीर' भी)

आत्म-वंचना [छल, कपट], २८६, ३०४-५, ३३१, ३७७

आत्म-संतोष, दे० 'बैठ जाना'

आत्मा [आध्यात्मिक सत्ता],
और जड़तत्त्व [शरीर]के संबंध, ७३, ८५, १००-१, २०२
-का श्वास ही काफी नहीं, यंत्रमें भी योग्यता चाहिये, ८९
-की अभिव्यक्तिका रूप, २०७
-को पहचानना, दूसरेकी, २८६-८८
जिसे लोग, कहते हैं, २८७-८८
मनसे भिन्न है, ३०७, ३१३
-से संपर्क : शंका, ३१०-११
-के निश्चयात्मक उन्मज्जनका चिह्न ३१३
क्या सबमें होती है ? ३१३-१४
लंबे प्रयासका फल, ३१३, ३१४

-के खिलनेके मुख्य भाव, ३८०
-की क्या भूमिका है ? ३९३-९५
-में नव जन्म, ३९५, ३९६

आदत,
-के द्वारा सब क्रियाएं, ४५-६, २४७, ३४४
-ों, पुरानी, से मुक्ति. . , १३८, १५१

आदर्श, दे० 'लक्ष्य', 'काम', 'धर्म', 'प्रगति'

आध्यात्मिक,
होना ही पर्याप्त नहीं, ७३

आध्यात्मिक अनुभूति,
-ने जो दिशा पकड़ी, ३१६
-के लिये चाहिये, अंतरमें 'आध्यात्मिक सत्ता', ३१८, ३३८, ३३९
-को मन-प्राण-शरीरमें भी रूपायित करना जरूरी, ३१९, ३६८
-को मानसिक रूप देनेकी प्रवृत्ति, ३६७-६९, ३७२, ३७४; इससे उसका सारतत्त्व नष्ट, ३६७, ३६९-७०, ३७४
-का दार्शनिक विकास, ३७३
-पर आलोचक बुद्धिका नियंत्रण, ३७३

आध्यात्मिक उपस्थिति,
सबके अंदर, ३१३
-का प्रभाव, ३१४
मनुष्यमें काफी प्रत्यक्ष, ३१४
अविकसित या दानवीय मानवमें भी, ३१४
(दे० 'विनाश' भी)

आध्यात्मिक क्रांति [अतिमानसिक क्रांति],
अवसरकी प्रतीक्षामें, ७४
-से नया युग, ७५

आध्यात्मिक जीवन,
-को विकृत रूप देनेवाली धारणा, ८अ
और भौतिक जीवनमें विरोधकी भावना, ८४
-में कुछ चीजें महत्त्वपूर्ण, कुछ नहीं, ऐसा मानना, १४०
-का आरंभिक बिंदु, ३४५, ३८७
जीनेका अर्थ, ३८१-८२
-का अनुकरण, ३८३
(दे० 'समाज' भी)

आध्यात्मिकता,
पुरानी, ८, ८६, १४२, २७८, २८४अ
विषयक : नवीन निर्धारण [दृष्टि], ९, १४२; अगला चरण, २८४-८५
-के प्रति मानव जातिमें खिचाव इस बातका चिह्न . ., २७७
भूलसे, जिसे मान लिया जाता है, ३०९-१०
सार रूपमें, क्या है, ३१०
-द्वारा प्रस्तुत मानव समस्याका हल, ३८०, ३८१
'आध्यात्मिक क्षमता किसीमें कम या अधिक, ऐसा नहीं, ३८१-८२
मनको अपने-आपसे छुटकारा पानेमें मदद करती है" : व्याख्या, ३८५-८६
(दे० 'मनुष्य', 'मनुष्यजाति', 'विज्ञान' भी)

आध्यात्मिक दर्शन,

-ने जो दिशा ली, ३१५-१६
-का क्षेत्र, ३१७
-के योग्य व्यक्ति, ३१८
-का स्वरूप पूर्वमें और पश्चिममें, ३७२-७३
"आध्यात्मिक सिद्धांतके मानसिक परिणाम" : व्याख्या, ३७४
आध्यात्मिक नेता,
-ओंकी बाह्य चरितार्थता, ८८
आध्यात्मिक पूर्णता, ८६
आध्यात्मिक मनुष्य,
और मानव जातिकी सहायता, ३७९-८१
आध्यात्मिक विकास [व्यक्तिगत विकास],
ही पार्थिव जीवनके अस्तित्वका हेतु, ९२, १९८, १९९, २०७, २९१
-का एक इतिहास, प्रत्येकका, १८९
-का आरंभ अज्ञानसे, ३०९अ
-की चार चीजें — आध्यात्मिक दर्शन, गुह्यवाद, धर्म व आध्यात्मिक अनुभूति, ३१५-१९
सदा प्रत्यक्ष नहीं होता, ३१८अ
-की प्रगतिका स्वरूप, ३२०
निर्णायक, के लिये मनुष्य कब तैयार होता है, ३८६अ
-में विभिन्नताका सत्य, ३८७-८८
-में सबसे सहायक चीज, ३८७, ३८८-८९
-की ठीक अवस्थाका पता कैसे, ३९०
-का सर्वश्रेष्ठ तरीका, ३९२-९३
आध्यात्मिक शक्ति,
और बाह्य योग्यता, ८९
(दे० 'मन' भी)
आनन्द, २२७
सत्ताका, १-२, २२-३
द्वारा अशुभपर विजय, ५, ९
यथार्थ, ९
रहस्य, विश्व-लीलाका, २०-१, १९६
-को जानना : साधना, २१-३; इसे यदि आनंद-प्राप्तिके लक्ष्यके साथ किया जाय, २४
-का अनुभव; पशुओं, पौधों, फूलोंमें, २३; मनुष्योंमें थोड़ा कठिन, २३
(दे० 'विश्व', 'सुख' भी)
आश्रम,
-के पास ही ग्रहणशीलताका एकाधिकार नहीं, ३९
-जीवनमें खेल : इनका आरंभ व उद्देश्य, ९१-२ (दे० 'खेल' भी)
-में चिकित्सक, औषधालय. क्यों, १०३-४
-के अतिथिगृहमें पत्थरोंकी बौछारवाली घटना, १२१-२२ टि०
-में अधिमानसिक सृष्टि, १४१
-की स्थापना, १४१
-की सामान्य चेतना नीचे गिर गयी लगती है : कारण व इलाज, १६३-६६
-के 'सामूहिक व्यक्तित्व' : का निर्माण, १६३-६४; से मेरा मतलब, १६४
-को यदि बने रहना है, १६५
-में रहते हुए पूरा लाभ हम क्यों नहीं उठाते ?, ३४२-४४
आश्रमवासी,

'तुम यहां कैसे आ गये ?, १७-८
'हम विशेष कारणोंसे यहां हैं, ३६
'हमें जिसके लिये प्रयत्न करना चाहिये, ३६, ६९, १०६, १५२, १५५, १६५, १७२, २२८अ २३६, २४२, २४४, २६२ २७५, २९६, ३११-१२, ३१९ ३२०-२२, ३४५, ३७९, ३८८-८९, ३९१, ३९२-९३
'हमारा सामूहिक प्रयास, ३८, ४०
'तुम यहां सत्यके संसारके संपर्कमें रखे गये हो, ६९
(दे० 'अतिमानसिक तत्त्व' भी)
श्रीअरविन्द हमसे जिस प्रयासकी आशा करते थे, ७५-६, ८९-९०, १८१-८२
'हमारे लिये : एक संभावना है, १६१-६२; से मेरा मतलब, १६१अ
आसन, ८५
-ोंका परिणाम भावनापर निर्भर, १४७-४८
आसक्ति, ३५, ३८६
आह्वान [निमंत्रण],
चल पड़नेका, १३, १५१, २४२, ३११, ३१२
अभियानके लिये, १४४, २६२
इस संक्रमणकालके सजग निरीक्षण-का, २७५

ई

ईसाई धर्म, ७३, १८९, ३७२

उ

उदाहरण,
अच्छा रखना, ७८
उदाहरण [रूपक आदि पुस्तकके],
'मधु अपनी बूंदों .., २०अ, २४-५
'शादी करना जैसे निश्चय, ३०
'थियोसोफिस्ट युवती : कॉफीमें चीनीकी समस्या, ३१
'१००० ई०, संसारका अंत, ३७
'राजाके आरोग्यके लिये प्रार्थना, ३८, ३४०
'दरवाजा या पुस्तक खोलना, ३९
'दास, नाम वाला, ४५
'सीने व लिखनेका तरीका, ४७
'गुह्यवेत्ताकी टिप्पणी, स्वाधीनता-पर, ४९अ
'शांतिप्रिय लोग, ६३
'सिंहका बल, बंदरका फुर्तीलापन, पक्षीका हवामें विचरण, ८२
'रूसी कसरतबाज, ८३
'युद्धमें विमानचालक, ८७
'आध्यात्मिक अवस्थामें चित्र, संगीत, कविता करनेकी कोशिश, ८९
'सिगरेट और शराबमें जीवनकी सार्थकता माननेवाला, ९५-६
'बंदरको शराब, ९६
'अण्डेमें मुर्गीका बच्चा, १३०
'सिनेमा : रानी रासमणि, १४० टि०
'बोझ ढोनेका काम, १४७
'चलना, सीढ़ियोंपर चढ़ना-उतरना, चीज उठाना .., १४७-४८
'वायुयानोंसे दुनिया छोटी, १६०

'पियानो बजाना सीखना, पुस्तकोंसे, १७६
'सिनेमा : गौतम बुद्ध, १८६ टि०
'पत्थर सामान्य दृष्टिमें, १९९, २९९
'पौधोंका धूप पानेके लिये प्रयास, २००
'पौधे, मांसाहारी, २००
'हाथी, अत्यंत बुद्धिमान्, २०१
'कुत्ता, हाथी, बंदर-योनिकी आप-बीती बातें, २०४-५
'प्लास्टिसीनसे रूप बनाना, २१५
'कुत्ता या घोड़ा, हाथी बननेकी चेष्टा नहीं करता, २२०
'वार्षिकोत्सवके लिये कार्यक्रम, २४६
'सवेरे उठनेपर करणीय कार्योंका पता न हो या शक्ति न हो, २४७
'नाटक उपसंहारके बिना, २५०
'घूमने निकलना, एक रास्ता छोड़ दूसरा रास्ता . . , २५२
'हाथ, कलाकारों और संगीतज्ञोंके, २५४
'पहननेके लिये यहां पोशाक और खानेके लिये चीजोंकी, बाहरसे जरूरत, २६१
'निकम्मा आदमी यहां ऊंची और योग्य दीन स्थितिमें, २६१, २६४
'प्रिज्ममेंसे प्रकाशको देखना, २६९
'विकृत करनेवाले आइने, २७०
'दीपसे अंधकार लुप्त, २८६
'स्फटिक, समुद्र व पवनकी गतियोंसे प्रच्छन्न चेतनाका आभास, ३००
'बिजली, बादलकी उपज !, ३०६
'अच्छे अन्नके साथ जंगली घास, ३२६
'फ्रांसका एक जुआरी, प्रेतात्माका माध्यम, ३३५-३६
'एक वैज्ञानिक, जो अदृश्य जगत्का प्रत्यक्ष प्रमाण . ., ३३८-३९
'दरवाजा खुलना, ३४७
'गहरे कूंएंमें उतरनेका अनुभव, अंदर एक हॉल . ., ३४९
'बाल जिसके झड़ रहे थे, ३५०
'फूल या पत्थरपर एकाग्रता, ३५३
'समुद्रका कार्क नहीं, पंछी, ३५८
'गेंद दीवारसे टकराकर वापस, ३६२
'बांहको टांगके साथ पद्रंह दिनतक सम्मोहनसे जोड़े रखा, ३६४
'अल्प-शिक्षित युवती, चैत्य-संपर्क-कालमें अपूर्व लेखिका, ३६६
'वाद्ययंत्र, जिसमें अधिकतर स्वर नहीं, ३७०अ
'आरकेस्ट्रा : विकसित व्यक्ति, ३७१
'दौड़नेका तरीका, ३७९
(दे० 'आश्रम', 'कर्म', 'कहानी', 'श्रीअरविंद', 'श्रीमाताजी' भी)
उद्देश्य, दे० 'लक्ष्य'
उन्मज्जन,
जड़तत्त्वमेंसे प्राण, मन व अध्यात्म-सत्ताका : इसका स्वरूप व प्रक्रिया, १४९, १९९-२०१, २६८-६९ टि०, २७२-७४, २७५-७७, ३०१, ३०६-७
उपनिषद्, ३७२
उपलब्धि [चरितार्थता],
नयी, में सभी वस्तुएं आ जानी चाहिये, ७५-६, २४४
-का जिन्हें सौभाग्य. ., १५१, २२२

-का प्रयास करनेवालोंको एक सलाह २२८-२९
(दे० 'निश्चिति', 'समय' भी)
उपवास, दे० 'भोजन', 'श्रीअरविंद'

ए

एक और बहु, ४७, ३७४
एकता [एकत्व],
-में सर्वकी उपलब्धि, विलय नहीं, ७-८
स्रष्टाका सृष्टिके साथ, ८, २९९
सचेतन, अचेतन, ४७अ
-में ही पूर्ण स्वतंत्रता, ४९, २५२
-की प्राप्ति आत्मदानद्वारा, ४९
-में विविधिता अभिव्यक्तिका नियम, ३८८
(दे० 'विभिन्नता' भी)
एकाग्रता, २३८
-की शक्तिका महत्त्व, ८०, ३३२
सतत, आंतरिक उपलब्धिपर, ११२
-का **एक पल** जब काफी . ., ३७५
(दे० 'ध्यान' भी)

औ

औषध [दवाई],
-की उपयोगिता, ११७
न लेनेका संकल्प, ११८

क

कक्षा,
-के शुरूमें वाचनका प्रयोजन, १०८अ
-के लिये 'विचार और सूत्र' लेनेका उद्देश्य, ३५३-५४
कठिनाई [बाधा], ८४
काममें, किस बातका चिह्न, २९-३२
-से छुटकारा : उपाय, १५२, ३८९
प्रगति करना चाहनेपर, १६६
(दे० 'जड़तत्त्व', 'नीरवता', 'शक्ति' भी)
कर्म,
-ोंका आनन्द, तलवार, तीर. . .की तरह, १९६-९७ टि०
और चिंतनका एक साथ निबाह कठिन, २४३
(दे० 'काम', 'मन' भी)
कलाकार, २८, ७०, ३६५
कलामयता, दे० 'विरोध'
कल्पना, २५
निर्माणकी शक्ति है, ३५०
-पर नियंत्रण, ३५४-५८
(दे० 'ध्यान' भी)
कहानी,
बौद्ध : श्रीमती 'ज' के ध्यानके समय बाघ, ५०-२
यूसुफकी, दीक्षाकी, ६५-८
विश्व-सृष्टिकी, १९६-९७
रचना, ३५६-५७
काम [कार्य],
करनेका श्रेय यदि मुझे नहीं मिलता, ६-७
रुचिकर कब, अप्रीतिकर कब, १०
-ोंके बारेमें सही 'निर्देशन' को कैसे पहचानें, २९-३२
-में महत्त्वकी चीज : वृत्ति, ३०-१, ३२, ९३, १४७-४८

-में आदर्श स्थिति, ३१, २९६
हाथमें लेनेपर एक सामान्य नियम, ३२-३
दोनों छोरोंपर, ९०; एकके लिये दूसरेकी अवहेलना नहीं, ९०, ३१९
प्रतिदिनके, शारीरिक शिक्षणके रूपमें, १४७-४९
'भूरि अस्पष्ट कर्त्वम्', ३९०
(दे० 'कर्म', 'प्रयास', 'वाणी', 'समय' भी)
कामना [इच्छा],
-तृप्तिसे कामना-जयमें अधिक आनंद, २१-२
-के रहते आनंद नहीं, २२
-ओंकी पूर्ति साधारण मनुष्यके जीवनका हेतु, ९४-६
कार्य [परिणाम],
कारणसे पहले मौजूद, ३०६
काली, ३४७
कुंडलिनी शक्ति, १४५
कृतज्ञता,
श्रीअरविंदके प्रति, १६३
केंद्र, दे० 'चक्र'
क्रांति,
-यां तीन : भौतिक, नैतिक, आध्यात्मिक, ७३-५
और ध्वस्तताका विचार, १६१

ख

खेल,
प्रकृतिका, लुकाछिपीका, ९-१२; इसे बदल देना अधिक अच्छा, १०-२, ३५-६ (दे० 'भगवान्' भी)
-ोंका अमूल्य लाभ, ७६-७
-ोंमें बुरी भावनासे खेलना : बच्चोंको कैसे बचाया जाय, ७७-८
और योग, ७८-९
-प्रतियोगिताओंसे प्रगति, ९२-३
-ोंकी अपेक्षा व्यायामोंमें रुचि कम : क्यों ?, ९४
(दे० 'आश्रम', 'शारीरिक शिक्षण', 'सचेतनता' भी)
खेलाड़ी मिजाज, ७६, ९२
खोज, ४१, ३९१
दिव्य स्वरूपकी, अंधवत्, १५-२०
-में स्वतंत्रता, २५१-५२
", रोचक, आंतरिक कार्यमें, २६२, ३०४
-के योग्य वस्तुएं, दो नहीं, ३६३

ग

गीता [भगवद्गीता], ३७२ टि०
गुण,
खेलोंसे विकसित होनेवाले, ७६
बच्चोंमें विकसानेके, ७८
निम्नतर पूर्णतामें, ८७, ९१
नैतिक, ३७६
(दे० 'गुह्यविद्या' भी)
गुरु, ३४३
कौन, ६२
गुह्यविद्या [गुह्यज्ञान, गुह्यवाद], ८३, २२४
क्या है, १७६, १७७

-का प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति करता है, १७७-७८
-ने जो दिशा अपनायी, ३१५
-का क्षेत्र, ३१७
-के योग्य व्यक्ति, ३१८
पश्चिममें और पूर्वमें, ३५९
उच्चतम रूपमें, ३५९, ३६०
और सफेद जादू, ३६१-६२
सीखनेके लिये विशिष्ट गुण चाहिये जब कि विज्ञान. . , ३६५
(दे० 'विज्ञान' भी)
ग्रहणशीलता, ५, ३६, ३९-४०, १५१ २२८ (दे० 'नीरवता' भी)

च

चंद्रमा,
और चांदनीका प्रतीक, २६६
चक्र [केंद्र, शरीरस्थ],
-ोंको पूर्ण बनाना होगा, ८३
-ोंके उद्घाटनका फल, १४५ टि०
चमत्कार, २६, २७, ९१, २७३
-ोंको देखनेकी दृष्टि, २३५अ
चिंतन, २४३, २७१-७२
चिंता, २४७, २८३
चीज [वस्तु],
एकमात्र महत्त्वकी, ३२, ११३-१४, १५२, २४४, ३४५, ३७९, ३८२, ३९१
", सब, प्रगतिशील विकासकी अवस्थामें, ३४
", करना, जैसे दूसरे करते हैं, ४६-७
ऐसी है, क्योंकि यह ऐसी है, १२१
-ें, पुरानी, की अस्वाभाविकताका बोध जरूरी, १३८
", वैसी नहीं हैं जैसी प्रतीत होती हैं (विज्ञान), २२६
", हमेशा ठीक-ठीक क्यों नहीं चलतीं, २४८
अधिक अच्छी, की मनुष्यके हृदयमें यदि आशा न होती, ३२८
चेतना,
-का नव जन्म, १९, १३०, ३११
(दे० 'आत्मा' भी)
-का परिवर्तन, १२९-३०, ३८१-८२, ३८३; फिर भी बहुत कुछ करना बाकी, ३२०, ३९०
-का प्रभाव, भौतिक कर्ममें, १४७-४८
-के अवतरणसे आकारका विकास या आकारका विकास चेतनाके अवतरणको . . , २०९-१०
'मूलतत्त्व अभिव्यक्तिसे पहले, २१०, ३०६
ही रूपसे पहले, २२४-२५
-को छाननेका काम करना चाहिये, २४०, ३५६
-का पलटाव प्रकृतिके प्रत्येक संक्रमणमें, २६८ टि०
-के प्रत्यावर्तनका मतलब, २६९
-का यह तत्त्वांतरण तब मनुष्यके लिये सदा संभव होगा, २८२
-का परिवर्तन ही मानव समस्याओं-का हल, २८३, ३८०
-के परिवर्तनका क्रम पिछले विकास-में और मनुष्यमें, २९०-९१
विकसित नहीं होती, इसकी अभि-

व्यक्ति विकसित होती है, २९९टि०
(दे० 'उन्मज्जन', 'जगत्' -के रूपों', 'शरीर' भी)

छ

छिद्रान्वेषी [सेंसर],
हर एकके साथ, २६२-६३

ज

जगत् [संसार],
-की रक्षा, ३ टि०, ५, ७७
(दे० 'मनुष्य जाति' भी)
-के त्यागका विचार, ४-५
(दे० 'जीवन' भी)
बुरेकी धारणा, ८; इसके अतिक्रांतका समय आ गया है, ९
शक्तिकी लहरोंका समुद्र, २७
युद्धका क्षेत्र, ६३
-को परमेश्वर आटेकी तरह क्यों गूंधता है, ७१
-के रूपों और क्रियाओंके पीछे एक गुप्त 'चेतना', ९१अ, ३००
-के प्रति दृष्टिका परिवर्तन, चेतना-परिवर्तनके बाद, १२९
जड़, में भी एक गुप्त 'सत्य', १९०-९१, १९२; इसे जाना जा सकता है, १९४
अंध-शक्तिने नहीं बनाया, यह संयोग नहीं, १९०, २४६
-में एक विधान, योजना है, १९१, २४६
-की परस्पर-विरोधी व्याख्याएं, १९२-९३
-की वास्तविकता व्यक्तिनिष्ठ, १९२-९३
-के भ्रमपूर्ण प्रतीत होनेका कारण, १९३, २२६
प्रत्येक व्यक्तिका, १९३
यह, विभाजनका परिणाम, १९७
यह, मिथ्या किस लिये, २६४
(दे० 'अतिमानसिक जगत्', 'विश्व' भी)
जड़तत्त्व [जड़ पदार्थ],
-का रूपांतर : बाधा, ३४, ३५
रूपांतरकी दृष्टिमें, ८५
-में रूपांतरकी क्रिया, ८५
-में अतिचेतनाकी उपस्थिति, ९१-२, २९८
सूक्ष्म भौतिक, १२२
-पर विजय, २०२, २६६
-मेंसे आत्माके जन्मका सिद्धांत, २१०, ३०६
(दे० 'आत्मा', 'उन्मज्जन', 'शरीर', 'समय', भी)
जन्म, २०२, २९१
-से प्रेम, इस लिये मृत्यु, २७
काम-प्रक्रियाद्वारा : इससे यदि बचना हो, १२१-२३; इसकी हानि, १२२अ
लेना पृथ्वीपर, अतिमानसिक रूपोंके प्रकट होनेके बाद, १४३
नये, में पिछले जन्मके अनुभव उपयोगी कैसे ?, २५३
(दे० 'आत्मा', 'चेतना' भी)
जन्मकुण्डली, २६७

जागरण, ३८६, ३८७
सद्वस्तुके प्रति, ३४३-४४
जाति,
मध्यवर्ती (नयी, मानव और अतिमानवके बीचकी), १२५, १७३, १८१-८२, २२८, २९२, ३७८
पूरी-की-पूरी लुप्त हो जाती है, क्यों ?, २०५-६, २१८
मध्यवर्ती, बंदर और मनुष्यके बीचकी, २०६
अपने जातिगत गुणोंसे संतुष्ट, वह नयी जातिमें परिवर्तित होनेकी चेष्टा नहीं करती, २२०
(दे० 'मनुष्य जाति' भी)
जापान,
-में सीनेका तरीका, ४७
जीवन, २९
-में आत्म-जिज्ञासा, १६-७
(दे० 'आत्म-जिज्ञासा' भी)
और मृत्यु, ३३
है, गति, प्रयास . . , ६४
-को व्यवस्थित करो तो समय . ., ८०
-का त्याग, ८६, ८७, १४२, २८४अ, ३१९, ३७१
-की पथ-भ्रष्टता, ९६
-के फूलके खिलनेकी-सी अवस्था, ११३
प्रत्येक, जड़तत्त्वपर विजयमें एक पग, २०२
रासायनिक संयोगका परिणाम नहीं, २२३
-में नकल करनेकी प्रवृत्ति, २२५
-में जीनेकी शक्तिका मूल, ३२७-२८
(दे० 'अतिमानसिक जीवन', 'आध्यात्मिक जीवन', 'दिव्य जीवन', 'भौतिक जीवन', 'कामना', 'रूप', 'विरोध' भी)
जुनून, महात्मा, ६५
ज्ञान, ३३९
स्पष्ट, जीवनके प्रयोजनका, १९
-का 'पात्र', ६४-५, ६८
और आचरण, ६४-५, ६८अ
अतिमानसमें दे० 'सत्यचेतना'
और संकल्प जरूरी कुछ करनेके लिये, २४६-४७
तादात्म्यद्वारा, २६७, ३१३, ३६९
सामान्य 'मैं', सक्रिय इच्छा-शक्ति और अंतरात्माके भेदका, २८९-९०
अपना व जगत्का पानेके लिये जरूरी चीज, ३१६
(दे० 'अतिमानसिक ज्ञान', 'सत्य', 'समझ', 'संदेह' भी)
ज्योति [प्रकाश], २८
-के बिंदुको अपने भीतर चमकने दो, २४४
-में छलांग या पशु-जीवनमें वापस, २७७, २७९
-की बूंद, नीरव मनमें, ३३०-३१
(दे० 'भय' भी)
ज्योतिर्मय मन,
-के बारेमें, १७३, १८१, १८३
-में 'सत्य' वसन धारे . . पर वह पारदर्शक : व्याख्या, १८४-८६

ट

टॉल्स्टाय के पुत्र,
-के मानव एकताके विचार, ५३

त

तंत्र [तंत्रविद्या], १४४, ३५९
तमस् [जड़ता, तामसिक निष्क्रियता],
-के विरुद्ध लड़ना, ६२-४
और प्राणिक क्रियाशीलता, २८७अ
श्रद्धाके उपार्जनमें, ३२५
तर्क-वितर्क, २४३
तारों,
-का भाग्यपर प्रभाव, २६६-६७
तेमसेम, दे० 'श्रीमाताजी'
तेंर द जोम्स (पुस्तक), ४५ टि०
त्याग [छोड़ना],
पानेकी खातिर, ६९
अनिवार्य, नये जगत्को लानेके लिये, १५१, १५२
(दे० 'जगत्', 'जीवन' भी)

द

दरिद्र [दरिद्रता], ६२, ९०
दर्शन, ३१७, ३७२
पाइथागोरियन, स्टोइक और एपीक्यूरियन, ३७२
(दे० 'आध्यात्मिक दर्शन' भी)
दासता,
शरीर व निम्न प्रवृत्तियोंकी, ७९, ९७
बाह्य आकृतिकी, से मुक्ति, २८९
विरोधी गतियोंकी, ३५७-५८
(दे० 'स्वतंत्रता' भी)
दिखावा, ९३
दिव्य जीवन (पुस्तक), १७६, ३१८
-के अंतिम अध्याय, १४, १९८
-का पाठ, २३६-३७
दिव्य जीवन,
-के लिये शरीरका रूपांतर जरूरी, ८१, ८२, १००
-का अर्थ, ८५
मानव जीवनकी सब क्रिया-प्रवृत्तियोंको हाथमें लेगा, ८५, ८६, १५७-५८
-के लिये अतिमानसका अवतरण आवश्यक, १४९
(दे० 'अतिमानसिक जीवन', 'आध्यात्मिक जीवन' भी)
दिव्य कलाकार,
-का हाथ ऐसे काम करता है मानों. . , ७०
दिव्य प्रेम,
निश्चेतनामें न कूदता यदि. . , १२
-ने निश्चेतनामें डुबकी . . , ३०८
दुःख-कष्ट [पीड़ा, विपत्ति],
-का रहस्य, २, २०, १६-७, ४०, ४२, २४८
विलीन कब, ८, ४२
जगत्के, का विलयन आवश्यक, १२, २७९
-का सामना : फल ४०अ
-मेंसे सच्ची शक्ति व श्रद्धा, ४१
-की चाह अस्वस्थ वृत्ति, ४१अ
भौतिक, और विकृति जन्य, २८०
(दे० 'कठिनाई', 'मनुष्य',

'मुक्ति', 'शरीर', 'सचेतनता', 'समर्पण' भी)

दुर्बलता,
-पर विजय, ६९, २९५
-की दलील, एक बहाना, २८६
'निरुपाय भाव जरूरी नहीं, ३५७-५८
(दे० 'स्वतंत्रता' भी)

दुर्भावना [अशुभ भावना, असद्भावना], १५१, १५४, १५५, ३२५

दूसरा,
यदि पशुवत् . . , १२९
(दे० 'दोष', 'निंदा', 'मूल्यांकन', 'विचार', 'विभिन्नता', 'सहायता' भी)

देवता, १४, ३२७
और अतिमानसिक जगत्, १४३
-ओंके बारेमें, ३४६-४७

देश और काल,
-से बाहर निकलना, २-३

दोष,
-ोंको दोहराना, ५५ टि०
हमेशा दूसरोंका, ३०४
(दे० 'भूल', 'शक्ति' भी)

ध

धन, दे० 'राजनीति'

धम्मपद (पुस्तक), ३४२, ३४६
बहुत सहायक, १८७
पढ़ना उपयोगी कब, १८९

धर्म,
प्रत्येक–ईसाई, इस्लाम, बौद्ध, पेगन हिन्दू – की देन, ७३-४
-ोंकी ये सब दृष्टियां मिलकर यदि एक हो जायं, ७४-५; यह एकीकरण भी पर्याप्त नहीं, ७५
मानव जातिको आध्यात्मिक बनानेमें समर्थ क्यों नहीं हो सका, ७४
नया अनुपयोगी ही नहीं, अनर्थकारी भी, ७५
-का मतलब, ८१
-का जगत्, युग, १४०, १४३
-ने जो दिशा ली, ३१५
-का रास्ता व उद्देश्य, ३१७
सुलभ, अधिक लोगोंको, ३१८
-का दावा, ३२३
-का यथार्थ व्यापार, ३२५
-के प्रयासमें भूलें, ३२६, ३७५
-की उपयोगिता, ३२६
क्या एक आवश्यकता है, साधारण जीवनमें ? ३२६-२८
व आदर्श, कोई-न-कोई प्रत्येक व्यक्तिका, ३२७-२८
(दे० 'अतिमानसिक जगत्', 'समाज' भी)

धैर्य, ७८
पहला पाठ, ६९, ७०, ३२२
कैसा, ७०अ
'डटे रहनेकी बात है, १६६
खो बैठनेका कारण, ३२१

ध्यान,
सम्मिलित : की दो पद्धतियां, सक्रिय व निष्क्रिय, ३८-९; की प्रारंभिक तैयारी, ३८; में हमारा प्रयास, ३८, ३९-४०; का प्रयोजन व लाभ, १३५-३६

-के लिये अच्छी स्थिति, १०९-१०
-में एकाग्रता कहां व कैसे, १०९
-का पूरा लाभ, ११०
किसी विषयपर : बिम्बोंकी कल्पना-के बारेमें, ३४७–५०
किसी वाक्य [विचार] पर : दो तरीके, ३५१-५३
(दे० 'श्रीमाताजी' भी)

न

नयी जाति, दे० 'जाति'
निंदा,
निंदित वस्तुमें भी दिव्यता, १२९
दूसरोंकी, १३६अ
निम्न गोलार्द्ध,
और उच्चतर गोलार्द्ध, १४, १५०, १९४, २१९
नियम,
बाह्य और आंतरिक अभीप्सा, ११३
निराशा, ३५७
'निराश न हो, ७०, ३२२
'निराश जल्दी कौन, ७०
कहीं नहीं ले जाती, २९४
(दे० 'प्रयत्न' भी)
निर्णय, दे० 'मूल्यांकन'
निर्वाण [लय], १, २, ३, ५, ७
-की ओर आकर्षणका कारण, १२
यदि अंत होता, २०
निश्चिति, ३८२
उपलब्धिकी, १३, १०६, १४४, १५१, १८२, २९२
-को खोजना अपने ही भीतर, २४२
निश्चेतना, १०, २४५, २९९, ३०८, ३२०, ३२१
नीरवता, २८, ३६८, ३८८
-से डर, २८अ
-में श्रीमांकी शक्ति अधिक कार्य करती है, १०८
-में ग्रहण कैसे करना, १०९-१०
यहां और अतिमानसिक जगत्में, २६४
'नीरव रहना सीखना, समस्या या कठिनाईके सामने, ३८९
(दे० 'मन', 'शांति' भी)
नेता,
कौन, ६२
बननेकी शर्तें, ७८-९
नैतिक पूर्णता,
-का क्या आदर्श है ?, ३७६
-मेंसे गुजरना जरूरी, ३७६-७७

प

पथ, ३८९
बिलकुल नया है, १४४
भूतकालका, १८९
लंबा, कठिन है, ३२०
कोई दो, एक जैसे नहीं, ३७४अ
अपना स्वयं ढूंढना चाहिये, ३७५
-पर **चलना** होगा, ३७५
-को छोटा बनानेकी चेष्टा, ३७७
-पर कहां हैं. . न सोचो, ३७९
-पर तुम अकेले नहीं, ३९२
'यात्रा लंबी और दुरूह क्यों, ३९६
परंपरा (वेदसे भी प्राचीन), ८२, ३०७
परिवर्तन, ११
तिहरा, यदि एक साथ. ., ७३

आजके, बौद्धिक, नैतिक . . , ७४
अतिमानसके अवतरणसे, १५८ टि०
पृथ्वीपर, तबतक संभव नहीं, १६०
-की हमारी अक्षमतासे तब रूपांतर-में फर्क नहीं पड़ना चाहिये, १६७
आध्यात्मिक शक्तिके दबावसे, ३८६
(दे० 'चेतना', 'मन', 'रूपांतर', 'समय', 'समर्पण' भी)

परिस्थिति, १६, १७, ३०४

पवित्रता, पूर्ण, ११४

पशु, २७४, ३०१
कई, हमसे ऊंचे, भौतिक योग्यता-ओंमें, ८१-२, २०७, २०८
-का सहज बोध, ९६, ९७
मनुष्यके नजदीकवाले, ९६
-से मनुष्य बदतर, ९७, १७२, २७९
-जगत्‌का विकास, २००-१
-ओंमें भी, दूसरी अभिव्यक्तिपर पहुंचनेका प्रयत्न, २२१
हमें नहीं समझते, २५५
-की पीड़ा, २८३
-के आगे कोई समस्या नहीं, २८४
-ओं और पौधोंकी नयी जातियोंका विकास मनुष्यद्वारा, २९१
(दे० 'आनंद', 'मनुष्य' भी)

पागल (आलोकित), २६४

पातंजल योग-दर्शन, ३७२ टि०

पाना, दे० 'त्याग'

पाप [आदि पाप], २८०

पुनर्जन्म, २०२, २१४अ

पुस्तक [नाटक],
सामंजस्यपूर्ण, नीरस, २९
पढ़ना पर्याप्त नहीं, ६५
'उपन्यास पढ़ना, ३३७-३८

पूर्णता, ९३
प्रगतिशील, ३४
-से पहले लंबा परिश्रम, ६३
-के लिये यदि सौ बार भी . . , ७०, ३२२
-में कुछ अंश दानवताका. . , ७१
-के लिये एक ही प्रवृत्तिपर अपने-को केंद्रित करनेकी समस्या, ७९-८०
सर्वांगीण, उद्देश्य, ८१, ९१, ३१९
-की खोज : किसी भी छोरसे, ८५-६; दोनों छोरोंपर काम, ९०
उच्चतर और निम्नतर : व्याख्या, ८६-९०
निम्नतर, आध्यात्मिकताके बिना भी, ८७
-को किसी और लोकमें खोजनेकी प्रवृत्ति, ३८५

पूर्णयोग, ३१९
और शारीरिक शिक्षण, ७९, ८१
-का आरंभ कब, ३११
-का लक्ष्य दे० 'लक्ष्य'

पूर्वजन्म,
-ोंकी स्मृति, २०४-५
(दे० 'स्मृति' भी)

पूर्वज्ञान, दे० 'अंतर्भास'

पूर्वनिर्धारितता, दे० 'स्वतंत्रता', 'प्रयत्न'

पृथ्वी,
जहां-की-तहां छूट जाती है, ७३
विश्वका प्रतीकात्मक संकेंद्रण, १९९, २९८
(दे० 'परिवर्तन', 'रूपांतर', 'समय' भी)

पेगन धर्म, ७३, ३७२
प्रकाश, दे० 'ज्योति'
प्रकृति,
-का कार्य करनेका तरीका, ३५, ३६, २०५-६, २३३-३४
-में विकासका तरीका, २०३, २१५-१६
-के सहयोगका आश्वासन : श्रीमांकी अनुभूति और वर्ष ५८ का संदेश, २३३-३५; इसका गलत अर्थ मत लगाना, २३५
-का अगला कदम, १०२, १५०, २७७
-के विकासकी पहली भूमिका, २९७
-का अभिप्राय, २९८-९९, ३८९-९०
कार्यकारिणी 'शक्ति' है, २९८
अचेतन नहीं, उसका **बाह्य रूप** अचेतन है, २९९-३००
(दे० 'खेल', 'भगवान्', 'मनुष्य', 'विकास' भी)
प्रगति [उन्नति], २६३
-का संकल्प मुख्य, बजाय प्रतिक्षण-के छोटे-छोटे निश्चयोंके, ३१-२
-के लिये विनाश जरूरी न हो, ३५
अगली, के लिये आवश्यक चीज, ४६, १८९
'आगे बढ़ना बंद तो . ., ६३अ, १६५
-के लिये प्रयास : में आदर्श स्थिति, ९३; में सम्यक् वृत्ति, २९४-९५ (दे० 'उपलब्धि' भी)
मानव, के लिये दोहरी क्रियाकी आवश्यकता : व्यक्तिगत, सामाजिक, १३५
जो बाधाओंको मिटा मानवजातिको नयी उपलब्धिकी ओर ले जायगी, २७९; इन्कार करनेवालोंकी भवितव्यता, २८०
तुम तभी करोगे जब . ., २९४अ
दो प्रकारकी, ३६५
(दे० 'आध्यात्मिक विकास', 'कठिनाई', 'खेल', 'भागवत कृपा', 'भौतिक जीवन', 'मनुष्य' भी)
प्रतिभा, ९१, ३६६
प्रतिभाशाली व्यक्ति, ८७-८, ३५५
प्रभुत्व,
आध्यात्मिक और भौतिक एक साथ, ८३अ, ८८-९०
व्यक्तिभावापन्न सत्तापर कठिन, ३७१
(दे० 'आत्मप्रभुत्व', 'मन' भी)
प्रयत्न [प्रयास], ३९२
व्यक्तिगत, का स्थान कहां यदि सब पूर्व निर्धारित है, २५२
सुदीर्घ, अपेक्षित, २८६अ, २८९, ३०३, ३०४, ३०५, ३२१-२२, ३३०-३१
'हम ढूंढनेका कष्ट नहीं उठाते, २१७, ३४५
करनेपर भी प्रगति नहीं दीखती तो निराशा, क्या करना चाहिये ?, २९४-९५
व्यक्तिगत, कृपा ही थी, ३२५
मानवसे अतिमानवकी ओर जानेके, ३७८, ३९३
(दे० 'अतिमानसिक शक्ति', 'अभीप्सा', 'आत्मा', 'आश्रम-

वासी', 'पूर्णता', 'प्रगति', 'भगवान्', 'श्रद्धा' भी)

प्रश्न,
'मैं यहां क्यों हूं. . ., १६-८, ३४४-४५
पूछनेके बारेमें, १०७-९
(दे० 'श्रीअरविंद' भी)

प्राण [प्राण-शक्ति, प्राणिक क्रिया-शीलता], ७३, १००, ३११
-के आत्मप्रेमकी प्रतिक्रिया और सच्ची प्रतिक्रिया, ६-७
सुखोंके पीछे दौड़ती, दुःख. ., २७
पसंद करता है उत्तेजना, ९४
ही उत्साह, शक्तिका स्थान, ९४
-को 'आत्मा' समझना, २८७-८८
(दे० 'उन्मज्जन', 'मन' भी)

प्रार्थना, १४
सम्मिलित : दो प्रकारकी, ३७-८
सामूहिक, का प्रभाव, ३३९-४१
(दे० 'भागवत कृपा' भी)

प्रेम, २१, ६९
अपने बंधनोंसे, २७-८, २९, ३९६
शक्ति, सुख, शांति व सीमाओंसे, इसलिये . . ., २७-८
एक कड़ी . . , ४९
-की पहली सहज गति, ४९
और स्वतंत्रता, ५०
और बाध्यता, ५०
अपनी अपूर्णताओंसे, ७२, ७३, ७६
यदि सच्चा, मृत व्यक्तिसे, ३३३-३४
(दे० 'आकर्षण', 'दिव्य प्रेम' भी)

प्लेंशेट [स्वतः लेखन],
-का प्रयोग, ३३३-३९

फ

फल [परिणाम], दे० 'भगवान्'

फूल, 'बेल् द न्वी', ५९अ

ब

बंधन, दे० 'प्रेम'

बनना, दे० 'होना'

बालक [बच्चा], १३, ४७
-ोंको हानि पहुंचानेवाली चीजें, ७७
' 'आदर्श बालक' पुस्तक, ७७
-ोंको पारितोषिक, ९३
-के सपने, १५३-५४
-के सपनोंके साथ व्यवहार, १५४-५५, १५७
बने रहना अच्छा, १९५
(दे० 'खेल', 'भय', 'योग' भी)

बिथोवेन, २३४

बुद्ध, २१
-की शिक्षाएं अतिमानसिक पथपर किस रूपमें सहायक, १८७
एक अवतार, १८७अ
-के उपदेश और सीधी क्रिया, १८८
(दे० 'श्रीमाताजी' भी)

बुद्धि,
-की बीमारी, इस या उसको चुनने-की, ९०, २२२
-का शासन अपेक्षित, सत्तापर, ९४, ९७
-के राज्यका अंत तभी, ९८
-द्वारा निर्णय देना, १२८
ग्राम्य, की सत्यानासी आदत : अशुभ भावना, १५४, १५५

'बौद्धिक क्रिया एक तरहकी ठंडी, शुष्क . . , ३०२
-को संतुष्ट करना होगा, ३६६-६७
आध्यात्मीकृत, की जरूरत, ३७३
(दे० 'अंतर्भास', 'अतिमानसिक जीवन', 'आध्यात्मिक अनुभूति', 'मन' भी)
बुद्धिमत्ता [बुद्धिमानी], १२१, ३५६
बैठ जाना [रुक जाना, आत्म-संतोष], ३४, ६३, ८८, १८०, ३८५
बौद्ध धर्म, ७३-४, १८९

भ

भगवान्, ३४२
-की विश्व-लीला, १-२, २०-१, २५०
क्या है, १-२
और प्रकृतिका संबंध, ७, ९-१०
-की ओर [दूसरी ओर] जब पहुंचते हो, १०, ११, १४, १३०, ३८३, ३९५
'भागवत चेतना मानवी ढंगसे कार्य नहीं करती, ३१
ही सबसे अच्छा मित्र, ५५-६
विनाशमें भी, ७०
-के कार्योंके पीछे सुनिश्चित ज्ञान-दृष्टि, ७०
-के सामने संपूर्ण काल. . , ७०
-की सामग्री, ७१
यदि वस्तुओंके केंद्रमें न होते, १४९, २१०
निरंकुश, का विचार, १६७
-को प्रयासके फलका अर्पण, २९४-९५
छिपे हुए इसी लिये हैं, ३४५
(दे० 'आध्यात्मिक उपस्थिति', 'जगत्', 'विश्व' तथा 'दिव्य' और 'भागवत ..', के अंतर्गत भी)
भय,
दण्डका, बच्चोंको, ७८
रोगका कारण, ११५-१७
शारीरिक, पर विजय पाना कठिन, ११५-१६
-के विचार, २४१
'प्रकाश' में खो जानेका, ३९६
भागवत कृपा ['कृपा'], २३६
और प्रार्थनाके प्रभावको छिद्रान्वेषी भूल जाता है, २६३
-का एक चिह्न : शांति; दूसरा : प्रगति, २७९, २८५
-की सहायता, २८६, ३२५, ३७६, ३८६, ३९२
-को भूल न जाना, ३९२
(दे० 'प्रयत्न', 'विश्वास' भी)
भागवत संकल्प, १२४
-से सब कुछ होता है", "भागवत संकल्प सदा प्रकट रूपसे कार्य नहीं करता" : व्याख्या, २६-७
भाव,
-की विशिष्टता, ३५१
-से 'मूलतत्त्व' तक, ३५१अ
भावना [वृत्ति], दे० 'काम'
भाषा,
व शब्द हमारे, १६९, १८४, १८५
'शब्दोंका मूल्य, २६९
भूतकाल,
-से चिपक, १८९

भूल, ६३, ३१०
और भगवान्‌की मित्रता, ५५
करना जानबूझकर, और अज्ञानमें, २८५-८६ (दे० 'दोष' भी)
भूल जाना,
आमोद-प्रमोदमें, ४१, ४२
'लोग भूले रहते हैं, १५२ (दे० 'भागवत कृपा' भी)
भूल-भ्रांति, दे० 'सत्य'
भोजन,
-पर निर्भरता, ८२
छोड़नेकी शर्त, ११२
भौतिक जीवन [पार्थिव जीवन, भौतिक अस्तित्व],
एक अद्‌भुत सुयोग, ४१
-का विकास क्यों जरूरी, ८९-९०
-से ऊंची एक स्थिति, १०५; इसे अब वे सब पा सकते.., १०५-६
-को भी यदि दिव्य जीवनमें भाग लेना है तो.., १५३
-का सार, २४०
ही प्रगतिका क्षेत्र, २५४अ
-के मूल्य सत्यपर आधारित नहीं, यहां **सब कुछ** कृत्रिम है, २६१, २६४-६५
(दे० 'जीवन', 'आध्यात्मिक जीवन', 'आध्यात्मिक विकास', 'शक्ति' भी)

म

मंत्र, ३६१, ३६४
मत-विश्वास, ७४, ७५, २४४
मन, ७३, १५८ टि०, २१९, २२२, २९१, ३१९, ३२४, ३५१, ३९३
व्यक्तिरूप, ४३-४
-पर प्रभुत्व पाना जरूरी, ६८-९
और संकल्पकी प्राप्तियां शरीरमें, ८३, ८७, ९१
भौतिक, बड़ा हठीला, १०२
-के निश्चय, शंकाका विषय, ११८
-का बोध : कारण और परिणाम नियत हैं, १६७
दार्शनिक, का विकास, २३७
-को व्यवस्थित दे० 'विचार'
-की सामान्य अवस्था, २३८, २३९, २४०
व प्राण भावी जन्मके लिये सुरक्षित कब, २५३-५४
-का कार्य, सफाई देना, ३०३-४
-को नीरव कर देनेका फल, ३३०-३१
कर्म और व्यवस्थाका यंत्र, ३६८
-का कर्म सीधे आध्यात्मिक शक्ति-द्वारा संभव, ३६८-६९
-के विकासकी उपयोगिता, ३७०-७१
-का अधिक विकास बाधक !, ३७१
परिवर्तन नहीं ला सकता, ३८४अ
सदा आत्म-संतुष्ट, आध्यात्मिक शक्ति इसे झकझोरती . ., ३८५-८६
यदि समझनेकी कोशिश न कर, स्वयं को खोले, ३८८-८९
(दे० 'आध्यात्मिकता', 'उन्मज्जन', 'बुद्धि', 'श्रद्धा', 'संदेह', 'समझना' भी)
मनुष्य [मानव],

-में प्रकृति आत्म-चेतन, ७
-की सामान्य अवस्था, १५-७, १९, ९५-६, २४७-४९, ३१६, ३४४, ३५६, ३८०
यदि आध्यात्मिक होनेके लिये सह-मत. . उसकी प्रकृति विद्रोह. . , ७२ टि०, ७३, ७६
(दे० 'विरोध' भी)
-की रचना किस लिये, ९७
-की आध्यात्मिक अभीप्साकी उच्च-तम उपलब्धि, १४०, १४३
इस सृष्टिका शिखर, १५०, २१९
-में मनकी क्रिया, स्वाधीनताका प्रारंभ, २०१
-में यह चेतना अपने चरमोत्कर्ष-पर पहुंचती और उसे पार कर जाती है : व्याख्या, २०१
-की उपलब्धिकी शक्यता, २०४
-की पशुसे श्रेष्ठता, २०७-९, २११
सीधा खड़ा हो सकता है, २०७
-के पास प्रशिक्षण-शक्ति, योजना-बद्ध विकासकी शक्ति, २०८
-की अपने बारेमें प्रशंसात्मक रूपमें सोचनेकी आदत, २०९
-का आगपर प्रभुत्व, २११
-में लिखने व सुस्पष्ट वाणीकी क्षमता, २११
यदि और आगे जानेकी कोशिश करता है, २१९
क्या मनुष्य रहनेसे संतुष्ट रहेगा, २२०-२१
-की प्रगति : अभीतक, प्राचीनोंकी अपेक्षा व आध्यात्मिकतामें, २७६; उसे आत्म-अतिक्रमण-में नहीं ले गयी, कारण, २७६अ
और पशुमें अंतर, २८२-८३
-के चिंता-संताप व कष्टोंका कारण, २८३-८४; इनसे मुक्तिका एक ही रास्ता, २८३-८४
ही सर्वाधिक दयनीय, २८३
-के साथ जनमती है आत्म-निर्भरता-की भावना, २८४
-को चेतना दी गयी है ताकि, २८४
-में क्षमता, प्रकृतिकी सहायता करनेकी, २९१, २९९
विकासका अंतिम पर्व नहीं, २९१
-में स्वयं अतिमानवतातक पहुंचने-की शक्यता, २९१
-से आध्यात्मिक सत्ताकी ओर संक्रमणके बारेमें दो प्रश्न, ३०१
कुंजीका प्रयोग करनेसे झिझकते हैं, ३९५-९६
(दे० 'व्यक्ति', 'सत्ता', 'अति-मानसिक जगत्', 'आध्यात्मिक उपस्थिति', 'कामना', 'पशु', 'प्रगति', 'प्रयत्न', 'समस्या' भी)
मनुष्य-शरीर [मानव-प्ररूप],
चेतनाको अभिव्यक्त करनेमें अभी-तक सबसे समर्थ, २०३; २०७-९
-से उच्चतर रूप कैसे बनेगा : समस्या, २२१-२३; सब कुछ संभव, २२२, २२३
कैसे प्रकट हुआ, २२३-२५, २७३-७४
-का गठन और सामर्थ्य, २६८ टि०
-का विधान, २७५अ
-के सामान्य संघटनमें तब अवश्य परिवर्तन आ जायगा, २८२

एक, जब उस चेतनामें सहज रूपसे जीने योग्य हो जायगा, २९३

मनुष्य जाति [मानवता],
अभी कच्ची धातुके रूपमें, ७१
-का भविष्य, ७१-२, ७३-४, ७६, २७९, २८०-८१
-के बारेमें आशा, कुछ व्यक्ति यदि . . , ७१, ७२, १५१, १६२
आध्यात्मिक प्रवाहको धारण नहीं . . , ७३
एक साथ अतिमानव नहीं. ., १०३, २८२
इस समयकी जटिलता और दुर्व्यवस्था, १६१
-के लिये क्या "अभिप्रेत या संभव" है : व्याख्या, १६६-६८
क्या कुछ अन्य जातियोंकी तरह लुप्त हो जायगी ?, २२३
-में तनाव उस बिंदुपर . . , २७७
-में आत्म-अतिक्रमणकी अभीप्सा, २८१, २८२
'मानव स्तरके लुप्त हो जानेकी संभावना नहीं, २८२
-के लिये फिरसे पशु-स्तरपर जा गिरना असंभव, २८३
-की समस्याओंका हल राजनीतिक व सामाजिक उपायोंसे, ३८०
(दे० 'आध्यात्मिकता', 'जगत्', 'परिवर्तन', 'प्रगति', 'विज्ञान', 'संक्रमणकाल', 'समस्या', 'सहायता', 'समाज' भी)

मस्तिष्क [दिमाग], २६९, ३३०, ३७०

महत्त्वाकांक्षा, ९३, १५३-५४

मानव परिवार (पुस्तिका), ३

मानसिक ईमानदारी, ३०३-५

मानसिक रचना, ४६, २९६

मित्र, २८
सबसे अच्छा, ५२-६
बुरा, ५४-५, ७८

मिथ्यात्व, ३०६, ३९६

मिस्र, ३५९

मुक्ति, २७९
'मुक्त व्यक्ति और दूसरोंका कष्ट, १०अ, १२, ३९१
-का प्रारंभ, उच्चतम स्तरोंसे, १३८
आत्माके संपर्कसे, २८९, ३१२
व्यक्तिगत, पर एकाग्रताकी प्रवृत्ति, ३८५
-की संभावना कब बनती है, ३८६
यदि सृष्टिका उद्देश्य होता, ३८९
(दे० 'स्वतंत्रता', 'दासता', 'श्रद्धा', 'समर्पण' भी)

मूल्य [कीमत], ६३
वस्तुकी, विरोधी वस्तुसे, २८
अदा करना जानो, ६९
व्यक्ति या समष्टिकी, किससे, ३२८, ३३२
(दे० 'शांति' भी)

मूल्यांकन [निर्णय],
करना, दूसरोंका, १२८, ३८३, ३८८
-का हमारा तरीका और अतिमानसिक जगत्का, २६०, २६५
इस जगत्में, २६१

मृत्यु, २५४
यदि न रहे, २९, ३३
वह प्रश्न है जिसे प्रकृति. . , ३३

-के प्रति पहली प्रतिक्रिया, ३३-४
-की आवश्यकता क्यों, ३४-५
कब जरूरी न रहेगी, ३५, ३६

य

यंत्र, दे० 'आत्मा'
यूसुफ हुसैन, संत, ६५-८
योग, ७८, ११४, ११५, ११९
-की प्रक्रिया, आध्यात्मिक, ८५
-की शर्त, पुराने योगोंमें, ८७
सामूहिक, की शर्तें, १३१, १३४-३५
बुढ़ापेमें, १५२-५३
छुटपनसे यदि .., १५३, १५५
-के लिये प्रवेगका आधार, १५४
-में आकर्षण-विकर्षण, १७१, १७२
(दे० 'आध्यात्मिकता', 'रोग' भी)
योगी, ९३, ३६२
यौवन,
'युवा रहनेका प्रवेग, ३६

र

रागद्वेष, १७१
राजनीति, १८९
और धनके बारेमें मनुष्यकी वृत्ति-को बदलना कठिन, १५८-६०
-से हमारा कोई संबंध नहीं, पर .., १५८अ
राष्ट्र,
सर्वाधिक सफल, ७७
(दे० 'संकट' भी)
रासमणि, रानी, १४० टि०
रूप,
आरोहणशील, जीवनके, १९९-२०१, २०३
चेतनासे पहले (जड़वादी), २२४अ
(दे० 'आकार', 'मनुष्य-शरीर', 'प्रकृति' भी)
रूपांतर,
क्रमिक, के बारेमें, १०३, १०५-६
पूर्ण, के बारेमें, १०६
'अधिक उन्नत रूप, न कि छोटे-छोटे सुधार, १३८
भौतिक, से पहले नये रूपका बोध जरूरी, १३८
-का कार्य जब सबसे रोचक, १८२-८३
-की सब समस्याएं पृथ्वीपर .., १९९
और क्षयमें होड़, ३७८
पूर्ण, के लिये मनसे ऊंचे उपकरण-की जरूरत, ३८५
त्रिविध : चैत्य, आध्यात्मिक, अति-मानसिक, ३९३
(दे० 'परिवर्तन', 'जड़तत्त्व', 'शरीर', 'समय' भी)
रोग,
-से छुटकारा : उपाय, ४२
भौतिक घटना या आध्यात्मिक जीवनकी कठिनाई, ११४-१६
-का मूल कारण, ११५
-से प्रभावति होना : एक पूरा सोपान-क्रम, ११६, ११७अ
(दे० 'औषध', 'संतुलन' भी)

ल

लक्ष्य [उद्देश्य],

मुकुट, न कि सूली, ६२
पड़ावको समझ लेना, ६३
व आदर्श हमारा, ८१, १०२, १०६, १४२, ३२३ (दे० 'पूर्णता' भी)
(दे० 'विकास', 'प्रकृति' भी)

व

वनस्पति,
-जगत्का विकास, २००
-में चेतना, २००
वाणी,
'बातें करना सत्योंकी, ६९
'कहनेसे करना अच्छा, ९०
'बोलनेकी खातिर बोलना, १०९
'योगमें शरीरपर प्राप्त विजयके बारेमें कहना, ११८-१९
-के असंयमपर, १३६-३७
-की सर्वशक्तिमत्ता कब, १८५
'इन विषयोंपर जितना कम बोला जाय. ., ३०२
'जिस बारेमें तुम नहीं समझते, चुप रहना, ३८८
(दे० 'समय' भी)
विकास [क्रम-विकास],
-का गुप्त लक्ष्य, ९२, १००, १९१, २४५, २५०, २९८
-की प्रक्रिया : अबतक, १०२; भावीमें, १०२-३, १३७-३८
-का अभिप्राय क्या अज्ञात है ?, १७३
-के अभिप्रायको स्वयं महसूस करते हों, ऐसे कितने !, १७४
अंतर्लयनका ही परिणाम, १९८ टि०
क्रमिक, का वर्णन, १९९-२०१
-की द्विविध प्रक्रिया : भौतिक और आंतरात्मिक, २०२-५, २१४-१६
के और आगे जानेकी संभाव्यतामें शंका, २११-१२, २१८-१९
वैयक्तिक सत्ताका मानना जरूरी नहीं, २११-१२
वैयक्तिक, को यदि मानें, २१६
-की प्रक्रिया मानव प्राणीके जन्मकी, २७३-७४
-की सारी प्रक्रिया प्रत्येक सत्तामें दुहरायी जाती है, ३००
अंतर्लयनसे उलटी क्रिया है, ३०७
-की 'शक्ति' ने अभीतक जो किया है, ३९०
(दे० 'आध्यात्मिक विकास', 'चेतना', 'प्रकृति', 'मनुष्य' भी)
विकृति, ५०
मनसे शुरू हुई, ९६, ९७, १७२, २७९, २८०
भौतिक, पर विजय, २६६
-को दूर होना ही चाहिये, २७९-८०
विचार,
तुम्हारे निजी, बहुत कम, ४४
कहांसे आते हैं, ४४, २३७अ
विरोधी, मनमें, ४४, २३९
अपना, दूसरोंपर लादना, ५३-४, ३७५
-ों, विरोधी, में समन्वय पानेका तरीका, ७४अ, १०४
-ोंको व्यवस्थित करना, २३८-३९
-ोंका अपना स्वतंत्र जीवन, २३८
बुरे, उठनेके कई कारण, २३९-४०

-ोंपर नियंत्रण, २४०-४१, ३५६
-ोंको सीधा स्पंदनद्वारा भेजना, २६९, २७१
(दे० 'कल्पना', 'ध्यान', 'आध्यात्मिकता', 'जगत्', 'स्त्री' भी)
विचार और सूत्र (पुस्तक), ३५३
विजय,
-की प्राप्ति : उपाय, ५, ९
-की अभीप्सा, ६२-३
मनके क्षेत्रमें, नहीं, ११८-१९
सर्वाधिक सहिष्णुकी, २४२
(दे० 'सफलता', 'अशुभ', 'जड़-तत्त्व', 'विश्वास' भी)
विज्ञान (भौतिक), २९९, ३५४
-की प्रक्रियाएं व सिद्धांत, १०४, २२४
-की उपलब्धियां, १०४
सत्यकी खोजमें आत्माकी ओर, १०५
-की महत्त्वपूर्ण खोज, २२६; एक पग और, और वे सत्यमें.., २२६
-की बाहरी दृष्टि, ३०६
-का व्यवहार गुह्यविद्या और आध्यात्मिकताके साथ, ३५८
-का आधार, ३५८
-द्वारा मन-प्राणका नियंत्रण, ३५८-५९; इसमें मानव जातिके लिये खतरा, ३५८
-की खोजोंका दुरुपयोग : कारण, ३५८अ
-के रसायन-सूत्र, ३६१, ३६४
गुह्यविद्याकी ओर, ३६२-६४
वित्त-व्यवस्था, १५९-६०
विनाश [विध्वंस],
और सृजन, ७०
-की शक्तियां, दे० 'विरोधी शक्ति'
'खाईके, मुंहपर, २२९
-पर नियंत्रण, 'उपस्थिति' के ही कारण, ३१४
(दे० 'क्रांति' भी)
विभाजन ९०, १९७, २९२
विभिन्नता,
दूसरोंसे, से सचेत कब, ४४-६
न बन पाती यदि एकताकी स्मृति बनी रहती, ४७
-का सत्य, ५३अ, ३८७-८८
विभेद,
अज्ञानका मूल, ७-८, ११
मध्यवर्ती अवस्था, २०
विरोध [अवरोध, प्रतिरोध],
-ोंसे जीवनकी कलामयता : व्याख्या, २८-९
निश्चेतना व अज्ञानका, ३२०
कितना, निचली प्रकृतिमें !, ३८६
-की मत सुनो, ३९२
विरोधी शक्ति,
-योंके अधिकारमें संसारको छोड़ देना, ५
-यां धरतीपर उतर आयी हैं, साथ ही नयी शक्ति भी, २७८
-योंकी लहर जब धरापर.., ३१४
विश्राम,
करनेकी इच्छा, खतरनाक, ६४
सच्चा, ६४
विश्व [सृष्टि],
क्या है, १-२, २४५अ, २९८
-की उत्पत्तिका हेतु : आनंद, २, ७-८, २०, २४९-५०; कामनाको

मानना, ८
-की विभेद, अज्ञानकी अवस्था एक दुर्घटना, ११-२; इसका सुफल भी, ११-२
-का वस्तुगत रूपमें आना, १६८, २१०
-की तीन व्याख्याएं : तात्त्विक, मनोवैज्ञानिक, बालोपयोगी, १९५
इस, की विशेषता, १९६
-की अव्यवस्थाका प्रथम कारण, १९७
चेतन संकल्पका परिणाम, २१०, २४५-४६
-में उद्देश्यमूलक प्रयोजन नहीं, २१२; इस आपत्तिका उत्तर, २४९-५०
शाश्वत कालसे है, अतः समसामयिक है, २५१
परमचेतनाका राज्य, पर उसमें विचरण स्वतंत्र, अप्रत्याशित, २५१
-के अस्तित्वका उद्देश्य, २९८, ३९२; इसे जान लेनेपर उसकी पूर्तिका उत्साह, ३९२
एक भद्दा मजाक, यदि उद्देश्य बाहर निकलना हो, ३९१अ
(दे० 'जगत्', 'कहानी', 'प्रकृति', 'भगवान्', 'मुक्ति', 'समझना' भी)
विश्वास, १५१, १५२, २८३, २८५
रख विजयमें, ७०
सत्य जीवनमें, १५५
शरीरमें, विजयका, १५७
अदृश्य जीवनमें तबतक नहीं, ३३९
'भरोसा रखो 'कृपा' पर, ३९२अ
(दे० 'श्रद्धा', 'संदेह' भी)
व्यक्ति,
जो 'शक्ति' को ग्रहण कर सकें, ३६ १५१ (दे० 'मनुष्य-जाति' भी)
-गत और सामूहिक उन्नति, १३५, १५१
-गत चेतना और सामूहिक चेतना, ३२७, ३४१
(दे० 'आध्यात्मिक विकास', 'मूल्य' भी)
व्यक्तित्व,
-का निर्माण, ४३-८
-का होना एक विजय, ४६
बनाना, फिर तोड़ना, ४६
(दे० 'प्रभुत्व' भी)
व्यवस्था, दे० 'जीवन', 'विचार'
व्याख्या, १२०-२१, २९६

श

शक्ति, २१, २७
-का तिरस्कार मत कर, ७१
पैदा होती है कठिनाईमेंसे, ७१
-यों, सूक्ष्म, को भौतिक रूप देना, ८३, १२१-२२
ही सुरक्षा है, २२८
-योंको अपनी ओर मत खींचो, २२८-२९
-को दोष देना, २२९
(दे० 'अतिमानसिक शक्ति' आध्यात्मिक शक्ति', 'अशुभ', 'जगत्' भी)
शब्द, दे० 'भाषा', 'समझना'

शरीर, ३१९
क्रूसपर चढ़नेवाला नहीं, दिव्य महिमान्वित, ३ टि०
-में आनन्दका स्पर्श, २३
-को मृत्युकी ओर ले जानेवाली चीज, ३४, ३५अ
-में दुःखसे छुटकारा : उपाय, ४२, १५४, ३५०
-की सीमाएं एक सांचा हैं : व्याख्या, ४३-८
-पर नियंत्रण जरूरी, ७९, ८३
-को एक तरफ नहीं छोड़ा जा सकता, ८१
आधार, धर्मसाधनम्, ८१
-का रूपांतर : जरूरी, ८१; में अपेक्षित चीजें, १००
-के व्यापार 'उच्चतम पूर्णता' तक : व्याख्या, ८१-२
हमारा पशु-सदृश, ८१-२
-की सीमाएं व बंधन, ८२
-के अंगोंका स्थान 'केंद्र' . ., ८२-३, १३७
-के रूपांतरमें जिस लक्ष्यको हमें सामने रखना . ., ८२
गौरवपूर्ण, ८२
-का निर्माण गुह्य पद्धतिद्वारा, ८३ १२२; इसमें ठोसताकी कमी, १२३-२४; इसमें प्रगति किस-पर निर्भर, १२४
-पर काम . . तो जब अतिमानसिक सत्य . ., ९०
-में अतिचेतनाका आविर्भाव लक्ष्य, ९१-२
-को बुद्धिद्वारा शासित करना, ९४-५
-के दुःख-भोगका कारण, ९५
-का रूपांतर मन-प्राणके रूपांतरके बाद या . ., १०१
-में प्रतिरोध, मनके दखलके बिना भी, १०१अ
दिव्य, में दिव्य जीवन, १०२, १०६
चेतनाका ही एक यंत्र, १०३, १०४
-के साथ व्यवहारमें तब भौतिक साधनोंका उपयोग क्यों ?, १०३-५
-की अब संभाव्यता, १०६, १११-१२
जब कह सकेगा : "मैं 'तू' बन जाऊं", १०६
में प्रतिरोध शक्ति, ११५
ही नीरोग होनेका निश्चय करता है, ११७
-पर विजयके लिये मनसे उच्च शक्ति अपेक्षित, ११८-१९
रूपांतरितमें क्या स्त्री-पुरुषका भेद रहेगा ?, १२५-२६
-के अंगोंका ही रूपांतर, १३७-३८
-के लिये नये जगत्का भौतिक बोध प्राप्त करना कठिन, १३८
-के संपूर्ण रूपातंरके लिये, १४६ टि०
-में भगवान्के लिये अभीप्सा कैसे जगायी जाय ?, १५२, १५५, १५७
-में एक सहज-स्वाभाविक विश्वास, १५६, १५७; यह कैसे खोया जाता है, १५६, १५७; करने लायक चीज, १५७
-की अभीप्सा रूपांतरके लिये, १८२अ

-के कोषाणु जब उपस्थितिको मूर्त रूपमें अनुभव करने. . , ३०२
-के रूपांतरका कार्य लंबा, धीमा, ३२१-२२; इसे हर एक कर सकता ह, ३२२; इसमें अपेक्षित चीजें, ३२२
तुम्हारा, एक शरीर नहीं, ३२१अ
-में विकारोंका कारण, ३२२
(दे० 'मनुष्य-शरीर', 'अतिमानव', 'अहं', 'आत्मा', 'जड़-तत्त्व', 'मन', 'रूपांतर', 'समझना', 'साधना' भी)

शांति, २२७
-की भूख, साथ व्याकुलताकी. ., २८
-को, मूल्य चुकाये बिना, चरा, ६३
ही अभीतक 'भागवत कृपा' का चिह्न, २७८-७९
अन्यथा असंभव, २८४
(दे० 'नीरवता', 'श्रीअरविन्द' भी)

शारीरिक शिक्षण,
-में हमारा प्रयत्न, ७८अ
-का उद्देश्य, ८१
-के परिणाम, ८३, ९४-५, ३७०

शारीरिक शिक्षण-पद्धति,
-की उपलब्धियां, १०४
-का उद्देश्य, १४५
-का आधार, १४६-४९

शिक्षा, ७७, ३६५
जो सबको दी जानी चाहिये, ९७-८
(दे० 'श्रीमाताजी' भी)

शुद्धि,
-की भट्टीका सामना, ७२

शून्य,
-मेंसे किसी चीजका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता, १९४, २१०

श्रद्धा,
-की शरीरपर क्रिया, ११९
मानसिक विकासवालेकी, १२०
-द्वारा मुक्तिकी शिक्षा, २८१
अनिवार्य, पर आरोपित. ., ३२३
क्या प्रयाससे बढ़ायी जा सकती है ?, ३२४-२५
(दे० 'विश्वास' भी)

श्रवण,
और गंध, सूक्ष्म जगत्में, १२४

श्रीअरविन्द, २६६, ३११, ३३७
-का आश्वासन उपलब्धिके बारेमें, १३
-ने किसीको जब शांति प्रदान. ., २९
-को पढ़नेसे सब प्रश्नोंके उत्तर, १०७
-का अनुभव, उपवासका, १११-१२
-का जन्मदिन, १६३, ३४६
किस लिये आये थे, १६३, ३४५
-का जन्म एक 'सनातन जन्म' : व्याख्या, १६९-७०
-ने पार्थिव जीवनको ही लिया, १९९
-का प्रतिपादनका तरीका, २१२, २१९-२०, २३६
अपने-आपको दोहराते, २१३, २२०
-को पढ़ते हुए सावधानी, २१३, २२०
-के निष्कर्ष, २१३
-का लिखा, उनका मत नहीं, २३६
-को अपने समर्थनमें उद्धृत, २३६
-ने मस्तिष्कमेंसे काले बिंदुको पकड़ा और दूर फेंक दिया, २४१
-का लोगोंका दर्द दूर करना, २४१

-के कथनकी सच्चाईका प्रमाण तबतक नहीं. ., २४२
-की घोषणा : ४-५-६७ पूर्ण सिद्धिका वर्ष, २९३
-के साथ, प्लेंशेटद्वारा, संपर्कमें होनेकी कल्पना करनेवाला, ३२४
-की 'यौगिक साधन' पुस्तक, ३३६
-की एक प्रार्थना : वैदिक देवताओं, वरुण, इन्द्र, सूर्य, मरुत् . . के प्रति, ३४६-४७
(दे० 'सुरक्षा' भी)

श्रीमाताजी,
प्रकृतिके खेलके बारेमें, १०-२
'हम जो करना चाहते हैं व कर रहे हैं, १२अ, ३५, ३६, ७८अ ८४, १४२, १५८, १५९अ, ३६८
'जब मैं खेलती हूं, १३
गंभीर कब, १३अ
'इच्छा होती है तुमसे विरोधाभासी वस्तुएं कहूं, ५२
-की टाल्स्टायके पुत्रसे भेंट, ५३
-के 'तेमसेम'के संस्मरण, ५६-६२
-का उत्तर मानवताके बारेमें, ७२
'इसी चीजने मुझे लंबे समयतक ध्यान करनेसे रोका था, ८४
-का यहांके अपने समूहका प्रतीकात्मक स्वप्न, १३१-३५
-का अनुभव : नये और पुराने जगत्का, १४०-४१
श्रीअरविंदको जब अधिमानसिक सृष्टिकी बात बताने गयीं, १४१
'हमारी नयी दृष्टिका स्वरूप, १४२
' 'प्रार्थना और ध्यान' में वर्णित बुद्ध क्या वही हैं जिनकी प्रतिमाएं पूजी जाती हैं ?, १८६-८७
'मैं नहीं पाती कि आत्मा छुपा हुआ है, २१८
-की ३ फरवरी १९५८ की (अतिमानसिक नावकी) अनुभूति, २५५-५६; इसे यदि समझना चाहो, २९६
-की चरम सापेक्षताकी अनुभूति, २६०
-का निराश लोगोंको स्वस्थ करना, २६५
'मैंने यातनाओंको सहा है, २६५
'एक ही चीज मुझे असह्य लगती है, २६५अ
-की अनुभूति और प्रार्थना, एक धनी, कुत्सित पेटवाली, महिलाको देखकर, २८०
-का मजाक, प्लेंशेटवालोंके साथ, ३३५
'कठोर शिक्षाकी अपेक्षा मैं वातावरणकी शक्तिको . ., ३४३
'आपने कहा था : ५ साल बाद मैं तुम्हें. ., ३४१, ३४४, ३४५
(दे० 'अभीप्सा', 'नीरवता', 'प्रकृति', 'राजनीति' भी)

श्रीरामकृष्ण, परमहंस, १४० टि०

स

संकट,
-की स्थिति देशोंकी, १६१

संकल्प,
मानसिक, काफी नहीं, शरीरपर

नियंत्रणके लिये, ११८-१९
सचेतन, का प्रभाव शरीरपर, १४६-४९
परिवर्तन व प्रगतिका, आवश्यक नये जगत्को लानेके लिये, १५१
सर्व-समर्थ, पूर्ण निरपेक्ष, १६७
-से मनुष्य क्या समझता है, १६७
लें: इस वर्ष अच्छे-से-अच्छा करनेका ताकि समय बेकार. . , २३६
(दे० 'ज्ञान', 'मन', 'संदेह' भी)

संक्रमणकाल,
जब पशुसे मानव सृष्ट. . , १३९
जिसमें हम उपस्थित हैं, १३९, १४२, १४४

संतुलन,
-भंग रोगका कारण, ११४
पूर्ण, की प्राप्तिकी शर्त, २२८
पूर्ण, के बिना अतिमानसिक शक्तिको खींचना खतरनाक, २२८

संदेश,
वर्ष ५७ का व व्याख्या, ३-५
नये वर्षके, क्या सूचित करते हैं, ३
(दे० 'प्रकृति' भी)

संदेह [शंका],
-से संकल्पका प्रभाव खो. . , ११८
करना, जाननेसे सरल, २२५
करना मनका स्वभाव, २२५, ३२४
और अविश्वाससे खेलना, ३२४
'दरवाजा' खोलनेकी क्षमतामें, ३९६
(दे० 'आत्मा' भी)

संभव, दे० 'अतिमानसिक जीवन', 'मनुष्य-शरीर'

संभावना,
सभी, के लिये द्वार खुला, २५१
-एं, असंख्य, हर एकमें, ३६५

संयम, दे० 'आत्म-प्रभुत्व'

सचेतनता, ४७, २४७
अपने संबंधमें, कितनी, १५-६
आघातोंसे, १६-७, ४६, २४८-४९
खेलोंसे, ९२अ
(दे० 'आत्म-निरीक्षण', 'आत्म-जिज्ञासा', 'जागरण', 'विभिन्नता' भी)

सच्चाई, ३३१
किसका नाम है, ११४
'पूर्ण सत्यनिष्ठा कब आयेगी, ३०५अ
(दे० 'मानसिक ईमानदारी' भी)

सत्ता,
-एं, मूलतः बुरी, १७२
-एं, चार, सृष्टिके प्रारंभमें, १९६
(दे० 'आनंद' भी)

सत्य ['सत्य'], ३०६
-ोंका मूल्य आचरणसे, ६९
-के आविर्भावके लिये आवश्यक चीज, २४४
-को समझनेके लिये, ३०२, ३७४
और भूल-भ्रांति सदा साथ, ३२६; पृथक्करणमें सावधानी, ३२६
-की खोजमें सच्चा उसी ज्ञानको पुनः प्राप्त. . , ३६३
-की अनन्य चाह और उत्तर, ३७५
आध्यात्मिक, कोई एक, सर्व-स्वीकार्य, सिद्धांत-सूत्र नहीं, ३८७
-को सुन सकनेके लिये, ३८९
(दे० 'ज्ञान', 'अनुभव', 'अभीप्सा', 'जगत्', 'भौतिक जीवन' भी)

सत्य चेतना, १९४

अतिमानसमें और ज्योतिर्मय मनमें, १८३-८४
सफलता,
पूर्ण प्रतीत होनेवाली, ६३
अध्यवसायीको, ३३१, ३३२
(दे० 'विजय' भी)
समझना,
मनसे ऊंची वस्तुओंको, १५, ३७४, ३८८
उन्हीं शब्दोंको, विभिन्न स्तरोंपर, १६८-६९
भाग्यकी स्वरलिपिको, २६७
एक-दूसरेको, २६७, २६९-७०
जबतक शरीरद्वारा नहीं, ३०३
सृष्टि-योजनाको, ३९२
समझौता, ७३, १२९
समय,
बरबाद करना : आमोद-प्रमोदमें, ४१; बातोंमें, ८०; चीजोंको सामान्य ढंगसे करनेमें, ९२, ९३
दबाव डाल रहा है, ७२
-की कमीका मतलब, ८०
लगेगा : पूर्ण रूपांतरमें, १०६; जड़ पदार्थपर विजयमें, २६६
वर्तमान, धरतीके इतिहासमें **अपूर्व**, १३९, १४४, १५२, २७५
उपलब्धिमें कितना, १५१, १८२; इसे कम कर देनेकी संभावना, १६२, १८२
नहीं, ऊबनेके लिये, ३५८
कितना, चीजोंके बदलनेमें !, ३८६
(दे० 'प्रयत्न' भी)
समर्पण [आत्मदान], ४९
-को यदि जोड़ दो अपने प्रयत्नमें, २२, २४, ३३१अ
'दे दो, खोलो, पर लेनेकी इच्छा .., २२८-२९
उपाय, मानवकी चिंताओं व कष्टोंसे मुक्तिका, २८३, २८४
प्रयासके फलका, २९५
कर सकनेके लिये चाहिये . .,३८६
-में ही बदलनेकी शक्ति, ३८७
शिशु-सा निष्कपट, सरल, ३९२
(दे० 'एकता' भी)
समस्या,
-एं, अतिधर्मशील लोगोंकी, ३०-१
खेलको बदलनेकी, ३६
मानवताकी, ७१-२; इसकी कुंजी, ७६
-एं, सुलझाना, मानवका, अपनी, २८४-८५
-का समाधान, नीरवतामें, ३८९
(दे० 'आध्यात्मिकता', 'मनुष्य-जाति', 'मनुष्य-शरीर' भी)
समाज [समूह, समष्टि],
आदर्श [अतिमानसिक], श्रीअरविंदके अनुसार, १३१, १३४-३५
धार्मिक, की समानता, १३४
-ोंके जीवनमें धर्म एक आवश्यकता, ३२६-२८
-यां तरह-तरहकी, ३३९-४१
'आदर्श संगठनकी शक्ति, ३४०-४१
'सामूहिक आध्यात्मिक जीवनके प्रयत्न, ३८४-८५
(दे० 'आश्रम', 'प्रार्थना', 'मूल्य', 'व्यक्ति', 'श्रीमाताजी' भी)
समाधि, ३, ३६८

समानता दे० 'समाज'
सम्मोहन विद्या, ३६३-६४
सहज-स्वाभाविकता, ५०
सहस्रदल कमल, १४५
सहायता,
  कर, पर मुहताज न बना, ६२
  मानवजातिकी, ३८०-८१
  दूसरोंकी, ३८२, ३८३
    (दे० 'भागवत कृपा' भी)
सहारा,
  दूसरोंका, २४२
  एक ही, अचल-अटल, २४२
साधना,
  'आनन्द' को जाननेकी, २१-२
  कामना-जयकी, २१
  -की एक अवस्थाको जब तुम पार कर जाओ. . , १८९
  शरीरकी, अछूते जंगलके समान, ३२२
सापेक्षता,
  -का बोध, १९४
  -ओंमें निरपेक्ष, ३७४
    (दे० 'श्रीमाताजी' भी)
सामूहिक, दे० 'समाज', 'व्यक्ति'
साहस [वीरता],५, ७१, ७२, ३०५, ३२२, ३९१
सुख,
  और आनंद, ९, २१, २२, २७, ४०, ४१
  कामना-तृप्तिका, २१
  -से प्रेम, इसलिये दुःख, २७
  -की खोज, ४१
  सांसारिक, १५३
सुरक्षा, ३३४
  संसारपर मंडराते तूफानसे : शर्त, १६२
  -की प्राप्ति पहले भी, श्रीअरविन्दके रहते, १६२
  ही आदर्श, अधिक लोगोंका, ३२७
    (दे० 'शक्ति' भी)
सेवा, दे० 'स्वतंत्रता'
सोचना, २१०
  किसी व्यक्तिके बारेमें, गुह्यविद्याका प्रयोग ही है, १७७-७८
  बिना शब्दोंके, २७०-७१, २७२
  सचमुच, २७२
  स्वतंत्र रूपसे, ३२८
  अलग ढंगसे संभव है क्या, ३६८
  दौड़नेके बारेमें ही, ३७९
स्त्री और पुरुष [नर और मादा],
  -का भेद, ९८-१००; विचार और व्यवहारमें, १२६-२७; इसमें सम्यक् वृत्ति, १२७
स्मृति [याद रखना],
  विशेष घड़ीमें उपस्थित होनेकी, १५२
  चैत्य और मानसिक, २७४
    (दे० 'पूर्वजन्म' भी)
स्वतंत्रता, १९६
  -की चाह और बंधनोंसे प्रेम भी, २७-८, २९
  और दासता [सेवा भाव] पूरक, ४८-५०
  -का वर्तमान रूप, ४९
  और उच्छृंखलता, ५०
  -की अवस्था, जहां सब कुछ संभव है, १६७

और पूर्वनिर्धारितता : व्याख्या, २५१-५२
और निम्न प्रकृतिकी दुर्बलता, ३७७
आध्यात्मिक, से पहले नैतिक पूर्णता-को जीना जरूरी, ३७७
(दे० 'मुक्ति', 'एकता', 'खोज' भी)

ह

हृदय, दे० 'अंतर्भास'
होना [बनना], ९३, ११४

सूची

२ जनवरी १९५७ ... १
९ जनवरी १९५७ ... ७
१६ जनवरी १९५७ ... १५
२३ जनवरी १९५७ ... २०
३० जनवरी १९५७ ... २७
६ फरवरी १९५७ ... ३३
७ फरवरी १९५७ ... ३७
१३ फरवरी १९५७ ... ४०
२० फरवरी १९५७ ... ४३
६ मार्च १९५७ ... ४८
८ मार्च १९५७ ... ५०
१३ मार्च १९५७ ... ५२
१५ मार्च १९५७ ... ५६
२० मार्च १९५७ ... ६२
२२ मार्च १९५७ ... ६४
२७ मार्च १९५७ ... ६९
३ अप्रैल १९५७ ... ७३
१० अप्रैल १९५७ ... ७६
१७ अप्रैल १९५७ ... ८१
२४ अप्रैल १९५७ ... ८५
१ मई १९५७ ... ९१
८ मई १९५७ ... ९४
१५ मई १९५७ ... ९८
२९ मई १९५७ ... १०२
५ जून १९५७ ... १०७
१२ जून १९५७ ... १११
१९ जून १९५७ ... ११४
२६ जून १९५७ ... १२१
३ जुलाई १९५७ ... १३१
९ जुलाई १९५७ ... १३६
१० जुलाई १९५७ ... १३७
१७ जुलाई १९५७ ... १४५
२४ जुलाई १९५७ ... १४९
३१ जुलाई १९५७ ... १५२
७ अगस्त १९५७ ... १५७
१४ अगस्त १९५७ ... १६३
२१ अगस्त १९५७ ... १६३
२८ अगस्त १९५७ ... १६६
४ सितंबर १९५७ ... १६८
११ सितंबर १९५७ ... १७०
१८ सितंबर १९५७ ... १७५
२५ सितंबर १९५७ ... १८१
२ अक्तूबर १९५७ ... १८३
९ अक्तूबर १९५७ ... १९०
१६ अक्तूबर १९५७ ... १९४
२३ अक्तूबर १९५७ ... १९८
३० अक्तूबर १९५७ ... २०२
१३ नवंबर १९५७ ... २०७
१७ नवंबर १९५७ ... २११
४ दिसंबर १९५७ ... २१८
११ दिसंबर १९५७ ... २२३
१८ दिसंबर १९५७ ... २२६
१ जनवरी १९५८ ... २३३
८ जनवरी १९५८ ... २३६
१५ जनवरी १९५८ ... २४२
२२ जनवरी १९५८ ... २४३
२९ जनवरी १९५८ ... २४५
५ फरवरी १९५८ ... २४९
१९ फरवरी १९५८ ... २५५
२६ फरवरी १९५८ ... २६६
५ मार्च १९५८ ... २६८
१२ मार्च १९५८ ... २७२

१९ मार्च १९५८	...	२७५	२३ जुलाई १९५८	...	३२९
२६ मार्च १९५८	...	२८१	३० जुलाई १९५८	...	३३३
२ अप्रैल १९५८	...	२८५	६ अगस्त १९५८	...	३३९
९ अप्रैल १९५८	...	२८६	१३ अगस्त १९५८	...	३४१
१६ अप्रैल १९५८	...	२९०	१५ अगस्त १९५८	...	३४६
२३ अप्रैल १९५८	...	२९४	२७ अगस्त १९५८	...	३४७
३० अप्रैल १९५८	...	२९६	३ सितंबर १९५८	...	३५४
७ मई १९५८	...	२९७	१० सितंबर १९५८	...	३५८
१४ मई १९५८	...	३०१	१७ सितंबर १९५८	...	३६६
२१ मई १९५८	...	३०३	२४ सितंबर १९५८	...	३७२
२८ मई १९५८	...	३०६	१ अक्तूबर १९५८	...	३७६
४ जून १९५८	...	३०९	८ अक्तूबर १९५८	...	३७७
११ जून १९५८	...	३१३	२२ अक्तूबर १९५८	...	३७९
१८ जून १९५८	...	३१५	२९ अक्तूबर १९५८	...	३८४
२५ जून १९५८	...	३२०	५ नवंबर १९५८	...	३८९
९ जुलाई १९५८	...	३२३	२६ नवंबर १९५८	...	३९३
१६ जुलाई १९५८	...	३२५	अनुक्रमणिका	...	३९७

सूची (उद्धरण)

विचार और झांकियां	१-७४
योगसमन्वय	२६
प्रार्थना और ध्यान	२६
अतिमानसिक अभिव्यक्ति	७७-१९१
अतिमानव (कर्मोंका आनंद)	१९६-९७ टि०
दिव्य जीवन [लाइफ डिवाइन]	१९८-३९३
विचार और सूत्र	३४६-४७